सत्यके प्रयोग अथवा

आत्मकथा

एम. के. गांधी

सत्यके प्रयोग अथवा आत्मकथा

लेखक
मो० क० गांधी
अनुवादक
काशिनाथ त्रिवेदी

नवजीवन प्रकाशन मंदिर
अहमदाबाद-१४

प्रकाशकका निवेदन

३० जनवरीके पुण्यपर्व पर राष्ट्रपिता महात्मा गांधीके उदात्त जीवन और कार्य-पद्धति पर गहरा प्रकाश डालनेवाले ग्रंथ 'सत्यके प्रयोग अथवा आत्मकथा' का हिन्दी संस्करण देशकी जनताके सामने रखते हुए हमें बड़ा आनन्द होता है। सत्य और अहिंसाके आधार पर चलाये गये शांतिपूर्ण आन्दोलनों द्वारा भारतको आजादी दिलानेवाले महापुरुषके जीवनका, उनके सिद्धान्तों और आदर्शोंका परिचय पाना भारतीय प्रजाकी वर्तमान पीढ़ी और भावी पीढ़ियोंके लिए कितना आवश्यक है, यह बतानेकी जरूरत नहीं होनी चाहिये।

राष्ट्रीय महत्त्व रखनेवाले इस ग्रंथका सस्ता हिन्दी संस्करण हमने प्रचारकी दृष्टिसे ही निकाला है। इसके पहले हम मूल गुजराती और अंग्रेजी 'आत्मकथा' का भी सस्ता संस्करण प्रकाशित कर चुके हैं। इसी तरह इसका मराठी संस्करण भी तैयार करवा कर कुछ समयमें निकालनेका हमारा इरादा है।*

मूल गुजराती 'आत्मकथा' का हिन्दी अनुवाद श्री काशिनाथ त्रिवेदीने किया है, जिन्हें साबरमती आश्रममें कुछ समय तक गांधीजीकी छायामें रहनेका मौका मिला था और जो गांधीजीके जीवन-कालमें वर्षों तक 'हिन्दी नवजीवन' तथा 'हरिजनसेवक' के हिन्दी सम्पादनका कार्य कर चुके हैं। अनुवादको अधिकसे अधिक प्रामाणिक बनानेका तथा उसकी भाषाको भरसक, सरल और सुबोध रखनेका ध्यान रखा गया है।

आशा है, भारतकी जनता अधिकसे अधिक संख्यामें इस ग्रंथका लाभ उठायेगी और इससे प्रेरणा पाकर स्वतंत्र भारतकी सेवाके मार्ग पर आगे बढ़ेगी।

३०-१२-'५७

---
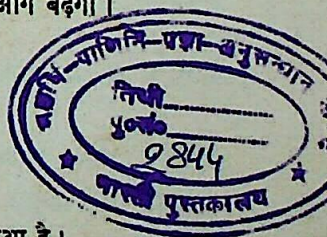
* 'आत्मकथा' का मराठी संस्करण १९६५ में प्रकाशित हुआ है।
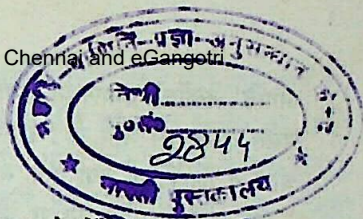
प्रस्तावना

चार या पाँच वर्ष पहले निकटके साथियोंके आग्रहसे मैंने आत्मकथा लिखना स्वीकार किया था और उसे आरम्भ भी कर दिया था। किन्तु फुलस्केपका एक पृष्ठ भी पूरा नहीं कर पाया था कि इतनेमें बम्बईकी ज्वाला प्रकट हुई और मेरा शुरू किया हुआ काम अधूरा रह गया। उसके बाद तो मैं एकके बाद एक ऐसे व्यवसायोंमें फँसा कि अन्तमें मुझे यरवडाका अपना स्थान मिला। भाई जयरामदास भी वहाँ थे। उन्होंने मेरे सामने अपनी यह माँग रखी कि दूसरे सब काम छोड़कर मुझे पहले आत्मकथा ही लिख डालनी चाहिये। मैंने उन्हें जवाब दिया कि मेरा अभ्यास-क्रम बन चुका है और उसके समाप्त होने तक मैं आत्मकथाका आरम्भ नहीं कर सकूँगा। अगर मुझे अपना पूरा समय यरवडामें बितानेका सौभाग्य प्राप्त हुआ होता, तो मैं जरूर आत्मकथा वहीं लिख सकता था। परन्तु अभी अभ्यास-क्रमकी समाप्तिमें भी एक वर्ष बाकी था कि मैं रिहा कर दिया गया। उससे पहले मैं किसी तरह आत्मकथाका आरम्भ भी नहीं कर सकता था। इसलिए वह लिखी नहीं जा सकी। अब स्वामी आनन्दने फिर वही माँग की है। मैं दक्षिण अफ्रीकाके सत्याग्रहका इतिहास लिख चुका हूँ, इसलिए आत्मकथा लिखनेको ललचाया हूँ। स्वामीकी माँग तो यह थी कि मैं पूरी कथा लिख डालूँ और फिर वह पुस्तकके रूपमें छपे। मेरे पास इकट्ठा इतना समय नहीं है। अगर लिखूँ तो 'नवजीवन' के लिए ही मैं लिख सकता हूँ। मुझे 'नवजीवन' के लिए कुछ तो लिखना ही होता है। तो आत्मकथा ही क्यों न लिखूँ? स्वामीने मेरा यह निर्णय स्वीकार किया और अब आत्मकथा लिखनेका अवसर मुझे मिला।

किन्तु यह निर्णय करने पर एक निर्मल साथीने, सोमवारके दिन जब मैं मौनमें था, धीमेसे मुझे यों कहा:

"आप आत्मकथा क्यों लिखना चाहते हैं? यह तो पश्चिमकी प्रथा है। पूर्वमें तो किसीने लिखी जानी नहीं। और लिखेंगे क्या? आज जिस वस्तुको आप सिद्धान्तके रूपमें मानते हैं, उसे कल मानना छोड़ दें तो? अथवा सिद्धान्तका अनुसरण करके जो भी कार्य आज आप करते हैं, उन कार्योंमें बादमें हेरफेर करें तो? बहुतसे लोग

आपके लेखोंको प्रमाणभूत समझकर उनके अनुसार अपना आचरण गढ़ते हैं। वे गलत रास्ते चले जायें तो? इसलिए सावधान रहकर फिलहाल आत्मकथा जैसी कोई चीज न लिखें, तो क्या ठीक न होगा?''

इस दलीलका मेरे मन पर थोड़ा-बहुत असर हुआ। लेकिन मुझे आत्मकथा कहाँ लिखनी है? मुझे तो आत्मकथाके बहाने सत्यके जो अनेक प्रयोग मैंने किये हैं, उनकी कथा लिखनी है। यह सच है कि उनमें मेरा जीवन ओतप्रोत होनेके कारण कथा एक जीवन-वृत्तांत जैसी बन जायेगी। लेकिन अगर उसके हर पन्ने पर मेरे प्रयोग ही प्रकट हों, तो मैं स्वयं उस कथाको निर्दोष मानूँगा। मैं ऐसा मानता हूँ कि मेरे सब प्रयोगोंका पूरा लेखा जनताके सामने रहे, तो वह लाभदायक सिद्ध होगा — अथवा यों समझिये कि यह मेरा मोह है। राजनीतिके क्षेत्रमें हुए मेरे प्रयोगोंको तो अब हिन्दुस्तान जानता है; यही नहीं बल्कि थोड़ी-बहुत मात्रामें सभ्य कही जानेवाली दुनिया भी उन्हें जानती है। मेरे मन इसकी कीमत कमसे कम है, और इसलिए इन प्रयोगोंके द्वारा मुझे 'महात्मा' का जो पद मिला है, उसकी कीमत भी कम ही है। कई बार तो इस विशेषणने मुझे बहुत अधिक दुःख भी दिया है। मुझे ऐसा एक भी क्षण याद नहीं है, जब इस विशेषणके कारण मैं फूल गया होऊँ। लेकिन अपने आध्यात्मिक प्रयोगोंका, जिन्हें मैं ही जान सकता हूँ और जिनके कारण राजनीतिके क्षेत्रमें मेरी शक्ति भी जन्मी है, वर्णन करना मुझे अवश्य ही अच्छा लगेगा। अगर ये प्रयोग सचमुच आध्यात्मिक हैं, तो इनमें गर्व करनेकी गुंजाइश ही नहीं। इनसे तो केवल नम्रताकी ही वृद्धि होगी। ज्यों-ज्यों मैं विचार करता जाता हूँ, भूतकालके अपने जीवन पर दृष्टि डालता जाता हूँ, त्यों-त्यों अपनी अल्पता मैं स्पष्ट ही देख सकता हूँ। मुझे जो करना है, तीस वर्षोंसे मैं जिसकी आतुर भावसे रट लगाये हुए हूँ, वह तो आत्म-दर्शन है, ईश्वरका साक्षात्कार है, मोक्ष है। मेरे सारे काम इसी दृष्टिसे होते हैं। मेरा सब लेखन भी इसी दृष्टिसे होता है; और राजनीतिके क्षेत्रमें मेरा पड़ना भी इसी वस्तुके अधीन है।

लेकिन ठेठसे ही मेरा यह मत रहा है कि जो एकके लिए शक्य है, वह सबके लिए भी शक्य है। इस कारण मेरे प्रयोग खानगी नहीं हुए, नहीं रहे। उन्हें सब देख सकें तो मुझे नहीं लगता कि उससे उनकी आध्यात्मिकता कम होगी। अवश्य ही कुछ चीजें ऐसी हैं, जिन्हें आत्मा ही जानती है, जो आत्मामें ही समा जाती हैं। परन्तु ऐसी वस्तु देना मेरी शक्तिसे परेकी बात है। मेरे प्रयोगोंमें तो आध्यात्मिकका

मतलब है नैतिक; धर्मका अर्थ है नीति; आत्माकी दृष्टिसे पाली गयी नीति धर्म है। इसलिए जिन वस्तुओंका निर्णय बालक, नौजवान और बूढ़े करते हैं और कर सकते हैं, इस कथामें उन्हीं वस्तुओंका समावेश होगा। अगर ऐसी कथा मैं तटस्थ भावसे, निरभिमान रहकर लिख सकूँ, तो उसमें से दूसरे प्रयोग करनेवालोंको कुछ सामग्री मिलेगी।

इन प्रयोगोंके बारेमें मैं किसी भी प्रकारकी सम्पूर्णताका दावा नहीं करता। जिस तरह वैज्ञानिक अपने प्रयोग अतिशय नियम-पूर्वक, विचार-पूर्वक और बारीकीसे करता है, फिर भी उनसे उत्पन्न परिणामोंको वह अन्तिम नहीं कहता, अथवा वे परिणाम सच्चे ही हैं इस बारेमें भी वह साशंक नहीं तो तटस्थ अवश्य रहता है, अपने प्रयोगोंके विषयमें मेरा भी वैसा ही दावा है। मैंने खूब आत्म-निरीक्षण किया है, एक-एक भावकी जाँच की है, उसका पृथक्करण किया है। किन्तु उसमें से निकले हुए परिणाम सबके लिए अन्तिम ही हैं, वे सच हैं अथवा वे ही सच हैं, ऐसा दावा मैं कभी करना नहीं चाहता। हाँ, यह दावा मैं अवश्य करता हूँ कि मेरी दृष्टिसे ये सच हैं और इस समय तो अन्तिम जैसे ही मालूम होते हैं। अगर न मालूम हों तो मुझे उनके सहारे कोई भी कार्य खड़ा नहीं करना चाहिये। लेकिन मैं तो पग-पग पर जिन-जिन वस्तुओंको देखता हूँ, उनके त्याज्य और ग्राह्य ऐसे दो भाग कर लेता हूँ, और जिन्हें ग्राह्य समझता हूँ उनके अनुसार अपना आचरण बना लेता हूँ। और जब तक इस तरह बना हुआ आचरण मुझे अर्थात् मेरी बुद्धिको और आत्माको संतोष देता है, तब तक मुझे उसके शुभ परिणामोंके बारेमें अविचलित विश्वास रखना ही चाहिये।

यदि मुझे केवल सिद्धान्तोंका अर्थात् तत्त्वोंका ही वर्णन करना हो, तब तो यह आत्मकथा मुझे लिखनी ही नहीं चाहिये। लेकिन मुझे तो उन पर रचे गये कार्योंका इतिहास देना है, और इसीलिए मैंने इन प्रयत्नोंको 'सत्यके प्रयोग' जैसा पहला नाम दिया है। इसमें सत्यसे भिन्न माने जानेवाले अहिंसा, ब्रह्मचर्य इत्यादि नियमोंके प्रयोग भी आ जायेंगे। लेकिन मेरे मन सत्य ही सर्वोपरि है और उसमें अगणित वस्तुओंका समावेश हो जाता है। यह सत्य स्थूल — वाचिक — सत्य नहीं है। यह तो वाणीकी तरह विचारका भी है। यह सत्य केवल हमारा कल्पित सत्य ही नहीं है, बल्कि स्वतंत्र चिरस्थायी सत्य है; अर्थात् परमेश्वर ही है।

परमेश्वरकी व्याख्यायें अनगिनत हैं, क्योंकि उसकी विभूतियाँ भी अनगिनत हैं।

ये विभूतियाँ मुझे आश्चर्यचकित करती हैं। क्षणभरके लिए ये मुझे मुग्ध भी करती हैं। किन्तु मैं पुजारी तो सत्यरूपी परमेश्वरका ही हूँ। वह एक ही सत्य है, और दूसरा सब मिथ्या है। यह सत्य मुझे मिला नहीं है, लेकिन मैं इसका शोधक हूँ। इस शोधके लिए मैं अपनी प्रियसे प्रिय वस्तुका त्याग करनेको तैयार हूँ, और मुझे यह विश्वास है कि इस शोधरूपी यज्ञमें इस शरीरको भी होमनेकी मेरी तैयारी है और शक्ति है। लेकिन जब तक मैं इस सत्यका साक्षात्कार न कर लूँ, तब तक मेरी अन्तरात्मा जिसे सत्य समझती है उस काल्पनिक सत्यको अपना आधार मानकर, अपना दीपस्तम्भ समझकर, उसके सहारे मैं अपना जीवन व्यतीत करता हूँ।

यद्यपि यह मार्ग तलवारकी धार पर चलने जैसा है, तो भी मुझे यह सरलसे सरल लगा है। इस मार्ग पर चलते हुए अपनी भयंकर भूलें भी मुझे नगण्य-सी लगी हैं, क्योंकि वैसी भूलें करने पर भी मैं बच गया हूँ और अपनी समझके अनुसार आगे बढ़ा हूँ। दूर-दूरसे विशुद्ध सत्यकी — ईश्वरकी — झाँकी भी मैं कर रहा हूँ। मेरा यह विश्वास दिन-प्रतिदिन बढ़ता जाता है कि एक सत्य ही है, उसके अलावा दूसरा कुछ भी इस जगतमें नहीं है। यह विश्वास किस प्रकार बढ़ता गया है, इसे मेरा जगत अर्थात् 'नवजीवन' इत्यादिके पाठक जानकर मेरे प्रयोगोंके साझेदार बनना चाहें और उस सत्यकी झाँकी भी मेरे साथ करना चाहें तो भले करें। साथ ही, मैं यह भी अधिकाधिक मानने लगा हूँ कि जितना कुछ मेरे लिए सम्भव है, उतना एक बालकके लिए भी सम्भव है, और इसके लिए मेरे पास सबल कारण हैं। सत्यकी शोधके साधन जितने कठिन हैं उतने ही सरल भी हैं। वे अभिमानीको असम्भव मालूम होंगे और एक निर्दोष बालकको बिलकुल सम्भव लगेंगे। सत्यके शोधकको रजकणसे भी नीचे रहना पड़ता है। सारा संसार रजकणोंको कुचलता है, पर सत्यका पुजारी तो जब तक इतना अल्प नहीं बनता कि रजकण भी उसे कुचल सके, तब तक उसके लिए स्वतंत्र सत्यकी झाँकी भी दुर्लभ है। यह चीज वशिष्ठ-विश्वामित्रके आख्यानमें स्वतंत्र रीतिसे बतायी गयी है। ईसाई धर्म और इस्लाम भी इसी वस्तुको सिद्ध करते हैं।

मैं जो प्रकरण लिखनेवाला हूँ उनमें यदि पाठकोंको अभिमानका भास हो, तो उन्हें अवश्य ही समझ लेना चाहिये कि मेरी शोधमें खामी है और मेरी झाँकियाँ मृगजलके समान हैं। मेरे समान अनेकोंका क्षय चाहे हो, पर सत्यकी जय हो। अल्पात्माको मापनेके लिए हम सत्यका गज कभी छोटा न करें।

मैं चाहता हूँ कि मेरे लेखोंको कोई प्रमाणभूत न समझें। यही मेरी विनती है। मैं तो सिर्फ यह चाहता हूँ कि उनमें बताये गये प्रयोगोंको दृष्टान्तरूप मानकर सब अपने-अपने प्रयोग यथाशक्ति और यथामति करें। मुझे विश्वास है कि इस संकुचित क्षेत्रमें आत्मकथाके मेरे लेखोंसे बहुत कुछ मिल सकेगा, क्योंकि कहने योग्य एक भी बात मैं छिपाऊँगा नहीं। मुझे आशा है कि मैं अपने दोषोंका खयाल पाठकोंको पूरी तरह दे सकूँगा। मुझे सत्यके शास्त्रीय प्रयोगोंका वर्णन करना है, मैं कितना भला हूँ इसका वर्णन करनेकी मेरी तनिक भी इच्छा नहीं है। जिस गजसे स्वयं मैं अपनेको मापना चाहता हूँ और जिसका उपयोग हम सबको अपने-अपने विषयमें करना चाहिये, उसके अनुसार तो मैं अवश्य कहूँगा कि :

मो सम कौन कुटिल खल कामी?
जिन तनु दियो ताहि बिसरायो
ऐसो निमकहरामी।

क्योंकि जिसे मैं सम्पूर्ण विश्वासके साथ अपने श्वासोच्छ्वासका स्वामी समझता हूँ, जिसे मैं अपने नमकका देनेवाला मानता हूँ, उससे मैं अभी तक दूर हूँ, यह चीज मुझे प्रतिक्षण खटकती है। इसके कारणरूप अपने विकारोंको मैं देख सकता हूँ, पर उन्हें अभी तक निकाल नहीं पा रहा हूँ।

परन्तु इसे यहीं समाप्त करता हूँ। प्रस्तावनामें से मैं प्रयोगकी कथामें नहीं उतर सकता। वह तो कथा-प्रकरणोंमें ही मिलेगी।

आश्रम, साबरमती
मार्गशीर्ष शुक्ल ११, १९८२

मोहनदास करमचंद गांधी

अनुक्रमणिका

दूसरा भाग

तीसरा भाग

चौथा भाग

पाँचवाँ भाग

सत्यके प्रयोग अथवा आत्मकथा

१. जन्म

जान पड़ता है कि गांधी-कुटुम्ब पहले तो पंसारीका धंधा करनेवाला था। लेकिन मेरे दादासे लेकर पिछली तीन पीढ़ियोंसे वह दीवानगीरी करता रहा है। ऐसा मालूम होता है कि उत्तमचंद गांधी अथवा ओता गांधी टेकवाले थे। राजनीतिक खटपटके कारण उन्हें पोरबन्दर छोड़ना पड़ा था, और उन्होंने जूनागढ़ राज्यमें आश्रय लिया था। उन्होंने नवाब साहबको बायें हाथसे सलाम किया। किसीने इस प्रकट अविनयका कारण पूछा, तो जवाब मिला : "दाहिना हाथ तो पोरबन्दरको अर्पित हो चुका है।"

ओता गांधीके एकके बाद दूसरा यों दो विवाह हुए थे। पहले विवाहसे उनके चार लड़के थे और दूसरेसे दो। अपने बचपनको याद करता हूँ, तो मुझे खयाल नहीं आता कि ये भाई सौतेले थे। इनमें पाँचवें करमचन्द अथवा कबा गांधी और आखिरी तुलसीदास गांधी थे। दोनों भाइयोंने बारी-बारीसे पोरबन्दरमें दीवानका काम किया। कबा गांधी मेरे पिताजी थे। पोरबन्दरकी दीवानगीरी छोड़नेके बाद वे राजस्थानिक कोर्टके सदस्य थे। बादमें राजकोटमें और कुछ समयके लिए वांकानेरमें दीवान थे। मृत्युके समय वे राजकोट दरबारके पेंशनर थे।

कबा गांधीके भी एकके बाद एक यों चार विवाह हुए थे। पहले दोसे दो कन्यायें थीं; अन्तिम पत्नी पुतलीबाईसे एक कन्या और तीन पुत्र थे। उनमें अन्तिम मैं हूँ।

पिता कुटुम्ब-प्रेमी, सत्य-प्रिय, शूर, उदार किन्तु क्रोधी थे। थोड़े विषयासक्त भी रहे होंगे। उनका आखिरी ब्याह चालीसवें सालके बाद हुआ था। हमारे परिवारमें और बाहर भी उनके विषयमें यह धारणा थी कि वे रिश्वतखोरीसे दूर भागते हैं और इसलिए शुद्ध न्याय करते हैं। राज्यके प्रति वे बहुत वफादार थे। एक वार प्रान्तके किसी साहबने राजकोटके ठाकुरसाहबका अपमान किया था। पिताजीने उसका विरोध किया। साहब नाराज हुए, कबा गांधीसे माफी माँगनेके लिए कहा। उन्होंने माफी माँगनेसे इनकार किया। फलस्वरूप कुछ घंटोंके लिए उन्हें हवालातमें भी रहना पड़ा। इस पर भी जब वे डिगे नहीं तो अंतमें साहबने उन्हें छोड़ देनेका हुक्म दिया।

पिताजीने धन बटोरनेका लोभ कभी नहीं किया। इस कारण हम भाइयोंके लिए वे बहुत थोड़ी सम्पत्ति छोड़ गये थे।

पिताजीकी शिक्षा केवल अनुभवकी थी। आजकल जिसे हम गुजरातीकी पाँचवीं किताबका ज्ञान कहते हैं, उतनी शिक्षा उन्हें मिली होगी। इतिहास-भूगोलका ज्ञान तो बिलकुल ही न था। फिर भी उनका व्यावहारिक ज्ञान इतने ऊँचे दर्जेका था कि बारीकसे बारीक सवालोंको सुलझानेमें अथवा हजार आदमियोंसे काम लेनेमें भी उन्हें कोई कठिनाई नहीं होती थी। धार्मिक शिक्षा नहींके बराबर थी, पर मन्दिरोंमें जानेसे और कथा वगैरा सुननेसे जो धर्मज्ञान असंख्य हिन्दुओंको सहज भावसे मिलता रहता है वह उनमें था। आखिरके सालमें एक विद्वान ब्राह्मणकी सलाहसे, जो परिवारके मित्र थे, उन्होंने गीता-पाठ शुरू किया था और रोज पूजाके समय वे थोड़े-बहुत श्लोक ऊँचे स्वरसे पाठ किया करते थे।

मेरे मन पर यह छाप रही है कि माता साध्वी स्त्री थीं। वे बहुत श्रद्धालु थीं। बिना पूजा-पाठके कभी भोजन न करतीं। हमेशा हवेली (वैष्णव-मन्दिर) जातीं। जबसे मैंने होश संभाला तबसे मुझे याद नहीं पड़ता कि उन्होंने कभी चातुर्मासका व्रत तोड़ा हो। वे कठिन-से-कठिन व्रत शुरू करतीं और उन्हें निर्विघ्न पूरा करतीं। लिये हुए व्रतोंको बीमार होने पर भी कभी न छोड़तीं। ऐसे एक समयकी मुझे याद है कि जब उन्होंने चान्द्रायणका व्रत लिया था। व्रतके दिनोंमें वे बीमार पड़ीं, पर व्रत नहीं छोड़ा। चातुर्मासमें एक बार खाना तो उनके लिए सामान्य बात थी। इतनेसे संतोष न करके एक चौमासेमें उन्होंने तीसरे दिन भोजन करनेका व्रत लिया था। लगातार दो-तीन उपवास तो उनके लिए मामूली बात थी। एक चातुर्मासमें उन्होंने यह व्रत लिया था कि सूर्यनारायणके दर्शन करके ही भोजन करेंगी। उस चौमासेमें हम बालक बादलोंके सामने देखा करते कि कब सूरजके दर्शन हों और कब माँ भोजन करें। यह तो सब जानते हैं कि चौमासेमें अकसर सूर्यके दर्शन दुर्लभ हो जाते हैं। मुझे ऐसे दिन याद हैं कि जब हम सूरजको देखते और कहते, "माँ-माँ, सूरज दीखा;" और माँ उतावली होकर आतीं इतनेमें सूरज छिप जाता और माँ यह कहती हुई लौट जातीं कि "कोई बात नहीं, आज भाग्यमें भोजन नहीं है; और अपने काममें डूब जातीं।

माता व्यवहार-कुशल थीं। राज-दरबारकी सब बातें वे जानती थीं। रनिवासमें उनकी बुद्धिकी अच्छी कदर होती थी। मैं बालक था। कभी कभी माताजी मुझे भी

अपने साथ दरबार तक ले जाती थीं। बा-मासाहब के साथ होनेवाली बातोंमें से कुछ मुझे अभी तक याद हैं।

इन माता-पिताके घरमें संवत् १९२५ की भादों वदी बारसके दिन, अर्थात् २ अक्तूबर, १८६९ को पोरबन्दर अथवा सुदामापुरीमें मेरा जन्म हुआ।

बचपन मेरा पोरबन्दरमें ही बीता। याद पड़ता है कि मुझे किसी पाठशालामें भरती किया गया था। मुश्किलसे थोड़े पहाड़े मैं सीखा था। मुझे सिर्फ इतना याद है कि मैं उस समय दूसरे लड़कोंके साथ अपने शिक्षकको गाली देना सीखा था। और कुछ याद नहीं पड़ता। इस परसे मैं अंदाज लगाता हूँ कि मेरी बुद्धि मंद रही होगी; और स्मरण-शक्ति उन पंक्तियोंके कच्चे पापड़-जैसी होगी, जिन्हें हम बालक गाया करते थे। वे पंक्तियाँ मुझे यहाँ देनी ही चाहिये :

एकडे एक, पापड शेक;
पापड कच्चो, — मरो —

पहली खाली जगहमें मास्टरका नाम होता था। उसे मैं अमर करना नहीं चाहता। दूसरी खाली जगहमें छोड़ी हुई गाली रहती थी, जिसे भरनेकी आवश्यकता नहीं।

२. बचपन

पोरबन्दरसे पिताजी राजस्थानिक कोर्टके सदस्य बनकर राजकोट गये। उस समय मेरी उमर लगभग सात सालकी होगी। मुझे राजकोटकी ग्रामशालामें भरती किया गया। इस शालाके दिन मुझे अच्छी तरह याद हैं। शिक्षकोंके नाम-धाम भी याद हैं। पोरबन्दरकी तरह यहाँकी पढ़ाईके बारेमें भी जानने लायक कोई खास बात नहीं है। मैं मुश्किलसे साधारण श्रेणीका विद्यार्थी रहा होऊँगा। ग्रामशालासे उपनगरकी शालामें और वहाँसे हाईस्कूलमें। यहाँ तक पहुँचनेमें मेरे बारहवाँ वर्ष बीत गया। मुझे याद नहीं पड़ता कि इस बीच मैंने किसी भी समय शिक्षकोंको धोखा दिया हो। न तब तक किसीको मित्र बनानेका स्मरण है। मैं बहुत ही शरमीला लड़का था। पाठशालामें अपने कामसे ही काम रखता था। घंटी बजनेके समय पहुँचता और पाठशालाके बन्द होते ही घर भागता। 'भागना' शब्द मैं जान-बूझकर लिख रहा हूँ, क्योंकि किसीसे बातें करना मुझे अच्छा न लगता था। साथ ही यह डर भी रहता था कि कोई मेरा मजाक उड़ायेगा तो?

हाईस्कूलके पहले ही वर्षकी, परीक्षाके समयकी, एक घटना उल्लेखनीय है। शिक्षा-विभागके इन्स्पेक्टर जाइल्स विद्यालयका निरीक्षण करने आये थे। उन्होंने पहली कक्षाके विद्यार्थियोंको अंग्रेजीके पाँच शब्द लिखाये। उनमें एक शब्द 'केटल' (kettle) था। मैंने उसके हिज्जे गलत लिखे थे। शिक्षकने अपने बूटकी नोक मारकर मुझे सावधान किया। लेकिन मैं क्यों सावधान होने लगा? मुझे यह खयाल ही नहीं हो सका कि शिक्षक मुझे पासवाले लड़केकी पट्टी देखकर हिज्जे सुधार लेनेको कहते हैं। मैंने यह माना था कि शिक्षक तो यह देख रहे हैं कि हम एक-दूसरेकी पट्टीमें देखकर चोरी न करें। सब लड़कोंके पाँचों शब्द सही निकले और अकेला मैं बेवकूफ ठहरा! शिक्षकने मुझे मेरी बेवकूफी बादमें समझायी; लेकिन मेरे मन पर उनके समझानेका कोई असर न हुआ। मैं दूसरे लड़कोंकी पट्टीमें देखकर चोरी करना कभी सीख न सका।

इतने पर भी शिक्षकके प्रति मेरा विनय कभी कम न हुआ। बड़ोंके दोष न देखनेका गुण मुझमें स्वभाव से ही था। बादमें इन शिक्षकके दूसरे दोष भी मुझे मालूम हुए थे: फिर भी उनके प्रीति मेरा आदर तो बना ही रहा। मैं यह जानता था कि बड़ोंकी आज्ञाका पालन करना चाहिये। वे जो कहें सो करना; करें उसके काजी न बनना।

इसी समयके दो और प्रसंग मुझे हमेशा याद रहे हैं। साधारणतः पाठशालाकी पुस्तकोंको छोड़कर और कुछ पढ़नेका मुझे शौक नहीं था। सबक याद करना चाहिये, उलाहना सहा नहीं जाता, शिक्षकको धोखा देना ठीक नहीं, इसलिए मैं पाठ याद करता था। लेकिन मन अलसा जाता, इससे अक्सर सबक कच्चा रह जाता। ऐसी हालतमें दूसरी कोई चीज पढ़नेकी इच्छा क्यों कर होती? किन्तु पिताजीकी खरीदी हुई एक पुस्तक पर मेरी दृष्टि पड़ी। नाम था 'श्रवण-पितृभक्ति नाटक'। मेरी इच्छा उसे पढ़नेकी हुई और मैं उसे बड़े चावके साथ पढ़ गया उन्हीं दिनों शीशेमें चित्र देखानेवाले भी घर-घर आते थे। उनके पास मैंने श्रवणका वह दृश्य भी देखा, जिसमें वह अपने माता-पिताको काँवरमें बैठाकर यात्रा पर ले जाता है। दोनों चीजोंका मुझ पर गहरा प्रभाव पड़ा। मनमें इच्छा होती कि मुझे भी श्रवणके समान बनना चाहिये। श्रवणकी मृत्यु पर उसके माता-पिताका विलाप मुझे आज भी याद है। उस ललित छन्दको मैंने बाजे पर बजाना सीख लिया था। मुझे वाजा सीखनेका शौक था और पिताजीने एक बाजा दिला भी दिया था।

इन्हीं दिनों कोई नाटक-कंपनी आयी थी और उसका नाटक देखनेकी इजाजत मुझे मिली थी। हरिश्चन्द्रका आख्यान था। उस नाटकको देखते हुए मैं थकता न था। उसे बार-बार देखनेकी इच्छा होती थी। लेकिन यों बार-बार जाने कौन देता? पर अपने मनमें मैंने उस नाटकको सैकड़ों बार खेला होगा। मुझे हरिश्चन्द्रके सपने आते। 'हरिश्चन्द्रकी तरह सत्यवादी सब क्यों नहीं होते?' यह धुन बनी रहती। हरिश्चन्द्र पर जैसी विपत्तियाँ पड़ीं वैसी विपत्तियोंको भोगना और सत्यका पालन करना ही वास्तविक सत्य है। मैंने यह मान लिया था कि नाटकमें जैसी लिखी हैं, वैसी ही विपत्तियाँ हरिश्चन्द्र पर पड़ी होंगी। हरिश्चन्द्रके दुःख देखकर, उनका स्मरण करके मैं खूब रोया हूँ। आज मेरी बुद्धि समझती है कि हरिश्चन्द्र कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं था। फिर भी मेरे विचारमें हरिश्चन्द्र और श्रवण आज भी जीवित हैं। मैं मानता हूँ कि आज भी उन नाटकोंको पढ़ूँ, तो मेरी आँखोंसे आँसू बह निकलेंगे।

३. बाल-विवाह

मैं चाहता हूँ कि मुझे यह प्रकरण न लिखना पड़ता। लेकिन इस कथामें मुझको ऐसे कितने ही कड़वे घूँट पीने पड़ेंगे। सत्यका पुजारी होनेका दावा करके मैं और कुछ कर ही नहीं सकता। यह लिखते हुए मन अकुलाता है कि तेरह सालकी उमरमें मेरा विवाह हुआ था। आज मेरी आँखोंके सामने बारह-तेरह वर्षके बालक मौजूद हैं। उन्हें देखता हूँ और अपने विवाहका स्मरण करता हूँ, तो मुझे अपने ऊपर दया आती है और इन बालकोंको मेरी स्थितिमें से बचनेके लिए बधाई देनेकी इच्छा होती है। तेरहवें वर्षमें हुए अपने विवाहके समर्थनमें मुझे एक भी नैतिक दलील सूझ नहीं सकती।

पाठक यह न समझें कि मैं सगाईकी बात लिख रहा हूँ। काठियावाड़में विवाहका अर्थ लग्न है, सगाई नहीं। दो बालकोंको ब्याहनेके लिए माँ-बापके बीच होनावाला करार सगाई है। सगाई टूट सकती है। सगाईके रहते वर यदि मर जाये, तो कन्या विधवा नहीं होती। सगाईमें वर-कन्याके बीच कोई सम्बन्ध नहीं रहता। दोनोंको पता भी नहीं होता। मेरी एक एक करके तीन बार सगाई हुई थी। ये तीन सगाइयाँ कब हुईं, इसका मुझे कुछ पता नहीं। मुझे बताया गया था कि दो कन्यायें एकके बाद एक मर गयीं। इसीलिए मैं जानता हूँ कि मेरी तीन सगाइयाँ हुई थीं। कुछ ऐसा याद

पड़ता है कि तीसरी सगाई कोई सात सालकी उमरमें हुई होगी। लेकिन मैं नहीं जानता कि सगाईके समय मुझसे कुछ कहा गया था। विवाहमें वर-कन्याकी आवश्यकता पड़ती है, उसकी एक विधि होती है; और मैं जो लिख रहा हूँ, सो विवाहके विषयमें ही है। विवाहका मुझे पूरा-पूरा स्मरण है।

पाठक जान चुके हैं कि हम तीन भाई थे। उनमें सबसे बड़ेका ब्याह हो चुका था। मझले भाई मुझसे दो या तीन साल बड़े थे। घरके बड़ोंने एक साथ तीन विवाह करनेका निश्चय किया। मझले भाईका, मेरे काकाजीके छोटे लड़केका, जिसकी उमर मुझसे एकाध साल शायद अधिक रही होगी, और मेरा। इसमें हमारे कल्याणकी बात नहीं थी। हमारी इच्छाकी तो थी ही नहीं। बात सिर्फ बड़ोंकी सुविधा और खर्चकी थी।

हिन्दू-संसारमें विवाह कोई ऐसी-वैसी चीज नहीं। वर-कन्याके माता-पिता विवाहके पीछे बरबाद होते हैं; धन लुटाते हैं और समय लुटाते हैं। महीनों पहलेसे तैयारियाँ होती हैं। कपड़े बनते हैं, गहने बनते हैं, जातिभोजके खर्चके हिसाब बनते हैं, पकवानोंके प्रकारोंकी होड़ बदी जाती है। औरतें, गला हो चाहे न हो, तो भी गाने गा-गाकर अपनी आवाज बैठा लेती हैं; बीमार भी पड़ती हैं, पड़ोसियोंकी शांतिमें खलल पहुँचाती हैं। बेचारे पड़ोसी भी अपने यहाँ प्रसंग आने पर यही सब करते होते हैं, इसलिए शोरगुल, जूठन, दूसरी गन्दगियाँ, सब कुछ उदासीन भावसे सह लेते हैं।

ऐसा झमेला तीन बार करनेके बदले एक ही बार कर लिया जाय, तो कितना अच्छा हो? खर्च कम होने पर भी ब्याह ठाठसे हो सकता है, क्योंकि तीन ब्याह एकसाथ करने पर पैसा खुले हाथों खर्चा जा सकता है। पिताजी और काकाजी बुढ़े थे। हम उनके आखिरी लड़के ठहरे। इसलिए उनके मनमें हमारे विवाह रचानेका आनन्द लूटनेकी वृत्ति भी रही होगी। इन और ऐसे दूसरे विचारोंसे ये तीनों विवाह एकसाथ करनेका निश्चय किया गया, और इसके लिए तैयारियाँ और सामग्री जुटानेका काम तो, जैसा कि मैं कह चुका हूँ, महीनों पहलेसे शुरू हो चुका था।

हम भाइयोंको तो सिर्फ तैयारियोंसे ही पता चला कि ब्याह होनेवाले हैं। उस समय मेरे मनमें अच्छे-अच्छे कपड़े पहनने, बाजे बजने, वर-यात्राके समय घोड़े पर चढ़ने, बढ़िया भोजन मिलने, एक नई बालिकाके साथ विनोद करने आदिकी अभिलाषाके सिवा दूसरी कोई खास बात रही हो, इसकी मुझे स्मरण नहीं है।

विषय-भोगकी वृत्ति तो बादमें आयी। वह कैसे आयी, इसका वर्णन मैं कर सकता हूँ, पर पाठक ऐसी जिज्ञासा न रखें। मैं अपनी शरम पर परदा डालना चाहता हूँ। जो कुछ बतलाने लायक है, वह इसके आगे आयेगा। किन्तु इस चीजके ब्योरेका उस केन्द्रबिन्दुसे बहुत ही थोड़ा सम्बन्ध है, जिसे मैंने अपनी निगाहके सामने रखा है।

हम दो भाइयोंको राजकोटसे पोरबन्दर ले जाया गया। वहाँ हल्दी चढ़ाने आदिकी जो विधि हुई, वह मनोरंजक होते हुए भी उसकी चर्चा छोड़ देने लायक है।

पिताजी दीवान थे, फिर भी थे तो नौकर ही; तिस पर राज-प्रिय थे, इसलिए अधिक पराधीन रहे। ठाकुरसाहबने आखिरी घड़ी तक उन्हें छोड़ा नहीं। अन्तमें जब छोड़ा तो ब्याहके दो दिन पहले ही रवाना किया। उन्हें पहुँचानेके लिए खास डाक बैठायी गयी। पर— ! पर विधाताने कुछ और ही सोचा था। राजकोटसे पोरबन्दर साठ कोस है। बैलगाड़ीसे पाँच दिनका रास्ता था। पिताजी तीन दिनमें पहुँचे। आखिरी मंजिलमें ताँगा उलट गया। पिताजीको कड़ी चोट आयी। हाथ पर पट्टी, पीठ पर पट्टी। विवाह-विषयक उनका और हमारा आधा आनन्द चला गया। फिर भी ब्याह तो हुए ही। लिखे मुहूर्त कहीं टल सकते हैं? मैं तो विवाहके बालउल्लासमें पिताजीका दुःख भूल गया।

मैं पितृभक्त तो था ही, पर विषय-भक्त भी तो वैसा ही था न? यहाँ विषयका मतलब एक इन्द्रियका विषय नहीं है, बल्कि भोग-मात्र है। माता-पिताकी भक्तिके लिए सब सुखोंका त्याग करना चाहिये, यह ज्ञान तो आगे चलकर मिलनेवाला था। तिस पर भी मानो मुझे इस भोगेच्छाका दण्ड ही भुगतना हो, इस तरह मेरे जीवनमें एक विपरीत घटना घटी, जो मुझे आज तक अखरती है। जब-जब निष्कुलानन्दका

त्याग न टके रे वैराग विना,
करीए कोटि उपाय जी.

गाता हूँ या सुनता हूँ, तब-तब वह विपरीत और कड़वी घटना मुझे याद आती है और शरमाती है।

पिताजीने शरीरसे पीड़ा भोगते हुए भी बाहरसे प्रसन्न दीखनेका प्रयत्न किया और विवाहमें पूरी तरह योग दिया। पिताजी किस-किस प्रसंग पर कहाँ-कहाँ बैठे थे, इसकी याद मुझे आज भी जैसीकी वैसी बनी है। बाल-विवाहकी चर्चा करते हुए पिताजीके कार्यकी जो टीका मैंने आज की है, वह मेरे मनने उस समय थोड़े ही की थी? तब तो सब कुछ योग्य और मनपसन्द ही लगा था। ब्याहनेका शौक था और

पिताजी जो कर रहे हैं ठीक ही कर रहे हैं, ऐसा लगता था। इसलिए उस समयके स्मरण ताजे हैं।

मण्डपमें बैठे, फेरे फिरे, कंसार खाया-खिलाया, और तभीसे वर-वधू साथमें रहने लगे। वह पहली रात! दो निर्दोष बालक अनजाने संसारसागरमें कूद पड़े। भाभीने सिखलाया कि मुझे पहली रातमें कैसा बरताव करना चाहिए। धर्मपत्नीको किसने सिखलाया, सो पूछनेकी बात मुझे याद नहीं। अब भी पूछा जा सकता है, पर पूछनेकी इच्छा तक नहीं होती। पाठक यह जान लें कि हम दोनों एक-दूसरेसे डरते थे, ऐसा भास मुझे है। एक-दूसरेसे शरमाते तो थे ही। बातें कैसे करना, क्या करना, सो मैं क्या जानूँ? प्राप्त सिखावन भी क्या मदद करती? लेकिन क्या इस सम्बन्धमें कुछ सिखाना जरूरी होता है? जहाँ संस्कार बलवान हैं, वहाँ सिखावन सब गैर-जरूरी बन जाती है, धीरे-धीरे हम एक-दूसरेको पहचानने लगे, बोलने लगे। हम दोनों बराबरीकी उमरके थे। पर मैंने तो पतिकी सत्ता चलाना शुरू कर दिया।

४. पतित्व

जिन दिनों मेरा विवाह हुआ, उन दिनों निबन्धोंकी छोट-छोटी पुस्तिकायें - पैसे-पैसेकी या पाई-पाईकी, सो तो कुछ याद नहीं — निकलती थीं। उनमें दम्पती-प्रेम, कमखर्ची, बाल-विवाह आदि विषयोंकी चर्चा रहती थी। उनमें से कुछ निबन्ध मेरे हाथमें पड़ते और मैं उन्हें पढ़ जाता। मेरी यह आदत तो थी ही कि पढ़े हुएमें से जो पसन्द न आये उसे भूल जाना और पसन्द आये उस पर अमल करना। मैंने पढ़ा था कि एकपत्नी-व्रत पालना पतिका धर्म है। बात हृदयमें रम गयी। सत्यका शौक तो था ही, इसलिए पत्नीको धोखा तो दे ही नहीं सकता था। इसीसे यह भी समझमें आया कि दूसरी स्त्रीके साथ सम्बन्ध नहीं रहना चाहिये। छोटी उमरमें एकपत्नी-व्रतके भंगकी सम्भावना बहुत कम ही रहती है।

पर इन सद्विचारोंका एक बुरा परिणाम निकला। अगर मुझे एकपत्नी-व्रत पालना है, तो पत्नीको एकपति-व्रत पालना चाहिये। इस विचारके कारण मैं ईर्ष्यालु पति बन गया। 'पालना चाहिये'में से मैं 'पलवाना चाहिये' के विचार पर पहुँचा। और अगर पलवाना है तो मुझे पत्नीकी निगरानी रखनी चाहिये। मेरे लिए पत्नीकी पवित्रतामें शंका करनेका कोई कारण नहीं था। पर ईर्ष्या कारण क्यों देखने लगी?

मुझे हमेशा यह जानना चाहिये कि मेरी स्त्री कहाँ जाती है। इसलिए मेरी अनुमतिके बिना वह कहीं जा ही नहीं सकती। यह चीज हमारे बीच दुःखद झगड़ेकी जड़ बन गयी। बिना अनुमतिके कहीं भी न जा सकना तो एक तरहकी कैद ही हुई। पर कस्तूरबाई ऐसी कैद सहन करनेवाली थी ही नहीं। जहाँ इच्छा होती वहाँ मुझसे बिना पूछे जरूर जाती। मैं ज्यों-ज्यों दबाव डालता, त्यों-त्यों वह अधिक स्वतंत्रतासे काम लेती, और त्यों-त्यों मैं अधिक चिढ़ता। इससे हम बालकोंके बीच बोलचालका बन्द होना एक मामूली चीज बन गयी। कस्तूरबाईने जो स्वतंत्रता बरती, उसे मैं निर्दोष मानता हूँ। जिस बालिकाके मनमें पाप नहीं है, वह देव-दर्शनके लिए जाने पर या किसीसे मिलने जाने पर दबाव क्यों सहन करे? अगर मैं उस पर दबाव डालता हूँ, तो वह मुझ पर क्यों न डाले? - यह तो अब समझमें आ रहा है। उस समय तो मुझे अपना पतित्व सिद्ध करना था।

लेकिन पाठक यह न माने कि हमारे इस गृह-जीवनमें कहीं भी मिठास नहीं थी। मेरी वक्रताकी जड़ प्रेममें थी। मैं अपनी पत्नीको आदर्श बनाना चाहता था। मेरी यह भावना थी कि वह स्वच्छ बने, स्वच्छ रहे, मैं सीखूँ सो सीखे, मैं पढ़ूँ सो पढ़े, और हम दोनों एक-दूसरेमें ओतप्रोत रहें।

कस्तूरबाईमें यह भावना थी या नहीं, इसका मुझे पता नहीं। वह निरक्षर थी। स्वभावसे सीधी, स्वतंत्र, मेहनती और मेरे साथ तो कम बोलनेवाली थी। उसे अपने अज्ञानका असन्तोष न था। अपने बचपनमें मैंने कभी उसकी यह इच्छा नहीं जानी कि मेरी तरह वह भी पढ़ सके तो अच्छा हो। इससे मैं मानता हूँ कि मेरी भावना एकपक्षी थी। मेरा विषय-सुख एक स्त्री पर ही निर्भर था और मैं उस सुखका प्रतिघोष चाहता था। जहाँ प्रेम एक पक्षकी ओरसे भी होता है, वहाँ सर्वांशमें दुःख तो नहीं ही होता। मुझे कहना चाहिये कि मैं अपनी स्त्रीके प्रति विषयासक्त था। शालामें भी उसके विचार आते रहते। कब रात पड़े और कब हम मिलें, यह विचार बना ही रहता। वियोग असह्य था। अपनी कुछ निकम्मी बकवासोंसे मैं कस्तूरबाईको जगाये ही रहता। मेरा खयाल है कि इस आसक्तिके साथ ही मुझमें कर्तव्य-परायणता न होती, तो मैं व्याधिग्रस्त होकर मौतके मुँहमें चला जाता, अथवा इस संसारमें बोझरूप बनकर जिन्दा रहता। 'सवेरा होते ही नित्यकर्ममें तो लग ही जाना चाहिये, किसीको धोखा तो दिया ही नहीं जा सकता' — अपने इन विचारोंके कारण मैं बहुतसे संकटोंसे बचा हूँ।

मैं लिख चुका हूँ कि कस्तूरबाई निरक्षर थी। उसे पढ़ानेकी मेरी बड़ी इच्छा थी। पर मेरी विषय-वासना मुझे पढ़ाने कैसे देती? एक तो मुझे जबरदस्ती पढ़ाना था। वह भी रातके एकान्तमें ही हो सकता था। बड़ोंके सामने तो स्त्रीकी तरफ देखा भी नहीं जा सकता था। फिर बातचीत कैसे होती? उन दिनों काठियावाड़में घूँघट निकालनेका निकम्मा और जंगली रिवाज था; आज भी बड़ी हद तक मौजूद है। इस कारण मेरे लिए पढ़ानेकी परिस्थितियाँ भी प्रतिकूल थीं। अतएव मुझे यह स्वीकार करना चाहिये कि जवानीमें पढ़ानेके जितने प्रयत्न मैंने किये, वे सब लगभग निष्फल हुए। जब मैं विषयकी नींदमें से जागा, तब तो सार्वजनिक जीवनमें कूद चुका था। इसलिए अधिक समय देनेकी मेरी स्थिति नहीं रही थी। शिक्षकके द्वारा पढ़ानेके मेरे प्रयत्न भी व्यर्थ सिद्ध हुए। यही कारण है कि आज कस्तूरबाईकी स्थिति मुश्किलसे पत्र लिख सकने और साधारण गुजराती समझ सकनेकी है। मैं मानता हूँ कि अगर मेरा प्रेम विषयसे दूषित न होता, तो आज वह एक विदुषी स्त्री होती। मैं उसके पढ़नेके आलस्यको जीत सकता था, क्योंकि मैं जानता हूँ कि शुद्ध प्रेमके लिए कुछ भी असम्भव नहीं है।

यों अपनी पत्नीके प्रति विषयासक्त होते हुए भी मैं किसी कदर कैसे बच सका, इसका एक कारण बता चुका हूँ। एक और भी बताने लायक है। सैकड़ों अनुभवोंके सहारे मैं इस परिणाम पर पहुँच सका हूँ कि जिसकी निष्ठा सच्ची है, उसकी रक्षा स्वयं भगवान ही कर लेते हैं। हिन्दू समाजमें यदि बाल-विवाहका घातक रिवाज है, तो साथ ही उसमेंसे थोड़ी मुक्ति दिलानेवाला रिवाज भी है। मातापिता बालक-वर-वधूको लंबे समय तक एकसाथ रहने नहीं देते। बाल-पत्नीका आधेसे अधिक समय पीहरमें बीतता है। यही बात हमारे संबंधमें भी हुई; मतलब यह कि तेरहसे उन्नीस सालकी उमर तक हम छुटपुट मिलाकर कुल तीन सालसे अधिक समय तक साथ नहीं रहे होंगे। छह-आठ महीने साथ रहते, इतनेमें माँ-बापके घरका बुलावा आ ही जाता। उस समय तो वह बुलावा बहुत बुरा लगता था, पर उसीके कारण हम दोनों बच गये। फिर तो अठारह सालकी उमरमें मैं विलायत गया, जिससे लम्बे समयका सुन्दर वियोग रहा। विलायतसे लौटने पर भी हम करीब छह महीने ही साथमें रहे होंगे, क्योंकि मैं राजकोट और बम्बईके बीच जाता-आता रहता था। इतनेमें दक्षिण अफ्रिकाका बुलावा आ गया। इस बीच तो मैं अच्छी तरह जाग्रत हो चुका था।

५. हाईस्कूलमें

मैं ऊपर लिख चुका हूँ कि ब्याहके समय मैं हाईस्कूलमें पढ़ता था। उस समय हम तीनों भाई एक ही स्कूलमें पढ़ते थे। जेठे भाई ऊपरके दर्जेमें थे और जिन भाईके ब्याहके साथ मेरा ब्याह हुआ था, वे मुझसे एक दर्जा आगे थे। ब्याहका परिणाम यह हुआ कि हम दो भाइयोंका एक वर्ष बेकार गया। मेरे भाईके लिए तो परिणाम इससे भी बुरा रहा। ब्याहके बाद वे स्कूलमें पढ़ ही न सके। कितने नौजवानोंको ऐसे अनिष्ट परिणामका सामना करना पड़ता होगा, भगवान ही जाने! विद्याभ्यास और विवाह दोनों एकसाथ तो हिन्दू-समाजमें ही चल सकते हैं।

मेरी पढ़ाई चलती रही। हाईस्कूलमें मेरी गिनती मन्दबुद्धि विद्यार्थियोंमें नहीं थी। शिक्षकोंका प्रेम मैं हमेशा ही पा सका था। हर साल माता-पिताके नाम स्कूलसे विद्यार्थीकी पढ़ाई और उसके आचरणके संबंधमें प्रमाणपत्र भेजे जाते थे। उनमें मेरे आचरण या अभ्यासके खराब होनेकी टीका कभी नहीं हुई। दूसरी कक्षाके बाद मुझे इनाम भी मिले और पाँचवीं तथा छठी कक्षामें क्रमशः प्रतिमास चार और दस रुपयोंकी छात्रवृत्ति भी मिली थी। इसमें मेरी होशियारीकी अपेक्षा भाग्यका अंश अधिक था। ये छात्रवृत्तियाँ सब विद्यार्थियोंके लिए नहीं थीं, बल्कि सोरठवासियोंमें से सर्वप्रथम आनेवालोंके लिए थीं। चालीस-पचास विद्यार्थियोंकी कक्षामें उस समय सोरठ प्रदेशके विद्यार्थी कितने हो सकते थे?

मेरा अपना खयाल है कि मुझे अपनी होशियारीका कोई गर्व नहीं था। पुरस्कार या छात्रवृत्ति मिलने पर मुझे आश्चर्य होता था। पर अपने आचरणके विषयमें मैं बहुत सजग था। आचरणमें दोष आने पर मुझे रुलाई आ ही जाती थी। मेरे हाथों कोई भी ऐसा काम बने, जिससे शिक्षकोंको मुझे डाँटना पड़े अथवा शिक्षकोंका वैसा खयाल बने, तो वह मेरे लिए असह्य हो जाता था। मुझे याद है कि एक बार मुझे मार खानी पड़ी थी। मारका दुःख नहीं था, पर मैं दण्डका पात्र माना गया, इसका मुझे बड़ा दुःख रहा। मैं खूब रोया। यह प्रसंग पहली या दूसरी कक्षाका है। दूसरा एक प्रसंग सातवीं कक्षाका है। उस समय दोराबजी एदलजी गीमी हेडमास्टर थे। वे विद्यार्थी-प्रेमी थे, क्योंकि वे नियमोंका पालन करवाते, व्यवस्थित रीतिसे काम करते और लेते और अच्छी तरह पढ़ाते थे। उन्होंने उच्च कक्षाके विद्यार्थियोंके लिए कसरत-क्रिकेट अनिवार्य कर दिये थे। मुझे इनसे अरुचि थी। इनके अनिवार्य बननेसे

पहले मैं कभी कसरत, क्रिकेट या फुटबॉलमें गया ही न था। न जानेमें मेरा शरमीला स्वभाव ही एकमात्र कारण था। अब मैं देखता हूँ कि वह अरुचि मेरी भूल थी। उस समय मेरा यह गलत खयाल बना हुआ था कि शिक्षाके साथ कसरतका कोई सम्बन्ध नहीं है। बादमें मैं समझा कि विद्याभ्यासमें व्यायामका, अर्थात् शारीरिक शिक्षाका, मानसिक शिक्षाके समान ही स्थान होना चाहिये।

फिर भी मुझे कहना चाहिये कि कसरतमें न जानेसे मुझे नुकसान नहीं हुआ। उसका कारण यह रहा कि मैंने पुस्तकोंमें खुली हवामें घूमने जानेकी सलाह पढ़ी थी और वह मुझे रुची थी। इसके कारण हाईस्कूलकी उच्च कक्षासे ही मुझे हवाखोरीकी आदत पड़ गयी थी। वह अन्त तक बनी रही। टहलना भी व्यायाम तो है ही, इससे मेरा शरीर अपेक्षाकृत सुगठित बना।

अरुचिका दूसरा कारण था, पिताजीकी सेवा करनेकी तीव्र इच्छा। स्कूलकी छुट्टी होते ही मैं सीधा घर पहुँचता और सेवामें लग जाता। जब कसरत अनिवार्य हुई, तो इस सेवामें बाधा पड़ी। मैंने बिनती की कि पिताजीकी सेवाके लिए मुझे कसरतसे छुट्टी दी जाय। पर गीमी साहब छुट्टी क्यों देने लगे? एक शनिवारके दिन सुबहका स्कूल था। शामको चार बजे कसरतके लिए जाना था। मेरे पास घड़ी नहीं थी। आसमान बादलोंसे घिरा था, इसलिए समयका कोई अन्दाज नहीं रहा। मैं बादलोंसे धोखा खा गया। जब कसरतके लिए पहुँचा, तो सब जा चुके थे। दूसरे दिन गीमी साहबने हाजिरी देखी, तो मैं गैर-हाजिर पाया गया। मुझसे कारण पूछा गया। मैंने सही-सही कारण बता दिया। उन्होंने उसे सच नहीं माना और मुझ पर एक या दो आने (ठीक रकमका स्मरण नहीं है) का जुर्माना किया। मैं झूठा ठहरा! मुझे बहुत दुःख हुआ। कैसे सिद्ध करूँ कि मैं झूठा नहीं हूँ? कोई उपाय न रहा। मन मसोसकर रह गया। रोया। समझा कि सच बोलनेवाले और सच्चा काम करनेवालेको गाफिल भी नहीं रहना चाहिये। अपनी पढ़ाईके समयमें इस तरहकी मेरी यह पहली और आखिरी गफलत थी। मुझे धुँधली-सी याद है कि आखिर मैं वह जुर्माना माफ करा सका था।

मैंने कसरतसे तो मुक्ति प्राप्त कर ही ली। पिताजीने हेडमास्टरको पत्र लिखा कि स्कूलके समयके बाद वे मेरी उपस्थितिका उपयोग अपनी सेवाके लिए करना चाहते हैं। इस कारण मुझे मुक्ति मिल गयी।

व्यायामके बदले मैंने टहलनेका सिलसिला रखा, इसलिए शरीरको व्यायाम न

देनेकी गलतीके लिए तो शायद मुझे सजा नहीं भोगनी पड़ी, पर दूसरी एक गलतीकी

सजा मैं आज तक भोग रहा हूँ। मैं यहीं जानता कि पढ़ाईमें सुन्दर लेखन आवश्यक नहीं है, यह गलत खयाल मुझे कैसे हो गया था। पर ठेठ विलायत जाने तक यह बना रहा। बादमें, और खास करके दक्षिण अफ्रीकामें, जब मैंने वकीलोंके तथा दक्षिण अफ्रीकामें जन्मे और पढ़े-लिखे नवयुवकोंके मोतीके दानों-जैसे अक्षर देखे, तो मैं शरमाया और पछताया। मैंने अनुभव किया कि खराब अक्षर अधूरी शिक्षाकी निशानी मानी जानी चाहिये। बादमें मैंने अक्षर सुधारनेका प्रयत्न किया, पर पके घड़े पर कहीं गला जुड़ता है? जवानीमें मैंने जिसकी उपेक्षा की, उसे मैं आज तक नहीं कर सका। हरएक नवयुवक और नवयुवती मेरे उदाहरणसे सबक ले और समझे कि अच्छे अक्षर विद्याका आवश्यक अंग हैं। अच्छे अक्षर सीखनेके लिए चित्रकला आवश्यक है। मेरी तो यह राय बनी है कि बालकोंको चित्रकला पहले सिखानी चाहिये। जिस तरह पक्षियों, वस्तुओं आदिको देखकर बालक उन्हें याद रखता है और आसानीसे उन्हें पहचानता है, उसी तरह अक्षर पहचानना सीखे और जब चित्रकला सीखकर चित्र आदि बनाने लगे तभी अक्षर लिखना सीखे, तो उसके अक्षर छपे अक्षरोंके समान सुन्दर होंगे।

इस समयके विद्याभ्यासके दूसरे दो संस्मरण उल्लेखनीय हैं। ब्याहके कारण जो एक साल नष्ट हुआ था, उसे बचा लेनेकी बात दूसरी कक्षाके शिक्षकने मेरे सामने रखी थी। उन दिनों परिश्रमी विद्यार्थीको इसके लिए अनुमति मिलती थी। इस कारण तीसरी कक्षामें मैं छह महीने रहा और गरमीकी छुट्टियोंसे पहले होनेवाली परीक्षाके बाद मुझे चौथी कक्षामें बैठाया गया। इस कक्षासे थोड़ी पढ़ाई अंग्रेजी माध्यमसे होने लगती थी। मेरी समझमें कुछ न आता था। भूमिति भी चौथी कक्षासे शुरू होती थी। मैं उसमें पिछड़ा हुआ था ही, तिस पर मैं उसे बिलकुल समझ नहीं पाता था। भूमिति-शिक्षक अच्छी तरह समझाकर पढ़ाते थे, पर मैं कुछ समझ ही न सकता था। मैं अकसर निराश हो जाता। कभी-कभी यह भी सोचता कि एक सालमें दो कक्षायें करनेका विचार छोड़कर मैं तीसरी कक्षामें लौट जाऊँ। पर ऐसा करनेमें मेरी लाज जाती, और जिन शिक्षकने मेरी लगन पर भरोसा करके मुझे चढ़ानेकी सिफारिश की थी उनकी भी लाज जाती। इस भयसे नीचे जानेका विचार तो छोड़ ही दिया। जब प्रयत्न करते-करते मैं युक्लिडके तेरहवें प्रमेय तक पहुँचा, तो अचानक मुझे बोध हुआ कि भूमिति तो सरलसे सरल विषय है। जिसमें केवल बुद्धिका सीधा और सरल प्रयोग

ही करना है, उसमें कठिनाई क्या है? उसके बाद तो भूमिति मेरे लिए सदा ही एक सरल और सरस विषय बना रहा।

भूमितिकी अपेक्षा संस्कृतने मुझे अधिक परेशान किया। भूमितिमें रटनेकी कोई बात थी ही नहीं, जब कि मेरी दृष्टिसे संस्कृतमें तो सब रटना ही होता था। यह विषय भी चौथी कक्षामें शुरू हुआ था। छठी कक्षामें मैं हारा। संस्कृत-शिक्षक बहुत कड़े मिजाजके थे। विद्यार्थियोंको अधिक सिखानेका लोभ रखते थे। संस्कृत वर्ग और फारसी वर्गके बीच एक प्रकारकी होड़ रहती थी। फारसी सिखानेवाले मौलवी नरम मिजाजके थे। विद्यार्थी आपसमें बात करते कि फारसी तो बहुत आसान है और फारसी-शिक्षक बहुत भले हैं। विद्यार्थी जितना काम करते हैं, उतनेसे वे संतोष कर लेते हैं। मैं भी आसान होनेकी बात सुनकर ललचाया और एक दिन फारसीके वर्गमें जाकर बैठा। संस्कृत-शिक्षकको दुःख हुआ। उन्होंने मुझे बुलाया और कहा : "यह तो समझ कि तू किनका लड़का है। क्या तू अपने धर्मकी भाषा नहीं सीखेगा? तुझे जो कठिनाई हो, सो मुझे बता। मैं तो सब विद्यार्थियोंको बढ़िया संस्कृत सिखाना चाहता हूँ। आगे चलकर उसमें रसके घूँट पीनेको मिलेंगे। तुझे यों हारना नहीं चाहिये। तू फिरसे मेरे वर्गमें बैठ।" मैं शरमाया। शिक्षकके प्रेमकी अवगणना न कर सका। आज मेरी आत्मा कृष्णशंकर मास्टरका उपकार मानती है। क्योंकि जितनी संस्कृत मैं उस समय सीखा उतनी भी न सीखा होता, तो आज संस्कृत शास्त्रोंमें मैं जितना रस ले सकता हूँ उतना न ले पाता। मुझे तो इस बातका पश्चात्ताप होता है कि मैं संस्कृत अधिक न सीख सका। क्योंकि बादमें मैं समझा कि किसी भी हिन्दू बालकको संस्कृतका अच्छा अभ्यास किये बिना रहना ही न चाहिये।

अब तो मैं यह मानता हूँ कि भारतवर्षकी उच्च शिक्षाके पाठ्यक्रममें मातृभाषाके अतिरिक्त राष्ट्रभाषा हिन्दी, संस्कृत, फारसी, अरबी और अंग्रेजीका स्थान होना चाहिये। भाषाओंकी इस संख्यासे किसीको डरना नहीं चाहिये। भाषा पद्धतिपूर्वक सिखाई जाये और सब विषयोंको अंग्रेजीके माध्यमसे सीखने-सोचनेका बोझ हम पर न हो, तो ऊपरकी भाषायें सीखना सिर्फ बोझरूप न होगा, बल्कि उसमें बहुत ही आनन्द आयेगा। और जो व्यक्ति एक भाषाको शास्त्रीय पद्धतिसे सीख लेता है, उसके लिए दूसरीका ज्ञान सुलभ हो जाता है। असलमें तो हिन्दी, गुजराती, संस्कृत एक भाषा मानी जा सकती हैं। इसी तरह फारसी और अरबी एक मानी जायें। यद्यपि फारसी संस्कृतसे मिलती-जुलती है और अरबीका हिब्रूसे मेल है, फिर भी

दोनोंका विकास इस्लामके प्रकट होनेके बाद हुआ है, इसलिए दोनोंके बीच निकटका

सम्बन्ध है। उर्दूको मैंने अलग भाषा नहीं माना है, क्योंकि उसके व्याकरणका समावेश हिन्दीमें हो जाता है। उसके शब्द तो फारसी और अरबी ही हैं। ऊँचे दर्जेकी उर्दू जाननेवालेके लिए अरबी और फारसीका ज्ञान जरूरी है, जैसे उच्च प्रकारकी गुजराती, हिन्दी, बंगला, मराठी जाननेवालेके लिए संस्कृत जानना आवश्यक है।

६. दुःखद प्रसंग - १

मैं कह चुका हूँ कि हाईस्कूलमें मेरे थोड़े ही विश्वासपात्र मित्र थे। कहा जा सकता है कि ऐसी मित्रता रखनेवाले दो मित्र अलग-अलग समयमें रहे। एकका सम्बन्ध लम्बे समय तक नहीं टिका, यद्यपि मैंने उस मित्रको छोड़ा नहीं था। मैंने दूसरेकी सोहबत की, इसलिए पहलेने मुझे छोड़ दिया। दूसरी सोहबत मेरे जीवनका एक दुःखद प्रकरण है। यह सोहबत बहुत वर्षों तक रही। इस सोहबतको निभानेमें मेरी दृष्टि सुधारककी थी। इन भाईकी पहली मित्रता मेरे मझले भाईके साथ थी। वे मेरे भाईकी कक्षामें थे। मैं देख सका था कि उनमें कई दोष हैं। पर मैंने उन्हें वफादार मान लिया था। मेरी माताजी, मेरे जेठे भाई और मेरी धर्मपत्नी तीनोंको यह सोहबत कड़वी लगती थी। पत्नीकी चेतावनीको तो मैं अभिमानी पति क्यों मानने लगा? माताकी आज्ञाका उल्लंघन मैं करता ही न था। बड़े भाईकी बात मैं हमेशा सुनता था। पर उन्हें मैंने यह कहकर शान्त किया : "उसके जो दोष आप बताते हैं, उन्हें मैं जानता हूँ। उसके गुण तो आप जानते ही नहीं। वह मुझे गलत रास्ते नहीं ले जायेगा, क्योंकि उसके साथ मेरा सम्बन्ध उसे सुधारनेके लिए ही है। मुझे यह विश्वास है कि अगर वह सुधर जाये, तो बहुत अच्छा आदमी निकलेगा। मैं चाहता हूँ कि आप मेरे विषयमें निर्भय रहें।" मैं नहीं मानता कि मेरी इस बातसे उन्हें संतोष हुआ, पर उन्होंने मुझ पर विश्वास किया और मुझे मेरे रास्ते जाने दिया।

बादमें मैं देख सका कि मेरा अनुमान ठीक नहीं था। सुधार करनेके लिए भी मनुष्यको गहरे पानीमें नहीं पैठना चाहिये। जिसे सुधारना है उसके साथ मित्रता नहीं हो सकती। मित्रतामें अद्वैत-भाव होता है। संसारमें ऐसी मित्रता क्वचित् ही पायी जाती है। मित्रता समान गुणवालोंके बीच शोभती और निभती है। मित्र एक-दूसरेको प्रभावित किये बिना रह ही नहीं सकते। अतएव मित्रतामें सुधारके लिए बहुत कम

अवकाश रहता है। मेरी राय है कि घनिष्ठ मित्रता अनिष्ट है, क्योंकि मनुष्य दोषोंको जल्दी ग्रहण करता है। गुण ग्रहण करनेके लिए प्रयासकी आवश्यकता है। जो आत्माकी, ईश्वरकी मित्रता चाहता है, उसे एकाकी रहना चाहिये, अथवा समूचे संसारके साथ मित्रता रखनी चाहिये। ऊपरका विचार योग्य हो अथवा अयोग्य, घनिष्ठ मित्रता बढ़ानेका मेरा प्रयोग निष्फल रहा।

जिन दिनों मैं इन मित्रके संपर्कमें आया, उन दिनों राजकोटमें 'सुधारपंथ' का जोर था। मुझे इन मित्रने बताया कि कई हिन्दू शिक्षक छिपेछिपे मांसाहार और मद्यपान करते हैं। उन्होंने राजकोटके दूसरे प्रसिद्ध गृहस्थोंके नाम भी दिये। मेरे सामने हाईस्कूलमें कुछ विद्यार्थियोंके नाम भी आये। मुझे तो आश्चर्य भी हुआ और दुःख भी। कारण पूछने पर यह दलील दी गयी: "हम मांसाहार नहीं करते, इसलिए प्रजाके रूपमें हम निर्वीर्य हैं। अंग्रेज हम पर इसीलिए राज्य करते हैं कि वे मांसाहारी हैं। मैं कितना मजबूत हूँ और कितना दौड़ सकता हूँ, सो तो तुम जानते ही हो। इसका कारण भी मांसाहार ही है। मांसाहारीको फोड़े नहीं होते, होने पर झट अच्छे हो जाते हैं। हमारे शिक्षक मांस खाते हैं, इतने प्रसिद्ध व्यक्ति खाते हैं, सो क्या बिना समझे खाते हैं? तुम्हें भी खाना चाहिये। खाकर देखो तो मालूम होगा कि तुममें कितनी ताकत आ जाती है।"

ये सब दलीलें किसी एक दिन नहीं दी गयी थीं। अनेक उदाहरणोंसे सजाकर इस तरहकी दलीलें कई बार दी गयीं। मेरे मझले भाई तो भ्रष्ट हो चुके थे। उन्होंने इन दलीलोंकी पुष्टि की। अपने भाईकी और इन मित्रकी तुलनामें मैं तो बहुत दुबला था। उनके शरीर अधिक गठीले थे। उनका शरीर-बल मुझसे कहीं ज्यादा था। वे हिम्मतवर थे। इन मित्रके पराक्रम मुझे मुग्ध कर देते थे। वे मनचाहा दौड़ सकते थे। उनकी गति बहुत अच्छी थी। वे खूब लम्बा और ऊँचा कूद सकते थे। मार सहन करनेकी शक्ति भी उनमें खूब थी। अपनी इस शक्तिका प्रदर्शन भी वे मेरे सामने समय-समय पर करते थे। जो शक्ति अपनेमें नहीं होती, उसे दूसरेमें देखकर मनुष्यको आश्चर्य होता ही है। वैसा मुझे भी हुआ। आश्चर्यमें से मोह पैदा हुआ। मुझमें दौड़ने-कूदनेकी शक्ति नहींके बराबर थी। मैं सोचा करता कि मैं भी इन मित्रकी तरह बलवान बन जाऊँ, तो कितना अच्छा हो!

इसके अलावा मैं बहुत डरपोक था। चोर, भूत, साँप आदिके डरसे घिरा रहता था। ये डर मुझे खूब हैरान भी करते थे। रात कहीं अकेले जानेकी हिम्मत नहीं थी।

अँधेरेमें तो कहीं जाता ही न था। दीयेके बिना सोना लगभग असंभव था। कहीं इधरसे भूत न आ जाये, उधरसे चोर न आ जाये और तीसरी जगहसे साँप न निकल आये! इसलिए बत्तीकी जरूरत तो रहती ही थी। पासमें सोयी हुई और अब कुछ सयानी बनी हुई पत्नीसे भी अपने इस डरकी बात मैं कैसे करता? मैं यह समझ चुका था कि वह मुझसे ज्यादा हिम्मतवाली है और इसलिए मैं शरमाता था। साँप आदिसे डरना तो वह जानती ही न थी। अँधेरेमें वह अकेली चली जाती थी। मेरे ये मित्र मेरी इन कमजोरियोंको जानते थे। मुझसे कहा करते थे कि वे तो जिन्दा साँपोंको भी हाथसे पकड़ लेते हैं। चोरसे कभी नहीं डरते। भूतको तो मानते ही नहीं। उन्होंने मुझे जँचाया कि यह सारा प्रताप मांसाहारका है।

इन्हीं दिनों नर्मद[1]का नीचे लिखा पद स्कूलोंमें गाया जाता था:

अंग्रेजो राज्य करे, देशी रहे दबाई,
देशी रहे दबाई, जोने बेनां शरीर भाई
पेलो पांच हाथ पूरो, पूरो पांचसेंने.[2]

इन सब बातोंका मेरे मन पर पूरा-पूरा असर हुआ। मैं पिघला। मैं यह मानने लगा कि मांसाहार अच्छी चीज है। उससे मैं बलवान और साहसी बनूँगा। समूचा देश मांसाहार करे, तो अंग्रेजोंको हराया जा सकता है।

मांसाहार शुरू करनेका दिन निश्चित हुआ।

इस निश्चय-- इस आरम्भ--का अर्थ सब पाठक समझ नहीं सकेंगे। गांधी-परिवार वैष्णव सम्प्रदायका है। माता-पिता बहुत कट्टर वैष्णव माने जाते थे। हवेलीमें (वैष्णव-मन्दिरमें) हमेशा जाते थे। कुछ मन्दिर तो परिवारके ही माने जाते थे। फिर गुजरातमें जैन सम्प्रदायका बड़ा जोर है। उसका प्रभाव हर जगह, हर काममें पाया जाता है। इसलिए मांसाहारका जैसा विरोध और तिरस्कार गुजरातमें और श्रावकों तथा वैष्णवोंमें पाया जाता है, वैसा हिन्दुस्तानमें या सारी दुनियामें और कहीं नहीं पाया जाता। ये मेरे संस्कार थे।

---

१. गुजरातीके प्रसिद्ध कवि नर्मद (१८३३-८६)। अर्वाचीन गद्यके निर्माता। गुजरातीकी नवीन काव्यधाराके एक प्रधान कवि।

२. अंग्रेज राज्य करते हैं और हिन्दुस्तानी दबे रहते हैं। दोनोंके शरीर तो देखो। वे पूरे पाँच हाथके हैं। एक-एक पाँच सौके लिए काफी है।

मैं माता-पिताका परम भक्त था। मैं मानता था कि वे मेरे मांसाहारकी बात जानेंगे, तो बिना मौतके उनकी तत्काल मृत्यु हो जायेगी। जाने-अनजाने मैं सत्यका सेवक तो था ही। मैं ऐसा नहीं कह सकता कि उस समय मुझे यह ज्ञान न था कि मांसाहार करनेमें माता-पिताको धोखा देना होगा।

ऐसी हालतमें मांसाहार करनेका मेरा निश्चय मेरे लिए बहुत गम्भीर और भयंकर बात थी।

लेकिन मुझे तो सुधार करना था। मांसाहारका शौक नहीं था। यह सोचकर कि उसमें स्वाद है, मैं मांसाहार शुरू नहीं कर रहा था। मुझे तो बलवान और साहसी बनना था, दूसरोंको वैसा बननेके लिए न्योतना था और फिर अंग्रेजोंको हराकर हिन्दुस्तानको स्वतंत्र करना था। 'स्वराज्य' शब्द उस समय तक मैंने सुना नहीं था। सुधारके इस जोशमें मैं होश भूल गया।

७. दुःखद प्रसंग - २

निश्चित दिन आया। अपनी स्थितिका सम्पूर्ण वर्णन करना मेरे लिए कठिन है। एक तरफ सुधारका उत्साह था, जीवनमें महत्त्वका परिवर्तन करनेका कुतूहल था, और दूसरी तरफ चोरकी तरह छिपकर काम करनेकी शरम थी। मुझे याद नहीं पड़ता कि इसमें मुख्य वस्तु क्या थी। हम नदीकी तरफ एकान्तकी खोजमें चले। दूर जाकर ऐसा कोना खोजा, जहाँ कोई देख न सके, और वहाँ मैंने कभी न देखी हुई वस्तु--मांस--देखी! साथमें भटियारखानेकी डबल-रोटी थी। दोनोंमें से एक भी चीज मुझे भाती नहीं थी। मांस चमड़े-जैसा लगता था। खाना असम्भव हो गया। मुझे कै होने लगी। खाना छोड़ देना पड़ा।

मेरी वह रात बहुत बुरी बीती। नींद नहीं आई। सपनेमें ऐसा भास होता था, मानो शरीरके अन्दर बकरा जिन्दा हो और रो रहा हो। मैं चौंक उठता, पछताता और फिर सोचता कि मुझे तो मांसाहार करना ही है, हिम्मत नहीं हारनी है! मित्र भी हार खानेवाले नहीं थे। उन्होंने अब मांसको अलग-अलग ढंगसे पकाने, सजाने और ढँकनेका प्रबन्ध किया। नदीकिनारे ले जानेके बदले किसी बावरचीके साथ बातचीत करके छिपेछिपे एक सरकारी डाक-बंगले पर ले जानेकी व्यवस्था की और वहाँ कुर्सी, मेज वगैरा सामानके प्रलोभनमें मुझे डाला। इसका असर हुआ। डबल-

रोटीकी नफरत कुछ कम पड़ी, बकरेकी दया छूटी और मासका तो कह नहीं सकता, पर मांसवाले पदार्थोंमें स्वाद आने लगा। इस तरह एक साल बीता होगा और इस बीच पाँच-छह बार मांस खानेको मिला होगा, क्योंकि डाक-बंगला सदा सुलभ न रहता था और मांसके स्वादिष्ट माने जानेवाले बढ़िया पदार्थ भी सदा तैयार नहीं हो सकते थे। फिर ऐसे भोजनों पर पैसा भी खर्च होता था। मेरे पास तो फूटी कौड़ी भी नहीं थी, इसलिए मैं कुछ दे नहीं सकता था। इस खर्चकी व्यवस्था उन मित्रको ही करनी होती थी। उन्होंने कहाँसे, कैसे व्यवस्था की, इसका मुझे आज तक पता नहीं है। उनका इरादा तो मुझे मांसकी आदत लगा देनेंका-- भ्रष्ट करनेका--था, इसलिए पैसा वे अपने पाससे खर्च करते थे। पर उनके पास भी कोई अखूट खजाना नहीं था, इसलिए ऐसी दावतें कभी-कभी ही हो सकती थीं।

जब-जब ऐसा भोजन मिलता, तब-तब घर पर तो भोजन हो ही नहीं सकता था। जब माताजी भोजनके लिए बुलातीं, तब 'आज भूख नहीं है, खाना हजम नहीं हुआ है' ऐसे बहाने बनाने पड़ते थे। ऐसा कहते समय हर बार मुझे भारी आघात पहुँचता था। यह झूठ, सो भी माँके सामने! और अगर माता-पिताको पता चले कि लड़के मांसाहारी हो गये हैं, तब तो उन पर बिजली ही टूट पड़ेगी। ये विचार मेरे दिलको कुरेदते रहते थे, इसलिए मैंने निश्चय किया: 'मांस खाना आवश्यक है; उसका प्रचार करके हम हिन्दुस्तानको सुधारेंगे; पर माता-पिताको धोखा देना और झूठ बोलना तो मांस न खानेसे भी बुरा है। इसलिए माता-पिताके जीते-जी मांस नहीं खाना चाहिये। उनकी मृत्युके बाद, स्वतंत्र होने पर खुले तौरसे मांस खाना चाहिये और जब तक वह समय न आवे, तब तक मांसाहारका त्याग करना चाहिये।' अपना यह निश्चय मैंने मित्रको जता दिया और तबसे मांसाहार जो छूटा, सो सदाके लिए छूट गया। माता-पिता कभी यह जान ही न पाये कि उनके दो पुत्र मांसाहार कर चुके हैं।

माता-पिताको धोखा न देनेके शुभ विचारसे मैंने मांसाहार छोड़ा, पर वह मित्रता नहीं छोड़ी। मैं मित्रको सुधारने चला था, पर खुद ही गिरा, और गिरावटका मुझे होश तक न रहा।

इसी सोहबतके कारण मैं व्यभिचारमें भी फँस जाता। एक बार मेरे ये मित्र मुझे वेश्याओंकी बस्तीमें ले गये। वहाँ मुझे योग्य सूचनायें देकर एक स्त्रीके मकानमें भेजा। मुझे पैसे वगैरा कुछ देना नहीं था। हिसाब हो चुका था। मुझे तो सिर्फ दिल-

बहलावकी बातें करनी थीं। मैं घरमें घुस तो गया, पर जिसे ईश्वर बचाना चाहता है, वह गिरनेकी इच्छा रखते हुए भी पवित्र रह सकता है। उस कोठरीमें मैं तो बिलकुल अंधा बन गया। मुझे बोलनेका भी होश न रहा। मारे शरमके सन्नाटेमें आकर उस औरतके पास खटिया पर बैठा, पर मुँहसे बोल न निकल सका। औरतने गुस्सेमें आकर मुझे दो-चार खरी-खोटी सुनायी और दरवाजेकी राह दिखायी।

उस समय तो मुझे जान पड़ा कि मेरी मर्दानगीको बट्टा लगा; और मैंने चाहा कि धरती जगह दे, तो मैं उसमें समा जाऊँ। पर इस तरह बचनेके लिए मैंने सदा ही भगवानका आभार माना है। मेरे जीवनमें ऐसे ही दूसरे चार प्रसंग और आये हैं। कहना होगा कि उनमें से अनेकोंमें, अपने प्रयत्नके बिना, केवल परिस्थितिके कारण मैं बचा हूँ। विशुद्ध दृष्टिसे तो इन प्रसंगोंमें मेरा पतन ही माना जायेगा। चूंकि मैंने विषयकी इच्छा की, इसलिए मैं उसे भोग ही चुका। फिर भी लौकिक दृष्टिसे, इच्छा करने पर भी जो प्रत्यक्ष कर्मसे बचता है, उसे हम बचा हुआ मानते हैं; और इन प्रसंगोंमें मैं इसी तरह, इतनी ही हद तक, बचा हुआ माना जाऊँगा। फिर कुछ काम ऐसे हैं, जिन्हें करनेसे बचना व्यक्तिके लिए और उसके संपर्कमें आनेवालोंके लिए बहुत लाभदायक होता है, और जब विचार-शुद्धि हो जाती है तब उस कार्यमें से बच जानेके लिए वह ईश्वरका अनुगृहीत होता है। जिस तरह हम यह अनुभव करते हैं कि पतनसे बचनेका प्रयत्न करते हुए भी मनुष्य पतित बनता है, उसी तरह यह भी एक अनुभव-सिद्ध बात है कि गिरना चाहते हुए भी अनेक संयोगोंके कारण मनुष्य गिरनेसे बच जाता है। इसमें पुरुषार्थ कहाँ है, दैव कहाँ है, अथवा किन नियमोंके वश होकर मनुष्य आखिर गिरता या बचता है, ये सारे गूढ़ प्रश्न हैं। इनका हल आज तक हुआ नहीं, और कहना कठिन है कि अन्तिम निर्णय कभी हो सकेगा या नहीं।

पर हम आगे बढ़ें। मुझे अभी तक इस बातका होश नहीं हुआ था कि इन मित्रकी मित्रता अनिष्ट है। वैसा होनेसे पहले मुझे अभी कुछ और कड़वे अनुभव प्राप्त करने थे। इसका बोध तो मुझे तभी हुआ जब मैंने उनके अकल्पित दोषोंका प्रत्यक्ष दर्शन किया। लेकिन मैं यथासंभव समयके क्रमके अनुसार अपने अनुभव लिख रहा हूँ, इसलिए दूसरे अनुभव आगे आवेंगे।

इस समयकी एक बात यहीं कहनी होगी। हम दम्पतीके बीच जो कुछ मतभेद पैदा होता या कलह होता, उसका एक कारण यह मित्रता भी थी। मैं ऊपर बता चुका हूँ कि मैं जैसा प्रेमी वैसा ही वहमी पति था। मेरे वहमको बढ़ानेवाली यह मित्रता थी,

क्योंकि मित्रकी सच्चाईके बारेमें मुझे कोई सन्देह था ही नहीं। इन मित्रकी बातोंमें आकर मैंने अपनी धर्मपत्नीको कितने ही कष्ट पहुँचाये हैं। इस हिंसाके लिए मैंने अपनेको कभी माफ नहीं किया है। ऐसे दुःख हिन्दू स्त्री ही सहन करती है, और इस कारण मैंने स्त्रीको सदा सहनशीलताकी मूर्तिके रूपमें देखा है। नौकर पर झूठा शक किया जाय तो वह नौकरी छोड़ देता है, पुत्र पर ऐसा शक हो तो वह पिताका घर छोड़ देता है, मित्रोंके बीच शक पैदा हो तो मित्रता टूट जाती है, स्त्रीको पति पर शक हो तो वह मन मसोस कर बैठी रहती है, पर अगर पति पत्नी पर शक करे, तो पत्नी बेचारीका तो भाग्य ही फूट जाता है। वह कहाँ जाये? उच्च माने जानेवाले वर्णकी हिन्दू स्त्री अदालतमें जाकर बँधी हुई गाँठको कटवा भी नहीं सकती, ऐसा इकतरफा न्याय उसके लिए रखा गया है। इस तरहका न्याय मैंने दिया, इसके दुःखको मैं कभी नहीं भूल सकता। इस सन्देहकी जड़ तो तभी कटी जब मुझे अहिंसाका सूक्ष्म ज्ञान हुआ, यानी जब मैं ब्रह्मचर्यकी महिमाको समझा और यह समझा कि पत्नी पतिकी दासी नहीं, पर उसकी सहचारिणी है, सहधर्मिणी है, दोनों एक-दूसरेके सुख-दुःखके समान साझेदार हैं, और भला-बुरा करनेकी जितनी स्वतंत्रता पतिको है उतनी ही पत्नीको है। सन्देहके उस कालको जब मैं याद करता हूँ, तो मुझे अपनी मूर्खता और विषयान्ध निर्दयता पर क्रोध आता है और मित्रता-विषयक अपनी मूर्च्छा पर दया आती है।

८. चोरी और प्रायश्चित्त

मांसाहारके समयके और उससे पहलेके कुछ दोषोंका वर्णन अभी रह गया है। ये दोष विवाहसे पहलेके अथवा उसके तुरन्त बादके हैं।

अपने एक रिश्तेदारके साथ मुझे बीड़ी पीनेका शौक लगा। हमारे पास पैसे नहीं थे। हम दोनोंमें से किसीका यह खयाल तो नहीं था कि बीड़ी पीनेमें कोई फायदा है, अथवा उसकी गन्धमें आनन्द है। पर हमें लगा कि सिर्फ धुआँ उड़ानेमें ही कुछ मजा है। मेरे काकाजीको बीड़ी पीनेकी आदत थी। उन्हें और दूसरोंको धुआँ उड़ाते देखकर हमें भी बीड़ी फूँकनेकी इच्छा हुई। गाँठमें पैसे तो थे नहीं, इसलिए काकाजी पीनेके बाद बीड़ीके जो 'ठूँठ' फेंक देते, हमने उन्हें चुराना शुरू किया।

पर बीड़ीके ये ठूँठ हर समय मिल नहीं सकते थे, और उनमें से बहुत धुआँ भी

नहीं निकलता था। इसलिए नौकरकी जेबमें पड़े दो-चार पैसोंमें से हमने एकाध पैसा चुरानेकी आदत डाली, और हम बीड़ी खरीदने लगे। पर सवाल यह पैदा हुआ कि उसे संभाल कर रखें कहाँ। हम जानते थे कि बड़ोंके देखते तो बीड़ी पी ही नहीं सकते। जैसे-तैसे दो-चार पैसे चुराकर कुछ हफ्ते काम चलाया। इस बीच सुना कि एक प्रकारका पौधा होता है (उसका नाम तो मैं भूल गया हूँ), जिसके डंठल बीड़ीकी तरह जलते हैं और फूँके जा सकते हैं। हमने उन्हें प्राप्त किया और फूँकने लगे!

पर हमें संतोष नहीं हुआ। अपनी पराधीनता हमें अखरने लगी। हमें दुःख इस बातका था कि बड़ोंकी आज्ञाके बिना हम कुछ भी नहीं कर सकते थे। हम ऊब गये और हमने आत्महत्या करनेका निश्चय कर लिया!

पर आत्महत्या कैसे करें? जहर कौन दे? हमने सुना कि धतूरेके बीज खानेसे मृत्यु होती है। हम जंगलमें जाकर बीज ले आये। शामका समय तय किया। केदारनाथजीके मन्दिरकी दीपमालामें घी चढाया, दर्शन किये और एकान्त खोज लिया। पर जहर खानेकी हिम्मत न हुई। अगर तुरन्त ही मृत्यु न हुई तो क्या होगा? मरनेसे लाभ क्या? क्यों न पराधीनता ही सह ली जाये? फिर भी दो-चार बीज खाये। अधिक खानेकी हिम्मत ही न पड़ी। दोनों मौतसे डरे और यह निश्चय किया कि रामजीके मन्दिरमें जाकर दर्शन करके शान्त हो जायें और आत्महत्याकी बात भूल जायें।

मेरी समझमें आया कि आत्महत्याका विचार करना सरल है, आत्महत्या करना सरल नहीं। इसलिए कोई आत्महत्या करनेकी धमकी देता है, तो मुझ पर उसका बहुत कम असर होता है, अथवा यह कहना ठीक होगा कि कोई असर होता ही नहीं।

आत्महत्याके इस विचारका परिणाम यह हुआ कि हम दोनों जूठी बीड़ी चुराकर पीनेकी और नौकरके पैसे चुराकर बीड़ी खरीदने और फूँकनेकी आदत भूल गये। फिर बड़ेपनमें बीड़ी पीनेकी कभी इच्छा नहीं हुई। मैंने हमेशा यह माना है कि यह आदत जंगली, गन्दी और हानिकारक है। दुनियामें बीड़ीका इतना जबरदस्त शौक क्यों है, इसे मैं कभी समझ नहीं सका हूँ। रेलगाड़ीके जिस डिब्बेमें बहुत बीड़ी पी जाती है, वहाँ बैठना मेरे लिए मुश्किल हो जाता है, और उसके धुएँसे मेरा दम घुटने लगता है।

बीड़ीके ठूँठ चुराने और इसी सिलसिलेमें नौकरके पैसे चुरानेके दोषकी तुलनामें मुझसे चोरीका दूसरा जो दोष हुआ, उसे मैं अधिक गम्भीर मानता हूँ। बीड़ीके दोषके समय मेरी उमर बारह-तेरह सालकी रही होगी; शायद इससे कम भी हो। दूसरी चोरीके समय मेरी उमर पन्द्रह सालकी रही होगी। यह चोरी मेरे मांसाहारी भाईके सोनेके कड़ेके टुकड़ेकी थी। उन पर मामूली-सा, लगभग पच्चीस रुपयेका, कर्ज हो गया था। उसकी अदायगीके बारेमें हम दोनों भाई सोच रहे थे। मेरे भाईके हाथमें सोनेका ठोस कड़ा था। उसमें से एक तोला सोना काट लेना मुश्किल न था।

कड़ा कटा। कर्ज अदा हुआ। पर मेरे लिए यह बात असह्य हो गयी। मैंने निश्चय किया कि आगे कभी चोरी करूँगा ही नहीं। मुझे लगा कि पिताजीके सम्मुख अपना दोष स्वीकार भी कर लेना चाहिये। पर जीभ न खुली। पिताजी स्वयं मुझे पीटेंगे, इसका डर तो था ही नहीं। मुझे याद नहीं पड़ता कि उन्होंने कभी हममें से किसी भाईको पीटा हो। पर खुद दुःखी होंगे, शायद सिर फोड़ लें। मैंने सोचा कि यह जोखिम उठाकर भी दोष कबूल कर ही लेना चाहिये, उसके बिना शुद्धि नहीं होगी।

आखिर मैंने तय किया कि चिट्ठी लिखकर दोष स्वीकार किया जाये और क्षमा माँग ली जाये। मैंने चिट्ठी लिखकर हाथोंहाथ दी। चिट्ठीमें सारा दोष स्वीकार किया और सजा चाही। आग्रहपूर्वक बिनती की कि वे अपनेको दुःखमें न डालें, और भविष्यमें फिर ऐसा अपराध न करनेकी प्रतिज्ञा की।

मैंने काँपते हाथों चिट्ठी पिताजीके हाथमें दी। मैं उनके तख्तके सामने बैठ गया। उन दिनों वे भगन्दरकी बीमारीसे पीड़ित थे, इस कारण बिस्तर पर ही पड़े रहते थे। खटियाके बदले लकड़ीका तख्त काममें लाते थे।

उन्होंने चिट्ठी पढ़ी। आँखोंसे मोतीकी बूंदें टपकीं। चिट्ठी भीग गयी। उन्होंने क्षण भरके लिए आँखें मूँदीं, चिट्ठी फाड़ डाली और स्वयं पढ़नेके लिए उठ बैठे थे, सो वापस लेट गये।

मैं भी रोया। पिताजीका दुःख समझ सका। अगर मैं चित्रकार होता, तो वह चित्र आज सम्पूर्णतासे खींच सकता। आज भी वह मेरी आँखोंके सामने इतना स्पष्ट है।

मोतीकी बूँदोंके उस प्रेमबाणने मुझे बेध डाला। मैं शुद्ध बना! इस प्रेमको तो अनुभवी ही जान सकता है।

रामबाण वाग्यां रे होय ते जाणे.*

मेरे लिए यह अहिंसाका पदार्थपाठ था। उस समय तो मैंने इसमें पिताके प्रेमके सिवा और कुछ नहीं देखा, पर आज मैं इसे शुद्ध अहिंसाके नामसे पहचान सकता हूँ। ऐसी अहिंसाके व्यापक रूप धारण कर लेने पर उसके स्पर्शसे कौन बच सकता है? ऐसी व्यापक अहिंसाकी शक्तिकी थाह लेना असम्भव है।

इस प्रकारकी शान्त क्षमा पिताजीके स्वभावके विरुद्ध थी। मैंने सोचा था कि वे क्रोध करेंगे, कटु वचन कहेंगे, शायद अपना सिर पीट लेंगे। पर उन्होंने इतनी अपार शान्ति जो धारण की, मेरे विचारमें उसका कारण अपराधकी सरल स्वीकृति थी। जो मनुष्य अधिकारीके सम्मुख स्वेच्छासे और निष्कपट भावसे अपना अपराध स्वीकार कर लेता है और फिर कभी वैसा अपराध न करनेकी प्रतिज्ञा करता है, वह शुद्धतम प्रायश्चित्त करता है।

मैं जानता हूँ कि मेरी इस स्वीकृतिसे पिताजी मेरे विषयमें निर्भय बने और उनका महान प्रेम और भी बढ़ गया।

९. पिताजीकी मृत्यु और मेरी दोहरी शरम

उस समय मैं सोलह वर्षका था। हम ऊपर देख चुके हैं कि पिताजी भगन्दरकी बीमारीके कारण बिलकुल शय्यावश थे। उनकी सेवामें अधिकतर माताजी, घरका एक पुराना नौकर और मैं रहते थे। मेरे जिम्मे 'नर्स'का काम था। उनका घाव धोना, उसमें दवा डालना, मरहम लगानेके समय मरहम लगाना, उन्हें दवा पिलाना और जब घर पर दवा तैयार करनी हो तो तैयार करना, यह मेरा खास काम था। रात हमेशा उनके पैर दबाना और इजाजत देने पर अथवा उनके सो जाने पर सोना यह मेरा नियम था। मुझे यह सेवा बहुत प्रिय थी। मुझे स्मरण नहीं है कि इसमें किसी भी दिन चूका होऊँ। ये दिन हाईस्कूलके तो थे ही। इसलिए खाने-पीनेके बादका मेरा समय स्कूलमें अथवा पिताजीकी सेवामें ही बीतता था। जिस दिन उनकी आज्ञा मिलती और उनकी तबीयत ठीक रहती, उस दिन शामको टहलने जाता था।

---

* रामकी भक्तिका बाण जिसे लगा हो वही जान सकता है।

इसी साल पत्नी गर्भवती हुई। मैं आज देख सकता हूँ कि इसमें दोहरी शरम थी। पहली शरम तो इस बातकी कि विद्याध्ययनका समय होते हुए भी मैं संयमसे न रह सका और दूसरी यह कि यद्यपि स्कूलकी पढ़ाईको मैं अपना धर्म समझता था, और उससे भी अधिक माता-पिताकी भक्तिको धर्म समझता था-और सो भी इस हद तक कि इस विषयमें बचपनसे ही श्रवणको मैंने अपना आदर्श माना था-फिर भी विषय-वासना मुझ पर सवारी कर सकी थी। मतलब यह कि यद्यपि रोज रातको मैं पिताजीके पैर तो दबाता था, लेकिन उस समय मेरा मन शयन-गृहकी ओर भटकता रहता था, और सो भी ऐसे समय जब स्त्रीका संग धर्मशास्त्र, वैद्यक-शास्त्र और व्यवहार-शास्त्रके अनुसार त्याज्य था। जब मुझे सेवाके कामसे छुट्टी मिलती, तो मैं खुश होता और पिताजीके पैर छूकर सीधा शयन-गृहमें पहुँच जाता।

पिताजीकी बीमारी बढ़ती जाती थी। वैद्योंने अपने लेप आजमाये, हकीमोंने मरहम-पट्टियाँ आजमायीं, साधारण हज्जाम वगैराकी घरेलू दवायें भी कीं; अंग्रेज डॉक्टरने भी अपनी अक्ल आजमा कर देखी। अंग्रेज डाक्टरने सुझाया कि शस्त्र-क्रिया ही रोगका एकमात्र उपाय है। परिवारके एक मित्र वैद्य बीचमें पड़े और उन्होंने पिताजीकी उत्तरावस्थामें ऐसी शस्त्र-क्रियाको नापसन्द किया। तरह-तरहकी दवाओंकी जो बोतलें खरीदी थीं वे व्यर्थ गईं और शस्त्र-क्रिया नहीं हुई। वैद्यराज प्रवीण और प्रसिद्ध थे। मेरा खयाल है कि अगर वे शस्त्र-क्रिया होने देते, तो घावके भरनेमें दिक्कत न होती। शस्त्र-क्रिया उस समयके बम्बईके प्रसिद्ध सर्जनके द्वारा होनेको थी। पर अन्तकाल समीप था, इसलिए उचित उपाय कैसे हो पाता? पिताजी शस्त्र-क्रिया कराये बिना ही बम्बईसे वापस आये। साथमें इस निमित्तसे खरीदा हुआ सामान भी लेते आये। वे अधिक जीनेकी आशा छोड़ चुके थे। कमजोरी बढ़ती गयी और ऐसी स्थिति आ पहुँची कि प्रत्येक क्रिया बिस्तर पर ही करना जरूरी हो गया। लेकिन उन्होंने आखिरी घड़ी तक इसका विरोध ही किया और परिश्रम सहनेका आग्रह रखा। वैष्णव धर्मका यह कठोर शासन है। बाह्य शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है। पर पाश्चात्य वैद्यक-शास्त्रने हमें सिखाया है कि मल-मूत्र विसर्जनकी और स्नानादिकी सब क्रियायें बिस्तर पर लेटे-लेटे संपूर्ण स्वच्छताके साथ की जा सकती हैं और रोगीको कष्ट उठानेकी जरूरत नहीं पड़ती; जब देखो तब उसका बिछौना स्वच्छ ही रहता है। इस तरह साधी गयी स्वच्छताको मैं तो वैष्णव धर्मका ही नाम दूँगा। पर उस समय स्नानादिके लिए बिछौना छोड़नेका पिताजीका आग्रह देखकर मैं

आश्चर्यचकित ही होता था और मनमें उनकी स्तुति किया करता था।

अवसानकी घोर रात्रि समीप आई। उन दिनों मेरे चाचाजी राजकोटमें थे। मेरा कुछ ऐसा खयाल है कि पिताजीकी बढ़ती हुई बीमारीके समाचार पाकर ही वे आये थे। दोनों भाइयोंके बीच अटूट प्रेम था। चाचाजी दिन भर पिताजीके बिस्तरके पास ही बैठे रहते, और हम सबको सोनेकी इजाजत देकर खुद पिताजीके बिस्तरके पास सोते। किसीको यह खयाल तो था ही नहीं कि यह रात आखिरी सिद्ध होगी। वैसे डर तो बराबर बना ही रहता था। रातके साढ़े दस या ग्यारह बजे होंगे। मैं पैर दबा रहा था। चाचाजीने मुझसे कहा: "जा, अब मैं बैठूँगा।" मैं खुश हुआ और सीधा शयन-गृहमें पहुँचा। पत्नी तो बेचारी गहरी नींदमें थी। पर मैं सोने कैसे देता? मैंने उसे जगाया। पाँच-सात मिनट बीते होंगे, इतनेमें जिस नौकरकी मैं ऊपर चर्चा कर चुका हूँ, उसने आकर किवाड़ खटखटाया। मुझे धक्का-सा लगा। मैं चौंका। नौकरने कहा, "उठो, बापू बहुत बीमार हैं।" मैं जानता था कि वे बहुत बीमार तो थे ही, इसलिए यहाँ 'बहुत बीमार'का विशेष अर्थ समझ गया। एकदम बिस्तरसे कूद पड़ा।

"कह तो सही, बात क्या है?"

जवाब मिला, "बापू गुजर गये!"

मेरा पछताना किस काम आता? मैं बहुत शरमाया। बहुत दुःखी हुआ। दौड़कर पिताजीके कमरेमें पहुँचा। बात मेरी समझमें आयी कि अगर मैं विषयान्ध न होता, तो इस अन्तिम घड़ीमें यह वियोग मुझे नसीब न होता और मैं अन्त समय तक पिताजीके पैर दबाता रहता। अब तो मुझे चाचाजीके मुँहसे ही सुनना पड़ा: "बापू हमें छोड़कर चले गये!" अपने बड़े भाईके परम भक्त चाचाजी अंतिम सेवाका गौरव पा गये। पिताजीको अपने अवसानका अन्दाज हो चुका था। उन्होंने इशारा करके लिखनेका सामान मँगाया और कागज पर लिखा: "तैयारी करो!" इतना लिखकर उन्होंने अपने हाथ पर बँधा तावीज तोड़कर फेंक दिया, सोनेकी कण्ठी भी तोड़कर फेंक दी और एक क्षणमें आत्मा उड़ गयी।

पिछले अध्यायमें मैंने अपनी जिस शरमका जिक्र किया है, वह यही शरम है - सेवाके समय भी विषयकी इच्छा! इस काले दागको मैं आज तक मिटा नहीं सका, भूल नहीं सका। और मैंने हमेशा माना है कि यद्यपि माता-पिताके प्रति मेरी अपार भक्ति थी, उसके लिए मैं सब कुछ छोड़ सकता था, तथापि सेवाके समय भी मेरा मन विषयको छोड़ नहीं सकता था। यह उस सेवामें रही हुई अक्षम्य त्रुटि थी। इसीसे

मैंने अपनेको एकपत्नी-व्रतका पालन करनेवाला मानते हुए भी विषयान्ध माना है। इससे मुक्त होनेमें मुझे बहुत समय लगा और मुक्त होनेसे पहले कई धर्म-संकट सहने पड़े।

अपनी इस दोहरी शरमकी चर्चा समाप्त करनेसे पहले मैं यह भी कह दूँ कि पत्नीके जो बालक जन्मा वह दो या चार दिन जीकर चला गया। कोई दूसरा परिणाम हो भी क्या सकता था? जिन माँ-बापोंको अथवा जिन बाल-दम्पतीको चेतना हो, वे इस दृष्टान्तसे चेतें।

१०. धर्मकी झाँकी

छह या सात सालसे लेकर सोलह सालकी उमर तक मैंने पढ़ाई की, पर स्कूलमें कहीं भी धर्मकी शिक्षा नहीं मिली। यों कह सकते हैं कि शिक्षकोंसे जो आसानीसे मिलना चाहिये था वह नहीं मिला। फिर भी वातावरणसे कुछ-न-कुछ तो मिलता ही रहा। यहाँ धर्मका उदार अर्थ करना चाहिये। धर्म अर्थात् आत्मबोध, आत्मज्ञान। मैं वैष्णव सम्प्रदायमें जन्मा था, इसलिए हवेलीमें जानेके प्रसंग बार-बार आते थे। पर उसके प्रति श्रद्धा उत्पन्न नहीं हुई। हवेलीका वैभव मुझे अच्छा नहीं लगा। हवेलीमें चलनेवाली अनीतिकी बातें सुनकर मन उसके प्रति उदासीन बन गया। वहाँसे मुझे कुछ भी न मिला।

पर जो हवेलीसे न मिला, वह मुझे अपनी धाय रम्भासे मिला। रम्भा हमारे परिवारकी पुरानी नौकरानी थी। उसका प्रेम मुझे आज भी याद है। मैं ऊपर कह चुका हूँ कि मुझे भूत-प्रेत आदिका डर लगता था। रम्भाने मुझे समझाया कि इसकी दवा रामनाम है। मुझे तो रामनामसे भी अधिक श्रद्धा रम्भा पर थी, इसलिए बचपनमें भूत-प्रेतादिके भयसे बचनेके लिए मैंने रामनाम जपना शुरू किया। यह जप बहुत समय तक नहीं चला। पर बचपनमें जो बीज बोया गया, वह नष्ट नहीं हुआ। आज रामनाम मेरे लिए अमोघ शक्ति है। मैं मानता हूँ कि उसके मूलमें रम्भाबाईका बोया हुआ बीज है।

इसी अरसेमें मेरे चाचाजीके एक लड़केने, जो रामायणके भक्त थे, हम दो भाइयोंको राम-रक्षाका पाठ सिखानेकी व्यवस्था की। हमने उसे कण्ठाग्र कर लिया और स्नानके बाद उसके नित्यपाठका नियम बनाया। जब तक पोरबन्दर रहे, यह

नियम चला। राजकोटके वातावरणमें यह टिक न सका। इस क्रियाके प्रति भी खास श्रद्धा नहीं थी। अपने बड़े भाईके लिए मनमें जो आदर था उसके कारण और कुछ शुद्ध उच्चारणोंके साथ राम-रक्षाका पाठ कर पाते हैं इस अभिमानके कारण पाठ चलता रहा।

पर जिस चीजका मेरे मन पर गहरा असर पड़ा, वह था रामायणका पारायण। पिताजीकी बीमारीका थोड़ा समय पोरबन्दरमें बीता था। वहाँ वे रामजीके मन्दिरमें रोज रातके समय रामायण सुनते थे। सुनानेवाले बीलेश्वरके लाधा महाराज नामक एक पंडित थे। वे रामचन्द्रजीके परम भक्त थे। उनके बारेमें यह कहा जाता था कि उन्हें कोढ़की बीमारी हुई, तो उसका इलाज करनेके बदले उन्होंने बीलेश्वर महादेव पर चढ़े हुए बेलपत्र लेकर कोढ़वाले अंग पर बाँधे और केवल रामनामका जप शुरू किया। अन्तमें उनका कोढ़ जड़मूलसे नष्ट हो गया। यह बात सच हो या न हो, हम सुननेवालोंने तो सच ही मानी। यह भी सच है कि जब लाधा महाराजने कथा शुरू की, तब उनका शरीर बिलकुल नीरोग था। लाधा महाराजका कण्ठ मीठा था। वे दोहा-चौपाई गाते और अर्थ समझाते थे। उस समय मेरी उमर तेरह सालकी रही होगी, पर याद पड़ता है कि उनके पाठमें मुझे खूब रस आता था। यह रामायण-श्रवण रामायणके प्रति मेरे अत्यधिक प्रेमकी बुनियाद है। आज मैं तुलसीदासकी रामायणको भक्तिमार्गका सर्वोत्तम ग्रंथ मानता हूँ।

कुछ महीनोंके बाद हम राजकोट आये। वहाँ रामायणका पाठ नहीं होता था। एकादशीके दिन भागवत जरूर पढ़ी जाती थी। मैं कभी-कभी उसे सुनने बैठता था। पर भट्टजी रस उत्पन्न नहीं कर सके। आज मैं यह देख सकता हूँ कि भागवत एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसके पाठसे धर्म-रस उत्पन्न किया जा सकता है। मैंने तो उसे गुजरातीमें बड़े चावसे पढ़ा है। लेकिन इक्कीस दिनके अपने उपवास-कालमें भारत-भूषण पंडित मदनमोहन मालवीयजीके शुभ मुखसे मूल संस्कृतके कुछ अंश जब सुने, तो खयाल हुआ कि बचपनमें उनके समान भगवद्-भक्तके मुँहसे भागवत सुनी होती, तो उस पर उसी उमरमें मेरा गाढ़ प्रेम हो जाता। बचपनमें पड़े हुए शुभ-अशुभ संस्कार बहुत गहरी जड़ें जमाते हैं, इसे मैं खूब अनुभव करता हूँ; और इस कारण उस उमरमें मुझे कई उत्तम ग्रन्थ सुननेका लाभ नहीं मिला, सो अब अखरता है।

राजकोटमें मुझे अनायास ही सब सम्प्रदायोंके प्रति समान भाव रखनेकी शिक्षा मिली। मैंने हिन्दू धर्मके प्रत्येक सम्प्रदायका आदर करना सीखा, क्योंकि माता-पिता

वैष्णव-मन्दिरमें, शिवालयमें और राम-मन्दिरमें भी जाते और भाइयोंको भी साथ ले जाते या भेजते थे।

फिर पिताजीके पास जैन धर्माचार्योंमें से भी कोई न कोई हमेशा आते रहते थे। पिताजी उन्हें भिक्षा भी देते थे। वे पिताजीके साथ धर्म और व्यवहारकी बातें किया करते थे। इसके सिवा, पिताजीके मुसलमान और पारसी मित्र भी थे। वे अपने-अपने धर्मकी चर्चा करते और पिताजी उनकी बातें सम्मानपूर्वक और अकसर रसपूर्वक सुना करते थे। 'नर्स' होनेके कारण ऐसी चर्चाके समय मैं अकसर हाजिर रहता था। इस सारे वातावरणका प्रभाव मुझ पर यह पड़ा कि मुझमें सब धर्मोंके लिए समान भाव पैदा हो गया।

एक ईसाई धर्म अपवादरूप था। उसके प्रति कुछ अरुचि थी। उन दिनों कुछ ईसाई हाईस्कूलके कोने पर खड़े होकर व्याख्यान दिया करते थे। वे हिन्दू देवताओंकी और हिन्दू धर्मको माननेवालोंकी बुराई करते थे। मुझे वह असह्य मालूम हुआ। मैं एकाध बार ही व्याख्यान सुननेके लिए खड़ा रहा होऊँगा। दूसरी बार फिर वहाँ खड़े रहनेकी इच्छा ही न हुई। उन्हीं दिनों एक प्रसिद्ध हिन्दूके ईसाई बननेकी बात सुनी। गाँवमें चर्चा थी कि उन्हें ईसाई धर्मकी दीक्षा देते समय गोमांस खिलाया गया और शराब पिलायी गयी। उनकी पोशाक भी बदल दी गयी और ईसाई बननेके बाद वे भाई कोट-पतलून और अंग्रेजी टोपी पहनने लगे। इन बातोंसे मुझे पीड़ा पहुँची। जिस धर्मके कारण गोमांस खाना पड़े, शराब पीनी पड़े और अपनी पोशाक बदलनी पड़े, उसे धर्म कैसे कहा जाय? मेरे मनने यह दलील की। फिर यह भी सुननेमें आया कि जो भाई ईसाई बने थे, उन्होंने अपने पूर्वजोंके धर्मकी, रीति-रिवाजोंकी और देशकी निन्दा करना शुरू किया था। इन सब बातोंसे मेरे मनमें ईसाई धर्मके प्रति अरुचि उत्पन्न हो गयी।

इस तरह यद्यपि दूसरे धर्मोंके प्रति समभाव जागा, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि मुझमें ईश्वरके प्रति आस्था थी। इन्हीं दिनों पिताजीके पुस्तक-संग्रहमें से मनुस्मृतिका भाषांतर मेरे हाथमें आया। उसमें संसारकी उत्पत्ति आदिकी बातें पढ़ीं। उन पर श्रद्धा नहीं जमी, उलटे थोड़ी नास्तिकता ही पैदा हुई। मेरे दूसरे चाचाजीके लड़केकी, जो अभी जीवित हैं, बुद्धि पर मुझे विश्वास था। मैंने अपनी शंकायें उनके सामने रखीं, पर वे मेरा समाधान न कर सके। उन्होंने मुझे उत्तर दिया: "सयाने होने पर ऐसे प्रश्नोंके उत्तर तुम खुद दे सकोगे। बालकोंको ऐसे प्रश्न नहीं पूछने

चाहिये।'' मैं चुप रहा। मनको शान्ति नहीं मिली। मनुस्मृतिके खाद्याखाद्य-विषयक प्रकरणमें और दूसरे प्रकरणोंमें भी मैंने वर्तमान प्रथाका विरोध पाया। इस शंकाका उत्तर भी मुझे लगभग ऊपरके जैसा ही मिला। मैंने यह सोचकर अपने मनको समझा लिया कि 'किसी दिन बुद्धि खुलेगी, अधिक पढ़ूँगा और समझूँगा।' उस समय मनुस्मृतिको पढ़कर मैं अहिंसा तो सीख ही न सका। मांसाहारकी चर्चा हो चुकी है। उसे मनुस्मृतिका समर्थन मिला। यह भी खयाल हुआ कि सर्पादि और खटमल आदिको मारना नीति है। मुझे याद है कि उस समय मैंने धर्म समझकर खटमल आदिका नाश किया था।

पर एक चीजने मनमें जड़ जमा ली - यह संसार नीति पर टिका हुआ है। नीतिमात्रका समावेश सत्यमें है। सत्यको तो खोजना ही होगा। दिन-पर-दिन सत्यकी महिमा मेरे निकट बढ़ती गयी। सत्यकी व्याख्या विस्तृत होती गयी, और अभी भी हो रही है।

फिर, नीतिका एक छप्पय दिलमें बस गया। अपकारका बदला अपकार नहीं, उपकार ही हो सकता है, यह एक जीवन-सूत्र ही बन गया। उसने मुझ पर साम्राज्य चलाना शुरू किया। अपकारीका भला चाहना और करना, इसका मैं अनुरागी बन गया। इसके अनगिनत प्रयोग किये। वह चमत्कारी छप्पय यह है।

पाणी आपने पाय, भलुं भोजन तो दीजे;
आवी नमावे शीश, दंडवत कोडे कीजे.
आपण घासे दाम, काम महोरोनुं करीए;
आप उगारे प्राण, ते तणा दुःखमां मरीए.
गुण केडे तो गुण दश गणो, मन, वाचा, कर्मे करी;
अवगुण केडे जो गुण करे, ते जगमां जीत्यो सही.*

---

* जो हमें पानी पिलाये, उसे हम अच्छा भोजन करायें। जो आकर हमारे सामने सिर नवाये, उसे हम उमंगसे दण्डवत् प्रणाम करें। जो हमारे लिए एक पैसा खर्च करे, उसका हम मुहरोंकी कीमतका काम कर दें। जो हमारे प्राण बचावे, उसका दुःख दूर करनेके लिए हम अपने प्राण तक निछावर कर दें। जो हमारा उपकार करे, उसका तो हमें मन, बचन और कर्मसे दस गुना उपकार करना ही चाहिये। लेकिन जगमें सच्चा और सार्थक जीना उसीका है, जो अपकार करनेवालेके प्रति भी उपकार करता है।

११. विलायतकी तैयारी

सन् १८८७ में मैंने मैट्रिककी परीक्षा पास की। देशकी और गांधी-कुटुम्बकी गरीबी ऐसी थी कि अहमदाबाद और बम्बई-जैसे परीक्षाके दो केन्द्र हों, तो वैसी स्थितिवाले काठियावाड़-निवासी नजदीकके और सस्ते अहमदाबादको पसन्द करते थे। वही मैंने किया। मैंने पहले-पहल राजकोटसे अहमदाबादकी यात्रा अकेले की।

बड़ोंकी इच्छा थी कि पास हो जाने पर मुझे आगे कॉलेजकी पढ़ाई करनी चाहिये। कॉलेज बम्बईमें भी था और भावनगरमें भी। भावनगरका खर्च कम था, इसलिए भावनगरके शामलदास कॉलेजमें भरती होनेका निश्चय हुआ। कॉलेजमें मुझे कुछ आता न था। सब कुछ मुश्किल मालूम होता था। अध्यापकोंके व्याख्यानोंमें न रस आता और न मैं उन्हें समझ पाता। इसमें दोष अध्यापकोंका नहीं, मेरी कमजोरीका ही था। उस समयके शामलदास कॉलेजके अध्यापक तो प्रथम पंक्तिके माने जाते थे। पहला सत्र पूरा करके मैं घर आया।

कुटुम्बके पुराने मित्र और सलाहकार एक विद्वान, व्यवहार-कुशल ब्राह्मण मावजी दवे थे। पिताजीके स्वर्गवासके बाद भी उन्होंने कुटुम्बके साथ सम्बन्ध बनाये रखा था। वे छुट्टीके इन दिनोंमें घर आये। माताजी और बड़े भाईके साथ बातचीत करते हुए उन्होंने मेरी पढ़ाईके बारेमें पूछताछ की। जब सुना कि मैं शामलदास कॉलेजमें हूँ, तो बोले: ''जमाना बदल गया है। तुम भाइयोंमें से कोई कबा गांधीकी गद्दी संभालना चाहे तो बिना पढ़ाईके वह नहीं होगा। यह लड़का अभी पढ़ रहा है, इसलिए गद्दी संभालनेका बोझ इससे उठवाना चाहिये। इसे चार-पाँच साल तो अभी बी० ए० होनेमें लग जायेंगे, और इतना समय देने पर भी इसे ५०-६० रुपयेकी नौकरी मिलेगी, दीवानगीरी नहीं। और अगर उसके बाद इसे मेरे लड़केकी तरह वकील बनायें, तो थोड़े वर्ष और लग जायेंगे। और तब तक तो दीवानगीरीके लिए वकील भी बहुतसे तैयार हो चुकेंगे। आपको इसे विलायत भेजना चाहिये। केवलराम (मावजी दवेके लड़केका नाम) कहता है कि वहाँकी पढ़ाई सरल है। तीन सालमें पढ़कर लौट आयेगा। खर्च भी चार-पाँच हजारसे अधिक नहीं होगा। नये आये हुए बारिस्टरोंको देखो, वे कैसे ठाठसे रहते हैं! वे चाहें तो उन्हें दीवानगीरी आज मिल सकती है। मेरी तो सलाह है कि आप मोहनदासको इसी साल विलायत भेज दीजिये। विलायतमें मेरे केवलरामके कई दोस्त हैं; वह उनके नाम सिफारिशी पत्र दे

देगा, तो इसे वहाँ कोई कठिनाई नहीं होगी।''

जोशीजीने (मावजी दवेको हम इसी नामसे पुकारते थे) मेरी तरफ देखकर मुझसे ऐसे लहजेमें पूछा, मानो उनकी सलाहके स्वीकृत होनेमें उन्हें कोई शंका ही न हो:

''क्यों, तुझे विलायत जाना अच्छा लगेगा या यहीं पढ़ते रहना?'' मुझे जो भाता था वही वैद्यने बता दिया। मैं कॉलेजकी कठिनाइयोंसे डर तो गया ही था। मैंने कहा, ''मुझे विलायत भेजें, तो बहुत ही अच्छा है। मुझे नहीं लगता कि मैं कॉलिजमें जल्दी-जल्दी पास हो सकूँगा। पर क्या मुझे डॉक्टरी सीखनेके लिए नहीं भेजा जा सकता?''

मेरे भाई बीचमें बोले: ''पिताजीको यह पसन्द न था। तेरी चर्चा निकलने पर वे यही कहते थे कि हम वैष्णव होकर हाड़-मांसकी चीर-फाड़का काम न करें। पिताजी तो तुझे वकील ही बनाना चाहते थे!''

जोशीजीने समर्थन किया:

''मुझे गांधीजीकी तरह डॉक्टरीके पेशेसे अरुचि नहीं है। हमारे शास्त्र इस धंधेकी निन्दा नहीं करते। पर डॉक्टर बनकर तू दीवान नहीं बन सकेगा। मैं तो तेरे लिए दीवान-पद अथवा उससे भी अधिक चाहता हूँ। तभी तुम्हारे बड़े परिवारका निर्वाह हो सकेगा। जमाना दिन-पर-दिन बदलता जा रहा है और मुश्किल होता जाता है। इसलिए बारिस्टर बननेमें ही बुद्धिमानी है।''

माताजीकी ओर मुड़कर उन्होंने कहा: ''आज तो मैं जाता हूँ। मेरी बात पर विचार करके देखिये। जब मैं लौटूँगा तो तैयारीके समाचार सुननेकी आशा रखूँगा। कोई कठिनाई हो तो मुझसे कहिये।''

जोशीजी गये और मैं हवाई किले बनाने लगा।

बड़े भाई सोचमें पड़ गये। पैसा कहाँसे आयेगा? और मेरे जैसे नौजवानको इतनी दूर कैसे भेजा जाये!

माताजीको कुछ सूझ न पड़ा। वियोगकी बात उन्हें जँची ही नहीं। पर पहले तो उन्होंने यही कहा: ''हमारे परिवारमें अब बुजुर्ग तो चाचाजी ही रहे हैं। इसलिए पहले उनकी सलाह लेनी चाहिये। वे आज्ञा दें तो फिर हमें सोचना होगा।''

बड़े भाईको दूसरा विचार सूझा: ''पोरबन्दर राज्य पर हमारा हक है। लेली साहब एडमिनिस्ट्रेटर हैं। हमारे परिवारके बारेमें उनका अच्छा खयाल है। चाचाजी पर उनकी खास मेहरबानी है। सम्भव है, वे राज्यकी तरफसे तुझे थोड़ी बहुत मदद कर दें।

मुझे यह सब अच्छा लगा। मैं पोरबन्दर जानेके लिए तैयार हुआ। उन दिनों रेल नहीं थी। बैलगाड़ीका रास्ता था। पाँच दिनमें पहुँचा जाता था। मैं कह चुका हूँ कि मैं खुद डरपोक था। पर इस बार मेरा डर भाग गया। विलायत जानेकी इच्छाने मुझे प्रभावित किया। मैंने धोराजी तककी बैलगाड़ी की। धोराजीसे आगे, एक दिन पहले पहुँचनेके विचारसे, ऊँट किराये पर लिया। ऊँटकी सवारीका भी मेरा यह पहला अनुभव था।

मैं पोरबन्दर पहुँचा। चाचाजीको साष्टांग प्रणाम किया। सारी बात सुनायी। उन्होंने सोचकर जवाब दिया:

"मैं नहीं जानता कि विलायत जाने पर हम धर्मकी रक्षा कर सकते हैं या नहीं। जो बातें सुनता हूँ, उनसे तो शक पैदा होता है। मैं जब बड़े बारिस्टरोंसे मिलता हूँ, तो उनकी रहन-सहनमें और साहबोंकी रहन-सहनमें कोई भेद नहीं पाता। खाने-पीनेका कोई बंधन उन्हें होता ही नहीं। सिगरेट तो कभी उनके मुँहसे छूटती ही नहीं। पोशाक देखो तो वह भी नंगी। यह सब हमारे कुटुम्बको शोभा न देगा। पर मैं तेरे साहसमें बाधा नहीं डालना चाहता। मैं तो कुछ दिनों बाद यात्रा पर जानेवाला हूँ। अब मुझे कुछ ही साल जीना है। मृत्युके किनारे बैठा हुआ मैं तुझे विलायत जानेकी — समुद्र पार करनेकी — इजाजत कैसे दूँ? लेकिन मैं बाधक नहीं बनूँगा। सच्ची इजाजत तो तेरी माँकी है। अगर वह तुझे इजाजत दे दे, तो तू खुशी-खुशी जाना। इतना कहना कि मैं तुझे रोकूँगा नहीं। मेरे आशीर्वाद तो तुझे हैं ही।"

मैंने कहा: "इससे अधिककी आशा तो मैं आपसे रख नहीं सकता। अब मुझे अपनी माँको राजी करना होगा। पर लेली साहबके नाम आप मुझे सिफारिशी पत्र तो देंगे न?"

चाचाजीने कहा: "सो मैं कैसे दे सकता हूँ? लेकिन साहब सज्जन हैं, तू पत्र लिख। कुटुम्बका परिचय देना। वे जरूर तुझे मिलनेका समय देंगे, और उन्हें रुचेगा तो मदद भी करेंगे।"

मैं नहीं जानता कि चाचाजीने साहबके नाम सिफारिशका पत्र क्यों नहीं दिया। मुझे धुँधली-सी याद है कि विलायत जानेके धर्म-विरुद्ध कार्यमें इस तरह सीधी मदद करनेमें उन्हें संकोच हुआ।

मैंने लेली साहबको पत्र लिखा। उन्होंने अपने रहनेके बंगले पर मुझे मिलने बुलाया। उस बंगलेकी सीढ़ियों पर चढ़ते-चढ़ते वे मुझसे मिले, और मुझे यह कहकर

ऊपर चले गये: "तू बी०ए० कर ले, फिर मुझसे मिलना। अभी कोई मदद नहीं दी जा सकेगी।" मैं बहुत तैयारी करके, कई वाक्य रटकर गया था। नीचे झुककर दोनों हाथोंसे मैंने सलाम किया था। पर मेरी सारी मेहनत बेकार हुई!

मेरी दृष्टि पत्नीके गहनों पर गयी। बड़े भाईके प्रति मेरी अपार श्रद्धा थी। उनकी उदारताकी सीमा न थी। उनका प्रेम पिताके समान था।

मैं पोरबन्दरसे बिदा हुआ। राजकोट आकर सारी बातें उन्हें सुनाईं। जोशीजीके साथ सलाह की। उन्होंने कर्ज करके भी मुझे भेजनेकी सिफारिश की। मैंने अपनी पत्नीके हिस्सेके गहने बेच डालनेका सुझाव रखा। उनसे २-३ हजार रुपयेसे अधिक नहीं मिल सकते थे। भाईने, जैसे भी बने, रुपयोंका प्रबंध करनेका बीड़ा उठाया।

माताजी कैसे समझतीं? उन्होंने सब तरहकी पूछताछ शुरू कर दी थी। कोई कहता, नौजवान लोग विलायत जाकर बिगड़ जाते हैं; कोई कहता, वे मांसाहार करने लगते हैं; कोई कहता, वहाँ शराबके बिना तो चलता ही नहीं। माताजीने मुझे ये सारी बातें सुनायीं। मैंने कहा, "पर तू मेरा विश्वास नहीं करेगी? मैं तुझे धोखा नहीं दूँगा। शपथपूर्वक कहता हूँ कि मैं इन तीनों चीजोंसे बचूँगा। अगर ऐसा खतरा होता, तो जोशीजी क्यों जाने देते?"

माताजी बोलीं, "मुझे तेरा विश्वास है। पर दूर देशमें क्या होगा? मेरी तो अक्ल काम नहीं करती। मैं बेचरजी स्वामीसे पूछूँगी।"

बेचरजी स्वामी मोढ़ बनियोंमें से बने हुए एक जैन साधु थे। जोशीजीकी तरह वे भी हमारे सलाहकार थे। उन्होंने मदद की। वे बोले: "मैं इस लड़केसे इन तीनों चीजोंके व्रत लिवाऊँगा॥ फिर इसे जाने देनेमें कोई हानि नहीं होगी।" उन्होंने प्रतिज्ञा लिवायी और मैंने मांस, मदिरा तथा स्त्री-संगसे दूर रहनेकी प्रतिज्ञा की। माताजीने आज्ञा दी।

हाईस्कूलमें सभा हुई। राजकोटका एक युवक विलायत जा रहा है, यह आश्चर्यका विषय बना। मैं जवाबके लिए कुछ लिखकर ले गया था। जवाब देते समय उसे मुश्किलसे पढ़ पाया। मुझे इतना याद है कि मेरा सिर घूम रहा था और शरीर काँप रहा था।

बड़ोंके आशीर्वाद लेकर मैं बम्बईके लिए रवाना हुआ। बम्बईकी यह मेरी पहली यात्रा थी। बड़े भाई साथ आये।

पर अच्छे कामोंमें सौ विघ्न आते हैं। बम्बईका बन्दरगाह जल्दी छूट न सका।

१२. जातिसे बाहर

माताजीकी आज्ञा और आशीर्वाद लेकर और पत्नीकी गोदमें कुछ महीनोंका बालक छोड़कर मैं उमंगोंके साथ बम्बई पहुँचा। पहुँच तो गया, पर वहाँ मित्रोंने भाईको बताया कि जून-जुलाईमें हिन्द महासागरमें तूफान आते हैं और मेरी यह पहली ही समुद्री यात्रा है, इसलिए मुझे दीवालीके बाद यानी नवम्बरमें रवाना करना चाहिये। और किसीने तूफानमें किसी अगनबोटके डूब जानेकी बात भी कही। इससे बड़े भाई घबराये। उन्होंने ऐसा खतरा उठाकर मुझे तुरन्त रवाना करनेसे इनकार किया और मुझको बम्बईमें अपने मित्रके घर छोड़कर खुद वापस नौकरी पर हाजिर होनेके लिए राजकोट चले गये। वे एक बहनोईके पास पैसे छोड़ गये और कुछ मित्रोंसे मेरी मदद करनेकी सिफारिश करते गये।

बम्बईमें मेरे लिए दिन काटना मुश्किल हो गया। मुझे विलायतके ही सपने आते रहते थे।

इस बीच जातिमें खलबली मची। जातिकी सभा बुलायी गयी। अभी तक कोई मोढ़ बनिया विलायत नहीं गया था। और मैं जा रहा हूँ, इसलिए मुझसे जवाब तलब किया जाना चाहिये। मुझे पंचायतमें हाजिर रहनेका हुक्म मिला। मैं गया। मैं नहीं जानता कि मुझमें अचानक हिम्मत कहाँसे आ गयी। हाजिर रहनेमें मुझे न तो संकोच हुआ, न डर लगा।। जातिके सरपंचके साथ दूरका कुछ रिश्ता भी था। पिताजीके साथ उनका संबंध अच्छा था। उन्होंने मुझसे कहा:

"जातिका खयाल है कि तूने विलायत जानेका जो विचार किया है वह ठीक नहीं है। हमारे धर्ममें समुद्र पार करनेकी मनाही है, तिस पर यह भी सुना जाता है कि वहाँ धर्मकी रक्षा नहीं हो पाती। वहाँ साहब लोगोंके साथ खाना-पीना पड़ता है।"

मैंने जवाब दिया, "मुझे तो लगता है कि विलायत जानेमें लेशमात्र भी अधर्म नहीं है। मुझे तो वहाँ जाकर विद्याध्ययन ही करना है। फिर जिन बातोंका आपको डर है, उनसे दूर रहनेकी प्रतिज्ञा मैंने अपनी माताजीके सम्मुख ली है, इसलिए मैं उनसे दूर रह सकूँगा।"

सरपंच बोले: "पर हम तुझसे कहते हैं कि वहाँ धर्मकी रक्षा हो ही नहीं सकती। तू जानता है कि तेरे पिताजीके साथ मेरा कैसा सम्बन्ध था। तुझे मेरी बात माननी चाहिये।"

मैंने जवाबमें कहा: "आपके साथके सम्बन्धको मैं जानता हूँ। आप पिताके समान हैं। पर इस बारेमें मैं लाचार हूँ। विलायत जानेका अपना निश्चय मैं बदल नहीं सकता। जो विद्वान ब्राह्मण मेरे पिताजीके मित्र और सलाहकार हैं, वे मानते हैं कि मेरे विलायत जानेमें कोई दोष नहीं है। मुझे अपनी माताजी और अपने भाईकी अनुमति भी मिल चुकी है।"

"पर तू जातिका हुक्म नहीं मानेगा?"

"मैं लाचार हूँ। मेरा खयाल है कि इसमें जातिको दखल नहीं देना चाहिये।"

इस जवाबसे सरपंच गुस्सा हुए। मुझे दो-चार बातें सुनायीं। मैं स्वस्थ बैठा रहा। सरपंचने आदेश दिया:

"यह लड़का आजसे जातिच्युत माना जायेगा। जो कोई इसकी मदद करेगा अथवा इसे बिदा करने जायेगा, पंच उससे जवाब तलब करेंगे और उससे सवा रुपया दण्डका लिया जायेगा।"

मुझ पर इस निश्चयका कोई असर नहीं हुआ। मैंने सरपंचसे बिदा ली। अब सोचना यह था कि इस निश्चयका मेरे भाई पर क्या असर होगा। कहीं वे डर गये तो? सौभाग्यसे वे दृढ़ रहे और मुझे लिख भेजा कि जातिके निश्चयके बावजूद वे मुझे विलायत जानेसे नहीं रोकेंगे।

इस घटनाके बाद मैं अधिक बेचैन हो गया। भाई पर दबाव पड़ा तो क्या होगा? दूसरा कोई विघ्न आ गया तो? इस चिन्तामें मैं अपने दिन बिता रहा था कि इतनेमें खबर मिली कि ४ सितम्बरको रवाना होनेवाले जहाजमें जूनागढ़के एक वकील बारिस्टरीके लिए विलायत जानेवाले हैं। बड़े भाईने जिन मित्रोंसे मेरे बारेमें कह रखा था, उनसे मैं मिला। उन्होंने भी यह साथ न छोड़नेकी सलाह दी। समय बहुत कम था। मैंने भाईको तार किया और जानेकी इजाजत माँगी। उन्होंने इजाजत दे दी। मैंने बहनोईसे पैसे माँगे। उन्होंने जातिके हुक्मकी चर्चा की। जातिच्युत होना उन्हें पुसाता न था। मैं अपने कुटुम्बके एक मित्रके पास पहुँचा और उनसे बिनती की कि वे मुझे किराये वगैराके लिए आवश्यक रकम दे दें और बादमें भाईसे ले लें। उन मित्रने ऐसा करना कबूल किया, इतना ही नहीं, बल्कि मुझे हिम्मत भी बँधायी। मैंने उनका आभार माना, पैसे लिये और टिकट खरीदा।

विलायतकी यात्राका सारा सामान तैयार करना था। दूसरे एक अनुभवी मित्रने सामान तैयार करा दिया। मुझे सब अजीब-सा लगा। कुछ रुचा, कुछ बिलकुल नहीं

रुचा। जिस नेकटाईको मैं बादमें शौकसे लगाने लगा था, वह तो बिलकुल नहीं रुची। वास्कट नंगी पोशाक मालूम हुई। पर विलायत जानेके शौककी तुलनामें यह अरुचि कोई चीज न थी। रास्तेमें खानेका सामान भी पर्याप्त ले लिया था।

मित्रोंने मेरे लिए जगह भी त्र्यम्बकराय मजमुदार (जूनागढ़के वकीलका नाम) की कोठरीमें ही रखी थी। उनसे मेरे विषयमें कह भी दिया था। वे तो प्रौढ़ उमरके अनुभवी सज्जन थे। मैं दुनियाके अनुभवसे शून्य अठारह सालका नौजवान था। मजमुदारने मित्रोंसे कहा, "आप इसकी फिक्र न करें।"

इस तरह १८८८ के सितम्बर महीनेकी ४ तारीखको मैंने बम्बईका बन्दरगाह छोड़ा।

१३. आखिर विलायत पहुँचा

जहाजमें मुझे समुद्रका तो जरा भी कष्ट नहीं हुआ। पर जैसे-जैसे दिन बीतते जाते, वैसे-वैसे मैं अधिक परेशान होता जाता था। 'स्टुअर्ड' के साथ बातचीत करनेमें भी शरमाता था। अंग्रेजीमें बातें करनेकी मुझे आदत ही न थी। मजमुदारको छोड़कर दूसरे सब मुसाफिर अंग्रेज थे। मैं उनके साथ बोल न पाता था। वे मुझसे बोलनेका प्रयत्न करते, तो मैं समझ न पाता; और समझ लेता, तो जवाब क्या देना सो सूझता न था। बोलनेसे पहले हरएक वाक्यको जमाना पड़ता था। कांटे-चम्मचसे खाना आता न था, और किस पदार्थमें मांस नहीं है, यह पूछनेकी हिम्मत नहीं होती थी। इसलिए मैं खानेकी मेज पर तो कभी गया ही नहीं। अपनी कोठरीमें ही खाता था। अपने साथ खास करके जो मिठाई वगैरा लाया था, उन्हींसे मैंने काम चलाया। मजमुदारको तो कोई संकोच नहीं था। वे सबके साथ घुलमिल गये थे। डेक पर भी आजादीसे जाते थे। मैं सारे दिन कोठरीमें बैठा रहता था। कभी-कदास, जब डेक पर थोड़े लोग होते, तो कुछ देर वहाँ जाकर बैठ लेता था। मजमुदार मुझे समझाते कि सबके साथ घुलो-मिलो, आजादीसे बातचीत करो; वे मुझसे यह भी कहते कि वकीलकी जीभ खूब चलनी चाहिये। वकीलके नाते वे अपने अनुभव सुनाते और कहते कि अंग्रेजी हमारी भाषा नहीं है, उसमें गलतियाँ तो होंगी ही, फिर भी खुलकर बोलते रहना चाहिये। पर मैं अपनी भीरुता छोड़ न पाता था।

मुझ पर दया करके एक भले अंग्रेजने मुझसे बातचीत शुरू की। वे उमरमें बड़े थे।

मैं क्या खाता हूँ, कौन हूँ, कहाँ जा रहा हूँ, किसीसे बातचीत क्यों नहीं करता, आदि प्रश्न वे पूछते रहते। उन्होंने मुझे खानेकी मेज पर जानेकी सलाह दी। मांस न खानेके मेरे आग्रहकी बात सुनकर वे हँसे और मुझ पर तरस खाकर बोले, "यहाँ तो (पोर्टसईद पहुँचनेसे पहले तक) ठीक है, पर बिस्केकी खाड़ीमें पहुँचने पर तुम अपने विचार बदल लोगे। इंग्लैंडमें तो इतनी ठंड पडती है कि मांस खाये बिना चलता ही नहीं।

मैंने कहा, "मैंने सुना है कि वहाँ लोग मांसाहारके बिना रह सकते हैं।"

वे बोले, "इसे गलत समझो। अपने परिचितोंमें मैं ऐसे किसी आदमीको नहीं जानता, जो मांस न खाता हो। सुनो, मैं शराब पीता हूँ, पर तुम्हें पीनेके लिए नहीं कहता। लेकिन मैं समझता हूँ कि तुम्हें मांस तो खाना ही चाहिये।"

मैंने कहा, "इस सलाहके लिए मैं आपका आभार मानता हूँ, पर मांस न खानेके लिए मैं अपनी माताजीसे वचन-बद्ध हूँ। इस कारण मैं मांस नहीं खा सकता। अगर उसके बिना काम ही न चला, तो मैं वापस हिन्दुस्तान चला जाऊँगा, पर मांस तो कभी न खाऊँगा।"

बिस्केकी खाड़ी आयी। वहाँ भी मुझे न तो मांसकी जरूरत मालूम हुई और न मदिराकी। मुझसे कहा गया था कि मैं मांस न खानेके प्रमाणपत्र इकट्ठा कर लूँ। इसलिए इन अंग्रेज मित्रसे मैंने प्रमाण-पत्र माँगा। उन्होंने खुशी-खुशी दिया। कुछ समय तक मैं उसे धनकी तरह संभाले रहा। बादमें मुझे पता चला कि प्रमाण-पत्र तो मांस खाते हुए भी प्राप्त किये जा सकते हैं। इसलिए उनके बारेमें मेरा मोह नष्ट हो गया। अगर मेरी बात पर भरोसा नहीं है, तो ऐसे मामलेमें प्रमाण-पत्र दिखाकर मुझे क्या लाभ हो सकता है?

दुःख-सुख सहते हुए यात्रा समाप्त करके हम साउदेम्प्टन बन्दरगाह पर पहुँचे। मुझे याद है कि उस दिन शनिवार था। जहाज पर मैं काली पोशाक पहनता था। मित्रोंने मेरे लिए सफेद फलालैनके कोट-पतलून भी बनवा दिये थे। उन्हें मैंने विलायतमें उतरते समय पहननेका विचार कर रखा था, यह समझकर कि सफेद कपड़े अधिक अच्छे लगेंगे! मैं फलालैनका सूट पहनकर उतरा। सितम्बरके आखिरी दिन थे। मैंने वहाँ इस पोशाकमें एक अपनेको ही देखा। मेरी पेटियाँ और उनकी चाबियाँ तो ग्रिण्डले कम्पनीके एजेण्ट ले गये थे। सबकी तरह मुझे भी करना चाहिये, यह समझकर मैंने तो अपनी चाबियाँ भी दे दी थीं!

मेरे पास चार सिफारिशी पत्र था: डॉक्टर प्राणजीवन मेहताके नाम, दलपतराम शुक्लके नाम, प्रिन्स रणजीतसिंहजीके नाम और दादाभाई नौरोजीके नाम। मैंने साउदेम्प्टनसे डॉक्टर मेहताको एक तार भेजा था। जहाजमें किसीने सलाह दी थी कि विक्टोरिया होटलमें ठहरना चाहिये। इस कारण मजमुदार और मैं उस होटलमें पहुँचे। मैं तो अपनी सफेद पोशाककी शरमसे ही गड़ा जा रहा था। तिस पर होटलमें पहुँचने पर पता चला कि अगले दिन रविवार होनेसे ग्रिण्डलेके यहाँसे सामान सोमवार तक नहीं आयेगा। इससे मैं परेशान हुआ।

सात-आठ बजे डॉक्टर मेहता आये। उन्होंने प्रेमभरा विनोद किया। मैंने अनजाने रेशमी रोओंवाली उनकी टोपी देखनेके खयालसे उठायी और उस पर उलटा हाथ फेरा। इससे टोपीके रोएँ खड़े हो गये। डॉक्टर मेहताने देखा, मुझे तुरन्त ही रोका। पर अपराध तो हो चुका था। उनके रोकनेका नतीजा तो यही निकल सकता था कि दुबारा वैसा अपराध न हो।

समझिये कि यहींसे यूरोपके रीति-रिवाजोंके सम्बन्धमें मेरी शिक्षाका श्रीगणेश हुआ। डॉक्टर मेहता हँसते-हँसते बहुत-सी बातें समझाते जाते थे। किसीकी चीज छूनी नहीं चाहिये; किसीसे जान-पहचान होने पर जो प्रश्न हिन्दुस्तानमें यों ही पूछे जा सकते हैं, वे यहाँ नहीं पूछे जा सकते; बातें करते समय ऊँची आवाजसे नहीं बोल सकते; हिन्दुस्तानमें अंग्रेजोंसे बात करते समय 'सर' कहनेका जो रिवाज है, वह यहाँ अनावश्यक है; 'सर' तो नौकर अपने मालिकसे अथवा अपने बड़े अफसरसे कहता है। फिर उन्होंने होटलमें रहनेके खर्चकी भी चर्चा की और सुझाया कि किसी निजी कुटुम्बमें रहनेकी जरूरत पड़ेगी। इस विषयमें अधिक विचार सोमवार पर छोड़ा गया। कई सलाहें देकर डॉक्टर मेहता बिदा हुए।

होटलमें तो हम दोनोंको यही लगा कि यहाँ कहाँ आ फँसे। होटल महँगा भी था। माल्टासे एक सिन्धी यात्री जहाज पर सवार हुए थे। मजमुदार उनसे अच्छे घुलमिल गये थे। ये सिन्धी यात्री लंदनके अच्छे जानकार थे। उन्होंने हमारे लिए दो कमरे किराये पर लेनेकी जिम्मेदारी उठायी। हम सहमत हुए और सोमवारको जैसे ही सामान मिला, बिल चुकाकर उक्त सिन्धी सज्जन द्वारा ठीक किये कमरोंमें हमने प्रवेश किया।

मुझे याद है कि मेरे हिस्सेका होटलका बिल लगभग तीन पौंडका हुआ था। मैं तो उसे देखकर चकित ही रह गया। तीन पौंड देने पर भी भूखा रहा। होटलकी कोई

चीज मुझे रुचती नहीं थी।। एक चीज ली और वह नहीं रुची; दूसरी ली; पर दाम तो दोनोंके ही चुकाने चाहिये। यह कहना ठीक होगा कि अभी तो मेरा काम बम्बईसे लाये हुए पाथेयसे ही चल रहा था।

इस कमरेमें भी मैं बहुत परेशान रहा। देशकी याद खूब आती थी। माताका प्रेम मूर्तिमान होता था। रात पड़ती और मैं रोना शुरू करता। घरकी अनेक स्मृतियोंकी चढ़ाईके कारण नींद तो आ ही कैसे सकती थी? इस दु:खकी चर्चा किसीसे की भी नहीं जा सकती थी; करनेसे लाभ भी क्या था? मैं स्वयं नहीं जानता था कि किस उपायसे मुझे आश्वासन मिलेगा। यहाँके लोग विचित्र, रहन-सहन विचित्र, घर भी विचित्र, घरोंमें रहनेका ढंग भी विचित्र! क्या कहने और क्या करनेसे यहाँ शिष्टाचारके नियमोंका उल्लंघन होगा, इसकी जानकारी भी मुझे बहुत कम थी। तिस पर खाने-पीनेका परहेज; और खाने योग्य आहार सूखा तथा नीरस लगता था। इस कारण मेरी दशा सरौतेके बीच सुपारी जैसी हो गयी। विलायतमें रहना मुझे अच्छा नहीं लगता था और देशको लौटा नहीं जा सकता था। विलायत पहुँच जाने पर तो तीन साल वहाँ पूरे करनेका ही मेरा आग्रह था।

१४. मेरी पसन्द

डॉक्टर मेहता सोमवारको मुझसे मिलने विक्टोरिया होटल पहुँचे। वहाँ उन्हें हमारा नया पता मिला; इससे वे नयी जगह आकर मिले। मेरी मूर्खताके कारण जहाजमें मुझे दाद हो गयी थी। जहाजमें खारे पानीसे नहाना होता था। उसमें साबुन घुलता न था। लेकिन मैंने तो साबुनका उपयोग करनेमें सभ्यता समझी। इससे शरीर साफ होनेके बदले चीकट हो गया। उससे दाद हो गयी। डॉक्टरको दिखायी। उन्होंने मुझे जलानेवाली दवा — एसेटिक एसिड — दी। इस दवाने मुझे रुलाया था। डॉक्टर मेहताने हमारे कमरे वगैरा देखे और सिर हिलाया: "यह जगह कामकी नहीं। इस देशमें आकर पढ़नेकी अपेक्षा यहाँके जीवन और रीति-रिवाजका अनुभव प्राप्त करना ही अधिक महत्त्वका है। इसके लिए किसी परिवारमें रहना जरूरी है। पर अभी तो मैंने सोचा है कि तुम्हें कुछ तालीम मिल सके, इसके लिए — के घर रहो। मैं तुम्हें वहाँ ले जाऊँगा।"

मैंने आभारपूर्वक उनका सुझाव मान लिया। मैं मित्रके घर पहुँचा। उनके स्वागत-

सत्कारमें कोई कमी नहीं थी। उन्होंने मुझे अपने सगे भाईकी तरह रखा, अंग्रेजी रीति-रिवाज सिखाये; यह कह सकता हूँ कि अंग्रेजीमें थोड़ी बातचीत करनेकी आदत उन्हींने डलवाई।

मेरे भोजनका प्रश्न बहुत विकट हो गया। बिना नमक और मसालोंवाली साग-सब्जी रुचती नहीं थी। घरकी मालकिन मेरे लिए कुछ बनावे तो क्या बनावे? सवेरे तो ओटमील*की लपसी बनती। उससे पेट कुछ भर जाता। पर दोपहर और शामको मैं हमेशा भूखा रहता। मित्र मुझे रोज मांस खानेके लिए समझाते। मैं प्रतिज्ञाकी आड़ लेकर चुप हो जाता। उनकी दलीलोंका जवाब देना मेरे बसका न था। दोपहरको सिर्फ रोटी, पत्तोंवाली एक भाजी और मुरब्बे पर गुजर करता था। यही खुराक शामके लिए भी थी। मैं देखता कि रोटीके तो दो-तीन टुकड़े ही लेनेकी रीत है। इससे अधिक माँगते शरम लगती थी। मुझे डटकर खानेकी आदत थी। भूख तेज थी और खूब खुराक चाहती थी। दोपहर या शामको दूध नहीं मिलता था। मेरी यह हालत देखकर एक दिन मित्र चिढ़ गये और बोले: "अगर तुम मेरे सगे भाई होते, तो मैं तुम्हें निश्चय ही वापस भेज देता। यहाँकी हालत जाने बिना निरक्षर माताके सामने की गयी प्रतिज्ञाका मूल्य ही क्या? वह तो प्रतिज्ञा ही नहीं कही जा सकती। मैं तुमसे कहता हूँ कि कानून इसे प्रतिज्ञा नहीं मानेगा। ऐसी प्रतिज्ञासे चिपटे रहना तो निरा अंधविश्वास कहा जायेगा। और ऐसे अंधविश्वासमें फँसे रहकर तुम इस देशसे अपने देशमें कुछ भी न ले जा सकोगे। तुम तो कहते हो कि तुमने मांस खाया है। तुम्हें वह अच्छा भी लगा है। जहाँ खानेकी जरूरत नहीं थी वहाँ खाया, और जहाँ खानेकी खास जरूरत है वहाँ छोड़ा। यह कैसा आश्चर्य है!"

मैं टससे मस नहीं हुआ।

ऐसी बहस रोज हुआ करती। मेरे पास छत्तीस रोगोंको मिटानेवाला एक नन्ना ही था। मित्र मुझे जितना समझाते, मेरी दृढता उतनी ही बढ़ती जाती। मैं रोज भगवानसे रक्षाकी याचना करता और मुझे रक्षा मिलती। मैं नहीं जानता था कि ईश्वर कौन है। पर रम्भाकी दी हुई श्रद्धा अपना काम कर रही थी।

एक दिन मित्रने मेरे सामने बेन्थमका ग्रंथ पढ़ना शुरू किया। उपयोगितावादवाला अध्याय पढ़ा। मैं घबराया। भाषा ऊँची थी। मैं मुश्किलसे समझ पाता। उन्होंने

---

* जईका आटा।

उसका विवेचन किया। मैंने उत्तर दिया :

"मैं आपसे माफी चाहता हूँ। मैं ऐसी सूक्ष्म बातें समझ नहीं पाता। मैं स्वीकार करता हूँ कि मांस खाना चाहिये, पर मैं अपनी प्रतिज्ञाका बन्धन तोड़ नहीं सकता। उसके लिए मैं कोई दलील नहीं दे सकता। मुझे विश्वास है कि दलीलमें मैं आपको कभी जीत नहीं सकता। पर मूर्ख समझकर अथवा हठी समझकर इस मामलेमें मुझे छोड़ दीजिये। मैं आपके प्रेमको समझता हूँ। आपका आशय समझता हूँ। आपको मैं अपना परम हितैषी मानता हूँ। मैं यह भी देख रहा हूँ कि आपको दुःख होता है, इसीसे आप इतना आग्रह करते हैं। पर मैं लाचार हूँ। मेरी प्रतिज्ञा नहीं टूट सकती।"

मित्र देखते रहे। उन्होंने पुस्तक बन्द कर दी। "बस, अब मैं बहस नहीं करूँगा," कहकर वे चुप हो गये। मैं खुश हुआ। इसके बाद उन्होंने बहस करना छोड़ दिया।

पर मेरे बारेमें उनकी चिन्ता दूर न हुई। वे बीड़ी पीते थे, शराब पीते थे। लेकिन मुझसे कभी नहीं कहा कि इनमें से एकका भी मैं सेवन करूँ। उलटे, वे मना ही करते रहे। उन्हें चिन्ता यह थी कि मांसाहारके अभावमें मैं कमजोर हो जाऊँगा और इंग्लैंडमें निश्चिन्ततापूर्वक रह म सकूँगा।

इस तरह एक महीने तक मैंने नौसिखुएके रूपमें उम्मीदवारी की। मित्रका घर रिचमन्डमें था, इसलिए मैं हफ्तेमें एक या दो बार ही लन्दन जा पाता था। डॉक्टर मेहता और भाई दलपतराम शुक्लने सोचा कि अब मुझे किसी कुटुम्बमें रहना चाहिये। भाई शुक्लने वेस्ट केन्सिंग्टनमें एक ऐंग्लो-इण्डियनना घर खोज निकाला और मुझे वहाँ रखा। घरकी मालकिन एक विधवा थी। उससे मैंने मांस-त्यागकी बात कही। बुढ़ियाने मेरी सार-संभालकी जिम्मेदारी ली। मैं वहाँ रहने लगा।

वहाँ भी मुझे रोज भूखा रहना पड़ता था। मैंने घरसे मिठाई वगैरा खानेकी चीजें मँगाई थीं, पर वे अभी आयी नहीं थीं। सब कुछ फीका लगता था। बुढ़िया हमेशा पूछती; पर वह करे क्या? तिस पर मैं अभी तक शरमाता था। बुढ़ियाके दो लड़कियाँ थीं। वे आग्रह करके थोड़ी अधिक रोटी देतीं। पर वे बेचारी क्या जानें कि उनकी समूची रोटी खाने पर ही मेरा पेट भर सकता था?

लेकिन अब मैं होशियारी पकड़ने लगा था। अभी पढ़ाई शुरू नहीं हुई थी। मुश्किलसे समाचारपत्र पढ़ने लगा था। यह भाई शुक्लका प्रताप था। हिन्दुस्तानमें

मैंने समाचारपत्र कभी पढ़े नहीं थे। पर बराबर पढ़ते रहनेके अभ्याससे उन्हें पढ़नेका शौक मैं पैदा कर सका था। 'डेली न्यूज़', 'डेली टेलिग्राफ' और 'पेलमेल गजेट' इन पत्रोंको सरसरी निगाहसे देख जाता था। पर शुरू-शुरूमें तो इसमें मुश्किलसे एक घंटा खर्च होता होगा।

मैंने घूमना शुरू किया। मुझे निरामिष अर्थात् अन्नाहार देनेवाले भोजनगृहकी खोज करनी थी। घरकी मालकिनने भी कहा था कि खास लन्दनमें ऐसे गृह मौजूद हैं। मैं रोज दस-बारह मील चलता था। किसी मामूलीसे भोजन-गृहमें जाकर पेट भर रोटी खा लेता था। पर उससे संतोष न होता था। इस तरह भटकता हुआ एक दिन मैं फैरिंग्डन स्ट्रीट पहुँचा और वहाँ 'वेजिटेरियन रेस्टरां' (अन्नाहारी भोजनालय) का नाम पढ़ा। मुझे वह आनन्द हुआ, जो बालकको मनचाही चीज मिलनेसे होता है। हर्ष-विभोर होकर अन्दर घुसनेसे पहले मैंने दरवाजेके पासकी शीशेवाली खिड़कीमें बिक्रीकी पुस्तकें देखीं। उनमें मुझे सॉल्टकी 'अन्नाहारकी हिमायत' नामक पुस्तक दीखी। एक शिलिंगमें मैंने वह खरीद ली और फिर भोजन करने बैठा। विलायत आनेके बाद यहाँ पहली बार भरपेट भोजन मिला। ईश्वरने मेरी भूख मिटायी।

सॉल्टकी पुस्तक पढ़ी। मुझ पर उसकी अच्छी छाप पड़ी। इस पुस्तकको पढ़नेके दिनसे मैं स्वेच्छापूर्वक, अर्थात् विचार-पूर्वक, अन्नाहारमें विश्वास करने लगा। माताके निकट की गयी प्रतिज्ञा अब मुझे विशेष आनन्द देने लगी। और जिस तरह अब तक मैं यह मानता था कि सब मांसाहारी बनें तो अच्छा हो, और पहले केवल सत्यकी रक्षाके लिए तथा बादमें प्रतिज्ञा-पालनके लिए ही मैं मांस-त्याग करता था और भविष्यमें किसी दिन स्वयं आजादीसे, प्रकट रूपमें, मांस खाकर दूसरोंको खानेवालोंके दलमें सम्मिलित करनेकी उमंग रखता था, उसी तरह अब स्वयं अन्नाहारी रहकर दूसरोंको वैसा बनानेका लोभ मुझमें जागा।

१५. 'सभ्य' पोशाकमें

अन्नाहार पर मेरी श्रद्धा दिन पर दिन बढ़ती गयी। सॉल्टकी पुस्तकने आहारके विषयमें अधिक पुस्तकें पढ़नेकी मेरी जिज्ञासाको तीव्र बना दिया। जितनी पुस्तकें मुझे मिलीं, मैंने खरीद लीं और पढ़ डालीं। उनमें हावर्ड विलियम्सकी 'आहार-नीति' नामक पुस्तकमें अलग-अलग युगोंके ज्ञानियों, अवतारों और पैगम्बरोंके

आहारका और आहार-विषयक उनके विचारोंका वर्णन किया गया है। पाइथागोरस, ईसामसीह इत्यादिको उसने केवल अन्नाहारी सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है। डॉक्टर मिसेज एना किंग्सफर्डकी 'उत्तम आहारकी रीति' नामक पुस्तक भी आकर्षक थी। साथ ही, डॉ० एलिन्सनके आरोग्यविषयक लेखोंने भी इसमें अच्छी मदद की। वे दवाके बदले केवल आहारके हेरफेरसे ही रोगीको नीरोग करनेकी पद्धतिका समर्थन करते थे। डॉ० एलिन्सन स्वयं अन्नाहारी थे और बीमारोंको केवल अन्नाहारकी ही सलाह देते थे। इन सब पुस्तकोंके अध्ययनका परिणाम यह हुआ कि मेरे जीवनमें आहारविषयक प्रयोगोंने महत्त्वका स्थान प्राप्त कर लिया। आरम्भमें इन प्रयोगोंमें आरोग्यकी दृष्टि मुख्य थी। बादमें धार्मिक दृष्टि सर्वोपरि बनी।

इस बीच मेरे उन मित्रको तो मेरी चिन्ता बनी ही रही। उन्होंने प्रेमवश यह माना कि अगर मैं मांस नहीं खाऊँगा, तो कमजोर हो जाऊँगा। यही नहीं, बल्कि मैं बेवकूफ बना रहूँगा, क्योंकि अंग्रेजोंके समाजमें घुलमिल ही न सकूँगा। वे जानते थे कि मैं अन्नाहारविषयक पुस्तकें पढ़ता रहता हूँ। उन्हें डर लगा कि इन पुस्तकोंके पढ़नेसे मैं भ्रमित-चित्त बन जाऊँगा, प्रयोगोंमें मेरा जीवन व्यर्थ चला जायगा, मुझे जो करना है उसे मैं भूल जाऊँगा और 'पोथी-पंडित' बन बैठूँगा। इस विचारसे उन्होंने मुझे सुधारनेका एक आखिरी प्रयत्न किया। उन्होंने मुझे नाटक दिखानेके लिए न्योता। वहाँ जानेसे पहले मुझे उनके साथ हॉबर्न भोजन-गृहमें भोजन करना था। मेरी दृष्टिमें यह गृह एक महल था। विक्टोरिया होटल छोड़नेके बाद ऐसे गृहमें जानेका मेरा यह पहला अनुभव था। विक्टोरिया होटलका अनुभव तो निकम्मा था; क्योंकि ऐसा मानना होगा कि वहाँ मैं बेहोशीकी हालतमें था। सैकड़ोंके बीच हम दो मित्र एक मेजके सामने बैठे। मित्रने पहली 'प्लेट' मँगाई। वह 'सूप' की थी। मैं परेशान हुआ। मित्रसे क्या पूछता? मैंने तो परोसनेवालेको अपने पास बुलाया।

मित्र समझ गये। चिढ़कर मुझसे पूछा :

"क्या है?"

मैंने धीरेसे संकोचपूर्वक कहा :

"मैं जानना चाहता हूँ कि इसमें मांस है या नहीं?"

"ऐसे गृहमें यह जंगलीपन नहीं चल सकता। अगर तुम्हें अब भी यही किच-किच करनी हो तो तुम बाहर जाकर किसी छोटेसे भोजन-गृहमें खा लो और बाहर ही मेरी राह देखो।"

मैं इस प्रस्तावसे खुश होकर उठा और दूसरे भोजनालयकी खोजमें निकला। पास ही एक अन्नाहारवाला भोजन-गृह था। पर वह तो बन्द हो चुका था। मुझे समझ न पड़ा कि अब क्या करना चाहिये। मैं भूखा रहा। हम नाटक देखने गये। मित्रने उक्त घटनाके बारेमें एक भी शब्द मुँहसे न निकाला। मेरे पास तो कहनेको था ही क्या?

लेकिन यह हमारे बीचका अन्तिम मित्र-युद्ध था। न हमारा सम्बन्ध टूटा, न उसमें कटुता आयी। उनके सारे प्रयत्नोंके मूलमें रहे हुए प्रेमको मैं पहचान सका था। इस कारण विचार और आचारकी भिन्नताके रहते हुए भी उनके प्रति मेरा आदर बढ़ गया।

पर मैंने सोचा कि मुझे उनका डर दूर करना चाहिये। मैंने निश्चय किया कि मैं जंगली नहीं रहूँगा। सभ्यके लक्षण ग्रहण करूँगा और दूसरे प्रकारसे समाजमें समरस होने योग्य बनकर अन्नाहारकी अपनी विचित्रताको छिपा लूँगा।

मैंने 'सभ्यता' सीखनेके लिए अपनी सामर्थ्यसे परेका और छिछला रास्ता पकड़ा।

विलायती होने पर भी बम्बईके कटे-सिले कपड़े अच्छे अंग्रेज समाजमें शोभा नहीं देंगे, इस विचारसे मैंने 'आर्मी और नेवी' स्टोरमें कपड़े सिलवाये। उन्नीस शिलिंगकी (उस जमानेके लिहाजसे तो यह कीमत बहुत ही कही जायेगी) 'चिमनी' टोपी सिर पर पहनी। इतनेसे संतोष न हुआ तो बॉण्ड स्ट्रीटमें, जहाँ शौकीन लोगोंके कपड़े सिलते थे, दस पौण्ड पर बत्ती रखकर शामकी पोशाक सिलवायी। भोले और बादशाही दिलवाले बड़े भाईसे मैंने दोनों जेबोंमें लटकाने लायक सोनेकी एक बढ़िया चेन मँगवायी और वह मिल भी गयी। बँधी-बँधायी टाई पहनना शिष्टाचारमें शुमार न था, इसलिए टाई बाँधनेकी कला हस्तगत की। देशमें आईना हजामतके दिन ही देखनेको मिलता था, पर यहाँ तो बड़े आईनेके सामने खड़े रहकर ठीकसे टाई बाँधनेमें और बालोंमें पट्टी डालकर सीधी माँग निकालनेमें रोज लगभग दस मिनिट तो बरबाद होते ही थे। बाल मुलायम नहीं थे, इसलिए उन्हें अच्छी तरह मुड़े हुए रखनेके लिए ब्रश (झाड़ू ही समझिये!) के साथ रोज लड़ाई चलती थी। और टोपी पहनते तथा निकालते समय हाथ तो मानो माँगको सहेजनेके लिए सिर पर पहुँच ही जाता था और बीच-बीचमें, समाजमें बैठे-बैठे, माँग पर हाथ फिराकर बालोंको व्यवस्थित रखनेकी एक और सभ्य क्रिया बराबर चलती ही रहती थी।

पर इतनी टीमटाम ही काफी न थी। अकेली सभ्य पोशाकसे सभ्य थोड़े ही बना जा सकता था ? मैंने सभ्यताके दूसरे कई बाहरी गुण भी जान लिये थे और मैं उन्हें

सीखना चाहता था। सभ्य पुरुषको नाचना जानना चाहिये। उसे फ्रेंच अच्छी तरह जान लेनी चाहिये; क्योंकि फ्रेंच इंग्लैण्डके पड़ोसी फ्रांसकी भाषा थी, और सारे यूरोपकी राष्ट्रभाषा भी थी। और, मुझे यूरोपमें घूमनेकी इच्छा थी। इसके अलावा, सभ्य पुरुषको लच्छेदार भाषण करना भी आना चाहिये। मैंने नृत्य सीखनेका निश्चय किया। एक कक्षामें भरती हुआ। एक सत्रके क़रीब तीन पौण्ड जमा किये। कोई तीन हफ्तोंमें करीब छह सबक सीखे होंगे। पैर ठीकसे तालबद्ध पड़ते न थे। पियानो बजता था, पर वह क्या कह रहा है, कुछ समझमें न आता था। 'एक, दो, तीन' चलता, पर उसके बीचका अन्तर तो वह बाजा ही बताता था, जो मेरे लिए अगम्य था। तो अब क्या किया जाये? अब तो बाबाजीकी बिल्लीवाला किस्सा हुआ। चूहोंको भगानेके लिए बिल्ली, बिल्लीके लिए गाय, यों बाबाजीका परिवार बढ़ा; उसी तरह मेरे लोभका परिवार भी बढ़ा। वायोलिन बजाना सीख लूँ, तो सुर और तालका खयाल हो जाय। तीन पौण्ड वायोलिन खरीदनेमें गँवाये और कुछ उसकी शिक्षाके लिए भी दिये। भाषण करना सीखनेके लिए एक तीसरे शिक्षकका घर खोजा। उन्हें भी एक गिन्नी तो भेंट की ही। बेलकी 'स्टैण्डर्ड एलोक्युशनिस्ट' पुस्तक खरीदी। पिटका एक भाषण शुरू किया।

इन बेल साहबने मेरे कानमें घंटी (बेल) बजायी। मैं जागा।

मुझे कौन इंग्लैण्डमें जीवन बिताना है? लच्छेदार भाषण करना सीखकर मैं क्या करूँगा? नाच-नाचकर मैं सभ्य कैसे बनूँगा? वायोलिन तो देशमें भी सीखा जा सकता है। मैं तो विद्यार्थी हूँ। मुझे विद्या-धन बढ़ाना चाहिये। मुझे अपने पेशेसे सम्बन्ध रखनेवाली तैयारी करनी चाहिये। मैं अपने सदाचारसे सभ्य समझा जाऊँ तो ठीक है, नहीं तो मुझे यह लोभ छोड़ना चाहिये।

इन विचारोंकी धुनमें मैंने उपर्युक्त आशयके उद्‌गारोंवाला पत्र भाषण-शिक्षकको भेज दिया। उनसे मैंने दो या तीन पाठ पढ़े थे। नृत्य-शिक्षिकाको भी ऐसा ही पत्र लिखा। वायोलिन शिक्षिकाके घर वायोलिन लेकर पहुँचा। उन्हें जिस दाम भी वह बिके, बेच डालनेकी इजाजत दे दी। उनके साथ कुछ मित्रताका-सा सम्बन्ध हो गया था। इस कारण मैंने उनसे अपने मोहकी चर्चा की। नाच आदिके जंजालमें से निकल जानेकी मेरी बात उन्होंने पसन्द की।

सभ्य बननेकी मेरी यह सनक लगभग तीन महीने तक चली होगी। पोशाककी टीमटाम तो बरसों चली। पर अब मैं विद्यार्थी बना।

१६. फेरफार

कोई यह न माने कि नाच आदिके मेरे प्रयोग उस समयकी मेरी स्वच्छन्दताके सूचक हैं। पाठकोंने देखा होगा कि उनमें कुछ समझदारी थी। मोहके इस समयमें भी मैं एक हद तक सावधान था। पाई-पाईका हिसाब रखता था। खर्चका अंदाज रखता था। मैंने हर महीने पन्द्रह पौण्डसे अधिक खर्च न करनेका निश्चय किया था। मोटरमें आने-जानेका अथवा डाकका खर्च भी हमेशा लिखता था, और सोनेसे पहले हमेशा अपनी रोकड़ मिला लेता था। यह आदत अन्त तक बनी रही। और मैं जानता हूँ कि इससे सार्वजनिक जीवनमें मेरे हाथों लाखों रुपयोंका जो उलट-फेर हुआ है, उसमें मैं उचित किफायतशारीसे काम ले सका हूँ। और आगे मेरी देखरेखमें जितने आन्दोलन चले, उनमें मैंने कभी कर्ज नहीं किया, बल्कि हरएकमें कुछ न कुछ बचत ही रही। यदि हरएक नवयुवक उसे मिलनेवाले थोड़े रुपयोंका भी हिसाब खबरदारीके साथ रखेगा, तो उसका लाभ वह भी उसी तरह अनुभव करेगा, जिस तरह भविष्यमें मैंने और जनताने किया।

अपनी रहन-सहन पर मेरा कुछ अंकुश था, इस कारण मैं देख सका कि मुझे कितना खर्च करना चाहिये। अब मैंने खर्च आधा कर डालनेका निश्चय किया। हिसाब जाँचनेसे पता चला कि गाड़ी-भाड़ेका मेरा खर्च काफी होता था। फिर कुटुम्बमें रहनेसे हर हफ्ते कुछ खर्च तो होता ही था। किसी दिन कुटुम्बके लोगोंको बाहर भोजनके लिए ले जानेका शिष्टाचार बरतना जरूरी था। कभी उनके साथ दावतमें जाना पड़ता, तो गाड़ी-भाड़ेका खर्च लग ही जाता था। कोई लड़की साथ हो, तो उसका खर्च चुकाना जरूरी हो जाता था। जब बाहर जाता, तो खानेके लिए घर न पहुँच पाता। वहाँ तो पैसे पहलेसे ही चुकाये रहते और बाहर खानेके पैसे और चुकाने पड़ते। मैंने देखा कि इस तरहके खर्चोंसे बचा जा सकता है। महज शरमकी वजहसे होनेवाले खर्चोंसे बचनेकी बात भी समझमें आयी।

अब तक मैं कुटुम्बोंमें रहता था, उसके बदले अपना ही कमरा लेकर रहनेका मैंने निश्चय किया, और यह भी तय किया कि कामके अनुसार और अनुभव प्राप्त करनेके लिए अलग-अलग मुहल्लोंमें घर बदलता रहूँगा। घर मैंने ऐसी जगह पसन्द किये कि जहाँसे कामकी जगह पर आधे घंटेमें पैदल पहुँचा जा सके और गाड़ी-भाड़ा बचे। इससे पहले जहाँ जाना होता वहाँका गाड़ी-भाड़ा हमेशा चुकाना पड़ता और

घूमनेके लिए अलगसे समय निकालना पड़ता था। अब काम पर जाते हुए ही घूमनेकी व्यवस्था जम गयी, और इस व्यवस्थाके कारण मैं रोज आठ-दस मील तक आसानीसे घूम लेता था। खासकर इस एक आदतके कारण मैं विलायतमें शायद ही कभी बीमार पड़ा होऊँगा। मेरा शरीर काफी कस गया। कुटुम्बमें रहना छोड़कर मैंने दो कमरे किराये पर लिये। एक सोनेके लिए और दूसरा बैठकके रूपमें। यह फेरफारकी दूसरी मंजिल कही जा सकती है। तीसरा फेरफार अभी होना शेष था।

इस तरह आधा खर्च बचा। लेकिन समयका क्या हो? मैं जानता था कि बारिस्टरीकी परीक्षाके लिए बहुत पढ़ना जरूरी नहीं है; इसलिए मुझे बेफिकरी थी। पर मेरी कच्ची अंग्रेजी मुझे दुःख देती थी। लेली साहबके शब्द — 'तुम बी०ए० हो जाओ, फिर आना' — मुझे चुभते थे। मैंने सोचा मुझे बारिस्टर बननेके अलावा कुछ और भी पढ़ना चाहिये। ऑक्सफर्ड केम्ब्रिजकी पढ़ाईका पता लगाया। कई मित्रोंसे मिला। मैंने देखा कि वहाँ जानेसे खर्च बहुत बढ़ जायेगा और पढ़ाई लम्बी चलेगी। मैं तीन सालसे अधिक रह नहीं सकता था। किसी मित्रने कहा, "अगर तुम्हें कोई कठिन परीक्षा ही देनी हो, तो तुम लन्दनकी मैट्रिक्युलेशन पास कर लो। उसमें मेहनत काफी करनी पड़ेगी और साधारण ज्ञान बढ़ेगा। खर्च बिलकुल नहीं बढ़ेगा।" मुझे यह सुझाव अच्छा लगा। पर परीक्षाके विषय देखकर मैं चौंका। लेटिन और दूसरी एक भाषा अनिवार्य थी। लेटिन कैसे सीखी जाय? पर मित्रने सुझाया: "वकीलके लिए लेटिन बहुत उपयोगी है। लेटिन जाननेवालेके लिए कानूनी किताबें समझना आसान हो जाता है, और 'रोमन लॉ' की परीक्षामें एक प्रश्नपत्र तो केवल लेटिन भाषामें ही होता है। इसके सिवाय, लेटिन जाननेसे अंग्रेजी भाषा पर प्रभुत्व बढ़ता है।" इन सब दलीलोंका मुझ पर असर हुआ। मैंने सोचा, मुश्किल हो चाहे न हो, पर लेटिन तो सीख ही लेनी है। फ्रेंचकी शुरू की हुई पढ़ाईको पूरा करना है। इसलिए निश्चय किया कि दूसरी भाषा फ्रेंच हो। मैट्रिक्युलेशनका एक प्राइव्हेट वर्ग चलता था। उसमें भरती हो गया। हर छठे महीने परीक्षा होती थी। मेरे पास मुश्किलसे पाँच महीनेका समय था। यह काम मेरे बूतेके बाहर था। परिणाम यह हुआ कि सभ्य बननेकी जगह मैं अत्यन्त उद्यमी विद्यार्थी बन गया। समय-पत्रक बनाया। एक-एक मिनटका उपयोग किया। पर मेरी बुद्धि या स्मरण-शक्ति ऐसी नहीं थी कि दूसरे विषयोंके अतिरिक्त लेटिन और फ्रेंचकी तैयारी कर सकूँ। परीक्षामें बैठा। लेटिनमें फेल हो गया। दुःख तो हुआ, पर हिम्मत नहीं हारा। लेटिनमें रुचि

पैदा हो गयी थी। मैंने सोचा कि दूसरी बार परीक्षामें बैठनेसे फ्रेंच अधिक अच्छी हो जायेगी और विज्ञानमें नया विषय ले लूँगा। प्रयोगोंके अभावमें रसायनशास्त्र मुझे रुचता ही न था। यद्यपि अब देखता हूँ कि उसमें खूब रस आना चाहिये था। देशमें तो यह विषय सीखा ही था, इसलिए लन्दनकी मैट्रिकके लिए भी पहली बार इसीको पसन्द किया था। इस बार प्रकाश और उष्णता (Light और Heat) का विषय लिया। यह विषय आसान माना जाता था। मुझे भी आसान प्रतीत हुआ।

पुनः परीक्षा देनेकी तैयारीके साथ ही रहन-सहनमें अधिक सादगी लानेका प्रयत्न शुरू किया। मैंने अनुभव किया कि अभी मेरे कुटुम्बकी गरीबीके अनुरूप मेरा जीवन सादा नहीं बना है। भाईकी तंगीके और उनकी उदारताके विचारोंने मुझे व्याकुल बना दिया। जो लोग हर महीने १५ पौण्ड या ८ पौण्ड खर्च करते थे, उन्हें तो छात्रवृत्तियाँ मिलती थीं। मैं देखता था कि मुझसे भी अधिक सादगीसे रहनेवाले लोग हैं। मैं ऐसे गरीब विद्यार्थियोंके संपर्कमें ठीक-ठीक आया था। एक विद्यार्थी लन्दनकी गरीब बस्तीमें हफ्तेके दो शिलिंग देकर एक कोठरीमें रहता था, और लोकार्टकी कोकोकी सस्ती दुकानमें दो पेनीका कोको और रोटी खाकर अपना गुजारा करता था। उससे स्पर्धा करनेकी तो मेरी शक्ति नहीं थी, पर मैंने अनुभव किया कि मैं अवश्य ही दोके बदले एक कमरेमें रह सकता हूँ और आधी रसोई अपने हाथसे भी बना सकता हूँ। इस प्रकार मैं हर महीने चार या पाँच पौण्डमें अपना निर्वाह कर सकता हूँ। सादी रहन-सहन पर पुस्तकें भी पढ़ चुका था। दो कमरे छोड़ दिये और हफ्तेके आठ शिलिंग पर एक कमरा किरायेसे लिया। एक अंगीठी खरीदी और सुबहका भोजन हाथसे बनाना शुरू किया। इसमें मुश्किलसे बीस मिनट खर्च होते थे। ओटमीलकी लपसी बनाने और कोकोके लिए पानी उबालनेमें कितना समय लगता? दोपहरका भोजन बाहर कर लेता और शामको फिर कोको बनाकर रोटीके साथ खा लेता। इस तरह मैं एकसे सवा शिलिंगके अन्दर रोजके अपने भोजनकी व्यवस्था करना सीख गया। यह मेरा अधिकसे अधिक पढ़ाईका समय था। जीवन सादा बन जानेसे समय अधिक बचा। दूसरी बार परीक्षामें बैठा और पास हुआ।

पर पाठक यह न मानें कि सादगीसे मेरा जीवन नीरस बना होगा। उलटे, इन फेरफारोंके कारण मेरी आन्तरिक और बाह्य स्थितिके बीच एकता पैदा हुई, कौटुम्बिक स्थितिके साथ मेरी रहन-सहनका मेल बैठा, जीवन अधिक सारमय बना और मेरे आत्मानन्दका पार न रहा।

१७. खुराकके प्रयोग

जैसे-जैसे मैं जीवनकी गहराईमें उतरता गया, वैसे-वैसे मुझे बाहर और भीतरके आचरणमें फेरफार करनेकी जरूरत मालूम होती गयी। जिस गतिसे रहन-सहन और खर्चमें फेरफार हुए, उसी गतिसे अथवा उससे भी अधिक वेगसे मैंने खुराकमें फेरफार करना शुरू किया। मैंने देखा कि अन्नाहारविषयक अंग्रेजी पुस्तकोंमें लेखकोंने बहुत सूक्ष्मतासे विचार किया था। उन्होंने धार्मिक, वैज्ञानिक, व्यावहारिक और वैद्यक दृष्टिसे अन्नाहारकी छानबीन की थी। नैतिक दृष्टिसे उन्होंने यह सोचा था कि मनुष्यको पशु-पक्षियों पर जो प्रभुत्व प्राप्त हुआ है, वह उन्हें मारकर खानेके लिए नहीं, बल्कि उनकी रक्षाके लिए है; अथवा जिस प्रकार मनुष्य एक-दूसरेका उपयोग करते हैं, पर एक-दूसरेको खाते नहीं, उसी प्रकार पशु-पक्षी भी उपयोगके लिए हैं, खानेके लिए नहीं। और, उन्होंने देखा कि खाना भोगके लिए नहीं, बल्कि जीनेके लिए ही है। इस कारण कइयोंने आहारमें मांसका ही नहीं बल्कि अंडों और दूधका भी त्याग सुझाया और किया। विज्ञानकी दृष्टिसे और मनुष्यकी शरीर-रचनाको देखकर कई लोग इस परिणाम पर पहुँचे कि मनुष्यको भोजन पकानेकी आवश्यकता ही नहीं है; वह वनपक्व* फल ही खानेके लिए पैदा किया गया है। दूध उसे केवल माताका ही पीना चाहिये। दाँत निकलनेके बाद उसको चबा सकने योग्य खुराक ही लेनी चाहिये। वैद्यक दृष्टिसे उन्होंने मिर्च-मसालोंका त्याग सुझाया और व्यावहारिक अथवा आर्थिक दृष्टिसे उन्होंने बताया कि कमसे कम खर्चवाली खुराक अन्नाहार ही हो सकती है। मुझ पर इन चारों दृष्टियोंका प्रभाव पड़ा, और अन्नाहार देनेवाले भोजन-गृहमें मैं चारों दृष्टिवाले व्यक्तियोंसे मिलने लगा। विलायतमें इनका एक मण्डल था और एक साप्ताहिक भी निकलता था। मैं साप्ताहिकका ग्राहक बना और मण्डलका सदस्य। कुछ ही समयमें मुझे उसकी कमेटीमें ले लिया गया। यहाँ मेरा परिचय ऐसे लोगोंसे हुआ, जो अन्नाहारियोंमें स्तम्भरूप माने जाते थे। मैं प्रयोगोंमें व्यस्त हो गया।

घरसे मिठाई-मसाले वगैरा जो मँगाये थे, सो लेने बन्द कर दिये, और मनने दूसरा मोड़ पकड़ा। इस कारण मसालोंका प्रेम कम पड़ गया, और जो सब्जी

---

* झाड़ पर कुदरती तौर पर पके हुए फल।

रिचमंडमें मसालेके अभावमें बस्वाद मालूम होती थी, वह अब सिर्फ उबाली हुई स्वादिष्ट लगने लगी। ऐसे अनेक अनुभवोंसे मैंने यह सीखा कि स्वादका सच्चा स्थान जीभ नहीं, पर मन है।

आर्थिक दृष्टि तो मेरे सामने थी ही। उन दिनों एक पंथ ऐसा था, जो चाय-कॉफीको हानिकारक मानता था और कोकोका समर्थन करता था। मैं यह समझ चुका था कि केवल उन्हीं वस्तुओंका सेवन करना योग्य है, जो शरीर-व्यापारके लिए आवश्यक हैं। इस कारण मुख्यतः मैंने चाय और कॉफीका त्याग किया और कोकोको अपनाया।

भोजन-गृहके दो विभाग थे। एकमें जितने पदार्थ खाओ उतने पैसे देने होते थे। इसमें एक बारमें शिलिंग-दो शिलिंगका भी खर्च हो जाता था। इस विभागमें अच्छी स्थितिके लोग जाते थे। दूसरे विभागमें छह पेनीमें तीन पदार्थ और डबल-रोटीका एक टुकड़ा मिलता था। जिन दिनों मैंने खूब किफायतशारी शुरू की थी, उन दिनों मैं अकसर छह पेनीवाले विभागमें जाता था।

ऊपरके प्रयोगोंके साथ उप-प्रयोग तो बहुत हुए। कभी स्टार्चवाला आहार छोड़ा, कभी सिर्फ डबल-रोटी और फल पर ही रहा, और कभी पनीर, दूध और अण्डोंका ही सेवन किया।

यह आखिरी प्रयोग उल्लेखनीय है। यह पन्द्रह दिन भी नहीं चला। स्टार्च-रहित आहारका समर्थन करनेवालोंने अण्डोंकी खूब स्तुति की थी और यह सिद्ध किया था कि अण्डे मांस नहीं हैं। यह तो स्पष्ट ही है कि अण्डे खानेमें किसी जीवित प्राणीको दुःख नहीं पहुँचता। इस दलीलके भुलावेमें आकर मैंने माताजीके सम्मुख की हुई प्रतिज्ञाके रहते भी अण्डे खाये, पर मेरा वह मोह क्षणिक था। प्रतिज्ञाका नया अर्थ करनेका मुझे अधिकार न था। अर्थ तो प्रतिज्ञा करानेवालेका ही माना जा सकता था। मांस न खानेकी प्रतिज्ञा करानेवाली माताको अण्डोंका तो खयाल ही नहीं हो सकता था, इसे मैं जानता था। इस कारण प्रतिज्ञाके रहस्यका बोध होते ही मैंने अण्डे छोड़े और प्रयोग भी छोड़ा।

यह एक सूक्ष्म रहस्य है और ध्यानमें रखने योग्य है। विलायतमें मैंने मांसकी तीन व्याख्यायें पढ़ी थीं। एकके अनुसार मांसका अर्थ पशुपक्षीका मांस था। अतएव ये व्याख्याकार उसका त्याग करते थे, पर मछली खाते थे; अण्डे तो खाते ही थे। दूसरी व्याख्याके अनुसार साधारण मनुष्य जिसे जीवके रूपमें जानता है, उसका त्याग

किया जाता था। इसके अनुसार मछली त्याज्य थी, पर अण्डे ग्राह्य थे। तीसरी व्याख्यामें साधारणतया जितने भी जीव माने जाते हैं, उनके और उनसे उत्पन्न होनेवाले पदार्थोंके त्यागकी बात थी। इस व्याख्याके अनुसार अण्डोंका और दूधका भी त्याग बन्धनकारक था। यदि मैं इनमें से पहली व्याख्याको मानता, तो मछली भी खा सकता था। पर मैं समझ गया था कि मेरे लिए तो माताजीकी व्याख्या ही बन्धनकारक है। अतएव यदि मुझे उनके सम्मुख ली गयी प्रतिज्ञाका पालन करना हो, तो अण्डे खाने ही न चाहिये। इस कारण मैंने अण्डोंका त्याग किया। पर मेरे लिए यह बहुत कठिन हो गया, क्योंकि बारीकीसे पूछताछ करने पर पता चला कि अन्नाहारवाले भोजन-गृहमें भी अण्डोंवाली बहुत चीजें बनती थीं। तात्पर्य यह कि वहाँ भी भाग्यवश मुझे तब तक परोसनेवालोंसे पूछताछ करनी पड़ी थी, जब तक कि मैं अच्छा जानकार न हो गया; क्योंकि कई तरहके 'पुडिंग' में और कई तरहकी 'केक' में तो अण्डे होते ही थे। इस कारण एक तरहसे तो मैं जंजालसे छूटा, क्योंकि थोड़ी और बिलकुल सादी चीजें ही ले सकता था। दूसरी तरफ थोड़ा आघात भी लगा, क्योंकि जीभसे लगी हुई कई चीजोंका मुझे त्याग करना पड़ा था। पर वह आघात क्षणिक था। प्रतिज्ञा-पालनका स्वच्छ, सूक्ष्म और स्थायी स्वाद उस क्षणिक स्वादकी तुलनामें मुझे अधिक प्रिय लगा।

पर सच्ची परीक्षा तो आगे होनेवाली थी, और वह एक दूसरे व्रतके निमित्तसे। जिसे राम रखे, उसे कौन चखे?

इस अध्यायको समाप्त करनेसे पहले प्रतिज्ञाके अर्थके विषयमें कुछ कहना जरूरी है। मेरी प्रतिज्ञा माताके सम्मुख किया हुआ एक करार था। दुनियामें बहुतसे झगड़े केवल करारके अर्थके कारण उत्पन्न होते हैं। इकरारनामा कितनी ही स्पष्ट भाषामें क्यों न लिखा जाये, तो भी भाषाशास्त्री 'राईका पर्वत' कर देंगे। इसमें सभ्य-असभ्यका भेद नहीं रहता। स्वार्थ सबको अन्धा बना देता है। राजासे लेकर रंक तक सभी लोग करारोंके खुदको अच्छे लगनेवाले अर्थ करके दुनियाको, खुदको और भगवानको धोखा देते हैं। इस प्रकार पक्षकार लोग जिस शब्द अथवा वाक्यका अपने अनुकूल पड़नेवाला अर्थ करते हैं, न्यायशास्त्रमें उसे द्वि-अर्थी मध्यमपद कहा गया है। सुवर्ण न्याय तो यह है कि विपक्षने हमारी बातका जो अर्थ माना हो, वही सच माना जाये; हमारे मनमें जो हो वह खोटा अथवा अधूरा है। और ऐसा ही दूसरा सुवर्ण न्याय यह है कि जहाँ दो अर्थ हो सकते हों वहाँ दुर्बल पक्ष जो अर्थ करे, वही सच माना जाना चाहिये। इन दो सुवर्ण मार्गोंका त्याग

होनेसे ही अकसर झगड़े होते हैं और अधर्म चलता है। और इस अन्यायकी जड़ असत्य है। जिसे सत्यके ही मार्ग पर जाना है, उसे सुवर्ण मार्ग सहज भावसे मिल जाता है। उसे शास्त्र नहीं खोजने पड़ते। माताने 'मांस' शब्दका जो अर्थ माना और जिसे मैं उस समय समझा, वही मेरे लिए सच्चा था। वह अर्थ नहीं जिसे मैं अपने अधिक अनुभवसे या अपनी विद्धत्ताके मदमें सीखा-समझा था।

इस समय तकके मेरे प्रयोग आर्थिक और आरोग्यकी दृष्टिसे होते थे। विलायतमें उन्होंने धार्मिक स्वरूप ग्रहण नहीं किया था। धार्मिक दृष्टिसे मेरे कठिन प्रयोग दक्षिण अफ्रीकामें हुए, जिनकी छान-बीन आगे करनी होगी। पर कहा जा सकता है कि उनका बीज विलायतमें बोया गया था।

जो आदमी नया धर्म स्वीकार करता है, उसमें उस धर्मके प्रचारका जोश उस धर्ममें जन्मे हुए लोगोंकी अपेक्षा अधिक पाया जाता है। विलायतमें तो अन्नाहार एक नया धर्म ही था और मेरे लिए भी वह वैसा ही माना जायेगा, क्योंकि बुद्धिसे तो मैं मांसाहारका हिमायती बननेके बाद ही विलायत गया था। अन्नाहारकी नीतिको ज्ञानपूर्वक तो मैंने विलायतमें ही अपनाया था। अतएव मेरी स्थिति नये धर्ममें प्रवेश करने-जैसी बन गयी थी, और मुझमें नवधर्मीका जोश आ गया था। इस कारण उस समय मैं जिस बस्तीमें रहता था, उसमें मैंने अन्नाहारी मण्डलकी स्थापना करनेका निश्चय किया। इस बस्तीका नाम बेजवॉटर था। इसमें सर एडविन आर्नल्ड रहते थे। मैंने उन्हें उपसभापति बननेको निमंत्रित किया। वे बने। डॉ० ओल्डफील्ड सभापति बने। मैं मंत्री बना। यह संस्था कुछ समय तक तो अच्छी चली; पर कुछ महीनोंके बाद इसका अन्त हो गया, क्योंकि मैंने अमुक मुद्दतके बाद अपने रिवाजके अनुसार वह बस्ती छोड़ दी। पर इस छोटे और अल्प अवधिके अनुभवसे मुझे संस्थाओंका निर्माण करने और उन्हें चलानेका कुछ अनुभव प्राप्त हुआ।

१८. लज्जाशीलता - मेरी ढाल

अन्नाहारी मण्डलकी कार्यकारिणीमें मुझे चुन तो लिया गया था और उसमें मैं हर बार हाजिर भी रहता था, पर बोलनेके लिए जीभ खुलती ही न थी। डॉ० ओल्डफील्ड मुझसे कहते, "मेरे साथ तो तुम काफी बात कर लेते हो, पर समितिकी बैठकमें कभी जीभ ही नहीं खोलते। तुम्हें नर-मक्खीकी उपमा दी जानी चाहिये।"

मैं इस विनोदको समझ गया। मक्खियाँ निरन्तर उद्यमी रहती हैं, पर नर-मक्खी बराबर खाती-पीती रहती है और काम बिलकुल नहीं करती। यह बड़ी अजीब बात थी कि जब दूसरे सब समितिमें अपनी-अपनी सम्मति प्रकट करते, तब मैं गूँगा बनकर ही बैठा रहता था। मुझे बोलनेकी इच्छा न होती हो सो बात नहीं, पर बोलता क्या? मुझे सब सदस्य अपनेसे अधिक जानकार मालूम होते थे। फिर किसी विषयमें बोलनेकी जरूरत मालूम होती और मैं कुछ कहनेकी हिम्मत करने जाता, इतनेमें दूसरा विषय छिड़ जाता।

यह चीज बहुत समय तक चली। इस बीच समितिमें एक गंभीर विषय उपस्थित हुआ। उसमें भाग न लेना मुझे अन्याय होने देने जैसा लगा। गूँगेकी तरह मत देकर शान्त रहनेमें नामर्दगी मालूम हुई। 'टेम्स आयर्न वर्क्स' के मालिक मि० हिल्स मण्डलके सभापति थे। वे नीतिके कट्टर हिमायती थे। कहा जा सकता है कि मण्डल उनके पैसेसे चल रहा था। समितिके कई सदस्य तो उनके ही आसरे निभ रहे थे। इस समितिमें डॉ० एलिन्सन भी थे। उन दिनों सन्तानोत्पत्ति पर कृत्रिम उपायोंके अंकुश रखनेका आन्दोलन चल रहा था। डॉ० एलिन्सन उन उपायोंके समर्थक थे और मजदूरोंमें उनका प्रचार करते थे। मि० हिल्सको ये उपाय नीति-नाशक प्रतीत हुए। उनके विचारमें अन्नाहारी मण्डल केवल आहारके ही सुधारके लिए नहीं था, बल्कि वह एक नीति-वर्धक मण्डल भी था। इसलिए उनकी राय थी कि डॉ० एलिन्सनके समान समाज-घातक विचार रखनेवाले लोग उस मण्डलमें नहीं रहने चाहियें। इसलिए डॉ० एलिन्सनको समितिसे हटानेका एक प्रस्ताव आया। मैं इस चर्चामें दिलचस्पी रखता था। डॉ० एलिन्सनके कृत्रिम उपायों-सम्बन्धी विचार मुझे भयंकर मालूम हुए थे। उनके खिलाफ मि० हिल्सके विरोधको मैं शुद्ध नीति मानता था। मेरे मनमें उनके प्रति बड़ा आदर था। उनकी उदारताके प्रति भी आदरभाव था। पर एक अन्नाहार-संवर्धक मण्डलमें से शुद्ध नीतिके नियमोंको न माननेवालेका, उसकी अश्रद्धाके कारण, बहिष्कार किया जाये, इसमें मुझे साफ अन्याय दिखायी दिया। मेरा खयाल था कि अन्नाहारी मण्डलके स्त्री-पुरुष-सम्बन्ध-विषयक मि० हिल्सके विचार उनके अपने विचार थे। मण्डलके सिद्धान्तके साथ उनका कोई सम्बन्ध न था। मण्डलका उद्देश्य केवल अन्नाहारका प्रचार करना था; दूसरी नीतिका नहीं। इसलिए मेरी यह राय थी कि दूसरी अनेक नीतियोंका अनादर करनेवालेके लिए भी अन्नाहारी मण्डलमें स्थान हो सकता है।

समितिमें मेरे विचारके दूसरे सदस्य भी थे। पर मुझे अपने विचार व्यक्त करनेका जोश चढ़ा था। उन्हें कैसे व्यक्त किया जाये, यह एक महान प्रश्न बन गया। मुझमें बोलनेकी हिम्मत नहीं थी, इसलिए मैंने अपने विचार लिखकर सभापतिके सम्मुख रखनेका निश्चय किया। मैं अपना लेख ले गया। जैसा कि मुझे याद है, मैं उसे पढ़ जानेकी हिम्मत भी नहीं कर सका। सभापतिजीने उसे दूसरे सदस्यसे पढ़वाया। डॉ० एलिन्सनका पक्ष हार गया। अतएव इस प्रकारके अपने इस पहले युद्धमें मैं पराजित पक्षमें रहा। पर चूँकि मैं उस पक्षको सच्चा मानता था, इसलिए मुझे सम्पूर्ण संतोष रहा। मेरा कुछ ऐसा खयाल है कि उसके बाद मैंने समितिसे इस्तीफा दे दिया था।

मेरी लज्जाशीलता विलायतमें अन्त तक बनी रही। किसीसे मिलने जाने पर भी, जहाँ पाँच-सात मनुष्योंकी मण्डली इकट्ठा होती वहाँ मैं गूँगा बन जाता था।

एक बार मैं वेंटनर गया था। वहाँ मजमुदार भी थे। वहाँके एक अन्नाहारी घरमें हम दोनों रहते थे। 'एथिक्स ऑफ डायेट' के लेखक इसी बन्दरगाहमें रहते थे। हम उनसे मिले। वहाँ अन्नाहारको प्रोत्साहन देनेके लिए एक सभा की गयी। उसमें हम दोनोंको बोलनेका निमंत्रण मिला। दोनोंने उसे स्वीकार किया। मैंने जान लिया था कि लिखा हुआ भाषण पढ़नेमें कोई दोष नहीं माना जाता। मैं देखता था कि अपने विचारोंको सिलसिलेसे और संक्षेपमें प्रकट करनेके लिए बहुतसे लोग लिखा हुआ पढ़ते थे। मैंने अपना भाषण लिख लिया। बोलनेकी हिम्मत नहीं थी। जब मैं पढ़ने खड़ा हुआ, तो पढ़ न सका। आँखोंके सामने अंधेरा छा गया और हाथ-पैर काँपने लगे। मेरा भाषण मुश्किलसे फुलस्केपका एक पृष्ठ रहा होगा। मजमुदारने उसे पढ़कर सुनाया। मजमुदारका भाषण तो अच्छा हुआ। श्रोतागण उनकी बातोंका स्वागत तालियोंकी गड़गड़ाहटसे करते थे। मैं शरमाया और बोलनेकी अपनी असमर्थताके लिए दुःखी हुआ।

विलायतमें सार्वजनिक रूपसे बोलनेका अंतिम प्रयत्न मुझे विलायत छोड़ते समय करना पड़ा था। विलायत छोड़नेसे पहले मैंने अन्नाहारी मित्रोंको हॉबर्न-भोजन-गृहमें भोजके लिए निमंत्रित किया था। मैंने सोचा कि अन्नाहारी भोजन-गृहोंमें तो अन्नाहार मिलता ही है, पर जिस भोजन-गृहमें मांसाहार बनता हो वहाँ अन्नाहारका प्रवेश हो तो अच्छा। यह विचार करके मैंने इस गृहके व्यवस्थापकके साथ विशेष प्रबन्ध करके वहाँ भोज दिया। यह नया प्रयोग अन्नाहारियोंमें प्रसिद्धि पा गया। पर मेरी तो फजीहत ही हुई। भोजमात्र भोगके लिए ही होते हैं। पर पश्चिममें इनका

विकास एक कलाके रूपमें किया गया है। भोजके समय विशेष सजावट और विशेष आडम्बरकी व्यवस्था रहती है। बाजे बजते हैं, भाषण किये जाते हैं। इस छोटेसे भोजमें भी यह सारा आडम्बर था ही। मेरे भाषणका समय आया। मैं खड़ा हुआ। खूब सोचकर बोलनेकी तैयारी की थी। मैंने कुछ ही वाक्योंकी रचना की थी, पर पहले वाक्यसे आगे न बढ़ सका। एडीसनके विषयमें पढ़ते हुए मैंने उसके लज्जाशील स्वभावके बारे में पढ़ा था। लोकसभा(हाउस ऑफ कॉमन्स)के उसके पहले भाषणके बारेमें यह कहा जाता है कि उसने "मेरी धारणा है", 'मेरी धारणा है'', "मेरी धारणा है'', यों तीन बार कहा, पर बादमें वह आगे न बढ़ सका। जिस अंग्रेजी शब्दका अर्थ 'धारणा' है, उसका अर्थ 'गर्भ धारण करना' भी है। इसलिए जब एडीसन आगे न बढ़ सका, तो लोकसभाका एक मसखरा सदस्य कह बैठा कि "इन सज्जनने तीन बार गर्भ धारण किया, पर ये कुछ पैदा तो कर ही न सके!'' मैंने यह कहानी सोच रखी थी और एक छोटा-सा विनोदपूर्ण भाषण करनेका मेरा इरादा था। इसलिए मैंने अपने भाषणका आरंभ इस कहानीसे किया, पर गाड़ी वहीं अटक गयी। सोचा हुआ सब भूल गया और विनोदपूर्ण तथा गूढ़ार्थभरा भाषण करनेकी कोशिशमें मैं स्वयं विनोदका पात्र बन गया। अन्तमें "सज्जनो, आपने मेरा निमंत्रण स्वीकार किया, इसके लिए मैं आपका आभार मानता हूँ,'' इतना कहकर मुझे बैठ जाना पड़ा!

मैं कह सकता हूँ कि मेरा यह शरमीला स्वभाव दक्षिण अफ्रीका पहुँचने पर ही दूर हुआ। बिलकुल दूर हो गया, ऐसा तो आज भी नहीं कहा जा सकता। बोलते समय सोचना तो पड़ता ही है। नये समाजके सामने बोलते हुए मैं सकुचाता हूँ। बोलनेसे बचा जा सके, तो जरूर बच जाता हूँ। और यह स्थिति तो आज भी नहीं है कि मित्र-मण्डलीके बीच बैठा होने पर कोई खास बात कर ही सकूँ अथवा बात करनेकी इच्छा होती हो। अपने इस शरमीले स्वभावके कारण मेरी फजीहत तो हुई, पर मेरा कोई नुकसान नहीं हुआ; बल्कि अब तो मैं देख सकता हूँ कि मुझे फायदा हुआ है। पहले बोलनेका यह संकोच मेरे लिए दुःखकर था, अब वह सुखकर हो गया है। एक बड़ा फायदा तो यह हुआ कि मैं शब्दोंका मितव्यय करना सीखा। मुझे अपने विचारों पर काबू रखनेकी आदत सहज ही पड़ गयी। मैं अपने-आपको यह प्रमाण-पत्र दे सकता हूँ कि मेरी जबान या कलमसे बिना सोचे-विचारे या बिना तौले शायद ही कोई शब्द कभी निकलता है। मुझे याद नहीं पड़ता कि अपने भाषण या लेखके किसी

अंशके लिए मुझे कभी शरमाना या पछताना पड़ा हो। मैं अनेक संकटोंसे बच गया हूँ और मुझे अपना बहुत-सा समय बचा लेनेका लाभ मिला है।

अनुभवने मुझे यह भी सिखाया है कि सत्यके प्रत्येक पुजारीके लिए मौनका सेवन इष्ट है। मनुष्य जाने-अनजाने भी प्रायः अतिशयोक्ति करता है, अथवा जो कहने योग्य है उसे छिपाता है, या दूसरे ढंगसे कहता है। ऐसे संकटोंसे बचनेके लिए भी मितभाषी होना आवश्यक है। कम बोलनेवाला बिना बिचारे नहीं बोलेगा; वह अपने प्रत्येक शब्दको तौलेगा। अकसर मनुष्य बोलनेके लिए अधीर हो जाता है। 'मैं भी बोलना चाहता हूँ', इस आशयकी चिट्ठी किस सभापतिको नहीं मिलती होगी? फिर उसे जो समय दिया जाता है, वह उसके लिए पर्याप्त नहीं होता। वह अधिक बोलने देनेकी माँग करता है और अन्तमें बिना अनुमतिके भी बोलता रहता है। इन सब लोगोंके बोलनेसे दुनियाको लाभ होता हो, ऐसा क्वचित् ही पाया जाता है। पर उतने समयकी बरबादी तो स्पष्ट ही देखी जा सकती है। इसलिए यद्यपि आरम्भमें मुझे अपनी लज्जाशीलता दुःख देती थी, लेकिन आज उसके स्मरणसे मुझे आनन्द होता है। यह लज्जाशीलता मेरी ढाल थी। उससे मुझे परिपक्व बननेका लाभ मिला। सत्यकी अपनी पूजामें मुझे उससे सहायता मिली।

१९. असत्यरूपी विष

चालीस साल पहले विलायत जानेवाले हिन्दुस्तानी विद्यार्थी आजकी तुलनामें कम थे। स्वयं विवाहित होने पर भी अपनेको कुँआरा बतानेका उनमें रिवाज-सा पड़ गया था। उस देशमें स्कूल या कॉलेजमें पढ़नेवाले कोई विद्यार्थी विवाहित नहीं होते। विवाहितके लिए विद्यार्थी-जीवन नहीं होता। हमारे यहाँ तो प्राचीन कालमें विद्यार्थी ब्रह्मचारी ही कहलाता था। बाल-विवाहकी प्रथा तो इस जमानेमें ही पड़ी है। कह सकते हैं कि विलायतमें बाल-विवाह जैसी कोई चीज है ही नहीं। इसलिए भारतके युवकोंको यह स्वीकार करते हुए शरम मालूम होती है कि वे विवाहित हैं। विवाहकी बात छिपानेका दूसरा एक कारण यह है कि अगर विवाह प्रकट हो जाये, तो जिस कुटुम्बमें रहते हैं उसकी जवान लड़कियोंके साथ घूमने-फिरने और हँसी-मजाक करनेका मौका नहीं मिलता। यह हँसी-मजाक अधिकतर निर्दोष होता है। माता-पिता इस तरहकी मित्रता पसन्द भी करते हैं। वहाँ युवक और युवतियोंके बीच ऐसे

सहवासकी आवश्यकता भी मानी जाती है, क्योंकि वहाँ तो प्रत्येक युवकको अपनी सहधर्मचारिणी स्वयं खोज लेनी होती है। अतएव विलायतमें जो सम्बन्ध स्वाभाविक माना जाता है, उसे हिन्दुस्तानका नवयुवक विलायत पहुँचते ही जोड़ना शुरू कर दे, तो परिणाम भयंकर ही होगा। कई बार ऐसे परिणाम प्रकट भी हुए हैं। फिर भी हमारे नवयुवक इस मोहिनी मायामें फँसे पड़े थे। हमारे नवयुवकोंने उस सोहबतके लिए असत्याचरण पसन्द किया, जो अंग्रेजोंकी दृष्टिसे कितनी ही निर्दोष होते हुए भी हमारे लिए त्याज्य है। इस फँदेमें मैं भी फँस गया। पाँच-छह सालसे विवाहित और एक लड़केका बाप होते हुए भी मैंने अपनेको कुँआरा बतानेमें संकोच नहीं किया! पर इसका स्वाद मैंने थोड़ा ही चखा। मेरे शरमीले स्वभावने, मेरे मौनने, मुझे बहुत कुछ बचा लिया। जब मैं बोल ही न पाता था, तो कौन लड़की ठाली बैठी थी जो मुझसे बात करती? मेरे साथ घूमनेके लिए भी शायद ही कोई लड़की निकलती।

मैं जितना शरमीला था उतना ही डरपोक भी था। बेंटनरमें जिस परिवारमें मैं रहता था, वैसे परिवारमें घरकी बेटी हो तो वह, सभ्यताके विचारसे ही सही, मेरे समान विदेशीको घूमने ले जाती। सभ्यताके इस विचारसे प्रेरित होकर इस घरकी मालकिनकी लड़की मुझे बेंटनरके आसपासकी सुन्दर पहाड़ियों पर ले गयी। वैसे मेरी चाल कुछ धीमी नहीं थी, पर उसकी चाल मुझसे भी तेज थी। इसलिए मुझे उसके पीछे पीछे घसिटना पड़ा। वह तो रास्तेभर बातोंके फव्वारे उड़ाती चली, जब कि मेरे मुँहसे कभी 'हाँ' या कभी 'ना' की आवाज भर निकलती थी। बहुत हुआ तो 'कितना सुन्दर है!' कह देता। इससे ज्यादा बोल न पाता। वह तो हवामें उड़ती जाती और मैं यह सोचता रहता कि वापस घर कब पहुँचूँगा। फिर भी यह कहनेकी हिम्मत न पड़ती कि 'चलो, अब लौट चलें।' इतनेमें हम एक पहाड़ीकी चोटी पर जा खड़े हुए। पर अब उतरा कैसे जाये? अपने ऊँची एड़ीवाले बूटोंके बावजूद बीस-पचीस सालकी वह रमणी बिजलीकी तरह ऊपरसे नीचे उतर गयी, जब कि मैं शरमिंदा होकर अभी यही सोच रहा था कि ढाल कैसे उतरा जाये! वह नीचे खड़ी हँसती है; मुझे हिम्मत बँधाती है; ऊपर आकर हाथका सहारा देकर नीचे ले जानेको कहती है! मैं इतना पस्तहिम्मत तो कैसे बनता? मुश्किलसे पैर जमाता हुआ, कहीं कुछ बैठता हुआ, मैं नीचे उतरा। उसने मजाकमें 'शा . . . ब्बा . . . श!' कहकर मुझ शरमाये हुएको और अधिक शरमिंदा किया। इस तरहके मजाकसे मुझे शरमिंदा करनेका उसे हक था।

लेकिन हर जगह मैं इस तरह कैसे बच पाता? ईश्वर मेरे अन्दरसे असत्यका विष निकालना चाहता था। बेंटनरकी तरह ही ब्राइटन भी समुद्र-किनारे हवाखोरीका मुकाम है। एक बार मैं वहाँ गया था। जिस होटलमें मैं ठहरा था, उसमें साधारण खुशहाल स्थितिकी एक विधवा बुढ़िया भी हवाखोरीके लिए आकर टिकी थी। यह मेरा पहले वर्षका समय था - बेंटनरके पहलेका। यहाँ सूचीमें खानेकी सभी चीजोंके नाम फ्रेंच भाषामें लिखे थे। मैं उन्हें समझता न था। मैं बुढ़ियावाली मेज पर ही बैठा था। बुढ़ियाने देखा कि मैं अजनबी हूँ और कुछ परेशानीमें भी हूँ। उसने बातचीत शुरू की।

''तुम अजनबी-से मालूम होते हो। किसी परेशानीमें भी हो। अभी तक कुछ खानेको भी नहीं मँगाया है!'

मैं भोजनके पदार्थोंकी सूची पढ रहा था और परोसनेवालेसे पूछनेकी तैयारी कर रहा था। इसलिए मैंने उस भद्र महिलाको धन्यवाद दिया और कहा, ''यह सूची मेरी समझमें नहीं आ रही है। मैं अन्नाहारी हूँ। इसलिए यह जानना जरूरी है कि इनमें से कौनसी चीजें निर्दोष हैं।''

उस महिलाने कहा, ''तो लो, मैं तुम्हारी मदद करती हूँ और सूची समझा देती हूँ। तुम्हारे खाने लायक चीजें मैं तुम्हें बता सकूँगी।''

मैंने धन्यवादपूर्वक उसकी सहायता स्वीकार की। यहाँसे हमारा जो सम्बन्ध जुड़ा, सो मेरे विलायतमें रहने तक और उसके बाद भी बरसों तक बना रहा। उसने मुझे लन्दनका अपना पता दिया और हर रविवारको अपने घर भोजनके लिए आनेको न्योता। वह दूसरे अवसरों पर भी मुझे अपने यहाँ बुलाती थी, प्रयत्न करके मेरा शरमीलापन छुड़ाती थी, जवान स्त्रियोंसे जान-पहचान कराती थी और उनसे बातचीत करनेको ललचाती थी। उसके घर रहनेवाली एक स्त्रीके साथ बहुत बातें करवाती थी। कभी-कभी हमें अकेला भी छोड़ देती थी।

आरम्भमें मुझे यह सब बहुत कठिन लगा। बात करना सूझता न था। विनोद भी क्या किया जाये! पर वह बुढ़िया मुझे प्रवीण बनाती रही। मैं तालीम पाने लगा। हर रविवारकी राह देखने लगा। उस स्त्रीके साथ बातें करना भी मुझे अच्छा लगने लगा।

बुढ़िया भी मुझे लुभाती जाती। उसे इस संगमें रस आने लगा। उसने तो हम दोनोंका हित ही चाहा होगा।

अब मैं क्या करूँ? मैंने सोचा: 'क्या ही अच्छा होता, अगर मैं इस भद्र महिलासे अपने विवाहकी बात कह देता? उस दशामें क्या वह चाहती कि किसीके

साथ मेरा ब्याह हो? अब भी देर नहीं हुई है। मैं सच-सच कह दूँ, तो अधिक संकटसे बच जाऊँगा।' यह सोचकर मैंने उसे एक पत्र लिखा। अपनी स्मृतिके आधार पर नीचे उसका सार देता हूँ:

"जबसे हम ब्राइटनमें मिले, आप मुझ पर प्रेम रखती रही हैं। माँ जिस तरह अपने बेटेकी चिन्ता रखती है, उसी तरह आप मेरी चिन्ता रखती हैं। आप तो यह भी मानती हैं कि मुझे ब्याह करना चाहिये, और इसी खयालसे आप मेरा परिचय युवतियोंसे कराती हैं। ऐसे सम्बन्धके अधिक आगे बढ़नेसे पहले ही मुझे आपसे यह कहना चाहिये कि मैं आपके प्रेमके योग्य नहीं हूँ। मैं आपके घर आने लगा तभी मुझे आपसे यह कह देना चाहिये था कि मैं विवाहित हूँ। मैं जानता हूँ कि हिन्दुस्तानके जो विद्यार्थी विवाहित होते हैं, वे इस देशमें अपने ब्याहकी बात प्रकट नहीं करते। इससे मैंने भी उस रिवाजका अनुकरण किया। पर अब मैं देखता हूँ कि मुझे अपने विवाहकी बात बिलकुल छिपानी नहीं चाहिये थी। मुझे साथमें यह भी कह देना चाहिये कि मेरा ब्याह बचपनमें हुआ है और मेरे एक लड़का भी है। आपसे इस बातको छिपानेका अब मुझे बहुत दुःख होता है; पर अब भगवानने सच कह देनेकी हिम्मत दी है, इससे मुझे आनन्द होता है। क्या आप मुझे माफ़ करेंगी? जिस बहनके साथ आपने मेरा परिचय कराया है, उसके साथ मैंने कोई अनुचित छूट नहीं ली, इसका विश्वास मैं आपको दिलाता हूँ। मुझे इस बातका पूरा-पूरा खयाल है कि मुझे ऐसी छूट नहीं लेनी चाहिये। पर आप तो स्वाभाविक रूपसे यह चाहती हैं कि किसीके साथ मेरा सम्बन्ध जुड़ जाये। आपके मनमें यह बात आगे न बढ़े, इसके लिए भी मुझे आपके सामने सत्य प्रकट कर देना चाहिये।

"यदि इस पत्रके मिलने पर आप मुझे अपने यहाँ आनेके लिए अयोग्य समझेंगी, तो मुझे उससे जरा भी बुरा नहीं लगेगा। आपकी ममताके लिए तो मैं आपका चिरऋणी बन चुका हूँ। मुझे स्वीकार करना चाहिये कि अगर आप मेरा त्याग न करेंगी, तो मुझे खुशी होगी। यदि अब भी आप मुझे अपने घर आने योग्य मानेंगी, तो उसे मैं आपके प्रेमकी एक नयी निशानी समझूँगा और उस प्रेमके योग्य बननेका सदा प्रयत्न करता रहूँगा।"

पाठक समझ लें कि यह पत्र मैंने क्षणभरमें नहीं लिख डाला था। न जाने कितने मसविदे तैयार किये होंगे। पर यह पत्र भेजकर मैंने अपने सरका एक बड़ा बोझ उतार डाला।

लगभग लौटती डाकसे मुझे उस विधवा बहनका उत्तर मिला। उसने लिखा था:

"खुले दिलसे लिखा तुम्हारा पत्र मिला। हम दोनों खुश हुईं और खूब हसीं। तुमने जिस असत्यसे काम लिया, वह तो क्षमाके योग्य ही है। पर तुमने अपनी सही स्थिति प्रकट कर दी यह अच्छा ही हुआ। मेरा न्योता कायम है। अगले रविवारको हम अवश्य तुम्हारी राह देखेंगी, तुम्हारे बाल-विवाहकी बातें सुनेंगी और तुम्हारा मजाक उड़ानेका आनन्द भी लूटेंगी। विश्वास रखो कि हमारी मित्रता तो जैसी थी वैसी ही रहेगी।"

इस प्रकार मैंने अपने अन्दर घुसे हुए असत्यके विषको बाहर निकाल दिया, और फिर तो अपने विवाह आदिकी बात करनेमें मुझे कहीं घबराहट नहीं हुई।

२०. धर्मोंका परिचय

विलायतमें रहते मुझे कोई एक साल हुआ होगा। इस बीच दो थियॉसॉफिस्ट मित्रोंसे मेरी पहचान हुई। दोनों सगे भाई थे और अविवाहित थे। उन्होंने मुझसे गीताजीकी चर्चा की। वे एडविन आर्नल्डका गीताजीका अनुवाद पढ़ रहे थे। पर उन्होंने मुझे अपने साथ संस्कृतमें गीता पढ़नेके लिए न्योता। मैं शरमाया, क्योंकि मैंने गीता संस्कृतमें या मातृभाषामें पढ़ी ही नहीं थी। मुझे उनसे कहना पड़ा कि मैंने गीता पढ़ी ही नहीं है, पर मैं उसे आपके साथ पढ़नेको तैयार हूँ। संस्कृतका मेरा अभ्यास भी नहींके बराबर ही है। मैं उसे इतना ही समझ पाऊँगा कि अनुवादमें कोई गलत अर्थ होगा. तो उसे सुधार सकूँगा। इस प्रकार मैंने उन भाइयोंके साथ गीता पढ़ना शुरू किया। दूसरे अध्यायके अंतिम श्लोकोंमें से

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।।
क्रोधाद् भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।।*

---

* विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषको उन विषयोंमें आसक्ति पैदा होती है। फिर आसक्तिसे कामना पैदा होती है और कामनासे क्रोध पैदा होता है। क्रोधसे मूढ़ता पैदा होती है, मूढ़तासे स्मृति-लोप होता है और स्मृति-लोपसे बुद्धि नष्ट होती है। और जिसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है, उसका खुदका नाश हो जाता है।

इन श्लोकोंका मेरे मन पर गहरा असर पड़ा। उनकी भनक मेरे कानमें गूँजती ही रही। उस समय मुझे लगा कि भगवद्गीता अमूल्य ग्रंथ है। यह मान्यता धीरे-धीरे बढ़ती गयी, और आज तत्त्वज्ञानके लिए मैं उसे सर्वोत्तम ग्रन्थ मानता हूँ। निराशाके समयमें इस ग्रन्थने मेरी अमूल्य सहायता की है। मैं इसके लगभग सभी अंग्रेजी अनुवाद पढ़ गया हूँ। पर एडविन आर्नल्डका अनुभव मुझे श्रेष्ठ प्रतीत होता है। उसमें मूल ग्रन्थके भावकी रक्षा की गयी है, फिर भी वह ग्रन्थ अनुवाद-जैसा नहीं लगता। इस बार मैंने भगवद्गीताका अध्ययन किया, ऐसा तो मैं कह ही नहीं सकता। मेरे नित्यपाठका ग्रन्थ तो वह कई वर्षोंके बाद बना।

इन्हीं भाइयोंने मुझे सुझाया कि मैं आर्नल्डका बुद्ध-चरित पढ़ूँ। उस समय तक तो मुझे सर एडविन आर्नल्डके गीताके अनुवादका ही पता था। मैंने बुद्ध-चरित भगवद्गीतासे भी अधिक रस-पूर्वक पढ़ा। पुस्तक हाथमें लेनेके बाद उसे समाप्त करके ही छोड़ सका।

एक बार ये भाई मुझे ब्लैवट्स्की लॉजमें भी ले गये। वहाँ मैडम ब्लैवट्स्कीके और मिसेज एनी बेसेंटके दर्शन कराये। मिसेज बेसेंट हाल ही थियॉसॉफिकल सोसायटीमें दाखिल हुई थीं। इससे समाचारपत्रोंमें इस सम्बन्धकी जो चर्चा चलती थी, उसे मैं दिलचस्पीके साथ पढ़ा करता था। इन भाइयोंने मुझे सोसायटीमें दाखिल होनेका भी सुझाव दिया। मैंने नम्रतापूर्वक इनकार किया और कहा, "मेरा धर्मज्ञान नहीं के बराबर है, इसलिए मैं किसी भी पंथमें सम्मिलित होना नहीं चाहता।" मेरा कुछ ऐसा खयाल है कि इन्हीं भाइयोंके कहनेसे मैंने ब्लैवट्स्कीकी पुस्तक 'की टु थियॉसॉफी' (थियॉसॉफीकी कुंजी) पढ़ी थी। उससे हिन्दू धर्मकी पुस्तकें पढ़नेकी इच्छा पैदा हुई और पादरियोंके मुँहसे सुना हुआ यह खयाल दिलसे निकल गया कि हिन्दू धर्म अन्धविश्वासोंसे ही भरा हुआ है।

इन्हीं दिनों एक अन्नाहारी छात्रावासमें मुझे मैंचेस्टरके एक ईसाई सज्जन मिले। उन्होंने मुझसे धर्मकी चर्चा की। मैंने उन्हें राजकोटका अपना संस्मरण सुनाया। वे सुनकर दुःखी हुए। उन्होंने कहा, "मैं स्वयं अन्नाहारी हूँ। मद्यपान भी नहीं करता। यह सच है कि बहुतसे ईसाई मांस खाते हैं और शराब पीते हैं; पर इस धर्ममें दोमें से एक भी वस्तुका सेवन करना कर्तव्य-रूप नहीं है। मेरी सलाह है कि आप बाइबल पढ़ें।" मैंने उनकी यह सलाह मान ली। उन्होंने बाइबल खरीद कर मुझे दी। मेरा कुछ ऐसा खयाल है कि वे भाई खुद ही बाइबल बेचते थे। उन्होंने नकशों और

विषय-सूची आदिसे युक्त बाइबल मुझे बेची। मैंने उसे पढ़ना शुरू किया, पर मैं 'पुराना इकरार' (ओल्ड टेस्टामेण्ट) तो पढ़ ही न सका। 'जेनेसिस' - सृष्टि-रचना - के प्रकरणके बाद तो पढ़ते समय मुझे नींद ही आ जाती। मुझे याद है कि 'मैंने बाइबल पढ़ी है' यह कह सकनेके लिए मैंने बिना रसके और बिना समझे दूसरे प्रकरण बहुत कष्ट-पूर्वक पढ़े थे। 'नम्बर्स' नामक प्रकरण पढ़ते-पढ़ते मेरा जी उचट गया था।

पर जब 'नये इकरार' (न्यू टेस्टामेण्ट) पर आया, तो कुछ और ही असर हुआ। ईसाके 'गिरि-प्रवचन'का मुझ पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। उसे मैंने हृदयमें बसा लिया। बुद्धिने गीताजीके साथ उसकी तुलना की। 'जो तुझसे कुर्ता माँगे उसे अंगरखा भी दे दे', 'जो तेरे दाहिने गाल पर तमाचा मारे, बायाँ गाल भी उसके सामने कर दे' - यह पढ़कर मुझे अपार आनन्द हुआ। शामळ भट्ट* के छप्पयकी याद आ गयी। मेरे बालमनने गीता, आर्नल्ड-कृत बुद्ध-चरित और ईसाके वचनोंका एकीकरण किया। मनको यह बात जँच गयी कि त्यागमें धर्म है।

इस वाचनसे दूसरे धर्माचार्योंकी जीवनियाँ पढ़नेकी इच्छा हुई। किसी मित्रने कार्लाइलकी 'विभूतियाँ और विभूति-पूजा' (हीरोज़ एण्ड हीरोवर्शिप) पढ़नेकी सलाह दी। उसमें से मैंने पैगम्बर (हजरत मुहम्मद) का प्रकरण पढ़ा, और मुझे उनकी महानता, वीरता और तपश्चर्याका पता चला।

मैं धर्मके इस परिचयसे आगे न बढ़ सका। अपनी परीक्षाकी पुस्तकोंके अलावा दूसरा कुछ पढ़नेकी फुरसत मैं नहीं निकाल सका। पर मेरे मनने यह निश्चय किया कि मुझे धर्म-पुस्तकें पढ़नी चाहिये और सब मुख्य धर्मोंका परिचय प्राप्त कर लेना चाहिये।

नास्तिकताके बारेमें भी कुछ जाने बिना काम कैसे चलता? ब्रेडलाका नाम तो सब हिन्दुस्तानी जानते ही थे। ब्रेडला नास्तिक माने जाते थे। इसलिए उनके सम्बन्धकी एक पुस्तक पढ़ी। नाम मुझे याद नहीं रहा। मुझ पर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। मैं नास्तिकता-रूपी सहारेके रेगिस्तानको पार कर गया। मिसेज

---

* यह छप्पय प्रकरण १० के अन्तमें दिया गया है। शामळ भट्ट १८वीं सदीमें गुजरातीके एक प्रसिद्ध कवि हो गये हैं। छप्पय पर उनका जो प्रभुत्व था, उसके कारण गुजरातमें यह कहावत प्रचलित हो गयी है कि 'छप्पय तो शामळके'।

बेसेंटकी ख्याति तो उस समय भी खूब थी। वे नास्तिकसे आस्तिक बनी हैं, इस चीजने भी मुझे नास्तिकवादके प्रति उदासीन बना दिया। मैंने मिसेज बेसेंटकी 'मैं थियॉसॉफिस्ट कैसे बनी?' पुस्तिका पढ़ ली थी। उन्हीं दिनों ब्रेडलाका देहान्त हुआ था। वोकिंगमें उनका अंतिम संस्कार किया गया था। मैं भी वहाँ पहुँच गया था। मेरा खयाल है कि वहाँ रहनेवाले हिंदुस्तानियोंमें से तो एक भी बाकी नहीं बचा होगा। कई पादरी भी उनके प्रति अपना सम्मान प्रकट करनेके लिए आये थे। वापस लौटते हुए हम सब एक जगह रेलगाड़ीकी राह देखते खड़े थे। वहाँ उस दलमें से किसी पहलवान नास्तिकने इन पादरियोंमें से एकके साथ जिरह शुरू की:

''क्यों साहब, आप कहते हैं न कि ईश्वर है?''

उन भद्र पुरुषने धीमी आवाजमें उत्तर दिया: ''हाँ, मैं कहता तो हूँ।''

वह हँसा और मानो पादरीको मात दे रहा हो इस ढंगसे बोला: ''अच्छा, आप यह तो स्वीकार करते हैं न कि पृथ्वीकी परिधि २८,००० मील है?''

''अवश्य।''

''तो कहिये, ईश्वरका कद कितना होगा और वह कहाँ रहता होगा?''

''अगर हम समझें तो वह हम दोनोंके हृदयमें वास करता है।''

''बच्चोंको फुसलाइये, बच्चोंको'', कहकर उस योद्धाने अपने आसपास खड़े हुए हम लोगोंकी तरफ विजयीकी दृष्टिसे देखा। पादरी नम्रतापूर्वक मौन रहे। इस संवादके कारण नास्तिकवादके प्रति मेरी अरुचि और बढ़ गयी।

२१. 'निर्बलके बल राम'

धर्मशास्त्रका और दुनियाके धर्मोंका कुछ भान तो मुझे हुआ, पर उतना ज्ञान मनुष्यको बचानेके लिए काफी नहीं होता। संकटके समय जो चीज मनुष्यको बचाती है, उसका उसे उस समय न तो भान होता है, न ज्ञान। जब नास्तिक बचता है तो वह कहता है कि मैं संयोगसे बच गया। ऐसे समय आस्तिक कहेगा कि मुझे ईश्वरने बचाया। परिणामके बाद वह यह अनुमान कर लेता है कि धर्मोंके अभ्याससे, संयमसे ईश्वर उसके हृदयमें प्रकट होता है। उसे ऐसा अनुमान करनेका अधिकार है। पर बचते समय वह नहीं जानता कि उसे उसका संयम बचाता है या कौन बचाता है। जो अपनी संयम-शक्तिका अभिमान रखता है, उसके संयमको धूलमें मिलते किसने नहीं

जाना है? ऐसे समय शास्त्रज्ञान तो छूछे-जैसा प्रतीत होता है।

बौद्धिक धर्मज्ञानके इस मिथ्यापनका अनुभव मुझे विलायतमें हुआ। पहले भी मैं ऐसे संकटोंमें से बच गया था, पर उनका पृथक्करण नहीं किया जा सकता। कहना होगा कि उस समय मेरी उमर बहुत छोटी थी।

पर अब तो मेरी उमर २० सालकी थी। मैं गृहस्थाश्रमका ठीक-ठीक अनुभव ले चुका था।

बहुत करके मेरे विलायत-निवासके आखिरी सालमें, यानी १८९० के सालमें पोर्टस्मथमें अन्नाहारियोंका एक संमेलन हुआ था। उसमें मुझे और एक हिंदुस्तानी मित्रको निमंत्रित किया गया था। हम दोनों वहाँ पहुँचे। हमें एक महिलाके घर ठहराया गया था।

पोर्टस्मथ खलासियोंका बन्दरगाह कहलाता है। वहाँ बहुतेरे घर दुराचारिणी स्त्रियोंके होते हैं।वे स्त्रियाँ वेश्या नहीं होतीं, न निर्दोष ही होती हैं। ऐसे ही एक घरमें हम लोग टिके थे। इसका यह मतलब नहीं कि स्वागत-समितिने जान-बूझकर ऐसे घर ठीक किये थे। पर पोर्टस्मथ-जैसे बन्दरगाहमें जब यात्रियोंको ठहरानेके लिए डेरोंकी तलाश होती है, तो यह कहना मुश्किल ही हो जाता है कि कौनसे घर अच्छे हैं और कौनसे बुरे।

रात पड़ी। हम सभासे घर लौटे। भोजनके बाद ताश खेलने बैठे। विलायतमें अच्छे भले घरोंमें भी इस तरह गृहिणी मेहमानोंके साथ ताश खेलने बैठती है। ताश खेलते हुए निर्दोष विनोद तो सब कोई करते हैं। लेकिन यहाँ तो बीभत्स विनोद शुरू हुआ। मैं नहीं जानता था कि मेरे साथी इसमें निपुण हैं। मुझे इस विनोदमें रस आने लगा। मैं भी इसमें शरीक हो गया। वाणीमेंसे क्रियामें उतरनेकी तैयारी थी। ताश एक तरफ धरे ही जा रहे थे। लेकिन मेरे भले साथीके मनमें राम बसे। उन्होंने कहा, "अरे, तुममें यह कलियुग कैसा! तुम्हारा यह काम नहीं है। तुम यहाँसे भागो।"

मैं शरमाया। सावधान हुआ। हृदयमें उन मित्रका उपकार माना। माताके सम्मुख की हुई प्रतिज्ञा याद आयी। मैं भागा। काँपता-काँपता अपनी कोठरीमें पहुँचा। छाती धड़क रही थी। कातिलके हाथसे बचकर निकले हुए शिकारकी जैसी दशा होती है वैसी ही मेरी हुई।

मुझे खयाल है कि पर-स्त्रीको देखकर विकारवश होने और उसके साथ रंगरेलियाँ करनेकी इच्छा पैदा होनेका मेरे जीवनमें यह पहला प्रसंग था। उस रात मैं सो नहीं

सका। अनेक प्रकारके विचारोंने मुझ पर हमला किया। घर छोड़ दूँ? भाग जाऊँ? मैं कहाँ हूँ? अगर मैं सावधान न रहूँ, तो मेरी क्या गत हो? मैंने खूब चौकन्ना रहकर बरतनेका निश्चय किया। यह सोच लिया कि घर तो नहीं छोड़ना है, पर जैसे भी बने पोर्टस्मथ जल्दी छोड़ देना है। संमेलन दो दिनसे अधिक चलनेवाला न था। इसलिए, जैसा कि मुझे याद है, मैंने दूसरे ही दिन पोर्टस्मथ छोड़ दिया। मेरे साथी पोर्टस्मथमें कुछ दिनके लिए रुके।

उन दिनों मैं यह बिलकुल नहीं जानता था कि धर्म क्या है, ईश्वर क्या है, और वह हममें किस प्रकारका काम करता है। उस समय तो लौकिक दृष्टिसे मैं यह समझा कि ईश्वरने मुझे बचा लिया है। पर मुझे विविध क्षेत्रोंमें ऐसे अनुभव हुए हैं। मैं जानता हूँ कि 'ईश्वरने बचाया' वाक्यका अर्थ आज मैं अच्छी तरह समझने लगा हूँ। पर साथ ही मैं यह भी जानता हूँ कि इस वाक्यकी पूरी कीमत अभी तक मैं आँक नहीं सका हूँ। वह तो अनुभवसे ही आँकी जा सकती है। पर मैं कह सकता हूँ कि आध्यात्मिक प्रसंगोंमें, वकालतके प्रसंगोंमें, संस्थायें चलानेमें, राजनीतिमें 'ईश्वरने मुझे बचाया है।' मैंने यह अनुभव किया है कि जब हम सारी आशा छोड़कर बैठ जाते हैं, हमारे दोनों हाथ टिक जाते हैं, तब कहीं-न-कहींसे मदद आ पहुँचती है। स्तुति, उपासना, प्रार्थना वहम नहीं है, बल्कि हमारा खाना-पीना, चलना-बैठना जितना सच है, उससे भी अधिक सच यह चीज है। यह कहनेमें अतिशयोक्ति नहीं कि यही सच है, और सब झूठ हैं।

ऐसी उपासना, ऐसी प्रार्थना, निरा वाणी-विलास नहीं होती। उसका मूल कण्ठ नहीं, हृदय है। अतएव यदि हम हृदयकी निर्मलताको पा लें, उसके तारोंको सुसंगठित रखें, तो उनमें से जो सुर निकलते हैं, वे गगनगामी होते हैं। मुझे इस विषयमें कोई शंका ही नहीं है कि विकाररूपी मलोंकी शुद्धिके लिए हार्दिक उपासना एक रामबाण औषधि है। पर इस प्रसादीके लिए हममें संपूर्ण नम्रता होनी चाहिये।

२२. नारायण हेमचन्द्र

इन्हीं दिनों स्व. नारायण हेमचन्द्र विलायत आये थे। लेखकके रूपमें मैंने उनका नाम सुन रखा था। मैं उनसे नेशनल इण्डियन एसोसियेशनकी मिस मैनिगके घर मिला। मिस मैनिंग जानती थीं कि मैं सबके साथ हिलमिल नहीं पाता। जब मैं

उनके घर जाता, तो मुँह बन्द करके बैठा रहता। कोई बुलवाता तभी बोलता।

उन्होंने नारायण हेमचन्द्रसे मेरी पहचान करायी।

नारायण हेमचन्द्र अंग्रेजी नहीं जानते थे। उनकी पोशाक अजीब थी। बेडौल पतलून पहने हुए थे। ऊपर सिकुड़नोंवाला, गले पर मैला, बादामी रंगका कोट था। नेकटाई या कॉलर नहीं थे। कोट पारसी तर्जका, पर बेढंगा था। सिर पर उनकी गूँथी हुई झब्बेदार टोपी थी। उन्होंने लंबी दाढ़ी बढ़ा रखी थी।

कद इकहरा और ठिंगना कहा जा सकता था। मुँह पर चेचकके दाग थे। चेहरा गोल। नाक न नुकीली, न चपटी। दाढ़ी पर उनका हाथ फिरता रहता। सारे सजे-धजे लोगोंके बीच नारायण हेमचन्द्र विचित्र लगते थे और सबसे अलग पड़ जाते थे।

"मैंने आपका नाम बहुत सुना है। आपके कुछ लेख भी पढ़े हैं। क्या आप मेरे घर पधारेंगे?"

नारायण हेमचन्द्रकी आवाज कुछ मोटी थी। उन्होंने मुस्कराते हुए जवाब दिया :

"आप कहाँ रहते हैं?"

"स्टोर स्ट्रीटमें।"

"तब तो हम पड़ोसी हैं। मुझे अंग्रेजी सीखनी है। आप मुझे सिखायेंगे?"

मैंने उत्तर दिया, "अगर मैं आपकी कुछ मदद कर सकूँ, तो मुझे खुशी होगी। मैं अपनी शक्तिभर प्रयत्न अवश्य करूँगा। आप कहें तो आपके स्थान पर आ जाया करूँ।"

"नहीं, नहीं, मैं ही आपके घर आऊँगा। मेरे पास पाठमाला है। उसे लेता आऊँगा १"

हमने समय निश्चित किया। हमारे बीच मजबूत स्नेह-गाँठ बँध गयी।

नारायण हेमचन्द्रको व्याकरण बिलकुल नहीं आता था। वे 'घोड़ा'को क्रियापद बना देते और 'दौड़ना'को संज्ञा। ऐसे मनोरंजक उदाहरण तो मुझे कई याद हैं। पर नारायण हेमचन्द्र तो मुझे घोटकर पी जानेवालोंमें थे। व्याकरणके मेरे साधारण ज्ञानसे वे मुग्ध होनेवाले नहीं थे। व्याकरण न जाननेकी उन्हें कोई शरम ही नहीं थी।

"तुम्हारी तरह मैं किसी स्कूलमें नहीं पढ़ा हूँ। अपने विचार प्रकट करनेमें मुझे व्याकरणकी आवश्यकता मालूम नहीं हुई। बोलो, तुम बंगला जानते हो? मैं तो बंगला जानता हूँ। मैं बंगालमें घूमा हूँ। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुरकी पुस्तकोंके अनुवाद गुजराती जनताको मैंने ही दिये हैं। मैं गुजराती जनताको कई भाषाओंके अनुवाद देना

चाहता हूँ। अनुवाद करते समय मैं शब्दार्थसे नहीं चिपकता, भावार्थ दे कर संतोष मान लेता हूँ। मेरे बाद दूसरे भले ही अधिक देते रहें। मैं बिना व्याकरणके भी मराठी जानता हूँ, हिन्दी जानता हूँ, और अब अंग्रेजी भी जानने लगा हूँ। मुझे तो शब्द-भण्डार चाहिये। तुम यह न समझो कि अकेली अंग्रेजीसे मुझे संतोष हो जायेगा। मुझे फ्रांस जाना है। और फ्रेंच भी सीख लेनी है। मैं जानता हूँ कि फ्रेंच-साहित्य विशाल है। संभव हुआ तो मैं जर्मनी भी जाऊँगा और जर्मन भाषा सीख लूँगा''

नारायण हेमचन्द्रकी वाग्धारा इस प्रकार चलती ही रही। भाषाएँ सीखने और यात्रा करनेके उनके लोभकी कोई सीमा न थी।

''तब आप अमरिका तो जरूर ही जायेंगे?''

''जरूर? उस नयी दुनियाको देखे बिना मैं वापस कैसे लौट सकता हूँ?''

''पर आपके पास इतने पैसे कहाँ हैं?''

''मुझे पैसोंसे क्या मतलब? मुझे कौन तुम्हारी तरह टीमटामसे रहना है? मेरा खाना कितना है और पहनना कितना है? अपनी पुस्तकोंसे मुझे जो थोड़ा मिलता है और मित्र जो थोड़ा दे देते हैं, वह काफी हो जाता है। मैं तो सब कहीं तीसरे दर्जेमें ही जाता हूँ। अमेरिका डेकमें जाऊँगा।''

नारायण हेमचन्द्रकी सादगी तो उनकी अपनी ही चीज थी। उनकी निखालिसता भी वैसी ही थी। अभिमान उन्हें छू तक नहीं गया था। लेकिन लेखकके रूपमें अपनी शक्ति पर उन्हें आवश्यकतासे अधिक विश्वास था।

हम रोज मिला करते थे। हममें विचार और आचारकी पर्याप्त समानता थी। दोनों अन्नाहारी थे। दुपहरका भोजन अकसर साथ ही करते थे। यह मेरा वह समय था, जब मैं हफ्तेके सत्रह शिलिंगमें अपना निर्वाह करता और हाथसे भोजन बनाता था। कभी मैं उनके मुकाम पर जाता, तो किसी दिन वे मेरे घर आते थे। मैं अंग्रेजी ढंगकी रसोई बनाता था। उन्हें देशी ढंगके बिना संतोष ही न होता था। दाल तो होनी ही चाहिये। मैं गाजर वगैराका झोल (सूप) बनाता, तो इसके लिए वे मुझ पर तरस खाते। वे कहींसे मूँग खोजकर ले आये थे। एक दिन मेरे लिए मूँग पकाकर लाये और मैंने उन्हें बड़े चावसे खाया। फिर तो लेने-देनेका हमारा यह व्यवहार बढ़ा। मैं अपने बनाये पदार्थ उन्हें चखाता और वे अपनी चीजें मुझे चखाते।

उन दिनों कार्डिनल मैनिंगका नाम सबकी जबान पर था। डकके मजदूरोंकी हड़ताल थी। जॉन बर्न्स और कार्डिनल मैनिंगके प्रयत्नसे हड़ताल जल्दी ही खुल

गयी। कार्डिनल मैनिंगकी सादगीके बारेमें डिज़रायेलीने जो लिखा था, सो मैंने नारायण हेमचन्द्रको सुनाया।

"तब तो मुझे इन साधु पुरुषसे मिलना चाहिये।"

"वे बहुत बड़े आदमी हैं। आप कैसे मिलेंगे?"

"जैसे मैं बतलाता हूँ। तुम मेरे नामसे उन्हें पत्र लिखो। परिचय दो कि मैं लेखक हूँ और उनके परोपकारके कार्यका अभिनन्दन करनेके लिए स्वयं उनसे मिलना चाहता हूँ। यह भी लिखो की मुझे अंग्रेजी बोलना नहीं आता, इसलिए मुझे तुमको दुभाषियेके रूपमें ले जाना होगा।"

मैंने इस तरहका पत्र लिखा। दो-तीन दिनमें कार्डिनल मैनिंगका जवाब एक कार्डमें आया। उन्होंने मिलनेका समय दिया था।

हम दोनों गये। मैंने प्रथाके अनुसार मुलाकाती पोशाक पहन ली थी। पर नारायण हेमचन्द्र तो जैसे रहते थे वैसे ही रहे। वही कोट और वही पतलून। मैंने मजाक किया। मेरी बातको उन्होंने हँसकर उड़ा दिया और बोले :

"तुम 'सभ्य' लोग सब डरपोक हो। महापुरुष किसीकी पोशाक नहीं देखते। वे तो उसका दिल परखते हैं।"

हमने कार्डिनलके महलमें प्रवेश किया। घर महल ही था। हमारे बैठते ही एक बहुत दुबले-पतले, बूढ़े, ऊँचे पुरुषने प्रवेश किया। हम दोनोंके साथ हाथ मिलाये। नारायण हेमचन्द्रका स्वागत किया।

"मैं आपका समय नहीं लूँगा। मैंने आपके बारेमें सुना था। हड़तालमें आपने जो काम किया, उसके लिए आपका उपकार मानना चाहता हूँ। संसारके साधु पुरुषोंके दर्शन करनेका मेरा नियम है, इस कारण मैंने आपको इतना कष्ट दिया।" नारायण हेमचन्द्रने मुझसे कहा कि मैं इन वाक्योंका उल्था कर दूँ।

आपके आनेसे मुझे खुशी हुई है। आशा है यहाँ आप सुखपूर्वक रहेंगे और यहाँके लोगोंका परिचय प्राप्त करेंगे। ईश्वर आपका कल्याण करे।" यह कहकर कार्डिनल खड़े हो गये।

एक बार नारायण हेमचन्द्र मेरे यहाँ धोती-कुरता पहनकर आये। भली घर-मालकिनने दरवाजा खोला और उन्हें देखकर डर गयी। मेरे पास आकर (पाठकोंको याद होगा कि मैं अपने घर तो बदलता ही रहता था। इसलिए यह मालकिन नारायण हेमचन्द्रको नहीं जानती थी।) बोली : "कोई पागल-सा आदमी तुमसे मिलना

चाहता है'' मैं दरवाजे पर गया, तो नारायण हेमचन्द्रको खड़ा पाया। मैं दंग रह गया। पर उनके मुँह पर तो सदाकी हँसीके सिवा और कुछ न था।

''क्या लड़कोंने आपको तंग नहीं किया?''

जवाबमें वे बोले : ''मेरे पीछे दौड़ते रहे। मैंने कुछ ध्यान नहीं दिया, इसलिए वे चुप हो गये।''

नारायण हेमचन्द्र कुछ महिने विलायत रहकर पेरिस गये। वहाँ फ्रेंचका अध्ययन शुरू किया और फ्रेंच पुस्तकोंका अनुवाद करने लगे। उनके अनुवादको जाँचने लायक फ्रेंच मैं जानता था, इसलिए उन्होंने उसे देख जानेको कहा। मैंने देखा कि वह अनुवाद नहीं था, केवल भावार्थ था।

आखिर उन्होंने अमेरिका जानेका अपना निश्चय पूरा किया। बड़ी मुश्किलसे डेकका या तीसरे दर्जेका टिकट पा सके थे। अमेरिकामें धोती-कुरता पहनकर निकलनेके कारण 'असभ्य पोशाक पहनने' के अपराधमें वे पकड़ लिये गये थे। मुझे याद पड़ता है कि बादमें वे छूट गये थे।

२३. महाप्रदर्शनी

सन् १८९० में पेरिसमें एक बड़ी प्रदर्शनी हुई थी। उसकी तैयारियोंके बारेमें मैं पढ़ता रहता था। पेरिस देखनेकी तीव्र इच्छा तो थी ही। मैंने सोचा कि यह प्रदर्शनी देखने जाऊँ, तो दोहरा लाभ होगा। प्रदर्शनीमें एफिल टॉवर देखनेका आकर्षण बहुत था। यह टॉवर सिर्फ लोहेका बना है। एक हजार फुट ऊँचा है। इसके बननेसे पहले लोगोंकी यह कल्पना थी कि एक हजार फुट ऊँचा मकान खड़ा ही नहीं रह सकता। प्रदर्शनीमें और भी बहुत कुछ देखने जैसा था।

मैंने पढ़ा था कि पेरिसमें एक अन्नाहारवाला भोजन-गृह है। उसमें एक कमरा मैंने ठीक किया। गरीबीसे यात्रा करके पेरिस पहुँचा। सात दिन रहा। देखने योग्य सब चीजें अधिकतर पैदल घूमकर ही देखीं। साथमें पेरिसकी और उस प्रदर्शनीकी 'गाइड' तथा नकशा ले लिया था। उसके सहारे रास्तोंका पता लगाकर मुख्य-मुख्य चीजें देख लीं।

प्रदर्शनीकी विशालता और विविधताके सिवा उसकी और कोई बात मुझे याद नहीं है। एफिल टॉवर पर तो दो-तीन बार चढ़ा था, इसलिए उसकी मुझे अच्छी तरह

याद है। पहली मंजिल पर खाने-पीनेका प्रबंध था। यह कह सकनेके लिए कि इतनी ऊँची जगह पर भोजन किया था, मैंने साढ़े सात शिलिंग फूँककर वहाँ खाना खाया।

पेरिसके प्राचीन गिरजाघरोंकी याद बनी हुई है। उनकी भव्यता और उनके अन्दर मिलनेवाली शांति भुलायी नहीं जा सकती। नोत्रदामकी कारीगरी और अन्दरकी चित्रकारीको मैं आज भी भूला नहीं हूँ। उस समय मनमें यह खयाल आया था कि जिन्होंने लाखों रुपये खर्च करके ऐसे स्वर्गीय मन्दिर बनवाये हैं, उनके दिलकी गहराईमें ईश्वर-प्रेम तो रहा ही होगा।

पेरिसकी फैशन, पेरिसके स्वेच्छाचार और उसके भोग-विलासके विषयमें मैंने काफी पढ़ा था। उसके प्रमाण गली-गलीमें देखनेको मिलते थे। पर ये गिरजाघर उन भोग-विलासोंसे बिलकुल अलग दिखायी पड़ते थे। गिरजोंमें घुसते ही बाहरकी अशान्ति भूल जाती है। लोगोंका व्यवहार बदल जाता है। लोग अदबसे पेश आते हैं। वहाँ कोलाहल नहीं होता। कुमारी मरियमकी मूर्तिके सम्मुख कोई-न-कोई प्रार्थना करता ही रहता है। यह सब वहम नहीं हैं, बल्कि हृदयकी भावना है, ऐसा प्रभाव उस समय मुझ पर पड़ा था और वह बढ़ता ही गया है। कुमारिकाकी मूर्तिके सम्मुख घुटनोंके बल बैठकर प्रार्थना करनेवाले उपासक संगमरमरके पथ्थरको नहीं पूजते थे, बल्कि उसमें मानी हुई अपनी कल्पित शक्तिको पूजते थे। ऐसा करके वे ईश्वरकी महिमा को घटाते नहीं बल्कि बढ़ाते थे, यह प्रभाव मेरे मन पर उस समय पड़ा था, जिसकी धुँधली याद मुझे आज भी है।

एफिल टॉवरके बारेमें दो शब्द कहना आवश्यक है। मैं नहीं जानता कि आज एफिल टॉवरका क्या उपयोग हो रहा है। प्रदर्शनीमें जानेके बाद प्रदर्शनी संबंधी बातें तो पढ़नेमें आती ही थीं। उसमें उसकी स्तुति भी पढ़ी और निन्दा भी। मुझे याद है कि निन्दा करनेवालोंमें टॉल्स्टॉय मुख्य थे। उन्होंने लिखा था कि एफिल टॉवर मनुष्यकी मूर्खताका चिह्न है, उसके ज्ञानका परिणाम नहीं। अपने लेखमें उन्होंने बताया था कि दुनियामें प्रचलित कई तरहके नशोंमें तम्बाकूका व्यसन एक प्रकारसे सबसे ज्यादा खराब है। कुकर्म करनेकी जो हिम्मत मनुष्यमें शराब पीनेसे नहीं आती, वह बीड़ी पीनेसे आती है। शराब पीनेवाला पागल हो जाता है, जब कि बीड़ी पीनेवालेकी अक्ल पर धुँआ छा जाता है, और इस कारण वह हवाई किले बनाने लगता है। टॉल्स्टॉयने अपनी सम्मति प्रकट की थी कि एफिल टॉवर ऐसे ही व्यसनका परिणाम है।

एफिल टॉवरमें सौन्दर्य तो कुछ है ही नहीं। ऐसा नहीं कह सकते कि उसके कारण प्रदर्शनीकी शोभामें कोई वृद्धि हुई। एक नई चीज है, बड़ी चीज है, इसलिए हजारों लोग उसे देखनेके लिए उस पर चढ़े। यह टॉवर प्रदर्शनीका एक खिलौना था। और जब तक हम मोहवश हैं तब तक हम भी बालक हैं. यह चीज इस टॉवर द्वारा भलीभाँति सिद्ध होती है। मानना चाहें तो इतनी उपयोगिता उसकी मानी जा सकती है।

२४. बारिस्टर तो बने - लेकिन आगे क्या?

मैं जिस कामके लिए - बारिस्टर बनने - विलायत गया था, उसका मैंने क्या किया, इसकी चर्चा मैंने अब तक छोड़ रखी थी। अब उसके बारेमें कुछ लिखनेका समय आ गया है।

बारिस्टर बननेके लिए दो बातोंकी जरूरत थीं। एक थी, 'टर्म पूरी करना' अर्थात् सत्रमें उपस्थित रहना। वर्षमें चार सत्र होते थे। ऐसे बारह सत्रोंमें हाजिर रहना था। दूसरी चीज थी, कानूनकी परीक्षा देना। सत्रोंमें उपस्थितिका मतलब था, 'दावतें खाना'; यानी हरएक सत्रमें लगभग चोवीस दावतें होती थीं, उनमें छहमें सम्मिलित होना। दावतोंमें भोजन करना ही चाहिये, ऐसा कोई नियम नहीं था; परन्तु निश्चित समय पर उपस्थित रहकर भोजकी समाप्ति तक वहाँ बैठे रहना जरूरी था। आम तौर पर तो सब खाते-पीते ही थे। खानेमें अच्छी-अच्छी चीजें होती थीं और पीनेके लिए बढ़िया मानी जानेवाली शराब। अलबत्ता, उसके दाम चुकाने होते थे। यह रकम ढाईसे साढ़े तीन शिलिंग तक होती थी; अर्थात् दो-तीन रुपयेका खर्च हुआ। वहाँ यह कीमत बहुत कम मानी जाती थी, क्योंकि बाहरके होटलमें ऐसा भोजन करनेवालोंको लगभग इतने पैसे तो शराबके ही लग जाते थे। खानेके खर्चकी अपेक्षा शराब पीनेवालेको पीनेका खर्च अधिक होता है। हिन्दुस्तानमें हमको - यदि हम 'सभ्य' न हुए तो - इस पर आश्चर्य हो सकता है। मुझे तो विलायत जाने पर यह सब जानकर बहुत आघात पहुँचा था। और मेरी समझमें नहीं आता था कि शराब पीनेके पीछे इतना पैसा बरबाद करनेकी हिम्मत लोग कैसे करते हैं। बादमें समझना सीखा! इन दावतोंमें शुरूके दिनोंमें कुछ भी न खाता था, क्योंकि मेरे कामकी चीजोंमें वहाँ सिर्फ रोटी, उबले आलू और गोभी ही होती थी। शुरूमें तो ये रुचे

नहीं, इससे खाये नहीं। बादमें जब उनमें स्वाद अनुभव किया, तब तो दूसरी चीजें भी प्राप्त करनेकी शक्ति मुझमें आ गयी थी।

विद्यार्थियोंके लिए एक प्रकारके भोजनकी और बेंचरो' (विद्या-मंदिरके बड़ों) के लिए अलगसे अमीरी भोजनकी व्यवस्था रहती थी। मेरे साथ एक पारसी विद्यार्थी थे। वे भी अन्नाहारी बन गये थे। हम दोनोंने अन्नाहारके प्रचारके लिए 'बेंचरों' के भोजनमें से अन्नाहारीके खाने लायक चीजोंकी माँग की। माँग कबूल हुई। इससे हमें 'बेचरों' की मेज परसे फल वगैरा और दूसरी शाक-सब्जियाँ मिलने लगीं।

शराब तो मेरे कामकी नहीं थी। चार आदमियोंके बीच शराबकी दो बोतलें मिलती थीं। इसलिए अनेक चौकड़ियोंमें मेरी माँग रहती थी। मैं पीता नहीं था, इसलिए बाकी तीनको दो बोतलें जो 'उड़ाने' को मिल जाती थीं। इसके अलावा, इन सत्रोंमें 'महारात्रि' (ग्रैण्ड नाइट) होती थी। उस दिन 'पोर्ट' और 'शेरी' के अलावा 'शेम्पेन' शराब भी मिलती थी। 'शेम्पेन' की लज्जत कुछ और ही मानी जाती है। इसलिए इस 'महारात्रि' के दिन मेरी कीमत बढ़ जाती और उस रात हाजिर रहनेका न्योता भी मुझे मिलता।

इस खान-पानसे बारिस्टरीमें क्या वृद्धि हो सकती है, इसे मैं न तब समझ सका, न बादमें। एक समय ऐसा अवश्य था कि जब इन भोजोंमें थोड़े ही विद्यार्थी सम्मिलित होते थे और उनके तथा बेचरोंके बीच वार्तालाप होता तथा भाषण भी होते थे। इससे उन्हें व्यवहार-ज्ञान प्राप्त हो सकता था। वे अच्छी हो चाहे बुरी, पर एक प्रकारकी सभ्यता सीखते थे और भाषण करनेकी शक्ति बढ़ाते थे। मेरे समयमें तो यह सब असंभव ही था। बेंचर तो दूर, एक तरफ, अस्पृश्य बनकर बैठे रहते थे। इस पुरानी प्रथाका बादमें कोई मतलब नहीं रह गया। फिर भी प्राचीनताके प्रेमी - धीमे - इंग्लैण्डमें वह बनी रही।

कानूनकी पढ़ाई सरल थी। बारिस्टर मजाकमें 'डिनर (भोजके) बारिस्टर' ही कहलाते थे। सब जानते थे कि परीक्षाका मूल्य नहीं के बराबर है। मेरे समयमें दो परीक्षायें होती थीं : रोमन लॉकी और इंग्लैण्डके कानूनकी। दो भागोंमें दी जानेवाली इस परीक्षाकी पुस्तकें निर्धारित थीं। पर उन्हें शायद ही कोई पढ़ता था। रोमन लॉ पर लिखे संक्षिप्त 'नोट' मिलते थे। उन्हें पन्द्रह दिनमें पढ़कर पास होनेवालोंको मैंने देखा था। यही चीज इंग्लैण्डके कानूनके बारेमें भी थी। उस पर लिखे नोटोंको दो-तीन महीनोंमें पढ़कर तैयार होनेवाले विद्यार्थी भी मैंने देखे थे। परीक्षाके प्रश्न सरल,

परीक्षक उदार। रोमन लॉमें पंचानवेसे निन्यानवे प्रतिशत तक लोग उत्तीर्ण होते थे, और अंतिम परीक्षामें पचहत्तर प्रतिशत या उससे भी अधिक। इस कारण अनुत्तीर्ण होनेका डर बहुत कम रहता था। फिर परीक्षा वर्षमें एक बार नहीं, चार बार होती थी। ऐसी सुविधावाली परीक्षा किसीके लिए बोझरूप हो ही नहीं सकती थी।

पर मैंने उसे बोझ बना लिया। मुझे लगा कि मुझे मूल पुस्तकें पढ़ ही जानी चाहिये। न पढ़नेमें मुझे धोखेबाजी लगी। इसलिए मैंने मूल पुस्तकें खरीदने पर काफी खर्च किया। मैंने रोमन लॉको लेटिनमें पढ़ डालनेका निश्चय किया। विलायतकी मैट्रिक्युलेशन परीक्षामें मैंने लेटिन सीखी थी, वह यहाँ उपयोगी सिद्ध हुई। यह पढाई व्यर्थ नहीं गयी। दक्षिण अफ्रीकामें रोमन-डच-लॉ (कानून) प्रमाणभूत माना जाता है। उसे समझनेमें जस्टिनियनका अध्ययन मेरे लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ।

इंग्लैण्डके कानूनका अध्ययन मैं नौ महीनोंमें काफी मेहनतके बाद समाप्त कर सका, क्योंकि ब्रूमके 'कॉमन लॉ' नामक बड़े परन्तु दिलचस्प ग्रंथका अध्ययन करनेमें ही काफी समय लग गया। स्नेलकी 'इक्विटी' को रसपूर्वक पढ़ा, पर उसे समझनेमें मेरा दम निकल गया। व्हाइट और टयूडरके प्रमुख मुकदमोंमें से जो पढ़ने योग्य थे, उन्हें पढ़नेमें मुझे मजा आया और ज्ञान भी प्राप्त हुआ। विलियम्स और एडवर्ड्ज़की स्थावर सम्पत्ति-विषयक पुस्तक और गुडीवकी जंगम सम्पत्ति पर लिखी पुस्तक मैं रसपूर्वक पढ़ सका था। विलियम्सकी पुस्तक तो मुझे उपन्यास-सी लगी। उसे पढ़ते समय जी जरा भी नहीं ऊबा। कानूनकी पुस्तकोंमें इतनी ही रुचिके साथ हिन्दुस्तान आनेके बाद मैंने मेइनका 'हिन्दु लॉ' पढ़ा था। पर हिन्दुस्तानके कानूनकी बात यहाँ नहीं करूँगा।

परीक्षायें पास करके मैं १० जून, १८९१ के दिन बारिस्टर कहलाया। ११ जूनको ढाई शिलिंग देकर इंग्लैण्डके हाईकोर्टमें अपना नाम दर्ज कराया और १२ जूनको हिन्दुस्तानके लिए रवाना हुआ।

पर मेरी निराशा और मेरे भयकी कोई सीमा न थी। मैंने अनुभव किया कि कानून तो मैं निश्चय ही पढ़ चुका हूँ, पर ऐसी कोई भी चीज मैंने सीखी नहीं है, जिससे मैं वकालत कर सकूँ।

मेरी इस व्यथाके वर्णनके लिए स्वतंत्र प्रकरण आवश्यक है।

२२. मेरी परेशानी

बारिस्टर कहलाना आसान मालूम हुआ, पर बारिस्टरी करना मुश्किल लगा। कानून पढ़े, पर वकालत करना न सीखा। कानूनमें मैंने कई धर्मसिद्धांत पढ़े, जो अच्छे लगे। पर यह समझमें न आया कि इस पेशेमें उनका उपयोग कैसे किया जा सकेगा। 'अपनी सम्पत्तिका उपयोग तुम इस तरह करो कि जिससे दूसरेकी सम्पत्तिको हानि न पहुँचे' -यह एक धर्म-वचन है। पर मैं यह न समझ सका कि वकालतका पेशा करते हुए मुवक्किलके मामलेमें इसका उपयोग कैसे किया जा सकता होगा। जिन मुकदमोंमें इस सिद्धान्तका उपयोग हुआ था, उन्हें मैं पढ़ गया। पर उससे मुझे इस सिद्धान्तका उपयोग करनेकी युक्ति मालूम न हुई।

इसके अलावा, पढ़े हुए कानूनोंमें हिन्दुस्तानके कानूनका तो नाम तक न था। मैं यह जान ही न पाया कि हिन्दू शास्त्र और इस्लामी कानून कैसे हैं। न मैंने अर्जी-दावा तैयार करना सीखा। मैं बहुत परेशान हुआ। फीरोजशाह मेहताका नाम मैंने सुना था। वे अदालतोंमें सिंहकी तरह गर्जना करते थे। विलायतमें उन्होंने यह कला कैसे सीखी होगी? उनके जितनी होशियारी तो इस जीवनमें आ ही नहीं सकती। पर एक वकीलके नाते आजीविका प्राप्त करनेकी शक्ति पानेके विषयमें भी मेरे मनमें बड़ी शंका उत्पन्न हो गयी।

यह उलझन उसी समयसे चल रही थी, जब मैं कानूनका अध्ययन करनेमें लगा था। मैंने अपनी कठिनाइयाँ एक-दो मित्रोंके सामने रखीं। उन्होंने सुझाया कि मैं दादाभाई नौरोजीकी सलाह लूँ। यह तो मैं पहले ही लिख चुका हूँ कि दादाभाईके नाम एक पत्र मेरे पास था। उस पत्रका उपयोग मैंने देरमें किया। ऐसे महान पुरुषसे मिलने जानेका मुझे क्या अधिकार था? कहीं उनका भाषण होता, तो मैं सुनने जाता और एक कोनेमें बैठकर आँख और कानको तृप्त करके लौट आता। विद्यार्थियोंसे सम्पर्क रखनेके लिए उन्होंने एक मण्डलकी भी स्थापना की थी। मैं उसमें जाता रहता था। विद्यार्थियोंके प्रति दादाभाईकी चिन्ता देखकर और उनके प्रति विद्यार्थियोंका आदर देखकर मुझे आनन्द होता था। आखिर मैंने उन्हें अपने पासका सिफारिशी पत्र देनेकी हिम्मत की। मैं उनसे मिला। उन्होंने मुझसे कहा था: "तुम मुझसे मिलना चाहो और कोई सलाह लेना चाहो तो जरूर मिलना।" पर मैंने उन्हें कभी कोई कष्ट नहीं दिया। किसी भारी कठिनाईके सिवा उनका समय

लेना मुझे पाप जान पड़ा। इसलिए उक्त मित्रकी सलाह मानकर दादाभाईके सम्मुख अपनी कठिनाइयाँ रखनेकी मेरी हिम्मत न पड़ी।

उन्हीं मित्रने या किसी औरने मुझे सुझाया कि मैं मि० फ्रेडरिक पिंकटसे मिलूँ। मि. पिंकट कंजर्वेटिव (अनुदार) दलके थे। पर हिन्दुस्तानियोंके प्रति उनका प्रेम निर्मल और निःस्वार्थ था। कई विद्यार्थी उनसे सलाह लेते थे। अतएव उन्हें पत्र लिखकर मैंने मिलनेका समय माँगा। उन्होंने समय दिया। मैं उनसे मिला। इस मुलाकातको मैं कभी भूल नहीं सका। वे मुझसे मित्रकी तरह मिले। मेरी निराशाको तो उन्होंने हँसकर ही उड़ा दिया। ''क्या तुम यह मानते हो कि सबके लिए फीरोजशाह मेहता बनना जरूरी है? फीरोजशाह मेहता या बदरुद्दीन तैयबजी तो एक-दो ही होते हैं। तुम निश्चय समझो कि साधारण वकील बननेके लिए बहुत अधिक होशियारीकी जरूरत नहीं होती। साधारण प्रामाणिकता और लगनसे मनुष्य वकालतका पेशा आरामसे चला सकता है। सब मुकदमे उलझनोंवाले नहीं होते। अच्छा, यह तो बताओ कि तुम्हारा साधारण वाचन क्या है?''

जब मैंने अपनी पढ़ी हुई पुस्तकोंकी बात की, तो मैंने देखा कि वे थोड़े निराश हुए। पर वह निराशा क्षणिक थी। तुरन्त ही उनके चेहरे पर हँसी छा गयी और वे बोले :

''अब मैं तुम्हारी मुश्किलको समझ गया हूँ। साधारण विषयोंकी तुम्हारी पढ़ाई बहुत कम है। तुम्हें दुनियाका ज्ञान नहीं है। इसके बिना वकीलका काम नहीं चल सकता। तुमने तो हिन्दुस्तानका इतिहास भी नहीं पढ़ा है। वकीलको मनुष्य-स्वभावका ज्ञान होना चाहिये। उसे चेहरा देखकर मनुष्यको परखना आना चाहिये। साथ ही, हरएक हिन्दुस्तानीको हिन्दुस्तानके इतिहासका भी ज्ञान होना चाहिये। वकालतके साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं है, पर तुम्हें इसकी जानकारी होनी चाहिये। मैं देख रहा हूँ कि तुमने के. और मेलेसनकी १८५७ के गदरकी किताब भी नहीं पढ़ी है। उसे तो तुम फौरन पढ़ डालो और जिन दो पुस्तकोंके नाम देता हूँ, उन्हें मनुष्यकी परखके खयालसे पढ जाना।'' यों कहकर उन्होंने लेवेटर और शेमलपेनिककी मुख-सामुद्रिक-विद्या (फिज़ियोग्नॉमी) विषयक पुस्तकोंके नाम लिख दिये।

मैंने उन वयोवृद्ध मित्रका बहुत आभार माना। उनकी उपस्थितिमें तो मेरा भय क्षणभरके लिए दूर हो गया। पर बाहर निकलनेके बाद तुरन्त ही मेरी घबराहट फिर

शुरू हो गयी। चेहरा देखकर आदमीको परखनेकी बातको रटता हुआ और उन दो पुस्तकोंका विचार करता हुआ मैं घर पहुँचा। दूसरे दिन लेवेटरकी पुस्तक खरीदी। शेमलपेनिककी पुस्तक उस दुकान पर नहीं मिली। लेवेटरकी पुस्तक पढ़ी, पर वह तो स्नेलसे भी अधिक कठिन जान पड़ी। रस भी नहींके बराबर ही मिला। शेक्सपियरके चेहरेका अध्ययन किया। पर लंदनकी सड़कों पर चलनेवाले शेक्सपियरोंको पहचाननेकी शक्ति तो मिली ही नहीं।

लेवेटरकी पुस्तकसे मुझे कोई ज्ञान नहीं मिला। मि. पिंकटकी सलाहका सीधा लाभ मुझे कम ही मिला, पर उनके स्नेहका बड़ा लाभ मिला। उनके हँसमुख और उदार चेहरेकी याद बनी रही। मैंने उनके इन वचनों पर श्रद्धा रखी कि वकालत करनेके लिए फीरोजशाह मेहताकी होशियारी और याददाश्त वगैराकी जरूरत नहीं हैं; प्रामाणिकता और लगनसे काम चल सकेगा। इन दो गुणोंकी पूँजी तो मेरे पास काफी मात्रामें थी। इसलिए दिलमें कुछ आशा जागी।

के० और मेलेसनकी पुस्तक मैं विलायतमें पढ़ नहीं पाया। पर मौका मिलते ही उसे पढ़ डालनेका निश्चय कर लिया था। यह इच्छा दक्षिण अफ्रीकामें पूरी हुई।

इस प्रकार निराशामें तनिक-सी आशाका पुट लेकर मैं काँपते पैरों 'आसाम' जहाजसे बम्बईके बन्दरगाह पर उतरा। उस समय बन्दरगाहमें समुद्र क्षुब्ध था, इस कारण लान्च (बड़ी नाव) में बैठकर किनारे पर आना पड़ा।

आत्मकथा : दूसरा भाग

१. रायचन्दभाई

पिछले प्रकरणमें मैंने लिखा था कि बम्बईके बन्दरमें समुद्र तूफानी था। जून-जुलाईमें हिन्द महासागरके लिए वह आश्चर्यकी बात नहीं मानी जा सकती अदनसे ही समुद्रका यह हाल था। सब लोग बीमार थे, अकेला मैं मौजमें था। तूफान देखनेके लिए डेक पर खड़ा रहता। भीग भी जाता। सुबहके नाश्तेके समय मुसाफिरोंमें हम एक या दो ही मौजूद रहते। जईकी लपसी हमें रकाबीको गोदमें रखकर खानी पड़ती थी, वरना हालत ऐसी थी कि लपसी ही गोदमें फैल जाती!

मेरे विचारमें बाहरका यह तूफान मेरे अन्दरके तूफानके चिह्नरूप था। पर जिस तरह बाहरी तूफानके रहते मैं शान्त रह सका, मुझे लगता है कि अन्दरके तूफानके लिए भी वही बात कही जा सकती है। जातिका प्रश्न तो था ही। धंधेकी चिन्ताके विषयमें भी मैं लिख चुका हूँ। इसके अलावा, सुधारक होनेके कारण मैंने मनमें कई सुधारोंकी कल्पना कर रखी थी। उनकी भी चिन्ता थी। कुछ दूसरी चिन्तायें अनसोची उत्पन्न हो गयीं।

मैं माँके दर्शनोंके लिए अधीर हो रहा था। जब हम घाट पर पहुँचे, मेरे बड़े भाई वहाँ मौजूद ही थे। उन्होंने डॉ० मेहतासे और उनके बड़े भाईसे पहचान कर ली थी। डॉ. मेहताका आग्रह था कि मैं उनके घर ही ठहरूँ, इसलिए मुझे वहीं ले गये। इस प्रकार जो सम्बन्ध विलायतमें जुड़ा था वह देशमें कायम रहा और अधिक दृढ़ बनकर दोनों कुटुम्बोंमें फैल गया।

माताके स्वर्गवासका मुझे कुछ पता न था। घर पहुँचने पर इसकी खबर मुझे दी गयी और स्नान कराया गया। मुझे यह खबर विलायतमें ही मिल सकती थी, पर आघातको हलका करनेके विचारसे बम्बई पहुँचने तक मुझे इसकी कोई खबर न देनेका निश्चय बड़े भाईने कर रखा था। मैं अपने दुःख पर पर्दा डालना चाहता हूँ। पिताकी मृत्युसे मुझे जो आघात पहुँचा था, उसकी तुलनामें माताकी मृत्युकी खबरसे मुझे बहुत अधिक आघात पहुँचा। मेरे बहुतेरे मनोरथ मिट्टीमें मिल गये। पर मुझे याद है कि इस मृत्युके समाचार सुनकर मैं फूट-फूटकर रोया न था। मैं अपने आँसुओंको

भी रोक सका था, और मैंने अपना रोजका कामकाज इस तरह शुरू कर दिया था, मानो माताकी मृत्यु हुई ही न हो।

डॉ. मेहताने अपने घर जिन लोगोंसे मेरा परिचय कराया, उनमें से एकका उल्लेख किये बिना काम चल ही नहीं सकता। उनके भाई रेवाशंकर जगजीवन तो मेरे आजन्म मित्र बन गये। पर मैं जिनकी चर्चा करना चाहता हूँ, वे हैं कवि रायचन्द अथवा राजचन्द्र। वे डॉक्टरके बड़े भाईके जामाता थे और रेवाशंकर जगजीवनकी पेढ़ीके साझी तथा कर्ता-धर्ता थे। उस समय उनकी उमर पच्चीस सालसे अधिक नहीं थी। फिर भी अपनी पहली ही मुलाकातमें मैंने यह अनुभव किया था कि वे चरित्रवान और ज्ञानी पुरुष हैं। वे शतावधानी माने जाते थे। डॉ. मेहताने मुझे शतावधानका नमूना देखनेको कहा। मैंने भाषा-ज्ञानका अपना भण्डार खाली कर दिया और कविने मेरे कहे हुए शब्दोंको उसी क्रमसे सुना दिया, जिस क्रममें वे कहे गये थे! उनकी इस शक्ति पर मुझे ईर्ष्या हुई, लेकिन मैं उस पर मुग्ध न हुआ। मुझे मुग्ध करनेवाली वस्तुका परिचय तो बादमें हुआ। वह था उनका व्यापक शास्त्रज्ञान, उनका शुद्ध चारित्र्य और आत्मदर्शन करनेका उनका उत्कट उत्साह। बादमें मुझे पता चला कि वे आत्मदर्शनके लिए ही अपना जीवन बिता रहे थे :

हसतां रमतां प्रगट हरि देखुं रे,
मारुं जीव्युं सफल तव लेखुं रे;
मुक्तानन्दनो नाथ विहारी रे,
ओधा जीवनदोरी हमारी रे.*

मुक्तानन्दका यह वचन उनकी जीभ पर तो था ही, पर वह उनके हृदयमें भी अंकित था।

वे स्वयं हजारोंका व्यापार करते, हीरे-मोतीकी परख करते, व्यापारकी समस्यायें सुलझाते, पर यह सब उनका विषय न था। उनका विषय -- उनका पुरुषार्थ तो था आत्म-परिचय -- हरिदर्शन। उनकी गद्दी पर दूसरी कोई चीज हो चाहे न हो, पर कोई-न-कोई धर्मपुस्तक और डायरी तो अवश्य रहती थी। व्यापारकी बात समाप्त होते ही धर्मपुस्तक खुलती अथवा उनकी डायरी खुलती थी। उनके लेखोंका जो

---

* जब हँसते-खेलते हर काममें मुझे हरिके दर्शन हों तभी मैं अपने जीवनको सफल मानूँगा। मुक्तानन्द कहते हैं, मेरे स्वामी तो भगवान हैं, और वे ही मेरे जीवनकी डोर हैं।

संग्रह प्रकाशित हुआ है, उसका अधिकांश इस डायरीसे लिया गया है। जो मनुष्य लाखोंके लेन-देनकी बात करके तुरन्त ही आत्म-ज्ञानकी गूढ़ बातें लिखने बैठ जाये, उसकी जाति व्यापारीकी नहीं, बल्कि शुद्ध ज्ञानीकी है। उनका ऐसा अनुभव मुझे एक बार नहीं, कई बार हुआ था। मैंने कभी उन्हें मूर्च्छाकी स्थितिमें नहीं पाया। मेरे साथ उनका कोई स्वार्थ नहीं था। मैं उनके बहुत निकट सम्पर्कमें रहा हूँ। उस समय मैं एक भिखारी बारिस्टर था। पर जब भी मैं उनकी दुकान पर पहुँचता, वे मेरे साथ धर्म-चर्चाके सिवा दूसरी कोई बात ही न करते थे। यद्यपि उस समय मैं अपनी दिशा स्पष्ट नहीं कर पाया था; यह भी नहीं कह सकता कि साधारणतः मुझे धर्म-चर्चामें रस था; फिर भी रायचन्दभाईकी धर्म-चर्चा मैं रुचिपूर्वक सुनता था। उसके बाद मैं अनेक धर्माचार्योंके सम्पर्कमें आया हूँ। मैंने हरएक धर्मके आचार्योंसे मिलनेका प्रयत्न किया है। पर मुझ पर जो छाप रायचन्दभाईने डाली, वैसी दूसरा कोई न डाल सका। उनके बहुतेरे वचन मेरे हृदयमें सीधे उतर जाते थे। मैं उनकी बुद्धिका सम्मान करता था। उनकी प्रामाणिकताके लिए भी मेरे मनमें उतना ही आदर था। इसलिए मैं जानता था कि वे मुझे जान-बूझकर गलत रास्ते नहीं ले जायेंगे और जो उनके मनमें होगा वही कहेंगे। इस कारण अपने आध्यात्मिक संकटके समय मैं उनका आश्रय लिया करता था।

रायचन्दभाईके प्रति इतना आदर रखते हुए भी मैं उन्हें धर्मगुरुके रूपमें अपने हृदयमें स्थान न दे सका। मेरी वह खोज तो आज भी चल रही है।

हिन्दू धर्ममें गुरुपदको जो महत्त्व प्राप्त है, उसमें मैं विश्वास रखता हूँ। 'गुरु बिन ज्ञान न होय', इस वचनमें बहुत-कुछ सच्चाई है। अक्षरज्ञान देनेवाले अपूर्ण शिक्षकसे काम चलाया जा सकता है, पर आत्म-दर्शन करानेवाले अपूर्ण शिक्षकसे तो चलाया ही नहीं जा सकता। गुरुपद सम्पूर्ण ज्ञानीको ही दिया जा सकता है। गुरुकी खोजमें ही सफलता निहित है, क्योंकि शिष्यकी योग्यताके अनुसार ही गुरु मिलता है। इसका अर्थ यह है कि योग्यता-प्राप्तिके लिए प्रत्येक साधकको सम्पूर्ण प्रयत्न करनेका अधिकार है, और इस प्रयत्नका फल ईश्वराधीन है।

तात्पर्य यह कि यद्यपि मैं रायचन्दभाईको अपने हृदयका स्वामी नहीं बना सका, तो भी मुझे समय-समय पर उनका सहारा किस प्रकार मिला है, इसे अब हम आगे देखेंगे। यहाँ तो इतना कहना काफी होगा कि मेरे जीवन पर गहरा प्रभाव डालनेवाले आधुनिक पुरुष तीन हैं : रायचन्दभाईने अपने सजीव सम्पर्कसे, टॉल्स्टॉयने 'वैकुण्ठ

तेरे हृदयमें है' नामक अपनी पुस्तकसे और रस्किनने 'अन्टु दिस लास्ट' — सर्वोदय — नामक पुस्तकसे मुझे चकित कर दिया। पर इन प्रसंगोंकी चर्चा आगे यथास्थान होगी।
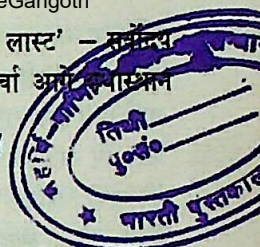
२. संसार-प्रवेश

बड़े भाईने मुझ पर बड़ी-बड़ी आशायें बाँध रखी थीं। उनको पैसेका, कीर्तिका और पदका लोभ बहुत था। उनका दिल बादशाही था। उदारता उन्हें फिजूलखर्चीकी हद तक ले जाती थी। इस कारण और अपने भोले स्वभावके कारण उन्हें मित्रता करनेमें देर न लगती थी। इस मित्र-मण्डलीकी मददसे वे मेरे लिए मुकदमे लानेवाले थे। उन्होंने यह भी मान लिया था कि मैं खूब कमाऊँगा, इसलिए घरखर्च बढ़ा रखा था। मेरे लिए वकालतका क्षेत्र तैयार करनेमें भी उन्होंने कोई कसर नहीं रखी थी।

जातिका झगड़ा मौजूद ही था। उसमें दो तड़ें पड़ गयी थीं। एक पक्षने मुझे तुरन्त जातिमें ले लिया। दूसरा पक्ष न लेने पर डटा रहा। जातिमें लेनेवाले पक्षको संतुष्ट करनेके लिए राजकोट ले जानेसे पहले भाई मुझे नासिक ले गये। वहाँ गंगा-स्नान कराया और राजकोट पहुँचने पर जातिभोज दिया।

मुझे इस काममें कोई रुचि न थी। बड़े भाईके मनमें मेरे लिए अगाध प्रेम था। मैं मानता हूँ कि उनके प्रति मेरी भक्ति भी वैसी ही थी। इसलिए उनकी इच्छाको आदेश मानकर मैं यंत्रकी भाँति बिना समझे उनकी इच्छाका अनुसरण करता रहा। जातिका प्रश्न इससे हल हो गया।

जातिकी जिस तड़से मैं बहिष्कृत रहा, उसमें प्रवेश करनेका प्रयत्न मैंने कभी नहीं किया, न मैंने जातिके किसी मुखियाके प्रति मनमें कोई रोष रखा। उनमें मुझे तिरस्कारसे देखनेवाले लोग भी थे। उनके साथ मैं नम्रताका बरताव करता था। जातिके बहिष्कार-सम्बन्धी कानूनका मैं सम्पूर्ण आदर करता था। अपने सास-ससुरके घर अथवा अपनी बहनके घर मैं पानी तक न पीता था। वे छिपे तौर पर पिलानेको तैयार भी होते, पर जो काम खुले तौरसे न किया जा सके, उसे छिपकर करनेके लिए मेरा मन ही तैयार न होता था।

मेरे इस व्यवहारका परिणाम यह हुआ कि जातिकी ओरसे मुझे कभी कोई कष्ट नहीं दिया गया। यही नहीं, बल्कि आज तक मैं जातिके एक विभागमें विधिवत्

बहिष्कृत माना जाता हूँ, फिर भी उनकी ओरसे मैंने सम्मान और उदारताका ही अनुभव किया है। उन्होंने मेरे कार्यमें मुझे मदद भी दी है, और मुझसे यह आशा तक नहीं रखी कि जातिके लिए मैं कुछ-न-कुछ करूँ। मैं ऐसा मानता हूँ कि यह मधुर फल मेरे अप्रतिकारका ही परिणाम है। यदि मैंने जातिमें सम्मिलित होनेकी खटपट की होती, अधिक तड़ें पैदा करनेका प्रयत्न किया होता, जातिवालोंको छेड़ा-चिढ़ाया होता, तो वे अवश्य मेरा विरोध करते और मैं विलायतसे लौटते ही उदासीन और अलिप्त रहनेके स्थान पर खटपटके फन्देमें फँस जाता और केवल मिथ्यात्वका पोषण करनेवाला बन जाता।

पत्नीके साथ मेरा सम्बन्ध अब भी जैसा मैं चाहता था वैसा बना नहीं था। विलायत जाकर भी मैं अपने ईर्ष्यालु स्वभावको छोड़ नहीं पाया था। हर बातमें मेरा छिद्रान्वेषण और मेरा संशय वैसा ही बना रहा। इससे मैं अपनी मनोकामनायें पूरी न कर सका। पत्नीको अक्षर-ज्ञान तो होना ही चाहिये। मैंने सोचा था कि यह काम मैं स्वयं करूँगा, पर मेरी विषयासक्तिने मुझे यह काम करने ही न दिया और अपनी इस कमजोरीका गुस्सा मैंने पत्नी पर उतारा। एक समय तो ऐसा भी आया जब मैंने उसे उसके मायके ही भेज दिया और अतिशय कष्ट देनेके बाद ही फिरसे अपने साथ रखना स्वीकार किया। बादमें मैंने अनुभव किया कि इसमें मेरी नादानीके सिवा और कुछ नहीं था।

बच्चोंकी शिक्षाके विषयमें भी मैं सुधार करना चाहता था। बड़े भाईके बालक थे और मैं भी एक लड़का छोड़ गया था, जो अब चार सालका हो रहा था। मैंने सोचा था कि इन बालकोंसे कसरत कराऊँगा, इन्हें मजबूत बनाऊँगा और इन्हें अपने सहवासमें रखूँगा। इसमें भाईकी सहानुभूति थी। इसमें मैं थोड़ी-बहुत सफलता प्राप्त कर सका था। बच्चोंका साथ मुझे बहुत रुचा और उनसे हँसी-मजाक करनेकी मेरी आदत अब तक बनी हुई है। तभीसे मेरा यह विचार बना है कि मैं बच्चोंके शिक्षकका काम अच्छी तरह कर सकता हूँ।

खाने-पीनेमें भी सुधार करनेकी आवश्यकता स्पष्ट थी। घरमें चायकॉफीको जगह मिल चुकी थी। बड़े भाईने सोचा कि मेरे विलायतसे घर लौटनेके पहले घरमें विलायतकी कुछ हवा तो दाखिल हो ही जानी चाहिये। इसलिए चीनी मिट्टीके बरतन, चाय आदि जो चीजें पहले घरमें केवल दवाके रूपमें और 'सभ्य' मेहमानोंके लिए काम आती थीं, वे अब सबके लिए बरती जाने लगीं। ऐसे वातावरणमें मैं अपने

'सुधार' लेकर पहुँचा। ओटमील पॉरिज (जईकी लपसी) को घरमें जगह मिली, चायकॉफीके बदले कोको शुरू हुआ। पर यह परिवर्तन तो नाममात्रको ही था, चायकॉफीके साथ कोको और बढ़ गया। बूट-मोजे घरमें घुस ही चुके थे। मैंने कोट-पतलूनसे घरको पुनीत किया!

इस तरह खर्च बढ़ा। नवीनतायें बढ़ीं। घर पर सफेद हाथी बँध गया। पर यह खर्च लाया कहाँसे जाय? राजकोटमें तुरन्त धन्धा शुरू करता हूँ, तो हँसी होती है। मेरे पास ज्ञान तो इतना भी न था कि राजकोटमें पास हुए वकीलके मुकाबलेमें खड़ा हो सकूँ, तिस पर फीस उससे दस गुनी लेनेका दावा! कौन मूर्ख मुवक्किल मुझे काम देता? अथवा कोई ऐसा मूर्ख मिल भी जाये, तो क्या मैं अपने अज्ञानमें धृष्टता और विश्वासघातकी वृद्धि करके अपने ऊपर संसारका ऋण और बढ़ा लूँ?

मित्रोंकी सलाह यह रही कि मुझे कुछ समयके लिए बम्बई जाकर हाईकोर्टकी वकालतका अनुभव प्राप्त करना और हिन्दुस्तानके कानूनका अध्ययन करना चाहिये और कोई मुकदमा मिल सके तो उसके लिए कोशिश करनी चाहिये। मैं बम्बईके लिए रवाना हुआ।

वहाँ घर बसाया। रसोइया रखा। रसोइया मेरे जैसा ही था। ब्राह्मण था। मैंने उसे नौकरकी तरह कभी रखा ही नहीं। यह ब्राह्मण नहाता था, पर धोता नहीं था। उसकी धोती मैली, जनेऊ मैला। शास्त्रके अभ्याससे उसे कोई सरोकार नहीं। लेकिन अधिक अच्छा रसोइया कहाँसे लाता?

"क्यों रविशंकर (उसका नाम रविशंकर था), तुम रसोई बनाना तो जानते नहीं, पर सन्ध्या आदिका क्या हाल है?"

"क्या बताऊँ भाईसाहब, हल मेरा सन्ध्या-तर्पण है और कुदाल खटकरम है। अपने राम तो ऐसे ही बाम्हन हैं। कोई आप जैसा निबाह ले तो निभ जायें, नहीं तो आखिर खेती तो अपनी है ही।"

मैं समझ गया। मुझे रविशंकरका शिक्षक बनना होगा। समय मेरे पास बहुत था। आधी रसोई रविशंकर बनाता और आधी मैं। मैंने विलायतकी अन्नाहारवाली खुराकके प्रयोग यहाँ शुरू किये। एक स्टोव खरीदा। मैं स्वयं तो पंक्ति-भेदको मानता ही न था। रविशंकरको भी उसका आग्रह न था। इसलिए हमारी पटरी ठीक जम गयी। शर्त या मुर्सावत, जो कहो सो यह थी कि रविशंकरने मैलसे नाता तोड़ने और रसोई साफ रखनेकी सौगन्ध ले रखी थी!

लेकिन मैं चार-पाँच महीनेसे अधिक बम्बईमें रह ही न सकता था, क्योंकि खर्च बढ़ता जाता था और आमदनी कुछ भी न थी।

इस तरह मैंने संसारमें प्रवेश किया। बारिस्टरी मुझे अखरने लगी। आडम्बर अधिक, कुशलता कम। जवाबदारीका खयाल मुझे दबोच रहा था।

३. पहला मुकदमा

बम्बईमें एक ओर मेरी कानूनकी पढ़ाई शुरू हुई, दूसरी ओर मेरे आहारके प्रयोग चले और उनमें वीरचन्द गांधी मेरे साथ हो गये। तीसरी तरफ भाईने मेरे लिए मुकदमे खोजनेकी कोशिश शुरू की।

कानूनकी पढ़ाईका काम धीमी चालसे चला। जाब्ता दीवानी (सिविल प्रोसीजर कोड) किसी भी तरह गले न उतरता था। एविडेन्स एक्ट (कानून शहादत) की पढ़ाई ठीक चली। वीरचंद गांधी सॉलिसिटर बननेकी तैयारी कर रहे थे। इसलिए वे वकीलोंके बारेमें बहुत-कुछ कहते रहते थे। ''फीरोजजशाह मेहताकी होशियारीका कारण उनका अगाध कानूनी ज्ञान है। 'एविडेन्स एक्ट' (कानून शहादत) तो उनको जबानी याद है। धारा ३२ के हरएक मुकदमेकी उन्हें जानकारी है। बदरुद्दीन तैयबजीकी होशियारी ऐसी है कि न्यायाधीश भी उनके सामने चौंधिया जाते हैं। बहस करनेकी उनकी शक्ति अद्भुत है।''

इधर मैं इन महारथियोंकी बातें सुनता और उधर मेरी घबराहट बढ़ जाती।

वे कहते, ''पाँच-सात साल तक बारिस्टरका अदालतमें जूतियाँ तोड़ते रहना आश्चर्यजनक नहीं माना जाता। इसीलिए मैंने सॉलिसिटर बननेका निश्चय किया है। कोई तीन सालके बाद भी तुम अपना खर्च चलाने लायक कमा लो, तो कहना होगा कि तुमने खूब प्रगति कर ली।''

हर महीने खर्च बढ़ता जाता था। बाहर बारिस्टरकी तख्ती लटकाये रहना और घरमें बारिस्टरी करनेकी तैयारी करना! मेरा मन इन दोके बीच कोई मेल नहीं बैठा पाता था। इसलिए कानूनकी मेरी पढ़ाई व्यग्र चितसे होती थी। शहादतके कानूनमें कुछ रुचि पैदा होनेकी बात ऊपर कह चुका हूँ। मेइनका 'हिन्दू लॉ' मैंने बहुत रुचिपूर्वक पढ़ा, पर मुकदमा लड़नेकी हिम्मत न आयी। अपना दुःख किसे सुनाऊँ? मेरी दशा ससुराल गयी हुई नई बहूकी-सी हो गयी!

इतनेमें मुझे ममीबाईका मुकदमा मिला। स्मॉल कॉज कोर्ट (छोटी अदालत) में जाना था। मुझसे कहा गया, "दलालको कमीशन देना पड़ेगा!" मैंने साफ इनकार कर दिया।

"पर फौजदारी अदालतके सुप्रसिद्ध वकील श्री..., जो हर महीने तीन-चार हजार कमाते हैं, भी कमीशन तो देते हैं।"

"मुझे कौन उनकी बराबरी करनी है? मुझको तो हर महीने ३०० रुपये मिल जायें तो काफी है। पिताजीको कौन इससे अधिक मिलते थे?"

"पर वह जमाना बदल गया। बम्बईका खर्च बड़ा है। तुम्हें व्यवहारकी दृष्टिसे भी सोचना चाहिये।"

मैं टस-से-मस न हुआ। कमीशन मैंने नहीं ही दिया। फिर भी ममीबाईका मुकदमा तो मुझे मिला। मुकदमा आसान था। मुझे ब्रीफके (मेहनतानेके) रु ३० मिले। मुकदमा एक दिनसे ज्यादा चलनेवाला न था।

मैंने पहली बार स्मॉल कॉज कोर्टमें प्रवेश किया। मैं प्रतिवादीकी तरफसे था, इसलिए मुझे जिरह करनी थी। मैं खड़ा तो हुआ, पर पैर काँपने लगे। सिर चकराने लगा। मुझे ऐसा लगा, मानों अदालत घूम रही है। सवाल कुछ सूझते ही न थे। जज हँसा होगा। वकीलोंको तो मज़ा आया ही होगा। पर मेरी आँखोंके सामने तो अंधेरा था - मैं देखता क्या?

मैं बैठ गया। दलालसे कहा, "मुझसे यह मुकदमा नहीं चल सकेगा। आप पटेलको सौंपिये। मुझे दी हुई फीस वापस ले लीजिये।"

पटेलको उसी दिनके ५१ रुपये देकर वकील किया गया। उनके लिए तो वह एक बच्चोंका खेल था।

मैं भागा। मुझे याद नहीं कि मुवक्किल जीता या हारा। मैं शरमाया। मैंने निश्चय किया कि जब तक पूरी हिम्मत न आ जाय, कोई मुकदमा न लूँगा; और फिर दक्षिण अफ्रीका जाने तक कभी अदालतमें गया ही नहीं। इस निश्चयमें कोई शक्ति न थी। ऐसा कौन बेकार बैठा था, जो हारनेके लिए अपना मुकदमा मुझे देता? इसलिए मैं निश्चय न करता तो भी कोई मुझे अदालतमें जानेकी तकलीफ देनेवाला न था!

पर बम्बईमें मुझे अभी एक और मुकदमा मिलनेवाला था। इस मुकदमेमें अर्जी-दावा तैयार करना था। एक गरीब मुसलमानकी जमीन पोरबन्दरमें जब्त हुई थी। मेरे पिताजीका नाम जानकर वह उनके बारिस्टर लड़केके पास आया था। मुझे उसका

मामला लचर लगा। पर मैंने अर्जी-दावा तैयार कर देना कबूल कर लिया। छपाईका खर्च मुवक्किलको देना था। मैंने अर्जी-दावा तैयार कर लिया। मित्रोंको दिखाया। उन्होंने पास कर दिया और मुझे कुछ-कुछ विश्वास हुआ कि मैं अर्जी-दावे लिखने लायक तो जरूर बन सकूँगा - असलमें मैं इस लायक था भी।

मेरा काम बढ़ता गया। मुफ्तमें अर्जियाँ लिखनेका धंधा करता तो अर्जियाँ लिखनेका काम तो मिलता, पर उससे दाल-रोटीकी व्यवस्था कैसे होती?

मैंने सोचा कि मैं शिक्षकका काम तो अवश्य ही कर सकता हूँ। मैंने अंग्रेजीका अभ्यास काफी किया था। अतएव मैंने सोचा कि यदि किसी हाईस्कूलमें मैट्रिककी कक्षामें अंग्रेजी सिखानेका काम मिल जाय तो कर लूँ। खर्चका गड्ढा कुछ तो भरे!

मैंने अखबारोंमें विज्ञापन पढ़ा: ''आवश्यकता है, अंग्रेजी शिक्षककी; प्रतिदिन एक घंटेके लिए। वेतन रु० ७५।'' यह एक प्रसिद्ध हाईस्कूलका विज्ञापन था। मैंने प्रार्थना-पत्र भेजा। मुझे प्रत्यक्ष मिलनेकी आज्ञा हुई। मैं बड़ी उमंगोंके साथ मिलने गया। पर जब आचार्यको पता चला कि मैं बी० ए० नहीं हूँ, तो उन्होंने मुझे खेदपूर्वक बिदा कर दिया।

''पर मैंने लन्दनकी मैट्रिक्युलेशन परीक्षा पास की है। लेटिन मेरी दूसरी भाषा थी।'' मैंने कहा।

''सो ठीक है, पर हमें तो ग्रेज्युएटकी ही आवश्यकता है।''

मैं लाचार हो गया। मेरी हिम्मत छूट गयी। बड़े भाई भी चिन्तित हुए। हम दोनोंने सोचा कि बम्बईमें अधिक समय बिताना निरर्थक है। मुझे राजकोटमें ही जमना चाहिये। भाई स्वयं छोटे वकील थे। मुझे अर्जी-दावे लिखनेका कुछ-न-कुछ काम तो दे ही सकते थे। फिर राजकोटमें तो घरका खर्च चलता ही था। इसलिए बम्बईका खर्च कम कर डालनेसे बड़ी बचत हो जाती। मुझे यह सुझाव जँचा। यों कुल लगभग छह महीने रहकर बम्बईका घर मैंने समेट लिया।

जब तक बम्बईमें रहा, मैं रोज हाईकोर्ट जाता था। पर मैं यह नहीं कह सकता कि वहाँ मैंने कुछ सीखा सीखने लायक समझ ही मुझमें न थी। कभी-कभी तो मुकदमा समझमें न आता और उसकी कार्रवाईमें रुचि न रहती, तो बैठा-बैठा झपकियाँ भी लेता रहता। यों झपकियाँ लेनेवाले दूसरे साथी भी मिल जाते थे। इससे मेरी शरमका बोझ हलका हो जाता था। आखिर मैं यह समझने लगा कि हाईकोर्टमें बैठकर ऊँघना फैशनके खिलाफ नहीं है। फिर तो शरमकी कोई वजह ही न रह गयी।

यदि इस युगमें भी मेरे समान कोई बेकार बारिस्टर बम्बईमें हों, तो उनके लिए अपना एक छोटा-सा अनुभव यहाँ मैं लिख देता हूँ।

घर गिरगाँवमें होते हुए भी मैं शायद ही कभी गाड़ीभाड़ेका खर्च करता था। ट्राममें भी क्वचित् ही बैठता था। अक्सर गिरगाँवसे हाईकोर्ट तक प्रतिदिन पैदल ही जाता था। इसमें पूरे ४५ मिनट लगते थे और वापसीमें तो बिना चूके पैदल ही घर आता था। दिनमें धूप लगती थी, पर मैंने उसे सहन करनेकी आदत डाल ली थी। इस तरह मैंने काफी पैसे बचाये। बम्बईमें मेरे साथी बीमार पड़ते थे, पर मुझे याद नहीं है कि मैं एक दिन भी बीमार पड़ा होऊँ। जब मैं कमाने लगा तब भी इस तरह पैदल ही दफ्तर जानेकी आदत मैंने आखिर तक कायम रखी। इसका लाभ मैं आज तक उठा रहा हूँ।

४. पहला आघात

बम्बईसे निराश होकर मैं राजकोट पहुँचा। वहाँ अलग दफ्तर खोला। गाड़ी कुछ चली। अर्जियाँ लिखनेका काम मिलने लगा और हर महीने औसत रु० ३०० की आमदानी होने लगी। अर्जी-दावे लिखनेका यह काम मुझे मेरी होशियारीके कारण नहीं मिलने लगा था, कारण था वसीला। बड़े भाईके साथ काम करनेवाले वकीलकी वकालत जमी हुई थी। उनके पास जो बहुत महत्त्वके अर्जी-दावे आते अथवा जिन्हें वे महत्त्वका मानते, उनका काम तो बड़े बारिस्टरके पास ही जाता था। उनके गरीब मुवक्किलोंके अर्जी-दावे लिखनेका काम मुझे मिलता था।

बम्बईमें कमीशन नहीं देनेकी मेरी जो टेक थी, मानना होगा कि वह यहाँ कायम न रही। मुझे दोनों स्थितियोंका भेद समझाया गया था। वह यों था: बम्बईमें सिर्फ दलालको पैसे देनेकी बात थी; यहाँ वकीलको देने हैं। मुझसे कहा गया था कि बम्बईकी तरह यहाँ भी सब बारिस्टर बिना अपवादके अमुक प्रतिशत कमीशन देते हैं। अपने भाईकी इस दलीलका कोई जवाब मेरे पास न था: "तुम देखते हो कि मैं दूसरे वकीलका साझेदार हूँ। हमारे पास आनेवाले मुकदमोंमें से जो तुम्हें देने लायक होते हैं, वे तुम्हें देनेकी मेरी वृत्ति तो रहती ही है। पर यदि तुम मेरे मेहनतानेका हिस्सा मेरे साझीको न दो, तो मेरी स्थिति कितनी विषम हो जाय? हम साथ रहते हैं, इसलिए तुम्हारे मेहनतानेका लाभ मुझे तो मिल ही जाता है। पर मेरे साझीका

क्या हो? अगर वही मुकदमा वे किसी दूसरेको दें, तो उसके मेहनतानेमें उन्हें जरूर हिस्सा मिलेगा।" मैं इस दलीलके भुलावेमें आ गया और मैंने अनुभव किया कि अगर मुझे बारिस्टरी करनी है, तो ऐसे मामलोंमें कमीशन न देनेका आग्रह मुझे नहीं रखना चाहिये। मैं ढीला पड़ा। मैंने अपने मनको मना लिया, अथवा स्पष्ट शब्दोंमें कहूँ तो धोखा दिया। पर इसके सिवा दूसरे किसी भी मामलेमें कमीशन देनेकी बात मुझे याद नहीं है।

यद्यपि मेरा आर्थिक व्यवहार चल निकला, पर इन्हीं दिनों मुझे अपने जीवनका पहला आघात पहुँचा। अंग्रेज अधिकारी कैसे होते हैं, इसे मैं कानोंसे तो सुनता था, पर आँखोंसे देखनेका मौका मुझे अब मिला।

पोरबन्दरके भूतपूर्व राणा साहबको गद्दी मिलनेसे पहले मेरे भाई उनके मंत्री और सलाहकार थे। उन पर इस आशयका आरोप लगाया गया था कि उन दिनों उन्होंने राणा साहबको गलत सलाह दी थी। उस समयके पोलिटिकल एजेण्टके पास यह शिकायत पहुँची थी और मेरे भाईके बारेमें उनका खयाल खराब हो गया था। इस अधिकारीसे मैं विलायतमें मिला था। कह सकता हूँ कि वहाँ उन्होंने मुझसे अच्छी दोस्ती कर ली थी। भाईने सोचा कि इस परिचयका लाभ उठाकर मुझे पोलिटिकल एजेण्टसे दो शब्द कहने चाहिये और उन पर जो खराब असर पड़ा है, उसे मिटानेकी कोशिश करनी चाहिये। मुझे बात बिलकुल अच्छी न लगी। मैंने सोचा: मुझको विलायतके न-कुछ-से परिचयका लाभ नहीं उठाना चाहिये। अगर मेरे भाईने कोई बुरा काम किया है, तो सिफारिशसे क्या होगा? अगर नहीं किया है, तो वे विधिवत् प्रार्थना-पत्र भेजें अथवा अपनी निर्दोषता पर विश्वास रखकर निर्भय रहें। यह दलील भाईके गले न उतरी। उन्होंने कहा, "तुम काठियावाड़को नहीं जानते। दुनियादारी अभी तुम्हें सीखनी है। यहाँ तो वसीलेसे सारे काम चलते हैं। तुम्हारे समान भाई अपने परिचित अधिकारीसे सिफारिशके दो शब्द कहनेका मौका आने पर दूर हट जाये, तो यह उचित नहीं कहा जायगा।"

मैं भाईकी इच्छाको टाल नहीं सका। अपनी मर्जीके खिलाफ मैं गया। अफसरके पास जानेका मुझे कोई अधिकार न था। मुझे इसका खयाल था कि जानेमें मेरा स्वाभिमान नष्ट होगा। फिर भी मैंने उससे मिलनेका समय माँगा। मुझे समय मिला और मैं मिलने गया। पुराने परिचयका स्मरण कराया, पर मैंने तुरन्त ही देखा कि विलायत और काठियावाड़में फर्क है। अपनी कुर्सी पर बैठे हुए अफसर और छुट्टी पर

गये हुए अफसरमें भी फर्क होता है। अधिकारीने परिचयकी बात मान ली, पर इसके साथ ही वह अधिक अकड़ गया। मैंने उसकी अकड़में देखा और आँखोंमें पढ़ा, मानो वे कह रही हों कि 'उस परिचयका लाभ उठानेके लिए तो तुम नहीं आये हो न?' यह समझते हुए भी मैंने अपनी बात शुरू की। साहब अधीर हो गये। बोले, "तुम्हारे भाई प्रपंची हैं। मैं तुमसे ज्यादा बातें सुनना नहीं चाहता। मुझे समय नहीं है। तुम्हारे भाईको कुछ कहना हो तो वे विधिवत् प्रार्थना-पत्र दें।" यह उत्तर पर्याप्त था, यथार्थ था। पर गरज तो बावली होती है न? मैं अपनी बात कहे जा रहा था। साहब उठे, "अब तुम्हें जाना चाहिये।"

मैंने कहा, "पर मेरी बात तो पूरी सुन लीजिये!"

साहब खूब चिढ़ गये। "चपरासी, इसे दरवाजा दिखाओ!"

'हजूर' कहता हुआ चपरासी दौड़ा आया। मैं तो अब भी कुछ बड़बड़ा ही रहा था। चपरासीने मुझे हाथसे धक्का देकर दरवाजेके बाहर कर दिया।

साहब गये। चपरासी गया। मैं चला, अकुलाया, खीझा। मैंने तुरन्त एक पत्र घसीटा: "आपने मेरा अपमान किया है। चपरासीके जरिये मुझ पर हमला किया है। आप माफी नहीं मागेंगे, तो मैं आप पर मानहानिका विधिवत् दावा करूँगा।" मैंने यह चिट्ठी भेजी। थोड़ी ही देरमें साहबका सवार जवाब दे गया। उसका सार यह था:

"तुमने मेरे साथ असभ्यताका व्यवहार किया। जानेके लिए कहने पर भी तुम नहीं गये, इससे मैंने जरूर अपने चपरासीको तुम्हें दरवाजा दिखानेके लिए कहा। चपरासीके कहने पर भी तुम दफ्तरसे बाहर नहीं गये, तब उसने तुम्हें दफ्तरसे बाहर कर देनेके लिए आवश्यक बलका उपयोग किया। तुम्हें जो करना हो सो करनेके लिए तुम स्वतन्त्र हो।"

यह जबाब जेबमें डालकर मैं मुँह लटकाये घर लौटा। भाईको सारा हाल सुनाया। वे दुःखी हुए। पर वे मुझे क्या तसल्ली देते? मैंने वकील मित्रोंसे चर्चा की। मैं कौन दावा दायर करना जानता था? उन दिनों सर फीरोजशाह मेहता अपने किसी मुक़दमेके सिलसिलेमें राजकोट आये हुए थे। मेरे जैसा नया बारिस्टर उनसे कैसे मिल सकता था? पर उन्हें बुलानेवाले वकीलके द्वारा पत्र भेजकर मैंने उनकी सलाह पुछवायी। उनका उत्तर था: "गांधीसे कहिये, ऐसे अनुभव तो सब वकील-बारिस्टरोंको हुए होंगे। तुम अभी नये ही हो। विलायतकी खुमारी अभी तुम पर

सवार है। तुम अंग्रेज अधिकारियोंको पहचानते नहीं हो। अगर तुम्हें सुखसे रहना हो और दो पैसे कमाने हों, तो मिली हुई चिट्ठी फाड़ डालो और जो अपमान हुआ है उसे पी जाओ। मामला चलानेसे तुम्हें एक पाईका भी लाभ न होगा। उलटे, तुम बरबाद हो जाओगे। तुम्हें अभी जीवनका अनुभव प्राप्त करना है।''

मुझे यह सिखावन जहरकी तरह कड़वी लगी, पर उस कड़वी घूँटको पी जानेके सिवा और कोई उपाय न था। मैं अपमानको भूल तो न सका, पर मैंने उसका सदुपयोग किया। मैंने नियम बना लिया: ''मैं फिर कभी अपनेको ऐसी स्थितिमें नहीं पड़ने दूँगा, इस तरह किसीकी सिफारिश न करूँगा।'' इस नियमका मैंने कभी उल्लंघन नहीं किया। इस आघातने मेरे जीवनकी दिशा बदल दी।

९. दक्षिण अफ्रीकाकी तैयारी

मेरा उक्त अधिकारीके यहाँ जाना अवश्य दोषयुक्त था। पर अधिकारीकी अधीरता, उसके रोष और उद्धतताके सामने मेरा दोष छोटा हो गया। दोषका दण्ड चपरासीका धक्का न था। मैं उसके पास पाँच मिनट भी न बैठा होऊँगा। उसे तो मेरा बोलना ही असह्य मालूम हुआ। वह मुझसे शिष्टतापूर्वक जानेको कह सकता था, पर उसके अधिकारके मदकी कोई सीमा न थी। बादमें मुझे पता चला कि इस अधिकारीके पास धीरज नामकी कोई चीज थी ही नहीं। अपने यहाँ आनेवालेका अपमान करना उसके लिए साधारण बात थी। मर्जीके खिलाफ कोई बात मुँहसे निकलते ही साहबका मिजाज़ बिगड़ जाता था।

मेरा ज्यादातर काम तो उसीकी अदालतमें रहता था। खुशामद मैं कर ही नहीं सकता था। मैं इस अधिकारीको अनुचित रीतसे रिझाना नहीं चाहता था। उसे नालिशकी धमकी देकर मैं नालिश न करूँ और उसे कुछ भी न लिखूँ, यह भी मुझे अच्छा न लगा।

इस बीच मुझे काठियावाड़के रियासती षड्यंत्रोंका भी कुछ अनुभव हुआ। काठियावाड़ अनेक छोटे-छोटे राज्योंका प्रदेश है। यहाँ मुत्सद्दियोंका बड़ा समाज होना स्वाभाविक ही था। राज्योंके बीच सूक्ष्म षडयंत्र चलते, पदोंकी प्राप्तिके लिए साजिशें होतीं, राजा कच्चे कानका और परवश रहता। साहबोंके अर्दलियों तककी खुशामद की जाती। सरिश्तेदार तो साहबसे भी सवाया होता; क्योंकि वही तो

साहबकी आँख, कान और दुभाषियेका काम करता था। सरिश्तेदारकी इच्छा ही कानून थी। सरिश्तेदारकी आमदनी साहबकी आमदनीसे ज्यादा मानी जाती थी। संभव है, इसमें अतिशयोक्ति हो, पर सरिश्तेदारके अल्प वेतनकी तुलनामें उसका खर्च अवश्य ही अधिक होता था।

यह वातावरण मुझे विष-सा प्रतीत हुआ। मैं अपनी स्वतंत्रताकी रक्षा कैसे कर सकूँगा, इसकी चिन्ता बराबर बनी रहती। मैं उदासीन हो गया। भाईने मेरी उदासीनता देखी। एक विचार यह आया कि कहीं नौकरी कर लूँ, तो मैं इन खटपटोंसे मुक्त रह सकता हूँ। पर बिना खटपटके दीवानका या न्यायाधीशका पद कैसे मिल सकता था?

वकालत करनेमें साहबके साथका झगड़ा बाधक बनता था।

पोरबन्दरमें एडमिनिस्ट्रेशन - नाबालिगी शासन - था। वहाँ राणा साहबके लिए कुछ सत्ता प्राप्त करनेका प्रयत्न करना था। मेर लोगोंसे लगान उचितसे अधिक वसूल किया जाता था। इसके सिलसिलेमें भी मुझे वहाँ एडमिनिस्ट्रेटरसे मिलना था। मैंने देखा कि एडमिनिस्ट्रेटर यद्यपि हिन्दुस्तानी हैं, तथापि उनका रोब-दाब तो साहबसे भी अधिक है। वे होशियार थे, पर उनकी होशियारीका लाभ जनताको अधिक मिला हो, यह मैं देख न सका। राणा साहबको थोड़ी सत्ता मिली। कहना होगा कि मेर लोगोंको तो कुछ भी न मिला। उनके मामलेकी पूरी जाँच हुई हो, ऐसा भी मैंने अनुभव नहीं किया।

इसलिए यहाँ भी मैं थोड़ा निराश ही हुआ। मैंने अनुभव किया कि न्याय नहीं मिला। न्याय पानेके लिए मेरे पास कोई साधन न था। बहुत करें तो बड़े साहबके सामने अपील की जा सकती है। वे राय देंगे, "हम इस मामलेमें दखल नहीं दे सकते।" ऐसे फैसलोंके पीछे कोई कानून-कायदा हो, तब तो कुछ आशा भी की जा सके। पर यहाँ तो साहबकी मर्जी ही कानून है!

मैं अकुलाया।

इसी बीच भाईके पास पोरबन्दरकी एक मेमन फर्मका संदेशा आया: "दक्षिण अफ्रीकामें हमारा व्यापार है। हमारी फर्म बड़ी है। वहाँ हमारा एक बड़ा मुकदमा चल रहा है। चालीस हजार पौंडका दावा है। मामला बहुत लम्बे समयसे चल रहा है। हमारे पास अच्छे-से-अच्छे वकील-बारिस्टर हैं। अगर आप अपने भाईको भेजें, तो वे हमारी मदद करें और उन्हें भी कुछ मदद मिल जाये। वे हमारा मामला हमारे

वकीलको अच्छी तरह समझा सकेंगे। इसके सिवा वे नया देश देखेंगे और कई नये लोगोंसे उनकी जान-पहचान होगी।''

भाईने मुझसे चर्चा की। मैं इस सबका अर्थ समझ न सका। मैं यह जान न सका कि मुझे सिर्फ वकीलको समझानेका ही काम करना पड़ेगा या अदालतमें भी जाना होगा। फिर भी मैं ललचाया।

दादा अब्दुल्लाके साझी मरहूम सेठ अब्दुल करीम झवेरीसे भाईने मेरी मुलाकात करायी। सेठने कहा, ''आपको ज्यादा मेहनत नहीं करनी होगी। बड़े-बड़े साहबोंसे हमारी दोस्ती है। उनसे आपकी जान-पहचान होगी। आप हमारी दुकानमें भी मदद कर सकेंगे। हमारे यहाँ अंग्रेजी पत्र-व्यवहार बहुत होता है। आप उसमें भी मदद कर सकेंगे। आप हमारे बंगलेमें ही रहेंगे। इससे आप पर खर्चका बिलकुल बोझ नहीं पड़ेगा।''

मैंने पूछा, ''आप मेरी सेवायें कितने समयके लिए चाहते हैं? आप मुझे वेतन क्या देंगे?''

''हमें एक सालसे अधिक आपकी जरूरत नहीं रहेगी। आपको पहले दर्जेका मार्गव्यय देंगे और निवास तथा भोजन-खर्चके अलावा १०५ पौंड देंगे।''

इसे वकालत नहीं कह सकते। यह नौकरी थी। पर मुझे तो जैसे भी बने हिन्दुस्तान छोड़ना था। नया देश देखनेको मिलेगा और अनुभव प्राप्त होगा सो अलग। भाईको १०५ पौंड भेजूँगा तो घरका खर्च चलानेमें कुछ मदद होगी। यह सोचकर मैंने वेतनके बारेमें बिना कुछ झिक-झिक किये ही सेठ अब्दुल करीमका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और मैं दक्षिण अफ्रीका जानेके लिए तैयार हो गया।

६. नेटाल पहुँचा

विलायत जाते समय वियोगके विचारसे जो दुःख हुआ था, वह दक्षिण अफ्रीका जाते समय न हुआ। माता तो चल ही बसी थीं। मैंने दुनियाका और यात्राका अनुभव प्राप्त किया था। राजकोट और बम्बईके बीच तो आना-जाना बना ही रहता था। इसलिए इस बार वियोग केवल पत्नीका ही दुःखदायी था। विलायतसे आनेके बाद एक और बालककी प्राप्ति हुई थी। हमारे बीचके प्रेममें अभी विषय-भोगका प्रभाव तो था ही, फिर भी उसमें निर्मलता आने लगी थी। मेरे विलायतसे लौटनेके

बाद हम दोनों बहुत कम साथ रह पाये थे। और, शिक्षककी तरह मेरी योग्यता जो भी रही हो, परन्तु मैं पत्नीका शिक्षक बना था इसलिए और पत्नीमें जो कई सुधार मैंने कराये थे उन्हें निबाहनेके लिए भी हम दोनों साथ रहनेकी आवश्यकता अनुभव करते थे। पर अफ्रीका मुझे अपनी तरफ खींच रहा था। उसने वियोगको सह्य बना दिया। "एक सालके बाद तो हम फिर मिलेंगे ही न?" पत्नीको यह कहकर और सान्त्वना देकर मैंने राजकोट छोड़ा और मैं बम्बई पहुँचा।

मुझे दादा अब्दुल्लाके बम्बईवाले एजेण्टके जरिये टिकट खरीदना था। पर स्टीमरमें कोई केबिन खाली न थी। हालत यह थी कि अगर इस मौकेको चूक जाता तो मुझे एक महीने तक बम्बईकी हवा खानी पड़ती। एजेण्टने कहा, "हमने कोशिश तो बहुत की, पर हमें टिकट नहीं मिल सका। आप डेकमें जायें तो जा सकते हैं। भोजनकी व्यवस्था सलूनमें हो सकेगी।" वह जमाना मेरे लिए पहले दर्जेकी यात्राका था। क्या बारिस्टर डेकका यात्री बन कर जाय? मैंने डेकमें जानेसे इनकार कर दिया। मुझे एजेण्ट पर शक हुआ। मैं यह मान न सका कि पहले दर्जेका टिकट मिल ही नहीं सकता। एजेण्टकी अनुमति लेकर मैंने ही टिकट प्राप्त करनेका प्रयत्न किया। मैं स्टीमर पर पहुँचा। बड़े अधिकारीसे मिला। पूछताछ करने पर उसने सरल भावसे उत्तर दिया: "हमारे यहाँ इतनी भीड़ शायद ही कभी होती है। पर इस स्टीमरसे मोजाम्बिकके गवर्नर-जनरल जा रहे हैं, इससे सारी जगहें भर गयी हैं।"

"तो आप मेरे लिए किसी तरह जगह निकाल ही नहीं सकते?"

अफसरने मेरी तरफ देखा। फिर वह हँसा और बोला: "एक उपाय है। मेरे केबिनमें एक बर्थ खाली रहती है। उसमें हम यात्रीको नहीं लेते, पर आपको मैं वह जगह देनेके लिए तैयार हूँ।" मैं खुश हुआ। अफसरका आभार माना। सेठसे बात करके टिकट कटाया, और १८९३ के अप्रैल महीनेमें उमंगोंसे भरा मैं दक्षिण अफ्रीकामें अपना भाग्य आजमानेके लिए रवाना हो गया।

पहला बन्दर लामू पड़ता था। वहाँ पहुँचनेमें करीब तेरह दिन लगे। रास्तेमें कप्तानसे अच्छी मित्रता हो गयी कप्तानको शतरंज खेलनेका शोक था, पर वह अभी नौसिखुआ ही था। उसे अपनेसे कमजोर खेलनेवाले साथीकी जरूरत थी। इसलिए उसने मुझे खेलनेके लिए न्योता। मैंने शतरंजका खेल कभी देखा न था। उसके विषयमें सुना काफी था। खेलनेवाले कहते थे कि इस खेलमें बुद्धिका खासा उपयोग होता है। कप्तानने कहा कि वह खुद मुझे सिखायेगा। मैं उसे अच्छा शिष्य

मिला, क्योंकि मुझमें धैर्य था। मैं हारता ही रहता था। इससे कप्तानका सिखानेका उत्साह बढ़ता जाता था। मुझे शतरंजका खेल पसन्द पड़ा, पर मेरा यह शौक कभी जहाजके नीचे न उतरा। उसमें मेरी गति राजा-रानी आदिकी चाल जान लेनेसे अधिक न बढ़ सकी।

लामू बन्दर आया। स्टीमर वहाँ तीन-चार घण्टे ठहरनेवाला था। मैं बन्दर देखने नीचे उतरा। कप्तान भी गया था। उसने मुझसे कहा, "यहाँका बन्दर दगाबाज है। तुम जल्दी लौट आना।"

गाँव तो बिलकुल छोटा-सा था। वहाँके डाकखानेमें गया, तो हिन्दुस्तानी नौकर दिखायी दिये। इससे मुझे खुशी हुई। मैंने उनसे बातचीत की। हब्शियोंसे मिला। उनकी रहन-सहनमें रुचि पैदा हुई। इसमें थोड़ा समय चला गया। डेकके दूसरे भी कई यात्री थे। मैंने उनसे जान-पहचान कर ली थी। वे रसोई बनाने और आरामसे भोजन करनेके लिए नीचे उतरे थे। मैं उनकी नावमें बैठा। बन्दरमें ज्वार काफी था। हमारी नावमें बोझ ज्यादा था। प्रवाहका जोर इतना अधिक था कि नावकी रस्सी स्टीमरकी सीढ़ीके साथ किसी तरह बँध ही नहीं पाती थी। नाव सीढ़ीके पास पहुँचती और हट जाती। स्टीमर खुलनेकी पहली सीटी बजी। मैं घबराया। कप्तान ऊपरसे देख रहा था। उसने स्टीमरको पाँच मिनटके लिए रुकवाया। स्टीमरके पास ही एक छोटीसी नाव थी। एक मित्रने उसे दस रुपये देकर मेरे लिए ठीक किया, और इस छोटी नावने मुझे उस नावमें से उठा लिया। स्टीमरकी सीढ़ी उठ चुकी थी। मुझे रस्सीसे ऊपर खींच लिया गया और स्टीमर चल दिया। दूसरे यात्री रह गये। कप्तानकी दी हुई चेतावनीका अर्थ अब मेरी समझमें आया।

लामूसे मुम्बासा और वहाँसे जंजीबार पहुँचा। जंजीबारमें तो काफी ठहरना था - आठ या दस दिन। वहाँ नये स्टीमर पर सवार होना था।

मुझ पर कप्तानके प्रेमका पार न था। इस प्रेमने मेरे लिए उलटा रूप धारण किया। उसने मुझे अपने साथ सैरके लिए न्योता। एक अंग्रेज मित्रको भी न्योता था। हम तीनों कप्तानकी नाव पर सवार हुए। मैं इस सैरका मर्म बिलकुल नहीं समझ पाया था। कप्तानको क्या पता कि मैं ऐसे मामलोंमें निपट अजान हूँ। हम लोग हब्शी औरतोंकी बस्तीमें पहुँचे। एक दलाल हमें वहाँ ले गया। हममें से हरएक एक-एक कोठरीमें घुस गया। पर मैं तो शरमका मारा वहाँ गुमसुम ही बैठा रहा। बेचारी उस स्त्रीके मनमें क्या विचार उठे होंगे, सो तो वही जाने। कप्तानने आवाज दी। मैं

जैसा अन्दर घुसा था वैसा ही बाहर निकला। कप्तान मेरे भोलेपनको समझ गया। पहले तो मैं बहुत ही शरमिंदा हुआ। पर मैं यह काम किसी भी दशामें पसन्द नहीं कर सकता था, इसलिए मेरी शरमिन्दगी तुरन्त ही दूर हो गयी, और मैंने इसके लिए ईश्वरका उपकार माना कि उस बहनको देखकर मेरे मनमें तनिक भी विकार उत्पन्न नहीं हुआ। मुझे अपनी इस दुर्बलता पर घृणा हुई कि मैं कोठरीमें घुसनेसे ही इनकार करनेका साहस न दिखा सका।

मेरे जीवनकी ऐसी यह तीसरी परीक्षा थी। कितने ही नवयुवक शुरूमें निर्दोष होते हुए भी झूठी शरमके कारण बुराईमें फँस जाते होंगे। मैं अपने पुरुषार्थके कारण नहीं बचा था। अगर मैंने कोठरीमें घुसनेसे साफ इनकार किया होता, तो वह मेरा पुरुषार्थ माना जाता। मुझे तो अपनी रक्षाके लिए केवल ईश्वरका ही उपकार मानना चाहिये। पर इस घटनाके कारण ईश्वरमें मेरी श्रद्धा बढ़ी और झूठी शरम छोड़नेकी कुछ हिम्मत भी मुझमें आयी।

जंजीबारमें एक हफ्ता बिताना था, इसलिए एक घर किरायेसे लेकर मैं शहरमें रहा। शहरको खूब घूम-घूमकर देखा। जंजीबारकी हरियालीकी कल्पना मलाबारको देखकर ही हो सकती है। वहाँके विशाल वृक्ष और वहाँके बड़े-बड़े फल वगैरा देखकर मैं तो दंग ही रह गया।

जंजीबारसे मैं मोजाम्बिक और वहाँसे लगभग मईके अन्तमें नेटाल पहुँचा।

७. अनुभवोंकी बानगी

नेटालके बन्दरगाहको डरबन कहते हैं और वह नेटाल बन्दरके नामसे भी पहचाना जाता है। मुझे लेनेके लिए अब्दुल्ला सेठ आये थे। स्टीमरके घाट (डक) पर पहुँचने पर जब नेटालके लोग अपने मित्रोंको लेने स्टीमर पर आये, तभी मैं समझ गया कि यहाँ हिन्दुस्तानियोंकी अधिक इज्जत नहीं है। अब्दुल्ला सेठको पहचाननेवाले उनके साथ जैसा बरताव करते थे, उसमें भी मुझे एक प्रकारकी असभ्यता दिखायी पड़ी थी, जो मुझे व्यथित करती थी। अब्दुल्ला सेठ इस असभ्यताको सह लेते थे। वे उसके आदी बन गये थे। मुझे जो देखते वे कुछ कुतूहलकी दृष्टिसे देखते थे। अपनी पोशाकके कारण मैं दूसरे हिन्दुस्तानियोंसे कुछ अलग पड़ जाता था। मैंने उस समय 'फ्रॉक कोट' वगैरा पहने थे और सिर पर बंगाली ढंगकी पगड़ी पहनी थी।

अब्दुल्ला सेठ मुझे घर ले गये। उनके कमरेकी बगलमें एक कमरा था, वह उन्होंने मुझे दिया। न वे मुझे समझते, और न मैं उन्हें समझता। उन्होंने अपने भाईके दिये हुए पत्र पढ़े और वे ज्यादा घबराये। उन्हें जान पड़ा कि भाईने तो उनके घर एक सफेद हाथी ही बाँध दिया है। मेरी साहबी रहन-सहन उन्हें खर्चीली मालूम हुई। उस समय मेरे लिए कोई खास काम न था। उनका मुकदमा तो ट्रान्सवालमें चल रहा था। मुझे तुरन्त वहाँ भेजकर क्या करते? इसके अलावा, मेरी होशियारी या ईमानदारीका विश्वास भी किस हद तक किया जाये? प्रिटोरियामें वे मेरे साथ रह नहीं सकते थे। प्रतिवादी प्रिटोरियामें रहता था। मुझ पर उसका अनुचित प्रभाव पड़ जाये तो क्या हो? यदि वे मुझे इस मुक्दमेका काम न सौंपे, तो दूसरे काम तो उनके कारकुन मुझसे बहुत अच्छा कर सकते थे। कारकुनोंसे गलती हो तो उन्हें उलाहना दिया जा सकता था, पर मैं गलती करूँ तो? काम या तो मुकदमेका था या फिर मुहर्रिरका था। इनके अलावा तीसरा कोई काम न था। अतएव यदि मुकदमेका काम न सौंपा जाता, तो मुझे घर बैठे खिलानेकी नौबत आती।

अब्दुल्ला सेठ बहुत कम पढ़े-लिखे थे, पर उनके पास अनुभवका ज्ञान बहुत था। उनकी बुद्धि तीव्र थी और स्वयं उन्हें इसका भान था। रोजके अभ्याससे उन्होंने सिर्फ बातचीत करने लायक अंग्रेजीका ज्ञान प्राप्त कर लिया था। पर अपनी इस अंग्रेजीके द्वारा वे अपना सब काम निकाल लेते थे। वे बैंकके मैनेजरोंसे बातचीत करते थे, यूरोपियन व्यापारियोंके साथ सौदे कर लेते थे और वकीलोंको अपने मामले समझा सकते थे। हिन्दुस्तानी उनकी बहुत इज्जत करते थे। उन दिनों उनकी फर्म हिन्दुस्तानियोंकी फर्मोंमें सबसे बड़ी, अथवा बड़ी फर्मोंमें एक तो थी ही। अब्दुल्ला सेठका स्वभाव वहमी था।

उन्हें इस्लामका अभिमान था। वे तत्त्वज्ञानकी चर्चाके शौकीन थे। अरबी नहीं जानते थे, फिर भी कहना होगा कि उन्हें कुरान शरीफकी और आम तौर पर इस्लामके धार्मिक साहित्यकी अच्छी जानकारी थी। दृष्टान्त तो उन्हें कण्ठाग्र ही थे। उनके सहवाससे मुझे इस्लामका काफी-व्यावहारिक ज्ञान हो गया। हम एक-दूसरेको पहचानने लगे। उसके बाद तो वे मेरे साथ खूब धर्म-चर्चा करते थे।

वे दूसरे या तीसरे दिन मुझे डरबनकी अदालत दिखाने ले गये। वहाँ कुछ जान-पहचान करायी। अदालतमें मुझे अपने वकीलके पास बैठाया। मजिस्ट्रेट मुझे बार-

बार देखता रहा। उसने मुझे पगड़ी उतारनेके लिए कहा। मैंने इनकार किया और अदालत छोड़ दी।

मेरे भाग्यमें यहाँ भी लड़ाई ही बदी थी।

अब्दुल्ला सेठने मुझे पगड़ी उतारनेका रहस्य समझाया: मुसलमानी पोशाक पहना हुआ आदमी अपनी मुसलमानी पगड़ी पहन सकता है। पर दूसरे हिन्दुस्तानियोंको अदालतमें पैर रखते ही अपनी पगड़ी उतार लेनी चाहिये।

इस सूक्ष्म भेदको समझानेके लिए मुझे कुछ तथ्योंकी जानकारी देनी होगी।

इन दो-तीन दिनोंमें ही मैंने देख लिया था कि हिन्दुस्तानी अफ्रीकामें अपने-अपने गुट बनाकर बैठ गये थे। एक भाग मुसलमान व्यापारियोंका था-- वे अपनेको 'अरब' कहते थे। दूसरा भाग हिन्दू या पारसी कारकुनों, मुनीमों या गुमाश्तोंका था। हिन्दू कारकुन अधरमें लटकते थे। कोई 'अरब' में मिल जाते थे। पारसी अपना परिचय परसियनके नामसे देते थे। व्यापारके अलावा भी इन तीनोंका आपसमें थोड़ा-बहुत सम्बन्ध अवश्य था। एक चौथा और बड़ा समुदाय तामिल, तेलुगु और उत्तर हिन्दुस्तानके गिरमिटिया तथा गिरमिट-मुक्त हिन्दुस्तानियोंका था। गिरमिटका अर्थ है वह इकरार — यानी 'एग्रिमेण्ट', जिसके अनुसार उन दिनों गरीब हिन्दुस्तानी पाँच साल तक मजदूरी करनेके लिए नेटाल जाते थे। गिरमिट 'एग्रिमेण्ट' का ही अपभ्रंश है और उसीसे गिरमिटिया शब्द बना है। इस वर्गके साथ दूसरोंका व्यवहार केवल कामकी दृष्टिसे ही रहता था। अंग्रेज इन गिरमिटवालोंको 'कुली' के नामसे पहचानते थे; और चूँकि वे संख्यामें अधिक थे, इसलिए दूसरे हिन्दुस्तानियोंको भी 'कुली' कहते थे। कुलीके बदले 'सामी' भी कहते। 'सामी' ज्यादातर तामिल नामोंके अन्तमें लगनेवाला प्रत्यय है। 'सामी' अर्थात् स्वामी। स्वामीका मतलब तो मालिक हुआ। इसलिए जब कोई हिन्दुस्तानी सामी शब्दसे चिढ़ता और उसमें कुछ हिम्मत होती, तो वह अपनेको 'सामी' कहनेवाले अंग्रेजसे कहता: "तुम मुझे 'सामी' कहते हो, पर जानते हो कि 'सामी' का मतलब मालिक होता है? मैं तुम्हारा मालिक तो हूँ नहीं।" यह सुनकर कोई अंग्रेज शरमा जाता, कोई चिढ़ कर ज्यादा गालियाँ देता और कोई-कोई मारता भी सही; क्योंकि उसकी दृष्टिसे तो 'सामी' शब्द निन्दासूचक ही हो सकता था। उसका अर्थ मालिक करना तो उसे अपमानित करनेके बराबर ही हो सकता था।

इसलिए मैं 'कुली बारिस्टर' कहलाया। व्यापारी 'कुली व्यापारी' कहलाते थे।

कुलीका मूल अर्थ मजदूर तो भुला दिया गया। मुसलमान व्यापारी यह शब्द सुनकर गुस्सा होता और कहता: "मैं कुली नहीं हूँ। मैं तो अरब हूँ।" कोई थोड़ा विनयशील अंग्रेज होता तो यह सुनकर माफी भी माँग लेता।

ऐसी दशामें पगड़ी पहननेका प्रश्न एक महत्त्वका प्रश्न बन गया। पगड़ी उतारनेका मतलब था अपमान सहन करना। मैंने तो सोचा कि मैं हिन्दुस्तानी पगड़ीको बिदा कर दूँ और अंग्रेजी टोपी पहन लूँ, ताकि उसे उतारनेमें अपमान न जान पड़े और मैं झगड़ेसे बच जाऊँ।

पर अब्दुल्ला सेठको यह सुझाव अच्छा न लगा। उन्होंने कहा: "अगर आप इस वक्त यह फेरफार करेंगे, तो उससे अनर्थ होगा। जो दूसरे लोग देशकी ही पगड़ी पहनना चाहेंगे, उनकी स्थिति नाजुक बन जायगी। इसके अलावा, आपको तो देशी पगड़ी ही शोभा देगी। आप अंग्रेजी टोपी पहनेंगे तो आपकी गिनती 'वेटरों' में होगी।"

इन वाक्योंमें दुनियावी समझदारी थी, देशाभिमान था और थोड़ी संकुचितता भी थी। दुनियावी समझदारी तो स्पष्ट ही है। देशाभिमानके बिना पगड़ीका आग्रह नहीं हो सकता; और संकुचितताके बिना 'वेटर'की टीका संभव नहीं। गिरमिटिया हिन्दुस्तानी हिन्दू, मुसलमान और ईसाई इन तीन भागोंमें बँटे हुए थे। जो गिरमिटिया हिन्दुस्तानी ईसाई बन गये, उनकी संतान ईसाई कहलायी। सन् १८९३ में भी ये बड़ी संख्यामें थे। वे सब अंग्रेजी पोशाक ही पहनते थे। उनका एक खासा हिस्सा होटलोंमें नौकरी करके अपनी आजीविका चलाता था। अब्दुल्ला सेठके वाक्योंमें अंग्रेजी टोपीकी जो टीका थी, वह इन्हीं लोगोंको लक्ष्यमें रखकर की गयी थी। इसके मूलमें मान्यता यह थी कि होटलमें 'वेटर' का काम करना बुरा है। आज भी यह भेद बहुतोंके मनमें बसा हुआ है।

कुल मिलाकर अब्दुल्ला सेठकी दलील मुझे अच्छी लगी। मैंने पगड़ीके किस्सेको लेकर अपने और पगड़ीके बचावमें समाचारपत्रोंके नाम एक पत्र लिखा। अखबारोंमें मेरी पगड़ीकी खूब चर्चा हुई। 'अनवेलकम विज़िटर' — अवांछित अतिथि — शीर्षकसे अखबारोंमें मेरी चर्चा हुई, और तीन-चार दिनके अंदर ही मैं अनायास दक्षिण अफ्रीकामें प्रसिद्धि पा गया। किसीने मेरा पक्ष लिया और किसीने मेरी धृष्टताकी खूब निन्दा की।

मेरी पगड़ी तो लगभग अन्त तक बनी रही। कब गई सो हम अन्तिम भागमें देखेंगे।

८. प्रिटोरिया जाते हुए

मैं डरबनमें रहनेवाले ईसाई हिन्दुस्तानियोंके सम्पर्कमें भी तुरन्त आ गया। वहाँकी अदालतके दुभाषिया मि० पॉल रोमन कैथोलिक थे। उनसे परिचय किया और प्रोटेस्टेण्ट मिशनके शिक्षक स्व० मि० सुभान गॉडफ्रेसे भी परिचित हुआ। इन्हींके पुत्र जेम्स गॉडफ्रे यहाँ दक्षिण अफ्रीकाके भारतीय प्रतिनिधि-मण्डलमें पिछले साल आये थे। इन्हीं दिनों स्व० पारसी रुस्तमजीसे परिचय हुआ, और तभी स्व० आदमजी मियांखानके साथ जान-पहचान हुई। ये सब भाई अभी तक कामके सिवा एक-दूसरेसे मिलते न थे, लेकिन जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, बादमें ये एक-दूसरेके काफी नजदीक आये।

मैं इस प्रकार जान-पहचान कर रहा था कि इतनेमें फर्मके वकीलकी तरफसे पत्र मिला कि मुकदमेकी तैयारी की जानी चाहिये और खुद अब्दुल्ला सेठको प्रिटोरिया जाना चाहिये अथवा किसीको वहाँ भेजना चाहिये।

अब्दुल्ला सेठने वह पत्र मुझे पढ़नेको दिया और पूछा, "आप प्रिटोरिया जायेंगे?" मैंने कहा, "मुझे मामला समझाइये, तभी कुछ कह सकूँगा। अभी तो मैं नहीं जानता कि मुझे वहाँ क्या करना होगा।" उन्होंने अपने मुनीमोंसे कहा कि वे मुझे मामला समझा दें।

मैंने देखा कि मुझे ककहरेसे शुरू करना होगा। जब मैं जंजीबारमें उतरा था तो वहाँकी अदालतका काम देखने गया था। एक पारसी वकील किसी गवाहके बयान ले रहे थे और जमा-नामेके सवाल पूछ रहे थे। मैं तो जमा-नामेमें कुछ समझता ही न था। बही-खाता न तो मैंने हाईस्कूलमें सीखा था और न विलायतमें।

मैंने देखा कि इस मामलेका दार-मदार बहियों पर है। जिसे बही-खातेकी जानकारी हो वही इस मामलेको समझ और समझा सकता है। जब मुनीम नामेकी बात करता, तो मैं परेशान होता। मैं पी० नोटका मतलब नहीं जानता था। कोशमें यह शब्द मिलता न था। जब मैंने मुनीमके सामने अपना अज्ञान प्रकट किया तब उससे पता चला कि पी० नोटका मतलब प्रामिसरी नोट है। मैंने बही-खातेकी पुस्तक खरीदी और पढ़ डाली। कुछ आत्म-विश्वास उत्पन्न हुआ। मामला समझमें आया। मैंने देखा कि अब्दुल्ला सेठ बही-खाता लिखना नहीं जानते थे। पर उन्होंने व्यावहारिक ज्ञान इतना अधिक प्राप्त कर लिया था कि वे बही-खातेकी गुत्थियाँ

फौरन सुलझा सकते थे। मैंने उनसे कहा, "मैं प्रिटोरिया जानेको तैयार हूँ।" सेठने पूछा, "आप कहाँ उतरेंगे?"

मैंने जवाब दिया, "जहाँ आप कहें।"

"तो मैं अपने वकीलको लिखूँगा। वे आपके लिए ठहरनेका प्रबंध करेंगे। प्रिटोरियामें मेरे मेमन दोस्त हैं। उन्हें मैं अवश्य लिखूँगा, पर उनके यहाँ आपका ठहरना ठीक न होगा। वहाँ हमारे प्रतिपक्षीकी अच्छी रसाई है। आपके नाम मेरे निजी कागज-पत्र पहुँचें और उनमें से कोई उन्हें पढ़ ले, तो हमारे मुकदमेको नुकसान पहुँच सकता है। उनके साथ जितना कम सम्बन्ध रहे उतना ही अच्छा है।"

मैंने कहा, "आपके वकील जहाँ रखेंगे वहीं मैं रहूँगा, अथवा मैं कोई अलग घर खोज लूँगा। आप निश्चिन्त रहिये, आपकी एक भी व्यक्तिगत बात बाहर न जायेगी। पर मैं मिलता-जुलता तो सभीसे रहूँगा। मुझे तो प्रतिपक्षीसे मित्रता कर लेनी है। मुझसे बन पड़ा तो मैं इस मुकदमेको आपसमें निबटानेकी भी कोशिश करूँगा। आखिर तैयब सेठ आपके रिश्तेदार ही तो हैं न?"

प्रतिपक्षी स्व० तैयब हाजी खानमहम्मद अब्दुल्ला सेठके निकट सम्बन्धी थे।

मैंने देखा कि मेरी इस बात पर अब्दुल्ला सेठ कुछ चौंके। पर उस समय तक मुझे डरबन पहुँचे छह-सात दिन हो चुके थे। हम एक-दूसरेको जानने और समझने लग गये थे। मैं अब 'सफेद हाथी' लगभग नहीं रहा था। वे बोले:

"हाँ...आ...आ, यदि समझौता हो जाये, तो उसके जैसी भली बात तो कोई है ही नहीं। पर हम रिश्तेदार हैं, इसलिए एक-दूसरेको अच्छी तरह पहचानते हैं। तैयब सेठ जल्दी माननेवाले नहीं हैं। हम भोलापन दिखायें, तो वे हमारे पेटकी बात निकलवा लें और फिर हमको फँसा लें। इसलिए आप जो कुछ करें सो होशियार रहकर कीजिये।"

मैंने कहा, "आप तनिक भी चिन्ता न करें। मुझे मुकदमेकी बात तैयब सेठसे या किसी औरसे करनेकी आवश्यकता ही नहीं है। मैं तो इतना ही कहूँगा कि आप दोनों आपसमें झगड़ा निबटा लें, तो वकीलोंके घर न भरने पड़ें।"

मैं सातवें या आठवें दिन डरबनसे रवाना हुआ। मेरे लिए पहले दर्जेका टिकट कटाया गया। वहाँ रेलमें सोनेकी सुविधाके लिए पाँच शिलिंगका अलग टिकट कटाना होता था। अब्दुल्ला सेठने उसे कटानेका आग्रह किया, पर मैंने हठवश, अभिमानवश और पाँच शिलिंग बचानेके विचारसे बिस्तरका टिकट कटानेसे इनकार कर दिया।

अब्दुल्ला सेठने मुझे चेताया, "देखिये, यह देश दूसरा है, हिन्दुस्तान नहीं है। खुदाकी मेहरबानी है। आप पैसेकी कंजूसी न कीजिये। आवश्यक सुविधा प्राप्त कर लीजिये।"

मैंने उन्हें धन्यवाद दिया और निश्चिन्त रहनेको कहा।

ट्रेन लगभग नौ बजे नेटालकी राजधानी मेरित्सबर्ग पहुँची। यहाँ बिस्तर दिया जाता था। रेलवेके किसी नौकरने आकर पूछा, "आपको बिस्तरकी जरूरत है?"

मैंने कहा, "मेरे पास अपना बिस्तर है।"

वह चला गया। इस बीच एक यात्री आया। उसने मेरी तरफ देखा। मुझे भिन्न वर्णका पाकर वह परेशान हुआ, बाहर निकला और एक-दो अफसरोंको लेकर आया। किसीने मुझे कुछ न कहा। आखिर एक अफसर आया। उसने कहा, "इधर आओ। तुम्हें आखिरी डिब्बेमें जाना है।"

मैंने कहा, "मेरे पास पहले दर्जेका टिकट है।"

उसने जवाब दिया, "इसकी कोई बात नहीं। मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम्हें आखिरी डिब्बेमें जाना है।"

"मैं कहता हूँ कि मुझे इस डिब्बेमें डरबनसे बैठाया गया है और मैं इसीमें जानेका इरादा रखता हूँ।"

अफसरने कहा, "यह नहीं हो सकता। तुम्हें उतरना पड़ेगा, और न उतरे तो सिपाही उतारेगा।"

मैंने कहा, "तो फिर सिपाही भले उतारे, मैं खुद तो नहीं उतरूँगा।"

सिपाही आया। उसने मेरा हाथ पकड़ा और मुझे धक्का देकर नीचे उतारा। मेरा सामान उतार लिया। मैंने दूसरे डिब्बेमें जानेसे इनकार कर दिया। ट्रेन चल दी। मैं वेटिंग रूममें बैठ गया। अपना 'हैण्ड-बैग' साथमें रखा। बाकी सामानको हाथ न लगाया। रेलवेवालोंने उसे कहीं रख दिया। सरदीका मौसम था। दक्षिण अफ्रीकाकी सरदी ऊँचाईवाले प्रदेशोंमें बहुत तेज होती है। मेरित्सबर्ग इसी प्रदेशमें था। इससे ठण्ड खूब लगी। मेरा ओवर-कोट मेरे सामानमें था। पर सामान माँगनेकी हिम्मत न हुई। फिर अपमान हो तो? ठण्डसे मैं काँपता रहा। कमरेमें दीया न था। आधी रातके करीब एक यात्री आया। जान पड़ा कि वह कुछ बात करना चाहता है, पर मैं बात करनेकी मनःस्थितिमें न था।

मैंने अपने धर्मका विचार किया: 'या तो मुझे अपने अधिकारोंके लिए लड़ना

चाहिये या लौट जाना चाहिये, नहीं तो जो अपमान हों उन्हें सहकर प्रिटोरिया पहुँचना चाहिये और मुकदमा खतम करके देश लौट जाना चाहिये। मुकदमा अधूरा छोड़कर भागना तो नामर्दी होगी। मुझे जो कष्ट सहना पड़ा है, सो तो ऊपरी कष्ट है। वह गहराई तक पैठे हुए महारोगका लक्षण है। यह महारोग है रंग-द्वेष। यदि मुझमें इस गहरे रोगको मिटानेकी शक्ति हो, तो उस शक्तिका उपयोग मुझे करना चाहिये। ऐसा करते हुए स्वयं जो कष्ट सहने पड़ें सो सब सहने चाहिये और उनका विरोध रंग-द्वेषको मिटानेकी दृष्टिसे ही करना चाहिये।'

यह निश्चय करके मैंने दूसरी ट्रेनमें, जैसे भी हो, आगे ही जानेका फैसला किया।

सबेरे ही सबेरे मैंने जनरल मैनेजरको शिकायतका लम्बा तार भेजा। दादा अब्दुल्लाको भी खबर भेजी। अब्दुल्ला सेठ तुरन्त जनरल मैनेजरसे मिले। जनरल मैनेजरने अपने आदमियोंके व्यवहारका बचाव किया, पर बतलाया कि मुझे बिना किसी रुकावटके मेरे स्थान तक पहुँचानेके लिए स्टेशन-मास्टरको कह दिया गया है। अब्दुल्ला सेठने मेरित्सबर्गके हिन्दू व्यापारियोंको भी मुझसे मिलने और मेरी सुख-सुविधाका खयाल रखनेका तार भेजा और दूसरे स्टेशनों पर भी इसी आशयके तार रवाना किये। इससे व्यापारी मुझे मिलने स्टेशन पर आये। उन्होंने अपने ऊपर पड़नेवाले कष्टोंकी कहानी मुझे सुनायी और मुझसे कहा कि आप पर जो बीती है, उसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है। जब हिन्दुस्तानी लोग पहले या दूसरे दर्जेमें सफर करते हैं, तो अधिकारियों और यात्रियोंकी तरफसे रुकावट खड़ी होती ही है। दिन ऐसी ही बातें सुननेमें बीता। रात पड़ी। ट्रेन आयी। मेरे लिए जगह तैयार ही थी। बिस्तरका जो टिकट मैंने डरबनमें कटानेसे इनकार किया था, वह मेरित्सबर्गमें कटाया। ट्रेन मुझे चार्ल्सटाउनकी ओर ले चली।

९. अधिक परेशानी

ट्रेन सुबह चार्ल्सटाउन पहुँचती थी। उन दिनों चार्ल्सटाउनसे जोहानिस्बर्ग पहुँचनेके लिए ट्रेन नहीं थी, घोड़ोंकी सिकरम थी और बीचमें एक रात स्टैण्डरटनमें रुकना पड़ता था। मेरे पास सिकरमका टिकट था। मेरे एक दिन देरसे पहुँचनेके कारण वह टिकट रद नहीं होता था। इसके सिवा, अब्दुल्ला सेठने सिकरमवालेके

नाम चार्ल्सटाउनके पते पर तार भी कर दिया था। पर उसे तो बहाना ही खोजना था, इसलिए मुझे निरा अजनबी समझकर उसने कहा, "आपका टिकट तो रद हो चुका है।" मैंने उचित उत्तर दिया। पर टिकट रद होनेकी बात तो मुझे दूसरे ही कारणसे कही गयी थी। यात्री सब सिकरमके अन्दर ही बैठते थे। लेकिन मैं तो 'कुली' की गिनतीमें था। अजनबी दिखाई पड़ता था। इसलिए सिकरमवालेकी नीयत यह थी कि मुझे गोरे यात्रियोंके पास न बैठाना पड़े तो अच्छा हो। सिकरमके बाहर, अर्थात् कोचवानकी बगलमें दायें-बायें, दो बैठकें थीं। उनमें से एक पर सिकरम-कम्पनीका एक गोरा मुखिया बैठता था। वह अन्दर बैठा और मुझे कोचवानकी बगलमें बैठाया। मैं समझ गया कि यह निरा अन्याय है — अपमान है। पर मैंने इस अपमानको पी जाना उचित समझा। मैं जोर-जबरदस्तीसे अन्दर बैठ सकूँ, ऐसी स्थिति थी ही नहीं। अगर तकरारमें पड़ूँ तो सिकरम चली जाये और मेरा एक दिन और टूट जाये; और फिर दूसरे दिन क्या हो, सो तो दैव ही जाने! इसलिए मैं समझदारीसे काम लेकर बाहर बैठ गया। पर मनमें तो बहुत झुँझलाया।

लगभग तीन बजे सिकरम पारडीकोप पहुँची। अब उस गोरे मुखियाने चाहा कि जहाँ मैं बैठा था वहाँ वह बैठे। उसे सिगरेट पीनी थी। थोड़ी हवा भी खानी होगी। इसलिए उसने एक मैला-सा बोरा, जो वहीं कोचवानके पास पड़ा था, उठा लिया और पैर रखनेके पटिये पर बिछाकर मुझसे कहा, "सामी, तू यहाँ बैठ। मुझे कोचवानके पास बैठना है।" मैं इस अपमानको सहनेमें असमर्थ था। इसलिए मैंने डरते-डरते उससे कहा, "तुमने मुझे यहाँ बैठाया और मैंने वह अपमान सह लिया। मेरी जगह तो अन्दर थी, पर तुम अन्दर बैठ गये और मुझे यहाँ बैठाया। अब तुम्हें बाहर बैठनेकी इच्छा हुई है और सिगरेट पीनी है, इसलिए तुम मुझे अपने पैरोंके पास बैठाना चाहते हो। मैं अन्दर जानेको तैयार हूँ, पर तुम्हारे पैरोंके पास बैठनेको तैयार नहीं।"

मैं मुश्किलसे इतना कह पाया था कि मुझ पर तमाचोंकी वर्षा होने लगी, और वह गोरा मेरी बाँह पकड़कर मुझे नीचे खींचने लगा। बैठकके पास ही पीतलके सीखचे थे। मैंने भूतकी तरह उन्हें पकड़ लिया और निश्चय किया कि कलाई चाहे उखड़ जाये, पर सीखचे न छोडूँगा। मुझ पर जो बीत रही थी उसे अन्दर बैठे हुए यात्री देख रहे थे। वह गोरा मुझे गालियाँ दे रहा था, खींच रहा था, मार भी रहा था। पर मैं चुप था। वह बलवान था और मैं बलहीन। यात्रियोंमें से कइयोंको दया आयी और उनमें से कुछ बोल उठे: "अरे भाई, उस बेचारेको वहाँ बैठा रहने दो।

उसे नाहक मारो मत। उसकी बात सच है। वहाँ नहीं तो उसे हमारे पास अन्दर बैठने दो।'' गोरेने कहा : ''हरगिज नहीं।'' पर थोड़ा शरमिन्दा वह जरूर हुआ। अतएव उसने मुझे मारना बन्द कर दिया और मेरी बाँह छोड़ दी। दो-चार गालियाँ तो ज्यादा दीं, पर एक होटेण्टाट नौकर दूसरी तरफ बैठा था, उसे अपने पैरोंके सामने बैठाकर खुद बाहर बैठा। यात्री अन्दर बैठ गये। सीटी बजी। सिकरम चली। मेरी छाती तो धड़क ही रही थी। मुझे शक हो रहा था कि मैं जिन्दा मुकाम पर पहुँच सकूँगा या नहीं। वह गोरा मेरी ओर बराबर घूरता ही रहा। अँगुली दिखाकर बड़बड़ाता रहा: ''याद रख, स्टैण्डरटन पहुँचने दे, फिर तुझे मजा चखाऊँगा।'' मैं तो गूँगा ही बैठा रहा और भगवानसे अपनी रक्षाके लिए प्रार्थना करता रहा।

रात हुई। स्टैण्डरटन पहुँचे। कई हिन्दुस्तानी चेहरे दिखाई दिये। मुझे कुछ तसल्ली हुई। नीचे उतरते ही हिन्दुस्तानी भाइयोंने कहा: ''हम आपको ईसा सेठकी दुकान पर ले जानेके लिए ही खड़े हैं। हमें दादा अब्दुल्लाका तार मिला है।'' मैं बहुत खुश हुआ। उनके साथ सेठ ईसा हाजी सुमारकी दुकान पर पहुँचा। सेठ और उनके मुनीम-गुमाश्तोंने मुझे चारों ओरसे घेर लिया। मैंने अपनी बीती उन्हें सुनायी। वे बहुत दुःखी हुए और अपने कड़वे अनुभवोंका वर्णन करके उन्होंने मुझे आश्वस्त किया। मैं सिकरम-कम्पनीके एजेण्टको अपने साथ हुए व्यवहारकी जानकारी देना चाहता था। मैंने एजेण्टके नाम चिट्ठी लिखी। उस गोरेने जो धमकी दी थी उसकी चर्चा की और यह आश्वासन चाहा कि सुबह आगेकी यात्रा शुरू होने पर मुझे दूसरे यात्रियोंके पास अन्दर ही जगह दी जाये। चिट्ठी एजेण्टको भेज दी। एजेण्टने मुझे संदेशा भेजा : ''स्टैण्डरटनसे बड़ी सिकरम जाती है और कोचवान वगैरा बदल जाते हैं। जिस आदमीके खिलाफ आपने शिकायत की है, वह कल नहीं रहेगा। आपको दूसरे यात्रियोंके पास ही जगह मिलेगी।'' इस संदेशेसे मुझे थोड़ी बेफिकरी हुई। मुझे मारनेवाले उस गोरे पर किसी तरहका कोई मुकदमा चलानेका तो मैंने विचार ही नहीं किया था। इसलिए मारका यह प्रकरण यहीं समाप्त हो गया। सबेरे ईसा सेठके लोग मुझे सिकरम पर ले गये। मुझे मुनासिब जगह मिली और बिना किसी हैरानीके मैं उस रात जोहानिस्बर्ग पहुँच गया।

स्टैण्डरटन छोटा-सा गाँव है। जोहानिस्बर्ग विशाल नगर है। अब्दुल्ला सेठने तार तो वहाँ भी दे ही दिया था। मुझे मुहम्मद कासिम कमरुद्दीनकी दुकानका नाम-पता भी दिया था। उनका आदमी सिकरमके पड़ाव पर पहुँचा था, पर न मैंने उसे देखा

और न वह मुझे पहचान सका। मैंने होटलमें जानेका विचार किया। दो-चार होटलोंके नाम जान लिये थे। गाड़ी की। गाड़ीवालेसे कहा कि ग्राण्ड नैशनल होटलमें ले चलो। वहाँ पहुँचने पर मैनेजरके पास गया। जगह माँगी। मैनेजरने क्षणभर मुझे निहारा, फिर शिष्टाचारकी भाषामें कहा, "मुझे खेद है, सब कमरे भरे पड़े हैं।" और मुझे बिदा किया। इसलिए मैंने गाड़ीवालेसे मुहम्मद कासिम कमरुद्दीनकी दुकान पर ले चलनेको कहा। वहाँ अब्दुलगनी सेठ मेरी राह देख रहे थे। उन्होंने मेरा स्वागत किया। मैंने होटलकी अपनी बीती उन्हें सुनायी। वे खिलखिलाकर हँस पड़े। बोले, "वे हमें होटलमें कैसे उतरने देंगे?"

मैंने पूछा: "क्यों नहीं?"

"सो तो आप कुछ दिन रहनेके बाद जान जायेंगे। इस देशमें तो हमीं रह सकते हैं, क्योंकि हमें पैसे कमाने हैं। इसीलिए नाना प्रकारके अपमान सहन करते हैं और पड़े हुए हैं।" यों कहकर उन्होंने ट्रान्सवालमें हिन्दुस्तानियों पर गुजरनेवाले कष्टोंका इतिहास कह सुनाया।

इन अब्दुलगनी सेठका परिचय हमें आगे और भी करना होगा। उन्होंने कहा, "यह देश आपके समान लोगोंके लिए नहीं है। देखिये, कल आपको प्रिटोरिया जाना है। वहाँ आपको तीसरे दर्जेमें ही जगह मिलेगी। ट्रान्सवालमें नेटालसे अधिक कष्ट हैं। यहाँ हमारे लोगोंको पहले या दूसरे दर्जेका टिकट दिया ही नहीं जाता।"

मैंने कहा, "आपने इसके लिए पूरी कोशिश नहीं की होगी।"

अब्दुलगनी सेठ बोले, "हमने पत्र-व्यवहार तो किया है, पर हमारे अधिकतर लोग पहले-दूसरे दर्जेमें बैठना भी कहाँ चाहते है?"

मैंने रेलवेके नियम माँगे। उन्हें पढ़ा। उनमें इस बातकी गुंजाइश थी। ट्रान्सवालके मूल कानून सूक्ष्मतापूर्वक नहीं बनाये जाते थे। रेलवेके नियमोंका तो पूछना ही क्या था? मैंने सेठसे कहा, "मैं तो फर्स्ट क्लासमें ही जाऊँगा। और वैसे न जा सका तो प्रिटोरिया यहाँसे ३७ मील ही तो है। मैं वहाँ घोड़ागाड़ी करके चला जाऊँगा।"

अब्दुलगनी सेठने उससे लगनेवाले खर्च और समयकी तरफ मेरा ध्यान खींचा। पर मेरे विचारसे वे सहमत हुए। मैंने स्टेशन-मास्टरको पत्र भेजा। उसमें मैंने अपने बारिस्टर होनेकी बात लिखी; यह भी सूचित किया कि मैं हमेशा पहले दर्जेमें ही सफर करता हूँ; प्रिटोरिया तुरन्त पहुँचनेकी आवश्यकताकी तरफ भी उनका ध्यान खींचा, और उन्हें लिखा कि उनके उत्तरकी प्रतीक्षा करने जितना समय मेरे पास

नहीं रहेगा, अतएव पत्रका जवाब पानेके लिए मैं खुद ही स्टेशन पर पहुँचूँगा और पहले दर्जेका टिकट पानेकी आशा रखूँगा।

इसमें मेरे मनमें थोड़ा पेच था। मेरा यह खयाल था कि स्टेशन-मास्टर लिखित उत्तर तो 'ना' का ही देगा। फिर, कुली बारिस्टर कैसे रहते होंगे, इसकी भी वह कोई कल्पना न कर सकेगा। इसलिए अगर मैं पूरे साहबी ठाठमें उसके सामने जाकर खड़ा रहूँगा और उससे बात करूँगा, तो वह समझ जायगा और शायद मुझे टिकट दे देगा। अतएव मैं फ्रॉक कोट, नेकटाई वगैरा डाटकर स्टेशन पहुँचा। स्टेशन-मास्टरके सामने मैंने गिन्नी निकालकर रखी और पहले दर्जेका टिकट माँगा।

उसने कहा, "आपने ही मुझे चिठ्ठी लिखी है?"

मैंने कहा, "जी हाँ। यदि आप मुझे टिकट देंगे, तो मैं आपका एहसान मानूँगा। मुझे आज प्रिटोरिया पहुँचना ही चाहिये।"

स्टेशन-मास्टर हँसा। उसे दया आयी। वह बोला, "मैं ट्रान्सवालर नहीं हूँ। मैं हॉलैन्डर हूँ। आपकी भावनाको मैं समझ सकता हूँ। आपके प्रति मेरी सहानुभूति है। मैं आपको टिकट देना चाहता हूँ। पर एक शर्त है - अगर रास्तेमें गार्ड आपको उतार दे और तीसरे दर्जेमें बैठाये तो आप मुझे फाँसिये नहीं; यानी आप रेलवे कंपनी पर दावा न कीजिये। मैं चाहता हूँ कि आपकी यात्रा निर्विघ्न पूरी हो। आप सज्जन हैं, यह तो मैं देख ही सकता हूँ।" यों कहकर उसने टिकट काट दिया। मैंने उसका उपकार माना और उसे निश्चिंत किया। अब्दुलगनी सेठ मुझे बिदा करने आये थे। यह कौतुक देखकर वे प्रसन्न हुए, उन्हें आश्चर्य हुआ। पर मुझे चेताया : "आप भलीभाँति प्रिटोरिया पहुँच जायें, तो समझूँगा कि बेड़ा पार हुआ। मुझे डर है कि गार्ड आपको पहले दर्जेमें आरामसे बैठने नहीं देगा; और गार्डने बैठने भी दिया, तो यात्री नहीं बैठने देंगे।"

मैं तो पहले दर्जेके डिब्बेमें बैठा। ट्रेन चली। जर्मिस्टन पहुँचने पर गार्ड टिकट जाँचने आया। मुझे देखते ही खीझ उठा। अंगुलीसे इशारा करके मुझसे कहा, "तीसरे दर्जेमें जाओ।" मैंने पहले दर्जेका अपना टिकट दिखाया। उसने कहा, "कोई बात नहीं; जाओ, तीसरे दर्जेमें।"

इस डिब्बेमें एक ही अंग्रेज यात्री था। उसने गार्डको आड़े हाथों लिया : "तुम इन भले आदमीको क्यों परेशान करते हो? देखते नहीं हो, इनके पास पहले दर्जेका टिकट है? मुझे इनके बैठनेसे तनिक भी कष्ट नहीं है।"

यों कहकर उसने मेरी तरफ देखा और कहा : "आप इतमीनानसे बैठे रहिये।"

गार्ड बड़बड़ाया : "आपको कुलीके साथ बैठना है, तो मेरा क्या बिगड़ता है?" और चल दिया।

रात करीब आठ बजे ट्रेन प्रिटोरिया पहुँची।

१०. प्रिटोरियामें पहला दिन

मुझे आशा थी कि प्रिटोरिया पर दादा अब्दुल्लाके वकीलकी ओरसे कोई आदमी मुझे मिलेगा। मैं जानता था कि कोई हिन्दुस्तानी तो मुझे लेने आया ही न होगा, और किसी भी हिन्दुस्तानीके घर न रहनेके वचनसे मैं बँधा हुआ था। वकीलने किसी आदमीको स्टेशन पर भेजा न था। बादमें मुझे पता चला कि मेरे पहुँचनेके दिन रविवार था, इसलिए थोड़ी असुविधा उठाये बिना वे किसीको भेज नहीं सकते थे। मैं परेशान हुआ। सोचने लगा कहाँ जाऊँ? डर था कि कोई होटल मुझे जगह न देगा। सन् १८९३ का प्रिटोरिया स्टेशन १९१४ के प्रिटोरिया स्टेशनसे बिलकुल भिन्न था। धीमी रोशनीवाली बत्तियाँ जल रही थीं। यात्री भी अधिक नहीं थे। मैंने सब यात्रियोंको जाने दिया और सोचा कि टिकट कलेक्टरको थोड़ी फुरसत होने पर अपना टिकट दूँगा और यदि वह मुझे किसी छोटे-से होटलका या ऐसे मकानका पता देगा तो वहाँ चला जाऊँगा, या फिर रात स्टेशन पर ही पड़ा रहूँगा। इतना पूछनेके लिए भी मन बढ़ता न था, क्योंकि अपमान होनेका डर था।

स्टेशन खाली हुआ। मैंने टिकट-कलेक्टरको टिकट देकर पूछताछ शुरू की। उसने सभ्यतासे उत्तर दिये, पर मैंने देखा कि वह मेरी अधिक मदद नहीं कर सकता था। उसकी बगलमें एक अमेरिकन हब्शी सज्जन खड़े थे। उन्होंने मुझसे बातचीत शुरू की :

"मैं देख रहा हूँ कि आप बिलकुल अजनबी हैं और यहाँ आपका कोई मित्र नहीं है। अगर आप मेरे साथ चलें, तो मैं आपको एक छोटे-से होटलमें ले चलूँगा। उसका मालिक अमेरिकन है और मैं उसे अच्छी तरह जानता हूँ। मेरा खयाल है कि वह आपको टिका लेगा।"

मुझे थोड़ा शक तो हुआ, पर मैंने इन सज्जनका उपकार माना और उनके साथ जाना स्वीकार किया। वे मुझे जॉन्स्टनके फेमिली होटलमें ले गये। पहले उन्होंने मि.

जॉन्स्टनको एक ओर ले जाकर थोड़ी बात की। मि. जॉन्स्टनने मुझे एक रातके लिए टिकाना कबूल किया, और वह भी इस शर्त पर कि भोजन मेरे कमरेमें पहुँचा देंगे।

मि. जॉन्स्टनने कहा, ''मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि मेरे मनमें तो काले-गोरेका कोई भेद नहीं है, पर मेरे ग्राहक सब गोरे ही हैं। यदि मैं आपको भोजन-गृहमें भोजन कराऊँ, तो मेरे ग्राहक बुरा मानेंगे और शायद वे चले जायेंगे।''

मैंने जवाब दिया, ''आप मुझे एक रातके लिए रहने दे रहे हैं, इसे भी मैं आपका उपकार मानता हूँ। इस देशकी स्थितिसे मैं कुछ कुछ परिचित हो चुका हूँ। मैं आपकी कठिनाईको समझ सकता हूँ। मुझे आप खुशीसे मेरे कमरेमें खाना दीजिये। कल तक मैं दूसरा प्रबंध कर लेनेकी आशा रखता हूँ।

मुझे कमरा दिया गया। मैंने उसमें प्रवेश किया। एकान्त मिलने पर भोजनकी राह देखता हुआ मैं विचारोंमें डूब गया। इस होटलमें अधिक यात्री नहीं रहते थे। कुछ देर बाद भोजनके साथ वेटरको आता देखनेके बदले मैंने मि. जॉन्स्टनको देखा। उन्होंने कहा, ''मैंने आपको कमरेमें खाना देनेकी बात कही थी। पर मैंने उसमें शरम महसूस की, इसलिए अपने ग्राहकोंसे आपके विषयमें बातचीत करके उनकी राय जानी। आप भोजनगृहमें बैठकर भोजन करें, तो उन्हें कोई आपत्ति नहीं है। इसके अलावा, आप यहाँ जितने दिन भी रहना चाहें रहें, उनकी ओरसे कोई रुकावट नहीं होगी। इसलिए अब आप चाहें तो भोजन-गृहमें आइये और जब तक जी चाहे यहाँ रहिये।''

मैंने फिर उनका उपकार माना और मैं भोजन-गृहमें गया। निश्चिन्त होकर भोजन किया।

दूसरे दिन सबेरे मैं वकीलके घर गया। उनका नाम था, ए० डब्ल्यू० बेकर। उनसे मिला। अब्दुल्ला सेठने मुझे उनके बारेमें कुछ बता दिया था। इसलिए हमारी पहली मुलाकातसे मुझे कोई आश्चर्य न हुआ। वे मुझसे प्रेमपूर्वक मिले और मेरे बारेमें कुछ बातें पूछीं, जो मैंने उन्हें बतला दीं। उन्होंने कहा, ''बारिस्टरके नाते तो आपका यहाँ कोई उपयोग हो ही न सकेगा। इस मुकदमेके लिए हमने अच्छे-से-अच्छे बारिस्टर कर रखे हैं। मुकदमा लम्बा है और गुत्थियोंसे भरा हुआ है। इसलिए आपसे मैं आवश्यक तथ्य आदि प्राप्त करनेका ही काम ले सकूँगा। पर इतना फायदा अवश्य होगा कि अपने मुवक्किलके साथ पत्र-व्यवहार करनेमें मुझे अब आसानी हो जायगी, और तथ्यादिकी जो जानकारी मुझे प्राप्त करनी होगी, वह मैं आपके द्वारा मँगवा सकूँगा। आपके लिए अभी तक मैंने कोई मकान तो तलाश नहीं किया है। सोचा था

कि आपको देखनेके बाद खोज लूँगा। यहाँ रंगभेद बहुत है इसलिए घर मिलना आसान नहीं है। पर मैं एक बहनको जानता हूँ। वह गरीब है, भटियारेकी स्त्री है। मेरा खयाल है कि वह आपको टिका लेगी। उसे भी कुछ मदद हो जायगी। चलिये, हम उसके यहाँ चलें।''

यों कहकर वे मुझे वहाँ ले गये। मि० बेकरने उस बहनको एक ओर ले जाकर उससे कुछ बातें कीं, और उसने मुझे टिकाना स्वीकार किया। हफ्तेके पैंतीस शिलिंग देनेका निश्चय हुआ।

मि० बेकर वकील थे और कट्टर पादरी भी थे। वे अभी जीवित हैं, और आजकल केवल पादरीका ही काम करते हैं। वकालत उन्होंने छोड़ दी है। रुपये-पैसेसे सुखी हैं। उन्होंने मेरे साथ अब तक पत्र-व्यवहार जारी रखा है। पत्रोंका विषय एक ही होता है। वे अपने पत्रोंमें अलग-अलग ढंगसे ईसाई धर्मकी उत्तमताकी चर्चा करते हैं, और इस बातका प्रतिपादन करते हैं कि ईसाको ईश्वरका एकमात्र पुत्र और तारनहार माने बिना परम शांति नहीं मिल सकती।

हमारी पहली ही मुलाकातमें मि० बेकरने धर्म-संबंधी मेरी मनःस्थिति जान ली। मैंने उन्हें बता दिया : ''मैं जन्मसे हिन्दू हूँ। इस धर्मका भी मुझे अधिक ज्ञान नहीं है। दूसरे धर्मोंका ज्ञान भी कम ही है। मैं कहाँ हूँ, क्या मानता हूँ, मुझे क्या मानना चाहिये, यह सब मैं नहीं जानता। अपने धर्मका अध्ययन मैं गंभीरतासे करना चाहता हूँ। दूसरे धर्मोंका अध्ययन भी यथाशक्ति करनेका मेरा इरादा है।

यह सब सुनकर मि० बेकर खुश हुए और बोले, ''मैं स्वयं 'साउथ अफ्रीका जनरल मिशन'का एक डायरेक्टर हूँ। मैंने अपने खर्चसे एक गिरजाघर बनवाया है। उसमें समय-समय पर धर्म-संबंधी व्याख्यान दिया करता हूँ। मैं रंगभेदको नहीं मानता। मेरे साथ काम करनेवाले कुछ साथी भी हैं। हम प्रतिदिन एक बजे कुछ मिनटके लिए मिलते हैं और आत्माकी शांति तथा प्रकाश (ज्ञानके उदय) के लिए प्रार्थना करते हैं। उसमें आप आयेंगे, तो मुझे खुशी होगी। वहाँ मैं अपने साथियोंसे भी आपकी पहचान करा दूँगा। वे सब आपसे मिलकर प्रसन्न होंगे और मुझे विश्वास है कि उनका समागम आपको भी अच्छा लगेगा। मैं आपको कुछ धार्मिक पुस्तकें भी पढ़नेके लिए दूँगा, पर सच्ची पुस्तक तो बाइबल ही है। मेरी सलाह है कि आप उसे अवश्य पढ़िये।''

मैंने मि० बेकरको धन्यवाद दिया और अपने बसभर रोज एक बजे उनके मंडलमें

प्रार्थनाके लिए पहुँचना स्वीकार किया।

"तो कल एक ही बजे यहीं आइयेगा। हम साथ ही प्रार्थना-मन्दिर चलेंगे।"

हम जुदा हुए। अधिक विचार करनेकी अभी मुझे फुरसत नहीं थी। मैं मि० जॉन्स्टनके पास गया। बिल चुकाया। नये घरमें पहुँचा। वहाँ भोजन किया। घर-मालकिन भली स्त्री थी। उसने मेरे लिए अन्नाहार तैयार किया था। इस कुटुम्बसे घुलमिल जानेमें मुझे देर न लगी। भोजनसे निबटकर मैं उन मित्रसे मिलने गया, जिनके नाम दादा अब्दुल्लाने मुझे पत्र दिया था। उनसे जान-पहचान हुई। हिन्दुस्तानियोंकी दुर्दशाकी विशेष बातें उनसे जाननेको मिलीं। उन्होंने मुझसे अपने घर रहनेका आग्रह किया। मैंने उन्हें धन्यवाद दिया और मेरे लिए जो व्यवस्था हो चुकी थी उसकी बात कही। उन्होंने मुझसे आग्रहपूर्वक कहा कि जिस चीजकी आवश्यकता हो, मैं उनसे माँग लूँ।

शाम हुई। ब्यालू की और मैं तो अपने कमरेमें जाकर विचारोंके चक्करमें पड़ गया। मैंने अपने लिए तुरंत कोई काम नहीं देखा। अब्दुल्ला सेठको इसकी सूचना भेज दी। मि० बेकरकी मित्रताका क्या अर्थ हो सकता है? उनके धर्मबन्धुओंसे मुझे क्या मिल सकेगा? ईसाई धर्मका अध्ययन मुझे किस हद तक करना चाहिये? हिन्दू धर्मका साहित्य कहाँसे प्राप्त किया जाये? मैं एक ही निर्णय कर सका : मुझे जो भी पढ़नेको मिले, उसे मैं निष्पक्ष भावसे पढ़ूँ और मि० बेकरके समुदायको, भगवान जिस समय जो सुझा दे, सो जवाब दूँ। जब तक मैं अपने धर्मको पूरी तरह समझ न लूँ, तब तक मुझे दूसरे धर्मोंको अपनानेका विचार नहीं करना चाहिये। इस तरह सोचता हुआ मैं निद्रावश हो गया।

११. ईसाइयोंसे संपर्क

दूसरे दिन एक बजे मैं मि० बेकरके प्रार्थना-समाजमें गया। वहाँ मिस हेरिस, मिस गेब, मि० कोट्स आदिसे परिचय हुआ। सबने घुटनोंके बल बैठकर प्रार्थना की। मैंने भी उनका अनुकरण किया। प्रार्थनामें जिसकी जो इच्छा होती, सो ईश्वरसे माँगता। दिन शांतिसे बीते, ईश्वर हमारे हृदयके द्वार खोले, इत्यादि बातें तो होती ही थीं। मेरे लिए भी प्रार्थना की गई : "हे प्रभु, हमारे बीच जो नये भाई आये हैं उन्हें तू मार्ग दिखा। जो शांति तूने हमें दी है, वह उन्हें भी दे। जिस ईसाने हमें मुक्त किया है,

वह उन्हें भी मुक्त करे। यह सब हम ईसाके नाम पर माँगते हैं।'' इस प्रार्थनामें भजन-कीर्तन नहीं था। वे लोग ईश्वरसे कोई भी एक चीज माँगते और बिखर जाते। यह समय सबके दोपहरके भोजनका होता था, इसलिए प्रार्थना करके सब अपने-अपने भोजनके लिए चले जाते थे। प्रार्थनामें पाँच मिनटसे अधिक नहीं लगते थे।

मिस हेरिस और मिस गेब दोनों प्रौढ़ अवस्थाकी कुमारिकायें थीं। मि० कोट्स क्वेकर थे। ये दोनों कुमारिकायें साथ रहती थीं। उन्होंने मुझे हर रविवारको चार बजेकी चायके लिए अपने घर आनेका निमंत्रण दिया। मि० कोट्स जब मिलते तो मुझे हर रविवारको उन्हें हफ्तेभरकी अपनी धार्मिक डायरी सुनानी पड़ती। कौन-कौनसी पुस्तकें मैंने पढ़ीं, मेरे मन पर उनका क्या प्रभाव पड़ा, इसकी चर्चा होती। वे दोनों बहनें अपने मीठे अनुभव सुनातीं और अपनेको प्राप्त हुई परम शांतिकी बातें करतीं।

मि० कोट्स एक साफ दिलवाले चुस्त नवजवान क्वेकर थे। उनके साथ मेरा गाढ संबंध हो गया था। हम बहुत बार एकसाथ घूमने भी जाया करते थे। वे मुझे दूसरे इसाइयोंके घर भी ले जाते थे।

मि० कोट्सने मुझे पुस्तकोंसे लाद दिया। जैसे -जैसे वे मुझे पहचानते जाते, वैसे - वैसे उन्हें अच्छी लगनेवाली पुस्तकें वे मुझे पढ़नेको देते रहते। मैंने भी केवल श्रद्धावश ही उन पुस्तकोंको पढ़ना स्वीकार किया। इन पुस्तकोंकी हम आपसमें चर्चा भी किया करते थे।

सन् १८९३के वर्षमें मैंने ऐसी पुस्तकें बहुत पढ़ीं। उन सबके नाम तो मुझे याद नहीं हैं, लेकिन उनमें सिटी टेम्पलवाले डॉ० पारकरकी टीका, पियर्सनकी 'मेनी इनफॉलिबल प्रूफ्स', बटलरकी 'एनॉलोजी' इत्यादि पुस्तकें थीं। इनमेंका कुछ भाग तो समझमें न आता, कुछ रुचता, कुछ न रुचता। मैं मि० कोट्सको ये सारी बातें सुनाता रहता। 'मेनी इनफॉलिबल प्रूफ्स'का अर्थ है, कई अचूक प्रमाण - अर्थात् लेखककी रायमें बाइबलमें जिस धर्मका वर्णन है, उसके समर्थनके प्रमाण। मुझ पर इस पुस्तकका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। पारकरकी टीका नीतिवर्धक मानी जा सकती है, पर ईसाई धर्मकी प्रचलित मान्यताओंके विषयमें शंका रखनेवालेको उससे कोई मदद नहीं मिल सकती थी। बटलरकी 'एनॉलोजी' बहुत गंभीर और कठिन पुस्तक प्रतीत हुई। उसे अच्छी तरह समझनेके लिए पाँच-सात बार पढ़ना चाहिये। वह नास्तिकको आस्तिक बनानेकी पुस्तक जान पड़ी। उसमें ईश्वरके अस्तित्वके बारेमें दी गयी दलीलें मेरे किसी कामकी न थीं, क्योंकि वह समय मेरी नास्तिकताका नहीं

था। पर ईसाके अद्वितीय अवतारके बारेमें और उनके मनुष्य तथा ईश्वरके बीच सन्धि करनेवाला होनेके बारेमें जो दलीलें दी गयी थीं, उनकी मुझ पर कोई छाप नही पड़ी।

पर मि० कोट्स हारनेवाले आदमी नहीं थे। उनके प्रेमका पार न था। उन्होंने मेरे गलेमें वैष्णवी कण्ठी देखी। उन्हें यह वहम जान पड़ा और वे दुःखी हुए। बोले, "यह वहम तुम जैसोंको शोभा नहीं देता। लाओ, इसे तोड़ दूँ।"

"यह कण्ठी नहीं टूट सकती; माताजीकी प्रसादी है।"

"पर क्या तुम इसमें विश्वास करते हो?"

"मैं इसका गूढ़ार्थ नहीं जानता। इसे न पहननेसे मेरा अकल्याण होगा, ऐसा मुझे प्रतीत नहीं होता। पर माताजीने जो माला मुझे प्रेमपूर्वक पहनायी है, जिसे पहनानेमें उन्होंने मेरा कल्याण माना है, उसका त्याग मैं बिना कारण नहीं करूँगा। समय पाकर यह जीर्ण हो जायगी और टूट जायगी, तो दूसरी प्राप्त करके पहननेका लोभ मुझे नहीं रहेगा। पर यह कण्ठी टूट नहीं सकती।"

मि० कोट्स मेरी इस दलीलकी कद्र नहीं कर सके, क्योंकि उन्हें तो मेरे धर्मके प्रति ही अनास्था थी। वे मुझे अज्ञान-कूपमें से उबार लेनेकी आशा रखते थे। वे मुझे यह बताना चाहते थे कि दूसरे धर्मोंमें भले ही कुछ सत्य हो, पर पूर्ण सत्यरूप ईसाई धर्मको स्वीकार किये बिना मोक्ष मिल ही नहीं सकता; ईसाकी मध्यस्थताके बिना पाप धुल ही नहीं सकते और सारे पुण्यकर्म निरर्थक हो जाते हैं। मि० कोट्सने जिस प्रकार मुझे पुस्तकोंका परिचय कराया, उसी प्रकार जिन्हें वे धर्मप्राण ईसाई मानते थे उनसे भी मेरा परिचय कराया।

इन परिचयोंमें एक परिचय 'प्लीमथ ब्रदरन' से सम्बन्धित एक कुटुम्बका था। प्लीमथ ब्रदरन नामका एक ईसाई सम्प्रदाय है। कोट्सके कराये हुए बहुतसे परिचय मुझे अच्छे लगे। वे लोग मुझे ईश्वरसे डरनेवाले जान पड़े। पर इस कुटुम्बमें एक भाईने मुझसे यह दलील की : "आप हमारे धर्मकी खूबी नहीं समझ सकते। आपकी बातोंसे हम देखते हैं कि आपको क्षण-क्षणमें अपनी भूलोंका विचार करना होता है। उन्हें सदा सुधारना होता है। न सुधारने पर आपको पश्चात्ताप करना पड़ता है, प्रायश्चित्त करना होता है। इस क्रियाकाण्डसे आपको मुक्ति कब मिल सकती है? शांति तो आपको मिल ही नहीं सकती। आप यह तो स्वीकार करते ही हैं कि हम पापी हैं। अब हमारे विश्वासकी परिपूर्णता देखिये। हमारा प्रयत्न व्यर्थ है। फिर भी मुक्तिकी आवश्यकता तो है ही। पापका बोझ कैसे उठे? हम उसे ईसा पर डाल दें।

वह ईश्वरका एकमात्र निष्पाप पुत्र है। उसका वरदान है कि जो ईश्वरको मानते हैं उनके पाप धो देता है। ईश्वरकी यह अगाध उदारता है। ईसाकी इस मुक्ति-योजनाको हमने स्वीकार किया है, इसलिए हमारे पाप हमसे चिपटते नहीं। पाप तो मनुष्यसे होते ही हैं। इस दुनियामें निष्पाप कैसे रहा जा सकता है? इसीसे ईसाने सारे संसारके पापोंका प्रायश्चित्त एक ही बारमें कर डाला। जो उनके महा बलिदानका स्वीकार करना चाहते हैं, वे वैसा करके शांति प्राप्त कर सकते हैं। कहाँ आपकी अशांति और कहाँ हमारी शांति?''

यह दलील मेरे गले बिलकुल न उतरी। मैंने नम्रतापूर्वक उत्तर दिया : ''यदि सर्वमान्य ईसाई धर्म यही है, तो वह मेरे कामका नहीं है। मैं पापके परिणामसे मुक्ति नहीं चाहता, मैं तो पाप-वृत्तिसे, पाप-कर्मसे मुक्ति चाहता हूँ। जब तक वह मुक्ति नहीं मिलती, तब तक अपनी यह अशांति मुझे प्रिय रहेगी।''

प्लीमथ ब्रदरने उत्तर दिया : ''मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि आपका प्रयत्न व्यर्थ है। मेरी बात पर आप फिर सोचियेगा''

और, इन भाईने जैसा कहा वैसा अपने व्यवहार द्वारा करके भी दिखा दिया - जान-बूझकर अनीति कर दिखायी।

पर सब ईसाइयोंकी ऐसी मान्यता नहीं होती, यह तो मैं इन परिचयोंसे पहले ही जान चुका था। मि० कोट्स स्वयं ही पापसे डरकर चलनेवाले थे। उनका हृदय निर्मल था। वे हृदय-शुद्धिकी शक्यतामें विश्वास रखते थे। उक्त बहनें भी वैसी ही थीं। मेरे हाथ पड़नेवाली पुस्तकोंमें से कई भक्तिपूर्ण थीं। और उन्हें विश्वास दिलाया कि एक प्लीमथ ब्रदरकी अनुचित धारणाके कारण मैं ईसाई धर्मके बारेमें गलत राय नहीं बना सकता। मेरी कठिनाइयाँ तो बाइबलके बारेमें और उसके रूढ़ अर्थके बारेमें थीं।

१२. हिन्दुस्तानियोंसे परिचय

ईसाई-सम्बन्धोंके बारेमें अधिक लिखनेसे पहले उसी समयके दूसरे अनुभवोंका उल्लेख करना आवश्यक है।

नेटालमें जो स्थान दादा अब्दुल्लाका था, प्रिटोरियामें वही स्थान सेठ तैयब हाजी खानमहम्मदका था। उनके बिना एक भी सार्वजनिक काम चल नहीं सकता था। उनसे मैंने पहले ही हफ्तेमें जान-पहचान कर ली। मैंने उन्हें बताया कि मैं

प्रिटोरियाके प्रत्येक हिन्दुस्तानीके सम्पर्कमें आना चाहता हूँ। मैंने हिन्दुस्तानियोंकी स्थितिका अध्ययन करनेकी अपनी इच्छा प्रकट की और इन सारे कामोंमें उनकी मदद चाही। उन्होंने खुशीसे मदद देना कबूल किया।

मेरा पहला कदम तो सब हिन्दुस्तानियोंकी एक सभा करके उनके सामने सारी स्थितिका चित्र खड़ा कर देना था। सेठ हाजी महम्मद हाजी जूसबके यहाँ यह सभा हुई, जिनके नाम मेरे पास एक सिफारिशी पत्र था। इस सभामें मेमन व्यापारी विशेष रूपसे आये थे। कुछ हिन्दू भी थे। प्रिटोरियामें हिन्दुओंकी आबादी बहुत कम थी।

यह मेरे जीवनका पहला भाषण माना जा सकता है। मैंने काफी तैयारी की थी। मुझे सत्य पर बोलना था। मैं व्यापारियोंके मुँहसे यह सुनता आ रहा था कि व्यापारमें सत्य नहीं चल सकता। इस बातको मैं तब भी नहीं मानता था, आज भी नहीं मानता। यह कहनेवाले व्यापारी मित्र आज भी मौजूद हैं कि व्यापारके साथ सत्यका मेल नहीं बैठ सकता। वे व्यापारको व्यवहार कहते हैं, सत्यको धर्म कहते हैं और दलील यह देते हैं कि व्यवहार एक चीज है, धर्म दूसरी। उनका यह विश्वास है कि व्यवहारमें शुद्ध सत्य चल ही नहीं सकता; उसमें तो सत्य यथाशक्ति ही बोला-बरता जा सकता है। अपने भाषणमें मैंने इस स्थितिका डटकर विरोध किया और व्यापारियोंको उनके दोहरे कर्तव्यका स्मरण कराया। परदेशमें आनेसे उनकी जिम्मेदारी देशकी अपेक्षा अधिक हो गयी है, क्योंकि मुट्ठीभर हिन्दुस्तानियोंकी रहन-सहनसे हिन्दुस्तानके करोड़ों लोगोंको नापा-तोला जाता है।

अंग्रेज़ोंकी रहन-सहनकी तुलनामें हमारी रहन-सहन गन्दी है, इसे मैं देख चुका था। मैंने इसकी ओर भी उनका ध्यान खींचा। हिन्दू, मुसलमान, पारसी, ईसाई अथवा गुजराती, मद्रासी, पंजाबी, सिन्धी, कच्छी, सूरती आदि भेदोंको भुला देने पर जोर दिया।

अन्तमें मैंने यह सुझाया कि एक मण्डलकी स्थापना करके हिन्दुस्तानियोंके कष्टों और कठिनाइयोंका इलाज़ अधिकारियोंसे मिलकर और अर्जियाँ भेजकर करना चाहिये, और यह सूचित किया कि मुझे जितना समय मिलेगा उतना इस कामके लिए मैं बिना वेतनके दूँगा।

मैंने देखा कि सभा पर मेरी बातोंका अच्छा प्रभाव पड़ा।

मेरे भाषणके बाद चर्चा हुई। कइयोंने मुझे तथ्योंकी जानकारी देनेको कहा। मेरी हिम्मत बढ़ी। मैंने देखा कि इस सभामें अंग्रेजी जाननेवाले कुछ ही लोग थे। मुझे

लगा कि ऐसे परदेशमें अंग्रेजीका ज्ञान हो तो अच्छा है। इसलिए मैंने सलाह दी कि जिन्हें फुरसत हो वे अंग्रेजी सीख लें। मैंने यह भी कहा कि अधिक उमर हो जाने पर भी पढ़ा जा सकता है, और इस तरह पढ़नेवालोंके उदाहरण भी दिये। और कोई क्लास खुले तो उसे अथवा छुट-पुट पढ़नेवाले मिलें तो उन्हें पढ़ानेकी जिम्मेदारी मैंने खुद अपने सिर ली। क्लास तो नहीं खुला, पर तीन आदमी अपनी सुविधासे और उनके घर जाकर पढ़ानेकी शर्त पर पढ़नेके लिए तैयार हुए। इनमें दो मुसलमान थे। दोमें से एक हज्जाम था। और एक कारकुन था। एक हिन्दु छोटा दुकानदार था। मैंने सबकी बात मान ली। पढ़ानेकी अपनी शक्तिके विषयमें तो मुझे कोई अविश्वास था ही नहीं। मेरे शिष्योंको थका मानें तो वे थके कहे जा सकते हैं, पर मैं नहीं थका। कभी ऐसा भी होता कि मैं उनके घर जाता और उन्हें फुरसत न होती। पर मैंने धीरज न छोड़ा। इनमें से किसीको अंग्रेजीका गहरा अध्ययन तो करना ही न था। पर दोने करीब आठ महीनोंमें अच्छी प्रगति कर ली, ऐसा कहा जा सकता है। दोने हिसाब-किताब रखना और साधारण पत्र-व्यवहार करना सीख लिया। हज्जामको तो अपने ग्राहकोंके साथ बातजीत कर सकने लायक ही अंग्रेजी सीखनी थी। दो व्यक्तियोंने अपनी इस पढ़ाईके कारण ठीक-ठीक कमानेकी शक्ति भी प्राप्त कर ली थी।

सभाके परिणामसे मुझे संतोष हुआ। निश्चय हुआ कि ऐसी सभा हर महीने या हर हफ्ते की जाय। यह सभा न्यूनाधिक नियमित रूपसे होती थी, और उसमें विचारोंका आदान-प्रदान होता रहता था। नतीजा यह हुआ कि प्रिटोरियामें शायद ही कोई ऐसा हिन्दुस्तानी रहा होगा, जिसे मैं पहचानने न लगा होऊँ अथवा जिसकी स्थितिसे मैं परिचित न हो गया होऊँ। हिन्दुस्तानियोंकी स्थितिका ऐसा ज्ञान प्राप्त करनेका परिणाम यह आया कि मुझे प्रिटोरियामें रहनेवाले ब्रिटिश एजेण्टसे परिचय करनेकी इच्छा हुई। मैं मि० जेकोब्स डि-वेटसे मिला। उनकी सहानुभूति हिन्दुस्तानियोंके साथ थी। उनका प्रभाव कम था, पर उन्होंने यथासम्भव मदद करने और मिलना हो तब आकर मिल जानेके लिए कहा। रेलवेके अधिकारियोंसे मैंने पत्र-व्यवहार शुरू किया और बतलाया कि उन्हींके कायदोंके अनुसार हिन्दुस्तानियोंको ऊँचे दर्जेमें यात्रा करनेसे रोका नहीं जा सकता। इसके परिणाम-स्वरूप यह पत्र मिला कि अच्छे कपड़े पहने हुए हिन्दुस्तानियोंको ऊँचे दर्जेके टिकट दिये जायेंगे। इससे पूरी सुविधा नहीं मिली, क्योंकि अच्छे कपड़े किसने पहने हैं, इसका निर्णय तो स्टेशन-मास्टरको ही करना था न?

ब्रिटिश एजेण्टने मुझे हिन्दुस्तानियोंके बारेमें हुए पत्र-व्यवहार-सम्बन्धी कई कागज पढ़नेको दिये। तैयब सेठने भी दिये थे। उनसे मुझे पता चला कि ऑरेञ्ज फ्री स्टेटसे हिन्दुस्तानियोंको किस निर्दयताके साथ निकाल बाहर किया गया था। सारांश यह कि ट्रान्सवाल और ऑरेन्ज फ्री स्टेटके हिन्दुस्तानियोंकी आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक स्थितिका गहरा अध्ययन मैं प्रिटोरियामें कर सका। इस अध्ययनका आगे चलकर मेरे लिए पूरा उपयोग होनेवाला है, इसकी मुझे जरा भी कल्पना नहीं थी। मुझे तो एक सालके अन्तमें अथवा मुकदमा पहले समाप्त हो जाये तो उससे पहले ही स्वदेश लौट जाना था।

पर ईश्वरने कुछ और ही सोच रखा था।

१३. कुलीपनका अनुभव

ट्रान्सवाल और ऑरेन्ज फ्री स्टेटके हिन्दुस्तानियोंकी स्थितिका पूरा चित्र देनेका यह स्थान नहीं है। उसकी जानकारी चाहनेवालेको 'दक्षिण अफ्रीकाके सत्याग्रहका इतिहास' पढना चाहिये। पर यहाँ उसकी रूपरेखा देना आवश्यक है।

ऑरेन्ज फ्री स्टेटमें तो एक कानून बनाकर सन् १८८८ में या उससे पहले हिन्दुस्तानियोंके सब हक छीन लिये गये थे। वहाँ हिन्दुस्तानियोंके लिए सिर्फ होटलके वेटरके रूपमें काम करने या ऐसी कोई दूसरी मजदूरी करनेकी ही गुंजाइश रह गयी थी। जो व्यापारी हिन्दुस्तानी थे, उन्हें नाममात्रका मुआवजा देकर निकाल दिया गया था। हिन्दस्तानी व्यापारियोंने अर्जियाँ वगैरा भेजीं, पर वहाँ उनकी तूतीकी आवाज कौन सुनता?

ट्रान्सवालमें सन् १८८५ में एक कड़ा कानून बना। १८८६ में उसमें कुछ सुधार हुआ। उसके फलस्वरूप यह तय हुआ कि हरएक हिन्दुस्तानीको प्रवेश-फीसके रूपमें तीन पौंड जमा कराने चाहिये। उनके लिए अलग छोड़ी गयी जगहमें ही वे जमीन-मालिक हो सकते थे। पर वहाँ भी उन्हें व्यवहारमें जमीनका स्वामित्व नहीं मिला। उन्हें मताधिकार भी नहीं दिया गया था। ये तो खास एशियावासियोंके लिए बने कानून थे। इसके अलावा, जो कानून काले रंगके लोगोंको लागू होते थे, वे भी एशियावासियों पर लागू होते थे। उनके अनुसार हिन्दुस्तानी लोग पटरी (फूटपाथ) पर अधिकार-पूर्वक चल नहीं सकते थे और रात नौ बजेके बाद परवानेके बिना बाहर

नहीं निकल सकते थे। इस अंतिम कानूनका अमल हिन्दुस्तानियों पर न्यूनाधिक प्रमाणमें होता था। जिनकी गिनती अरबोंमें होती थी, वे बतौर मेहरबानीके इस नियमसे मुक्त समझे जाते थे। मतलब यह कि इस तरहकी राहत देना पुलिसकी मर्जी पर रहता था।

इन दोनों नियमोंका प्रभाव स्वयं मुझ पर क्या पड़ेगा, इसकी जाँच मुझे करानी पड़ी थी। मैं अकसर मि० कोट्सके साथ रातको घूमने जाया करता था। कभी-कभी घर पहुँचनेमें दस भी बज जाते थे। अतएव पुलिस मुझे पकड़े तो? यह डर जितना स्वयं मुझे था उससे अधिक मि० कोट्सको था। अपने हब्शियोंको तो वे ही परवाने देते थे। लेकिन मुझे परवाना कैसे दे सकते थे ? मालिक अपने नौकरको ही परवाना देनेका अधिकारी था। मैं लेना चाहूँ और मि० कोट्स देनेको तैयार हो जायें, तो भी वह नहीं दिया जा सकता था, क्योंकि वैसा करना विश्वासघात माना जाता।

इसलिए मि० कोट्स या उनके कोई मित्र मुझे वहाँके सरकारी वकील डॉ० क्राउज़ेके पास ले गये। हम दोनों एक ही 'इन' के बारिस्टर निकले। उन्हें यह बात असह्य जान पड़ी कि रात नौ बजेके बाद बाहर निकलनेके लिए मुझे परवाना लेना चाहिये। उन्होंने मेरे प्रति सहानुभूति प्रकट की। मुझे परवाना देनेके बदले उन्होंने अपनी तरफसे एक पत्र दिया। उसका आशय यह था कि मैं चाहे जिस समय चाहे जहाँ जाऊँ, पुलिसको उसमें दखल नहीं देना चाहिये। मैं इस पत्रको हमेशा अपने साथ रखकर घूमने निकलता था। कभी उसका उपयोग नहीं करना पड़ा। लेकिन इसे तो केवल संयोग ही समझना चाहिये।

डॉ० क्राउज़ेने मुझे अपने घर आनेका निमंत्रण दिया। मैं यह कह सकता हूँ कि हमारे बीच मित्रता हो गयी थी। मैं कभी-कभी उनके यहाँ जाने लगा। उनके द्वारा उनके अधिक प्रसिद्ध भाईके साथ मेरी पहचान हुई। वे जोहानिस्बर्गमें पब्लिक प्रोसिक्यूटर नियुक्त हुए थे। उन पर बोअरयुद्धके समय अंग्रेज अधिकारीका खून करानेका षड्यंत्र रचनेके लिए मुकदमा भी चला था और उन्हें सात सालके कारावासकी सजा मिली थी। बेंचरोंने उनकी सनद भी छीन ली थी। लड़ाई समाप्त होने पर डॉ० क्राउज़े जेलसे छूटे, सम्मानपूर्वक ट्रान्सवालकी अदालतमें फिरसे प्रविष्ट हुए और अपने धन्धेसे लगे। बादमें ये सम्बन्ध मेरे लिए सार्वजनिक कार्योंमें उपयोगी सिद्ध हुए थे और मेरे कई सार्वजनिक काम इनके कारण आसान हो गये थे।

पटरी पर चलनेका प्रश्न मेरे लिए कुछ गंभीर परिणामवाला सिद्ध हुआ। मैं हमेशा

प्रेसिडेण्ड स्ट्रीटके रास्ते एक खुले मैदानमें घूमने जाया करता था। इस मुहल्लेमें प्रेसिडेण्ट क्रूगरका घर था। यह घर सब तरहके आडंबरोंसे रहित था। इसके चारों ओर कोई अहाता भी नहीं था। आसपासके दूसरे घरोंमें और इसमें कोई फरक नहीं मालूम होता था। प्रिटोरियामें कई लखपतियोंके घर इसकी तुलनामें बहुत बड़े, शानदार और अहातेवाले थे। प्रेसिडेण्टकी सादगी प्रसिद्ध थी। घरके सामने पहरा देनेवाले संतरीको देखकर ही पता चलता था कि यह किसी अधिकारीका घर है। मैं प्रायः हमेशा ही इस सिपाहीके बिलकुल पाससे होकर निकलता था, पर वह मुझे कुछ नहीं कहता था। सिपाही समय-समय पर बदला करते थे। एक बार एक सिपाहीने बिना चेताये, बिना पटरी परसे उतर जानेको कहे, मुझे धक्का मारा, लात मारी और नीचे उतार दिया। मैं तो गहरे सोचमें पड़ गया। लात मारनेका कारण पूछनेसे पहले ही मि० कोट्सने, जो उसी समय घोड़े पर सवार होकर उधरसे गुजर रहे थे, मुझे पुकारा और कहा:

"गांधी, मैंने सब देखा है। आप मुकदमा चलाना चाहें तो मैं गवाही दूँगा। मुझे इस बातका बहुत खेद है कि आप पर इस तरह हमला किया गया।"

मैंने कहा: "इसमें खेदका कोई कारण नहीं। सिपाही बेचारा क्या जाने? उसके लिए तो काले-काले सब एकसे ही हैं। वह हब्शियोंको इसी तरह पटरी परसे उतारता होगा। इसलिए उसने मुझे भी धक्का मारा। मैंने तो नियम ही बना लिया है कि मुझ पर जो बीतेगी, उसके लिए मैं कभी अदालतमें नहीं जाऊँगा। इसलिए मुझे मुकदमा नहीं चलाना है।"

"यह तो आपने अपने स्वभावके अनुरूप ही बात कही है। पर आप इस पर फिरसे सोचिये। ऐसे आदमीको कुछ सबक तो देना ही चाहिये।"

इतना कहकर उन्होंने उस सिपाहीसे बात की और उसे उलाहना दिया। मैं सारी बात तो समझ नहीं सका। सिपाही डच था और उसके साथ उनकी बातें डच भाषामें हुईं। सिपाहीने मुझसे माफी माँगी। मैं तो उसे पहले ही माफ कर चुका था।

लेकिन उस दिनसे मैंने वह रास्ता छोड़ दिया। दूसरे सिपाहियोंको इस घटनाका क्या पता होगा? मैं खुद होकर फिर लात किसलिए खाऊँ? इसलिए मैंने घूमने जानेके लिए दूसरा रास्ता पसन्द कर लिया।

इस घटनाने प्रवासी भारतीयोंके प्रति मेरी भावनाको अधिक तीव्र बना दिया। इन कायदोंके बारेमें ब्रिटिश एजेण्टसे चर्चा करके प्रसंग आने पर इसके लिए एक 'टेस्ट' केस चलानेकी बात मैंने हिंदुस्तानियोंसे की।

इस तरह मैंने हिन्दुस्तानियोंकी दुर्दशाका ज्ञान पढ़कर, सुनकर और अनुभव करके प्राप्त किया। मैंने देखा कि स्वाभिमानकी रक्षा चाहनेवाले हिन्दुस्तानियोंके लिए दक्षिण अफ्रीका उपयुक्त देश नहीं है। यह स्थिति किस तरह बदली जा सकती है, इसके विचारमें मेरा मन अधिकाधिक व्यस्त रहने लगा। किन्तु अभी मेरा मुख्य धर्म तो दादा अब्दुल्लाके मुकदमेको ही सम्भालनेका था।

१४. मुकदमेकी तैयारी

प्रिटोरियामें मुझे जो एक वर्ष मिला, वह मेरे जीवनका अमूल्य वर्ष था। सार्वजनिक काम करनेकी अपनी शक्तिका कुछ अंदाज मुझे यहाँ हुआ। उसे सीखनेका अवसर यहीं मिला। मेरी धार्मिक भावना अपने-आप तीव्र होने लगी। और कहना होगा कि सच्ची वकालत भी मैं यहीं सीखा। नया बारिस्टर पुराने बारिस्टरके दफ्तरमें रहकर जो बातें सीखता है, सो मैं यहीं सीख सका। यहाँ मुझमें यह विश्वास पैदा हुआ कि वकीलके नाते मैं बिलकुल नालायक नहीं रहूँगा। वकील बननेकी कुंजी भी यहीं मेरे हाथ लगी।

दादा अब्दुल्लाका मुकदमा छोटा न था। चालीस हजार पौण्डका यानी छह लाख रुपयोंका दावा था। दावा व्यापारके सिलसिलेमें था, इसलिए उसमें बही-खातेकी गुत्थियाँ बहुत थीं। दावेका आधार कुछ तो प्रामिसरी नोट पर और कुछ प्रामिसरी नोट लिख देनेका वचन पलवाने पर था। बचाव यह था कि प्रामिसरी नोट धोखा देकर लिखवाये गये थे और उनका पूरा मुआवजा नहीं मिला था। इसमें तथ्य और कानूनकी गलियाँ काफी थीं। बही-खातेकी उलझनें भी बहुत थीं।

दोनों पक्षोंने अच्छे-से-अच्छे सॉलिसिटर और बारिस्टर किये थे, इसलिए मुझे उन दोनोंके कामका अनुभव प्राप्त करनेका सुन्दर अवसर मिला। सॉलिसिटरके लिए वादीका मुकदमा तैयार करने और तथ्य संग्रह करनेका सारा बोझ मुझ पर था। उसमें से सॉलिसिटर कितना रखता है और सॉलिसिटर द्वारा तैयार की गयी सामग्रीमें से बारिस्टर कितनी सामग्रीका उपयोग करता है, सो मुझे देखनेको मिलता था। मैं समझ गया कि इस केसको तैयार करनेमें मुझे अपनी ग्रहण-शक्तिका और व्यवस्था-शक्तिका ठीक अंदाज हो जायेगा।

मैंने केसमें पूरी दिलचस्पी ली। मैं उसमें तन्मय हो गया। आगे-पीछेके सब

कागज-पत्र पढ़ गया। मुवक्किलके विश्वासकी और उसकी होशियारीकी सीमा न थी। इससे मेरा काम बहुत आसान हो गया। मैंने बारीकीसे बही-खातेका अध्ययन कर लिया। बहुतसे पत्र गुजरातीमें थे। उनका अनुवाद भी मुझे ही करना पड़ता था। इससे मेरी अनुवाद करनेकी शक्ति बढ़ी।

मैंने कड़ा परिश्रम किया। जैसा कि मैं ऊपर लिख चुका हूँ, धार्मिक चर्चा आदिमें और सार्वजनिक काममें मुझे खूब दिलचस्पी थी और मैं उसमें समय भी देता था, तो भी वह चीज मेरे निकट गौण थी। मुकदमेकी तैयारीको मैं प्रधानता देता था। इसके लिए कानूनका या दूसरी पुस्तकोंका अध्ययन आवश्यक होता, तो मैं उसे हमेशा पहले कर लिया करता था। परिणाम यह हुआ कि मुकदमेके तथ्यों पर मुझे इतना प्रभुत्व प्राप्त हो गया जितना कदाचित् वादी-प्रतिवादीको भी नहीं था, क्योंकि मेरे पास तो दोनोंके ही कागज-पत्र रहते थे।

मुझे स्व० मि० पिंकटके शब्द याद आये। उनका अधिक समर्थन बादमें दक्षिण अफ्रीकाके सुप्रसिद्ध बारिस्टर स्व० मि० लेनर्डने एक अवसर पर किया था। मि० पिंकटका कथन था, ''तथ्य तीन-चौथाई कानून हैं।'' एक मुकदमेमें मैं जानता था कि न्याय तो मुवक्किलकी ओर ही है, पर कानून विरुद्ध जाता दीखा। मैं निराश हो गया और मि० लेनर्डकी मदद लेने दौड़ा। तथ्यकी दृष्टिसे केस उन्हें भी मजबूत मालूम हुआ। उन्होंने कहा, ''गांधी, मैं एक बात सीखा हूँ, और वह यह कि यदि हम तथ्यों पर ठीक-ठीक अधिकार कर लें, तो कानून अपने-आप हमारे साथ हो जायगा। इस मुकदमेके तथ्य हम समझ लें।'' यों कहकर उन्होंने मुझे एक बार फिर तथ्योंको पढ़-समझ लेने और बादमें मिलनेकी सलाह दी। उन्हीं तथ्योंको फिर जाँचने पर, उनका मनन करने पर, मैंने उन्हें भिन्न रूपमें समझा और उनसे सम्बन्ध रखनेवाले एक पुराने मुकदमेका भी पता चला, जो दक्षिण अफ्रीकामें चला था। मैं हर्ष-विभोर होकर मि० लेनर्डके यहाँ पहुँचा। वे खुश हुए और बोले: ''अच्छा, यह मुकदमा हम जरूर जीतेंगे। जरा इसका ध्यान रखना होगा कि मामला किस जजके सामने चलेगा।''

दादा अब्दुल्लाके केसकी तैयारी करते समय मैं तथ्यकी महिमाको इस हद तक नहीं पहचान सका था। तथ्यका अर्थ है, सच्ची बात। सचाई पर डटे रहनेसे कानून अपने-आप हमारी मदद पर आ जाते हैं।

अन्तमें मैंने दादा अब्दुल्लाके केसमें यह देख लिया कि उनका पक्ष मजबूत है। कानूनको उनकी मदद करनी ही चाहिये।

पर मैंने देखा कि मुकदमा लड़नेमें दोनों पक्ष, जो आपसमें रिश्तेदार हैं और एक ही नगरके निवासी हैं, बरबाद हो जायेंगे। कोई कह नहीं सकता था कि मुकदमेका अन्त कब होगा। अदालतमें चलता रहे, तो उसे जितना चाहो उतना लम्बा किया जा सकता था। मुकदमेको लम्बा करनेमें दोमें से किसी एक पक्षका भी लाभ न होता। इसलिए संभव हो तो दोनों पक्ष मुकदमेका शीघ्र अन्त चाहते थे।

मैंने तैयब सेठसे बिनती की। झगड़ेको आपसमें ही निबटा लेनेकी सलाह दी। उन्हें अपने वकीलसे मिलनेको कहा। यदि दोनों पक्ष अपने विश्वासके किसी व्यक्तिको पंच चुन लें, तो मामला झटपट निबट जाये। वकीलोंका खर्च इतना अधिक बढ़ता जा रहा था कि उसमें उनके जैसे बड़े व्यापारी भी बरबाद हो जाते। दोनों इतनी चिन्ताके साथ मुकदमा लड़ रहे थे कि एक भी निश्चिन्त होकर दूसरा कोई काम नहीं कर सकता था। इस बीच आपसमें बैर भी बढ़ता ही जा रहा था। मुझे वकीलके धंधेसे घृणा हो गयी। वकीलके नाते तो दोनोंके वकीलोंको अपने-अपने मुवक्किलको जीतनेके लिए कानूनकी गलियाँ ही खोज कर देनी थीं। इस मुकदमेमें पहले-पहल मैंने यह जाना कि जीतनेवालेको पूरा खर्च कभी मिल ही नहीं सकता। दूसरे पक्षसे कितना खर्च वसूल किया जा सकता है, इसकी एक मर्यादा होती है, जब कि मुवक्किलका खर्च उससे कहीं अधिक होता है। मुझे यह सब असह्य मालूम हुआ। मैंने तो अनुभव किया कि मेरा धर्म दोनोंकी मित्रता साधना और दोनों रिश्तेदारोंमें मेल करा देना है। मैंने समझौतेके लिए जी-तोड़ मेहनत की। तैयब सेठ मान गये। आखिर पंच नियुक्त हुए। उनके सामने मुदकमा चला। मुकदमेमें दादा अब्दुल्ला जीते।

पर इतनेसे मुझे संतोष नहीं हुआ। यदि पंचके फैसले पर अमल होता, तो तैयब हाजी खानमहम्मद इतना रुपया एकसाथ दे ही नहीं सकते थे। दक्षिण अफ्रिकामें बसे हुए पोरबन्दरके मेमनोंमें आपसका ऐसा एक अलिखित नियम था कि खुद चाहे मर जायें, पर दिवाला न निकालें। तैयब सेठ सैंतीस हजार पौण्ड और मुकदमेका खर्च एक मुश्त दे ही नहीं सकते थे। उन्हें न तो एक दमड़ी कम देनी थी और न दिवाला ही निकालना था। रास्ता एक ही था कि दादा अब्दुल्ला उन्हें काफी लम्बी मोहलत दें। दादा अब्दुल्लाने उदारतासे काम लिया और खूब लम्बी मोहलत दे दी। पंच

नियुक्त करानेमें मुझे जितनी मेहनत पड़ी, उससे अधिक मेहनत यह लम्बी अवधि निश्चित करानेमें पड़ी। दोनों पक्षोंको प्रसन्नता हुई। दोनोंकी प्रतिष्ठा बढ़ी। मेरे संतोषकी सीमा न रही। मैं सच्ची वकालत सीखा, मनुष्यके अच्छे पहलूको खोजना सीखा और मनुष्य-हृदयमें प्रवेश करना सीखा। मैंने देखा कि वकीलका कर्तव्य दोनों पक्षोंके बीच खुदी हुई खाईको पाटना है। इस शिक्षाने मेरे मनमें ऐसी जड़ जमायी कि बीस सालकी अपनी वकालतका मेरा अधिकांश समय अपने दफ्तरमें बैठकर सैकड़ों मामलोंको आपसमें सुलझानेमें ही बीता। उसमें मैंने कुछ खोया नहीं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि मैंने पैसा खोया। आत्मा तो खोयी ही नहीं।

१९. धार्मिक मन्थन

अब फिर ईसाई मित्रोंके साथ अपने सम्पर्क पर विचार करनेका समय आया है।

मेरे भविष्यके बारेमें मि० बेकरकी चिन्ता बढ़ती जा रही थी। वे मुझे वेलिंग्टन कन्वेन्शनमें ले गये। प्रोटेस्टेण्ट ईसाइयोंमें कुछ वर्षोंके अन्तरसे धर्म-जागृति अर्थात् आत्मशुद्धिके लिए विशेष प्रयत्न किये जाते हैं। इसे धर्मकी पुनःप्रतिष्ठा अथवा धर्मके पुनरुद्धारका नाम दे सकते हैं। ऐसा एक सम्मेलन वेलिंग्टनमें था। उसके सभापति वहाँके प्रसिद्ध धर्मनिष्ठ पादरी रेवरेण्ड एण्ड्रू मरे थे। मि० बेकरको यह आशा थी कि इस सम्मेलनमें होनेवाली जागृति, वहाँ आनेवाले लोगोंके धार्मिक उत्साह और उनकी शुद्धताकी मेरे हृदय पर ऐसी गहरी छाप पड़ेगी कि मैं ईसाई बने बिना न रह सकूँगा।

फिर मि० बेकरका अन्तिम आधार था प्रार्थनाकी शक्ति। प्रार्थनामें उन्हें खूब श्रद्धा थी। उनका विश्वास था कि अन्तःकरणपूर्वक की गयी प्रार्थनाको ईश्वर सुनता ही है। प्रार्थनासे ही मूलर (एक प्रसिद्ध श्रद्धालु ईसाई) जैसे व्यक्ति अपना व्यवहार चलाते हैं, इसके दृष्टान्त भी वे मुझे सुनाते रहते थे। प्रार्थनाकी महिमाके विषयमें मैंने उनकी सारी बातें तटस्थ भावसे सुनीं। मैंने उनसे कहा कि यदि ईसाई बननेका अन्तर्नाद मेरे भीतर उठा, तो उसे स्वीकार करनेमें कोई भी वस्तु मेरे लिए बाधक न हो सकेगी। अन्तर्नादके वश होना तो मैं इसके कई वर्ष पहले सीख चुका था। उसके वश होनेमें मुझे आनन्द आता था। उसके विरुद्ध जाना मेरे लिए कठिन और दुःखद था।

हम वेलिंग्टन गये। मुझ 'साँवले साथी' को साथमें रखना मि० बेकरके लिए भारी

पड़ गया। मेरे कारण उन्हें कई बार अड़चनें उठानी पड़ती थीं। रास्तेमें हमें पड़ाव करना था, क्योंकि मि० बेकरका संघ रविवारको यात्रा न करता था और बीचमें रविवार पड़ता था। मार्गमें और स्टेशन पर पहले तो मुझे प्रवेश देनेसे ही इनकार किया गया, और झक-झकके बाद जब प्रवेश मिला तो होटलके मालिकने भोजन-गृहमें भोजन करानेसे इनकार कर दिया। पर मि० बेकर यों आसानीसे झुकनेवाले नहीं थे। वे होटलमें ठहरनेवालेके हक पर डटे रहे। लेकिन मैं उनकी कठिनाइयोंको समझ सका था। वेलिंग्टनमें भी मैं उनके साथ ही ठहरा था। वहाँ भी उन्हें छोटी-छोटी अड़चनोंका सामना करना पड़ता था। अपने सद्भावमें वे उन्हें छिपानेका प्रयत्न करते थे, फिर भी मैं उन्हें देख ही लेता था।

सम्मेलनमें श्रद्धालु ईसाइयोंका मिलाप हुआ। उनकी श्रद्धाको देखकर मैं प्रसन्न हुआ। मैं मि० मरेसे मिला। मैंने देखा कि कई लोग मेरे लिए प्रार्थना कर रहे हैं। उनके कई भजन मुझे बहुत मीठे मालूम हुए।

सम्मेलन तीन दिन चला। मैं सम्मेलनमें आनेवालोंकी धार्मिकताको समझ सका, उसकी सराहना कर सका। पर मुझे अपने विश्वासमे —— अपने धर्ममें —— परिवर्तन करनेका कारण न मिला। मुझे यह प्रतीति न हुई कि ईसाई बनकर ही मैं स्वर्ग जा सकता हूँ अथवा मोक्ष पा सकता हूँ। जब यह बात मैंने अपने भले ईसाई मित्रोंसे कही तो उनको चोट तो पहुँची, पर मैं लाचार था।

मेरी कठिनाइयाँ गहरी थीं। "एक ईसामसीह ही ईश्वरके पुत्र हैं। उन्हें जो मानता है वह तर जाता है" —— यह बात मेरे गले उतरती न थी। यदि ईश्वरके पुत्र हो सकते हैं, तो हम सब उसके पुत्र हैं। यदि ईसा ईश्वर-तुल्य हैं, ईश्वर ही हैं, तो मनुष्य-मात्र ईश्वरके समान है; ईश्वर बन सकता है। ईसाकी मृत्युसे और उनके रक्तसे संसारके पाप धुलते हैं, इसे अक्षरशः सच माननेके लिए बुद्धि तैयार नहीं होती थी। रूपकके रूपमें उसमें सत्य चाहे हो। इसके अतिरिक्त, ईसाइयोंका यह विश्वास है कि मनुष्यके ही आत्मा है, दूसरे जीवोंके नहीं, और देहके नाशके साथ उनका संपूर्ण नाश हो जाता है, जब कि मेरा विश्वास इसके विरुद्ध था। मैं ईसाको एक त्यागी, महात्मा, दैवी शिक्षकके रूपमें स्वीकार कर सकता था, पर उन्हें अद्वितीय पुरुषके रूपमें स्वीकार करना मेरे लिए शक्य न था। ईसाकी मृत्युसे संसारको एक महान उदाहरण प्राप्त हुआ। पर उनकी मृत्युमें कोई गूढ़ चमत्कारपूर्ण प्रभाव था, इसे मेरा हृदय स्वीकार नहीं कर सकता था। ईसाइयोंके पवित्र जीवनमें मुझे ऐसी कोई

चीज नहीं मिली, जो अन्य धर्मावलम्बियोंके जीवनमें न मिली हो। उनमें होनेवाले परिवर्तनों जैसे ही परिवर्तन मैंने दूसरोंके जीवनमें भी होते देखे थे। सिद्धान्तकी दृष्टिसे ईसाई सिद्धान्तोंमें मुझे कोई अलौकिकता नहीं दिखाई पड़ी। त्यागकी दृष्टिसे हिन्दू धर्मावलम्बियोंका त्याग मुझे ऊँचा मालूम हुआ। मैं ईसाई धर्मको सम्पूर्ण अथवा सर्वोपरि धर्मके रूपमें स्वीकार न कर सका।

अपना यह हृदय०मंथन मैंने अवसर आने पर ईसाई मित्रोंके सामने रखा। उसका कोई संतोषजनक उत्तर वे मुझे नहीं दे सके।

पर जिस तरह मैं ईसाई धर्मको स्वीकार न कर सका, उसी तरह हिन्दू धर्मकी सम्पूर्णताके विषयमें अथवा उसकी सर्वोपरिताके विषयमें भी मैं उस समय निश्चय न कर सका। हिन्दू धर्मकी त्रुटियाँ मेरी आँखोंके सामने तैरा करती थीं। यदि अस्पृश्यता हिन्दू धर्मका अंग है, तो वह सड़ा हुआ और बादमें जुड़ा हुआ अंग जान पड़ा। अनेक सम्प्रदायोंकी, अनेक जात-पाँतोंकी हस्तीको मैं समझ न सका। अकेले वेदोंके ईश्वर-प्रणीत होनेका अर्थ क्या है? यदि वेद ईश्वर-प्रणीत हैं, तो बाइबल और कुरान क्यों नहीं?

जिस तरह ईसाई मित्र मुझे प्रभावित करनेके लिए प्रयत्नशील थे, उसी तरह मुसलमान मित्र भी प्रयत्न करते रहते थे। अब्दुल्ला सेठ मुझे इस्लामका अध्ययन करनेके लिए ललचा रहे थे। उसकी खूबियोंकी चर्चा तो वे करते ही रहते थे।

मैंने अपनी कठिनाइयाँ रायचंदभाईके सामने रखीं। हिन्दुस्तानके दूसरे धर्मशास्त्रियोंके साथ भी पत्र-व्यवहार शुरू किया। उनकी ओरसे उत्तर भी मिले। रायचन्दभाईके पत्रसे मुझे बड़ी शांति मिली। उन्होंने मुझे धीरज रखने और हिन्दू धर्मका गहरा अध्ययन करनेकी सलाह दी। उनके एक वाक्यका भावार्थ यह था: "निष्पक्ष भावसे विचार करते हुए मुझे यह प्रतीति हुई है कि हिन्दू धर्ममें जो सूक्ष्म और गूढ़ विचार हैं, आत्माका निरीक्षण है, दया है, वह दूसरे धर्मोंमें नहीं है।"

मैंने सेलका कुरान खरीदा और पढ़ना शुरू किया। कुछ दूसरी इस्लामी पुस्तकें भी प्राप्त कीं। विलायतमें ईसाई मित्रोंसे पत्र-व्यवहार शुरू किया। उनमें से एकने एडवर्ड मेटलैण्डसे मेरा परिचय कराया। उनके साथ मेरा पत्र-व्यवहार चलता रहा। उन्होंने एना किंग्सफर्डके साथ मिलकर 'परफेक्ट वे' (उत्तम मार्ग) नामक पुस्तक लिखी थी। वह मुझे पढ़नेके लिए भेजी। उसमें प्रचलित ईसाई धर्मका खण्डन था। उन्होंने मेरे नाम 'बाइबलका नया अर्थ' नामक पुस्तक भी भेजी। ये पुस्तकें मुझे

पसन्द आयीं। इनसे हिन्दू मतकी पुष्टि हुई। टॉल्स्टॉयकी 'वैकुण्ठ तेरे हृदयमें है' नामक पुस्तकने मुझे अभिभूत कर लिया। मुझ पर उसकी बहुत गहरी छाप पड़ी। इस पुस्तककी स्वतंत्र विचार-शैली, इसकी प्रौढ़ नीति और इसके सत्यके सम्मुख मि० कोट्स द्वारा दी गयी सब पुस्तकें मुझे शुष्क प्रतीत हुई।

इस प्रकार मेरा अध्ययन मुझे ऐसी दिशामें ले गया, जो ईसाई मित्रोंकी इच्छाके विपरीत थी। एडवर्ड मेटलैण्डके साथ मेरा पत्र-व्यवहार काफी लम्बे समय तक चला। कवि (रायचन्दभाई) के साथ तो अन्त तक बना रहा। उन्होंने कई पुस्तकें मेरे लिए भेजीं। मैं उन्हें भी पढ़ गया। उनमें 'पंचीकरण', 'मणिरत्नमाला', योगवासिष्ठका 'मुमुक्षु प्रकरण', हरिभद्रसूरिका 'षड्दर्शन-सम्मुचय' इत्यादि पुस्तकें थीं।

इस प्रकार यद्यपि मैंने ईसाई मित्रोंकी धारणासे भिन्न मार्ग पकड़ लिया था, फिर भी उनके समागमने मुझमें जो धर्म-जिज्ञासा जाग्रत की, उसके लिए तो मैं उनका सदाके लिए ऋणी बन गया। अपना यह सम्बन्ध मुझे हमेशा याद रहेगा। ऐसे मधुर और पवित्र सम्बन्ध भविष्यमें बढ़ते ही गये, घटे नहीं।

१६. को जाने कल की?

"खबर नहीं इस जुगमें पल की
समझ मन! को जाने कल की?"

मुकदमेके खतम होने पर मेरे लिए प्रिटोरियामें रहनेका कोई कारण न रहा। मैं डरबन गया। वहाँ पहुँचकर मैंने हिन्दुस्तान लौटनेकी तैयारी की। अब्दुल्ला सेठ मुझे बिना मान-सम्मानके जाने दें, यह संभव न था। उन्होंने मेरे निमित्तसे सिडनहैममें एक सामूहिक भोजका आयोजन किया। पूरा दिन वहीं बिताना था।

मेरे पास कुछ अखबार पड़े थे। मैं उन्हें पढ़ रहा था। एक अखबारके एक कोनेमें मैंने एक छोटा-सा संवाद देखा। उसका शीर्षक था: 'इण्डियन फ्रेंचाइज़' यानी हिन्दुस्तानी मताधिकार। इस संवादका आशय यह था कि हिन्दुस्तानियोंको नेटालकी धारासभाके लिए सदस्य चुननेका जो अधिकार है वह छीन लिया जाये। धारासभामें इससे सम्बन्ध रखनेवाले कानून पर बहस चल रही थी। मैं इस कानूनसे अपरिचित था। भोजमें सम्मिलित सदस्योंमेंसे किसीको भी हिन्दुस्तानियोंका अधिकार छीननेवाले इस बिलकी कोई खबर न थी।

मैंने अब्दुल्ला सेठसे पूछा। उन्होंने कहा, "इन बातोंको हम क्या जानें? व्यापार पर कोई संकट आवे तो हमें उसका पता चलता है। देखिये न, ऑरेन्ज फ्री स्टेटमें हमारे व्यापारकी जड़ उखड़ गयी। उसके लिए हमने मेहनत की, पर हम तो अपंग ठहरे। अखबार पढ़ते हैं, तो उसमें भी सिर्फ भाव-तालकी बातें ही समझ पाते हैं। कानूनी बातोंका हमें क्या पता चले? हमारे आँख-कान तो हमारे गोरे वकील हैं।"

मैंने पूछा, "पर यहाँ पैदा हुए और अंग्रेजी जाननेवाले इतने सारे नौजवान हिन्दुस्तानी यहाँ हैं, वे क्या करते हैं?"

अब्दुल्ला सेठने माथे पर हाथ रखकर कहा, "अरे भाई, उनसे हमें क्या मिल सकता है? वे बेचारे इसमें क्या समझें? वे तो हमारे पास भी नहीं फटकते, और सच पूछो तो हम भी उन्हें नहीं पहचानते। वे ईसाई हैं इसलिए पादरियोंके पंजेमें हैं। और पादरी सब गोरे हैं, जो सरकारके आधीन हैं!"

मेरी आँखें खुल गयीं। इस समाजको अपनाना चाहिये। क्या ईसाई धर्मका यही अर्थ है? वे ईसाई हैं, इससे क्या हिन्दुस्तानी नहीं रहे? और परदेशी बन गये?

किन्तु मुझे तो वापस स्वदेश जाना था, इसलिए मैंने उपर्युक्त विचारोंको प्रकट नहीं किया। मैंने अब्दुल्ला सेठसे कहा, "लेकिन अगर यह कानून इसी तरह पास हो गया, तो आप सबको बड़ी मुश्किलमें डाल देगा। यह तो हिन्दुस्तानियोंकी आबादीको मिटानेका पहला कदम है। इसमें हमारे स्वाभिमानकी हानि है।"

"हो सकती है। परंतु मैं आपको 'फरेंचाइझ' (इस तरह अंग्रेजी भाषाके कई शब्द अपना रूप बदलकर देशवासियोंमें रूढ़ हो गये थे। 'मताधिकार' कहो तो कोई समझता ही नहीं था।) का इतिहास सुनाऊँ। हम तो इसमें कुछ भी नहीं समझते। पर आप यह तो जानते ही हैं कि हमारे बड़े वकील मि० एस्कम्ब हैं। वे जबरदस्त लड़वैया हैं। उनके और यहाँके जेटी-इंजीनियरके बीच खासी लड़ाई चलती है। मि० एस्कम्बके धारासभामें जानेमें यह लड़ाई बाधक होती थी। उन्होंने हमें अपनी स्थितिका भान कराया। उनके कहनेसे हमने अपने नाम मतदाता-सूचिमें लिखवाये और अपने सब मत मि० एस्कम्बको दिये। अब आप देखेंगे कि हमने अपने इन मतोंका मूल्य आपकी तरह क्यों नहीं आँका। लेकिन अब हम आपकी बात समझ सकते हैं। अच्छा तो कहिये, आप हमें क्या सलाह देते हैं?"

दूसरे मेहमान इस चर्चाको ध्यानपूर्वक सुन रहे थे। उनमें से एकने कहा, "मैं आपसे सच बात कहूँ? अगर आप इस स्टीमरसे न जायें और एकाध महीना रुक

जायें, तो आप जिस तरह कहेंगे, हम लड़ेंगे।

दूसरे सब एकसाथ बोल उठे :

"यह बात सच है। अब्दुल्ला सेठ, आप गांधीभाईको रोक लीजिये।"

अब्दुल्ला सेठ उस्ताद ठहरे। उन्होंने कहा, "अब उन्हें रोकनेका मुझे कोई अधिकार नहीं, अथवा जितना मुझे है उतना ही आपको भी है। पर आप जो कहते हैं सो ठीक है। हम सब उन्हें रोक लें। पर ये तो बारिस्टर हैं। इनकी फीसका क्या होगा ?"

मैं दुःखी हुआ और बात काटकर बोला :

"अब्दुल्ला सेठ, इसमें मेरी फीसकी बात ही नहीं उठती। सार्वजनिक सेवाकी फीस कैसी ? मैं ठहरूँ तो एक सेवकके रूपमें ही ठहर सकता हूँ। मैं इन सब भाइयोंको ठीकसे पहचानता नहीं। पर आपको भरोसा हो कि ये सब मेहनत करेंगे, तो मैं एक महीना रुक जानेके लिए तैयार हूँ। यह सच है कि आपको मुझे कुछ भी नहीं देना होगा, फिर भी ऐसे काम बिलकुल बिना पैसेके तो हो ही नहीं सकते। हमें तार करने होंगे, कुछ साहित्य छपाना पड़ेगा, जहाँ-तहाँ जाना होगा उसका गाड़ी-किराया लगेगा। सम्भव है, हमें स्थानीय वकीलोंकी भी सलाह लेनी पड़े। मैं यहाँके कानूनोंसे परिचित नहीं हूँ। मुझे कानूनकी पुस्तकें देखनी होंगी। इसके सिवा, ऐसे काम एक हाथसे नहीं होते, बहुतोंको उनमें जुटना चाहिये।"

बहुत-सी आवाजें एकसाथ सुनायी पड़ीं : "खुदाकी मेहरबानी है। पैसे इकट्ठा हो जायेंगे, लोग भी बहुत हैं। आप रहना कबूल कर लें तो बस है।"

सभा सभा न रही। उसने कार्यकारिणी समितिका रूप ले लिया। मैंने सलाह दी कि भोजनसे जल्दी निबटकर घर पहुँचना चाहिये। मैंने मनमें लड़ाईकी रूपरेखा तैयार कर ली। मताधिकार कितनोंको प्राप्त है, सो जान लिया। और मैंने एक महीना रुक जानेका निश्चय किया।

इस प्रकार ईश्वरने दक्षिण अफ्रीकामें मेरे स्थायी निवासकी नींव डाली और स्वाभिमानकी लड़ाईका बीज रोपा गया।

१७. नेटालमें बस गया

सन् १८९३में सेठ हाजी मुहम्मद हाजी दादा नेटालके हिन्दुस्तानी समाजके अग्रगण्य नेता माने जाते थे। साम्पत्तिक स्थितिमें सेठ अब्दुल्ला हाजी आदम मुख्य थे, पर वे और दूसरे लोग भी सार्वजनिक कामोंमें सेठ हाजी मुहम्मदको ही पहला स्थान देते थे। अतएव उनके सभापतित्वमें अब्दुल्ला सेठके घर एक सभा हुई। उसमें फ्रेंचाइज़ बिलका विरोध करनेका निश्चय किया गया। स्वयंसेवकोंके नाम लिखे गये। इस सभामें नेटालमें पैदा हुए हिन्दुस्तानियोंको, अर्थात् ईसाई नौजवानोंको इकट्ठा किया गया था। मि. पॉल डरबनकी अदालतके दुभाषिया थे। मि. सुभान गॉडफ्रे मिशन स्कूलके हेडमास्टर थे। वे भी सभामें उपस्थित रहे थे और उनके प्रभावसे उस समाजके नौजवान अच्छी संख्यामें आये थे। ये-सब स्वयंसेवक बन गये। व्यापारी तो अधिकतर थे ही। उनमेंसे जानने योग्य नाम ये हैं : सेठ दाऊद मुहम्मद, मुहम्मद कासिम कमरुद्दीन, सेठ आदमजी मियांखान, ए० कोलन्दावेल्लू पिल्लै, सी० लच्छीराम, रंगस्वामी पड़ियाची, आमद जीवा आदि। पारसी रुस्तमजी तो थे ही। कारकुन-समाजमें से पारसी माणेकजी, जोशी, नरसीराम वगैरा दादा अब्दुल्ला इत्यादिकी बड़ी फर्मोंके नौकर थे। इन सबको सार्वजनिक काममें सम्मिलित होनेका आश्चर्य हुआ। इस प्रकार सार्वजनिक कामके लिए न्योते जाने और उसमें हाथ बँटानेका उनका यह पहला अनुभव था। उपस्थित संकटके सामने नीच-ऊँच, छोटे-बड़े, मालिक-नौकर, हिन्दू-मुसलमान, पारसी, ईसाई, गुजराती, मद्रासी, सिन्धी आदि भेद समाप्त हो चुके थे। सब भारतकी सन्तान और सेवक थे।

बिलका दूसरा वाचन हो चुका या होनेवाला था। उस समय धारासभामें किये गये भाषणोंमें यह टीका थी कि इतने कठोर कानूनका भी हिन्दुस्तानियोंकी ओरसे कोई विरोध नहीं हो रहा है, यह हिन्दुस्तानी समाजकी लापरवाहीका और मताधिकारका उपभोग करनेकी उनकी अयोग्यताका प्रमाण है।

मैंने सभाको वस्तुस्थिति समझायी। पहला काम तो यह सोचा गया कि धारासभाके अध्यक्षको ऐसा तार भेजा जाये कि वे बिल पर अधिक विचार करना मुलतवी कर दें। इसी आशयका तार मुख्यमंत्री सर जॉन रॉबिन्सनको भी भेजा और दूसरा दादा अब्दुल्लाके मित्रके नाते मि० एस्कम्बको भेजा गया। इस तारके जवाबमें अध्यक्षका तार मिला कि बिलकी चर्चा दो दिन तक मुलतवी रहेगी। सब खुश हुए।

प्रार्थना-पत्र तैयार किया गया। उसकी तीन प्रतियाँ भेजनी थीं। प्रेसके लिए भी प्रतियाँ तैयार करनी थीं। प्रार्थना-पत्र पर जितनी मिल सकें उतनी सहियाँ लेनी थीं यह सारा काम अेक रातमें पूरा करना था। शिक्षित स्वयंसेवक और दूसरे लोग लगभग सारी रात जागे। उनमें अच्छे अक्षर लिखनेवाले मि० आर्थर नामके एक वृद्ध सज्जन थे। उन्होंने सुन्दर अक्षरोंमें प्रार्थना-पत्रकी प्रति तैयार की। दूसरोंने उसकी दूसरी प्रतियाँ तैयार कीं। एक बोलता जाता और पाँच लिखते जाते थे। यों एकसाथ पांच प्रतियाँ लिखी गयीं। व्यापारी स्वयंसेवक अपनी-अपनी गाड़ियाँ लेकर अथवा अपने खर्चसे गाड़ियाँ किराये पर लेकर सहियाँ लेनेके लिए निकल पड़े।

प्रार्थना-पत्र गया। अखबारोंमें छपा। उस पर अनुकूल टीकायें हुईं। धारासभा पर भी असर हुआ। उसकी चर्चा भी खूब हुई। प्रार्थना-पत्रमें दी गयी दलीलोंका खण्डन करनेवाले उत्तर दिये गये। पर वे देनेवालोंको भी लचर जान पड़े। बिल तो पास हो गया।

सब जानते थे कि यही नतीजा निकलेगा, पर कौममें नवजीवनका संचार हुआ। सब कोई यह समझे कि हम एक कौम हैं, केवल व्यापार सम्बन्धी अधिकारोंके लिए ही नहीं, बल्कि कौमके अधिकारोंके लिए भी लड़ना हम सबका धर्म है।

उन दिनों लॉर्ड रिपन उपनिवेश-मंत्री थे। उन्हें एक बहुत बड़ी अर्जी भेजनेका निश्चय किया गया। इस अर्जी पर यथासम्भव अधिकसे अधिक लोगोंकी सहियाँ लेनी थीं। यह काम एक दिनमें तो हो ही नहीं सकता था। स्वयंसेवक नियुक्त हुए और सबने काम निबटानेका जिम्मा लिया।

अर्जी लिखनेमें मैंने बहुत मेहनत की। जो साहित्य मुझे मिला, सो सब मैं पढ़ गया। हिन्दुस्तानमें हम एक प्रकारके मताधिकारका उपभोग करते हैं, सिद्धांतकी इस दलीलको और हिन्दुस्तानियोंकी आबादी कम है इस व्यावहारिक दलीलको मैंने केन्द्र-बिन्दु बनाया।

अर्जी पर दस हजार सहियाँ हुईं। एक पखवाड़ेमें अर्जी भेजने लायक सहियाँ प्राप्त हो गयीं। इतने समयमें नेटालमें दस हजार सहियाँ प्राप्त की गयीं, इसे पाठक छोटी-मोटी बात न समझें। सहियाँ समूचे नेटालसे प्राप्त करनी थीं। लोग ऐसे कामसे अपरिचित थे। निश्चय यह था कि सही करनेवाला किस बात पर सही कर रहा है, इसे जब तक वह समझ न ले तब तक सही न ली जाये। इसलिए खास तौर पर स्वयंसेवकोंको भेजकर ही सहियाँ प्राप्त की जा सकती थीं। गाँव दूर-दूर थे, इसलिए

अधिकतर काम करनेवाले लगनसे काम करें तभी ऐसा काम शीघ्रता-पूर्वक हो सकता था। ऐसा ही हुआ। इसमें सबने उत्साह-पूर्वक काम किया। काम करनेवालोंमेंसे सेठ दाऊद मुहम्मद, पारसी रुस्तमजी, आदमजी मियांखान और आमद जीवाकी मूर्तियाँ इस समय भी मेरी आँखोंके सामने खड़ी हैं। ये खूब सहियाँ लाये थे। दाऊद सेठ अपनी गाड़ी लेकर दिनभर घूमा करते थे। किसीने जेब-खर्च तक नहीं माँगा।

दादा अब्दुल्लाका घर धर्मशाला अथवा सार्वजनिक दफ्तर-सा बन गया था। पढ़े-लिखे भाई तो मेरे पास ही बने रहते थे। उनका और अन्य काम करनेवालोंका भोजन दादा अब्दुल्लाके घर ही होता था। इस प्रकार सब बहुत खर्चमें उतर गये।

अर्जी गयी। उसकी एक हजार प्रतियाँ छपवायी थीं। उस अर्जीके कारण हिन्दुस्तानके आम लोगोंको नेटालका पहली बार परिचय हुआ। मैं जितने अखबारों और सार्वजनिक नेताओंके नाम जानता था उतनोंको अर्जीकी प्रतियाँ भेजीं।

'टाइम्स ऑफ इंडिया'ने उस पर अग्रलेख लिखा और हिन्दुस्तानियोंकी माँगका अच्छा समर्थन किया। विलायतमें भी अर्जीकी प्रतियाँ सब पक्षोंके नेताओंको भेजी गयी थीं। वहाँ लन्दनके 'टाइम्स'का समर्थन प्राप्त हुआ। इससे आशा बंधी कि बिल मंजूर न हो सकेगा।

अब मैं नेटाल छोड़ सकूँ ऐसी मेरी स्थिति नहीं रही। लोगोंने मुझे चारों तरफसे घेर लिया और नेटालमें ही स्थायी रूपसे रहनेका अत्यन्त आग्रह किया। मैंने अपनी कठिनाइयाँ बतायीं। मैंने अपने मनमें निश्चय कर लिया था कि मुझे सार्वजनिक खर्च पर नहीं रहना चाहिये। मुझे अलग घर बसानेकी आवश्यकता जान पड़ी। उस समय मैंने यह माना था कि घर भी अच्छा और अच्छी बस्तीमें लेना चाहिये।

मैंने सोचा कि दूसरे बारिस्टरोंकी तरह मेरे रहनेसे हिन्दुस्तानी समाजकी इज्जत बढ़ेगी। मुझे लगा कि ऐसा घर मैं सालमें ३०० पौंडके खर्चके बिना चला ही नहीं सकूँगा। मैंने निश्चय किया कि इतनी रकमकी वकालतकी गारण्टी मिलने पर ही मैं रह सकता हूँ, और वहाँवालोंको इसकी सूचना दे दी।

साथियोंने दलील देते हुए कहा, "पर इतनी रकम आप सार्वजनिक कामके लिए लें, यह हमें पुसा सकता है, और इसे इकट्ठा करना हमारे लिए आसान है। वकालत करते हुए आपको जो मिलें, सो आपका।"

मैंने जवाब दिया, "मैं इस तरह पैसे नहीं ले सकता। अपने सार्वजनिक कामकी मैं इतनी कीमत नहीं समझता। मुझे उसमें कोई वकालत तो करनी नहीं है। मुझे तो

लोगोंसे काम लेना होगा। उसके पैसे मैं कैसे ले सकता हूँ? फिर, मुझे सार्वजनिक कामके लिए आपसे पैसे निकलवाने होंगे। अगर मैं अपने लिए पैसे लूँ तो आपके पाससे बड़ी रकमें निकलवानेमें मुझे संकोच होगा और आखिर हमारी नाव अटक जायेगी। समाजसे तो मैं हर साल ३०० पौण्डसे अधिक ही खर्च कराऊँगा।''

''पर हम आपको पहचानने लगे हैं। आप कौन अपने लिए पैसे माँगते हैं? आपके रहनेका खर्च तो हमें देना ही चाहिए न?''

''यह तो आपका स्नेह और तात्कालिक उत्साह बुलवा रहा है। यही उत्साह और यही स्नेह सदा बना रहेगा, यह हम कैसे मान लें? मौका आने पर मुझे तो कभी-कभी आपको कड़वी बातें भी कहनी पड़ेंगी। उस दशामें भी मैं आपके स्नेहकी रक्षा कर सकूँगा या नहीं, सो तो दैव जाने। पर असल बात यह है कि सार्वजनिक सेवाके लिए मुझे पैसे लेने ही न चाहिये। आप सब वकालत-सम्बन्धी अपना काम मुझे देनेके लिए वचन-बद्ध हो जायें, तो उतना मेरे लिए बस है। शायद यह भी आपके लिए भारी पड़ेगा। मैं कोई गोरा बारिस्टर नहीं हूँ। कोर्ट मुझे दाद दे या न दे, मैं क्या जानूँ? मैं तो यह भी नहीं जानता कि मुझसे कैसी वकालत हो सकेगी। इसलिए मुझे पहलेसे वकालतका मेहनताना देनेमें भी आपको जोखिम उठानी है। इतने पर भी अगर आप मुझे वकालतका मेहनताना देंगे, तो वह मेरी सार्वजनिक सेवाके कारण ही माना जायेगा न?''

इस चर्चाका परिणाम यह निकला कि कोई बीस व्यापारियोंने मेरे लिए एक वर्षका वर्षासन बाँध दिया। इसके उपरान्त, दादा अब्दुल्ला बिदाईके समय मुझे जो भेंट देनेवाले थे उसके बदले उन्होंने मेरे लिए आवश्यक फर्नीचर खरीद दिया और मैं नेटालमें बस गया।

१८. रंग-भेद

न्यायालयका चिह्न तराजू है। एक निष्पक्ष, अन्धी परन्तु चतुर बुढ़िया उसे थामे हुए है। विधाताने उसे अंधी बनाया है, जिससे वह मुँह देखकर तिलक न करे, बल्कि जो व्यक्ति गुणमें योग्य हो उसीको टीका लगाये। इसके विपरीत, नेटालके न्यायालयसे वहाँकी वकील-सभा मुँह देखकर तिलक करवानेके लिए तैयार हो गयी थी। परन्तु अदालतने इस अवसर पर अपने चिह्नकी प्रतिष्ठा रख ली।

मुझे वकालतकी सनद लेनी थी। मेरे पास बम्बईके हाईकोर्टका प्रमाणपत्र था। विलायतका प्रमाण-पत्र बम्बईके हाईकोर्टके कार्यालयमें था। प्रवेशके प्रार्थना-पत्रके साथ सदाचरणके दो प्रमाण-पत्रोंकी आवश्यकता मानी जाती थी। मैंने सोचा कि ये प्रमाण-पत्र गोरोंके होंगे तो ठीक रहेगा। इसलिए अब्दुल्ला सेठके द्वारा मेरे संपर्कमें आये हुए दो प्रसिद्ध गोरे व्यापारियोंके प्रमाण-पत्र मैंने प्राप्त कर लिये थे। प्रार्थना-पत्र किसी वकीलके द्वारा भेजा जाना चाहिये था और साधारण नियम यह था कि ऐसा प्रार्थना-पत्र एटर्नी जनरल बिना पारिश्रमिकके प्रस्तुत करे। मि० एस्कम्ब एटर्नी जनरल थे। हम यह जानते हैं कि वे अब्दुल्ला सेठके वकील थे। मैं उनसे मिला और उन्होंने खुशीसे मेरा प्रार्थना-पत्र प्रस्तुत करना स्वीकार किया।

इतनेमें अचानक वकील-सभाकी ओरसे मुझे नोटिस मिली। नोटिसमें न्यायालयमें मेरे प्रवेशका विरोध किया गया था। उसमें एक कारण यह दिया गया था कि वकालतके लिए दिये गये प्रार्थना-पत्रके साथ मैंने मूल प्रमाण-पत्र नत्थी नहीं किया था। पर विरोधका मुख्य मुद्दा यह था कि अदालतमें वकीलोंकी भरती करनेके नियम बनाते समय यह सम्भव न माना गया होगा कि कोई काला या पीला आदमी कभी प्रवेशके लिए प्रार्थना-पत्र देगा। नेटाल गोरोंके साहससे बना था, इसलिए उसमें गोरोंकी ही प्रधानता होनी चाहिये। यदि काले वकील प्रवेश पाने लगेंगे, तो धीरे-धीरे गोरोंकी प्रधानता जाती रहेगी और उनकी रक्षाकी दीवार नष्ट हो जायेगी।

इस विरोधके समर्थनके लिए वकील-सभाने एक प्रसिद्ध वकीलको नियुक्त किया था। इन वकीलका भी दादा अब्दुल्लाके साथ सम्बन्ध था। उन्होंने मुझे उनके मारफत बुलवाया। मेरे साथ शुद्ध भावसे चर्चा की। मेरा इतिहास पूछा। मैंने यह बताया। इस पर वे बोले : "मुझे तो आपके विरुद्ध कुछ नहीं कहना है। मुझे डर इस बातका था कि कहीं आप यहीं जन्मे हुए कोई धूर्त तो नहीं हैं! दूसरे, आपके पास असल प्रमाण-पत्र नहीं है, इससे मेरे सन्देहको बल मिला। ऐसे भी लोग मौजूद हैं, जो दूसरोंके प्रमाण-पत्रोंका उपयोग करते हैं। आपने गोरोंके जो प्रमाणपत्र पेश किये हैं, उनका मुझ पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। वे आपको क्या जानें? आपके साथ उनकी पहचान ही कितनी?"

मैं बीचमें बोला : "लेकिन यहाँ तो मेरे लिए सभी नये हैं। अब्दुल्ला सेठने भी मुझे यहीं पहचाना है।"

"ठीक है। लेकिन आप तो कहते हैं कि वे आपके गाँवके हैं और आपके पिता

वहाँके दीवान थे। इसलिए आपके परिवारको तो वे पहचानते ही होंगे न? आप उनका शपथ-पत्र अगर पेश कर दें, तो फिर मुझे कोई आपत्ति न रह जायेगी। मैं वकील-सभाको लिख दूँगा कि मुझसे आपका विरोध नहीं हो सकेगा।''

मुझे गुस्सा आया, पर मैंने उसे रोक लिया। मैंने सोचा, ''यदि मैंने अब्दुल्ला सेठका ही प्रमाण-पत्र प्रस्तुत किया होता, तो उसकी अवगणना की जाती और गोरेका परिचय-पत्र माँगा जाता। इसके सिवा, मेरे जन्मके साथ वकालतकी मेरी योग्यताका क्या सम्बन्ध हो सकता है? यदि मैं दुष्ट अथवा कंगाल माता-पिताका लड़का होऊँ, तो मेरी योग्यताकी जाँच करते समय मेरे विरुद्ध उसका उपयोग क्यों किया जाय?'' पर इन सब विचारोंको अंकुशमें रखकर मैंने जवाब दिया : ''यद्यपि मैं यह नहीं स्वीकार करता कि ये सब तथ्य माँगनेका वकील-सभाको अधिकार है, फिर भी आप जैसा चाहते हैं वैसा शपथ-पत्र प्राप्त करनेके लिए मैं तैयार हूँ।''

अब्दुल्ला सेठका शपथ-पत्र तैयार किया और उसे वकीलको दिया। उन्होंने संतोष प्रकट किया। पर वकील-सभाको संतोष न हुआ। उसने मेरे प्रवेशके विरुद्ध अपना विरोध न्यायालयके सामने प्रस्तुत किया। न्यायालयने मि० एस्कम्बका जवाब सुने बिना ही वकील-सभाका विरोध रद कर दिया। मुख्य न्यायाधीशने कहा :

''प्रार्थीके असल प्रमाण-पत्र प्रस्तुत न करनेकी दलीलमें कोई सार नहीं है। यदि उसने झूठी शपथ ली होगी, तो उसके लिए उस पर झूठी शपथका फौजदारी मुकदमा चल सकेगा और उसका नाम वकीलोंकी सूचीमें से निकाल दिया जायेगा। न्यायालयके नियमोंमें काले-गोरेका भेद नहीं है। हमें मि० गांधीको वकालत करनेसे रोकनेका अधिकार नहीं है। उनका प्रार्थना-पत्र स्वीकार किया जाता है। मि० गांधी, आप शपथ ले सकते हैं।''

मैं उठा। रजिस्ट्रारके सम्मुख मैंने शपथ ली। शपथ लेते ही मुख्य नयायाधीशने कहा : ''अब आपको अपनी पगड़ी उतार देनी चाहिये। एक वकीलके नाते वकीलोंसे सम्बन्ध रखनेवाले न्यायालयके पोशाक-विषयक नियमका पालन आपके लिए भी आवश्यक है!''

मैं अपनी मर्यादा समझ गया। डरबनके मजिस्ट्रेटकी कचहरीमें जिस पगड़ीको पहने रहनेका मैंने आग्रह रखा था, उसे मैंने यहाँ उतार दिया। उतारनेके विरुद्ध दलील तो थी ही। पर मुझे बड़ी लड़ाइयाँ लड़नी थीं। पगड़ी पहने रहनेका हठ करनेमें मुझे लड़नेकी अपनी कला समाप्त नहीं करनी थी। इससे तो शायद उसे बट्टा ही

लगता।

अब्दुल्ला सेठको और दूसरे मित्रोंको मेरी यह नरमी (या निर्बलता?) अच्छी न लगी। उनका खयाल था कि मुझे वकीलके नाते भी पगड़ी पहने रहनेका आग्रह रखना चाहिये था। मैंने उन्हें समझानेका प्रयत्न किया। 'जैसा देश वैसा भेष' इस कहावतका रहस्य समझाया और कहा, 'हिन्दुस्तानमें गोरे अफसर या जज पगड़ी उतारनेके लिए विवश करें, तो उसका विरोध किया जा सकता है। नेटाल-जैसे देशमें और यहाँके न्यायालयके एक अधिकारीके नाते न्यायालयकी रीति-नीतिका ऐसा विरोध करना मुझे शोभा नहीं देता।'

इस और ऐसी दूसरी दलीलोंसे मैंने मित्रोंको कुछ शान्त तो किया, पर मैं नहीं मानता कि एक ही वस्तुको भिन्न परिस्थितिमें भिन्न रीतिसे देखनेका औचित्य मैं इस अवसर पर उन्हें संतोषजनक रीतिसे समझा सका था। पर मेरे जीवनमें आग्रह और अनाग्रह हमेशा साथ-साथ ही चलते रहे हैं। सत्याग्रहमें यह अनिवार्य है, इसका अनुभव मैंने बादमें कई बार किया है। इस समझौता-वृत्तिके कारण मुझे कितनी ही बार अपने प्राणोंको संकटमें डालना पड़ा है और मित्रोंका असंतोष सहना पड़ा है। पर सत्य वज्रके समान कठिन है और कमलके समान कोमल है।

वकील-सभाके विरोधने दक्षिण अफ्रीकामें मेरे लिए दूसरे विज्ञापनका काम किया। ज्यादातर अखबारोंने मेरे प्रवेशके विरोधकी निन्दा की और वकीलों पर ईर्ष्याका दोष लगाया। इस विज्ञापनसे मेरा काम किसी हद तक सरल हो गया।

१९. नेटाल इन्डियन काँग्रेस

वकालतका धंधा मेरे लिए गौण वस्तु थी और सदा गौण ही रही। नेटालमें अपने निवासको सार्थक करनेके लिए तो मुझे सार्वजनिक काममें तन्मय हो जाना था। भारतीय मताधिकार प्रतिबंधक कानूनके विरुद्ध केवल प्रार्थना-पत्र भेजकर ही बैठा नहीं जा सकता था। उसके बारेमें आन्दोलन चलते रहनेसे ही उपनिवेश-मंत्री पर उसका असर पड़ सकता था। इसके लिए एक संस्थाकी स्थापना करना आवश्यक मालूम हुआ। इस सम्बन्धमें मैंने अब्दुल्ला सेठसे सलाह की, दूसरे साथियोंसे मिला, और हमने एक सार्वजनिक संस्था खड़ी करनेका निश्चय किया।

उसके नामकरणमें थोड़ा धर्म-संकट था। इस संस्थाको किसी पक्षके साथ पक्षपात

नहीं करना था। मैं यह जानता था कि काँग्रेसका नाम कंजर्वेटिव (पुराणपंथी) पक्षमें अप्रिय था। पर काँग्रेस हिन्दुस्तानका प्राण थी। उसकी शक्ति तो बढ़नी ही चाहिये। उस नामको छिपानेमें अथवा अपनाते हुए संकोच करनेमें नामर्दीकी गंध आती थी। अतएव मैंने अपनी दलीलें पेश करके संस्थाका नाम 'काँग्रेस' ही रखनेका सुझाव दिया, और सन १८९४ के मई महीनेकी २२ तारीखको नेटाल इण्डियन काँग्रेसका जन्म हुआ।

दादा अब्दुल्लाका ऊपरवाला बड़ा कमरा भर गया था। लोगोंने इस संस्थाका उत्साह-पूर्वक स्वागत किया। उसका विधान सादा रखा था। चन्दा भारी था। हर महीने कम-से-कम पाँच शिलिंग देनेवाला ही उसका सदस्य बन सकता था। धनी व्यापारियोंको रिझाकर उनसे अधिकसे-अधिक जितना लिया जा सके, लेनेका निश्चय हुआ। अब्दुल्ला सेठसे महीनेके दो पौण्ड लिखवाये। दूसरे भी दो सज्जनोंसे इतने ही लिखवाये। मैंने सोचा कि मुझे तो संकोच करना ही नहीं चाहिये, इसलिए मैंने महीनेका एक पौण्ड लिखाया। मेरे लिए यह कुछ बड़ी रकम थी। पर मैंने सोचा कि अगर मेरा खर्च चलने ही वाला हो, तो मेरे लिए हर महीने एक पौण्ड देना अधिक नहीं होगा। ईश्वरने मेरी गाड़ी चला दी। एक पौण्ड देनेवालोंकी संख्या काफी रही। दस शिलिंगवाले उनसे भी अधिक। इसके अलावा, सदस्य बने बिना कोई अपनी इच्छासे भेंटके रूपमें जो कुछ दे सो स्वीकार करना था।

अनुभवसे पता चला कि बिना तकाजेके कोई चन्दा नहीं देता। डरबनसे बाहर रहनेवालोंके यहाँ बार-बार जाना असम्भव था। आरम्भ-शूरताका दोष तुरन्त प्रकट हुआ। डरबनमें भी कई चक्कर लगाने पर पैसे मिलते थे। मैं मंत्री था। पैसे उगाहनेका बोझ मेरे सिर था। मेरे लिए अपने मुहर्रिरका लगभग सारा दिन उगाहीके काममें ही लगाये रखना जरूरी हो गया। मुहर्रिर भी दिक आ गया। मैंने अनुभव किया कि चन्दा मासिक नहीं, वार्षिक होना चाहिये और वह सबको पेशगी ही दे देना चाहिये। सभा की गयी। सबने मेरी सूचनाका स्वागत किया और कमसे कम तीन पौण्ड वार्षिक चन्दा लेनेका निश्चय हुआ। इससे वसूलीका काम आसान बना।

मैंने आरम्भमें ही यह सीख लिया था कि सार्वजनिक काम कभी कर्ज लेकर नहीं करना चाहिये। दूसरे कामोंके बारेमें लोगोंका विश्वास चाहे किया जाय, पर पैसेके वादेका विश्वास नहीं किया जा सकता। मैंने देख लिया था कि लिखायी हुई रकम चुकानेका धर्म लोग कहीं भी नियमित रूपसे नहीं पालते। इसमें नेटालके भारतीय

अपवादरूप नहीं थे। अतएव नेटाल इण्डियन काँग्रेसने कभी कर्ज लेकर काम किया ही नहीं।

सदस्य बनानेमें साथियोंने असीम उत्साहका परिचय दिया था। इसमें उन्हें आनंद आता था। अनमोल अनुभव प्राप्त होते थे। बहुतेरे लोग खुश होकर नाम लिखाते और तुरन्त पैसे दे देते थे। दूर-दूरके गाँवोंमें थोड़ी कठिनाई होती थी। लोग सार्वजनिक कामका अर्थ नहीं समझते थे। बहुत-सी जगहोंमें तो लोग अपने यहाँ आनेका न्योता भेजते और प्रमुख व्यापारीके यहाँ ठहरानेकी व्यवस्था करते। पर इन यात्राओंमें एक जगह शुरूमें ही हमें मुश्किलका सामना करना पड़ा। वहाँ एक व्यापारीसे छह पौण्ड मिलने चाहिये थे, पर वह तीनसे आगे बढ़ता ही न था। अगर इतनी रकम हम ले लेते, तो फिर दूसरोंसे अधिक न मिलती। पड़ाव उन्हींके घर था। हम सब भूखे थे। पर जब तक चंदा न मिले, भोजन कैसे करें? उन भाईको खूब समझाया-मनाया। पर वे टस-से-मस न होते थे। गाँवके दूसरे व्यापारियोंने भी उन्हें समझाया। सारी रात झक-झकमें बीत गयी। गुस्सा तो कई साथियोंको आया, पर किसीने विनयका त्याग न किया। ठेठ सबेरे वे भाई पिघले और उन्होंने छह पौण्ड दिये। हमें भोजन कराया। यह घटना टोंगाटमें घटी थी। इसका प्रभाव उत्तरी किनारे पर ठेठ स्टेंगर तक और अन्दरकी ओर ठेठ चार्ल्सटाउन तक पड़ा। इससे चन्दा-वसूलीका हमारा काम आसान हो गया।

पर हमारा हेतु केवल पैसे इकट्ठे करनेका ही न था। आवश्यकतासे अधिक पैसा न रखनेका तत्त्व भी मैं समझ चुका था।

सभा हर हफ्ते या हर महीने आवश्यकताके अनुसार होती थी। उसमें पिछली सभाका विवरण पढ़ा जाता और अनेक प्रकारकी चर्चायें होतीं। चर्चा करनेकी और थोड़ेमें मुद्देकी बात कहनेकी आदत तो लोगोंको थी ही नहीं। लोग खड़े होकर बोलनेमें झिझकते थे। सभाके नियम समझाये गये और लोगोंने उनकी कदर की। इससे होनेवाले अपने लाभको वे देख सके और जिन्हें पहले कभी सार्वजनिक रूपसे बोलनेकी आदत नहीं थी, वे सार्वजनिक कामोंके विषयमें बोलने और विचारने लग गये।

मैं यह भी जानता था कि सार्वजनिक काम करनेमें छोटे-छोटे खर्च बहुत पैसा खा जाते हैं। शुरूमें तो मैंने निश्चय कर लिया था कि रसीद बुक तक न छपायी जाय। मेरे दफ्तरमें साइक्लोस्टाइल मशीन थी उस पर रसीदें छपा लीं। रिपोर्ट भी मैं इसी

तरह छपा लेता था। जब तिजोरीमें काफी पैसा जमा हो गया, सदस्य बढ़े, काम बढ़ा, तभी रसीद आदि छपाना शुरू किया। ऐसी किफायत हरएक संस्थाके लिए आवश्यक है। फिर भी मैं जानता हूँ कि हमेशा यह मर्यादा रह नहीं पाती। इसीलिए इस छोटी-सी उगती हुई संस्थाके आरम्भिक निर्माण-कालका विवरण देना मैंने उचित समझा है। लोग रसीदकी परवाह नहीं करते थे। फिर भी उन्हें आग्रह-पूर्वक रसीद दी जाती थी। इसके कारण आरम्भसे ही पाई-पाईका हिसाब साफ रहा, और मैं मानता हूँ कि आज भी नेटाल काँग्रेसके दफ्तरमें सन् १८९४ के पूरे-पूरे ब्योरेवाले बही-खाते मिलने चाहिये। किसी भी संस्थाका बारीकीसे रखा गया हिसाब उसकी नाक है। इसके अभावमें वह संस्था आखिर गन्दी और प्रतिष्ठा-रहित हो जाती है। शुद्ध हिसाबके बिना शुद्ध सत्यकी रक्षा असम्भव है।

काँग्रेसका दूसरा अंग उपनिवेशोंमें जन्मे हुए पढ़े-लिखे हिन्दुस्तानियोंकी सेवा करना था। इसके लिए 'कॉलोनियल बॉर्न इण्डियन एज्युकेशनल एसोसियेशन*' की स्थापना की गयी। नवयुवक ही मुख्यतः उसके सदस्य थे। उन्हें बहुत थोड़ा चन्दा देना होता था। इस संस्थाके द्वारा उनकी आवश्यकताओंका पता चलता था और उनकी विचार-शक्ति बढ़ती थी। हिन्दुस्तानी व्यापारियोंके साथ उनका सम्बन्ध कायम होता था और स्वयं उन्हें भी समाजकी सेवा करनेके अवसर प्राप्त होते थे। यह संस्था वाद-विवाद मण्डल-जैसी थी। इसकी नियमित सभायें होती थीं। उनमें वे लोग भिन्न-भिन्न विषयों पर अपने भाषण करते और निबन्ध पढ़ते थे। इसी निमित्तसे एक छोटेसे पुस्तकालयकी भी स्थापना हुई थी।

काँग्रेसका तीसरा अंग था बाहरी कार्य। इसमें दक्षिण अफ्रीकाके अंग्रेजोंमें और बाहर इंग्लैण्ड तथा हिन्दुस्तानमें नेटालकी सच्ची स्थिति पर प्रकाश डालनेका काम होता था। इस उद्देश्यसे मैंने दो पुस्तिकायें लिखीं। पहली पुस्तिकाका नाम था 'दक्षिण अफ्रीकामें रहनेवाले प्रत्येक अंग्रेजसे बिनती'। उसमें नेटालनिवासी भारतीयोंकी स्थितिका साधारण दिग्दर्शन प्रमाणों-सहित कराया गया था। दूसरी पुस्तिकाका नाम था 'भारतीय मताधिकार - एक बिनती'। उसमें भारतीय मताधिकारका इतिहास आँकड़ों और प्रमाणों-सहित दिया गया था। ये दोनों पुस्तिकायें काफी अध्ययन और परिश्रमके बाद लिखी गयी थीं। इनका फल भी वैसा

---

* उपनिवेशोंमें जन्मे हुए भारतीयोंका शिक्षा-मण्डल।

ही मिला। इनका व्यापक प्रचार किया गया था। इस कार्यके निमित्तसे दक्षिण अफ्रीकामें हिन्दुस्तानियोंके मित्र पैदा हो गये। इंग्लैण्डमें और हिन्दुस्तानमें सब पक्षोंकी तरफसे मदद मिली, कार्य करनेकी दिशा प्राप्त हुई और उसने निश्चित रूप धारण किया।

२०. बालासुन्दरम्

जैसी जिसकी भावना वैसा उसका फल, इस नियमको मैंने अपने बारेमें अनेक वार घटित होते देखा है। जनताको अर्थात् गरीबोंकी सेवा करनेकी मेरी प्रबल इच्छाने गरीबोंके साथ मेरा सम्बन्ध हमेशा ही अनायास जोड़ दिया है।

यद्यपि नेटाल इण्डियन काँग्रेसमें उपनिवेशोंमें पैदा हुए हिन्दुस्तानियोंने प्रवेश किया था और मुहर्रिरोंका समाज उसमें दाखिल हुआ था, फिर भी मजदूरोंने, गिरमिटिया समाजके लोगोंने, उसमें प्रवेश नहीं किया था। काँग्रेस उनकी नहीं हुई थी। वे उसमें चन्दा देकर और दाखिल होकर उसे अपना नहीं सके थे। उनके मनमें काँग्रेसके प्रति प्रेम तो तभी पैदा हो सकता था, जब काँग्रेस उनकी सेवा करे। ऐसा प्रसंग अपने-आप आ गया और वह भी ऐसे समय जब कि मैं स्वयं अथवा काँग्रेस उसके लिए शायद ही तैयार थी। मुझे वकालत शुरू किये अभी मुश्किलसे दो-चार महीने हुए थे। काँग्रेसका भी बचपन था। इतनेमें एक दिन बालासुन्दरम् नामका एक मद्रासी हिन्दुस्तानी हाथमें साफा लिये रोता-रोता मेरे सामने आकर खड़ा हो गया। उसके कपड़े फटे हुए थे, वह थर-थर काँप रहा था, उसके मुँहसे खून बह रहा था और उसके दो दाँत टूटे हुए थे। उसके मालिकने उसे बुरी तरह मारा था। तामिल समझनेवाले अपने मुहर्रिरके द्वारा मैंने उसकी स्थिति जान ली। बालासुन्दरम् एक प्रतिष्ठित गोरेके यहाँ मजदूरी करता था। मालिक किसी वजहसे गुस्सा हुआ होगा। उसे होश न रहा और उसने बालासुन्दरम्की खूब जमकर पिटाई की। परिणाम-स्वरूप बालासुन्दरम्के दो दाँत टूट गये।

मैंने उसे डॉक्टरके यहाँ भेजा। उन दिनों गोरे डॉक्टर ही मिलते थे। मुझे चोट-सम्बन्धी प्रमाण-पत्रकी आवश्यकता थी। उसे प्राप्त करके मैं बालासुन्दरम्को मजिस्ट्रेटके पास ले गया। वहाँ बालासुन्दरम्का शपथ-पत्र प्रस्तुत किया। उसे पढ़कर मजिस्ट्रेट मालिक पर गुस्सा हुआ। उसने मालिकके नाम समन जारी करनेका हुकम दिया।

मेरी नीयत मालिकको सजा करानेकी नहीं थी। मुझे तो बालासुन्दरम्को उसके पंजेसे छुड़ाना था। मैंने गिरमिटियोंसे सम्बन्ध रखनेवाले कानूनकी छानबीन कर ली। यदि साधारण नौकर नौकरी छोड़ता, तो मालिक उसके खिलाफ दीवानी दावा दायर कर सकता था, पर उसे फौजदारीमें नहीं ले जा सकता था। गिरमिटमें और साधारण नौकरीमें बहुत फरक था। पर खास फरक यह था कि अगर गिरमिटिया मालिकको छोड़े, तो वह फौजदारी गुनाह माना जाता था और उसके लिए उसे कैद भुगतनी होती थी। इसीलिए सर विलियम विल्सन हण्टरने इस स्थितिको लगभग गुलामीकी-सी स्थिति माना था। गुलामकी तरह गिरमिटिया मालिककी मिल्कियत माना जाता था। बालासुन्दरम्को छुड़ानेके केवल दो उपाय थे: या तो गिरमिटियोंके लिए नियुक्त अधिकारी, जो कानूनकी दृष्टिसे उनका रक्षक कहा जाता था, उसका गिरमिट रद करे या दूसरेके नाम लिखवा दे; अथवा मालिक स्वयं उसे छोड़नेको तैयार हो जाय। मैं मालिकसे मिला। उससे मैंने कहा, "मैं आपको सजा नहीं कराना चाहता। इस आदमीको सख्त मार पड़ी है, सो तो आप जानते ही हैं। आप इसका गिरमिट दूसरेके नाम लिखानेको राजी हो जायें, तो मुझे सन्तोष होगा।" मालिक तो यही चाहता था। फिर मैं रक्षकसे मिला। उसने भी सहमत होना स्वीकार किया, पर शर्त यह रखी कि मैं बालासुन्दरम्के लिए नया मालिक खोज दूँ।

मुझे नये अंग्रेज मालिककी खोज करनी थी। हिन्दुस्तानियोंको गिरमिटिया मजदूर रखनेकी इजाजत नहीं थी। मैं अभी कुछ ही अंग्रेजोंको पहचानता था। उनमें से एकको मिला। उन्होंने मुझ पर मेहरबानी करके बालासुन्दरम्को रखना मंजूर कर लिया। मैंने उनकी कृपाको साभार स्वीकार किया। मजिस्ट्रेटने मालिकको अपराधी ठहराकर यह लिख दिया कि उसने बालासुन्दरम्का गिरमिट दूसरेके नाम लिखाना स्वीकार किया है।

बालासुन्दरम्के मामलेकी बात गिरमिटियोंमें चारों तरफ फैल गयी और मैं उनका बन्धु मान लिया गया। मुझे यह बात अच्छी लगी। मेरे दफ्तरमें गिरमिटियोंका ताँता-सा लग गया और मुझे उनके सुख-दुःख जाननेकी बड़ी सुविधा हो गयी।

बालासुन्दरम्के मामलेकी भनक ठेठ मद्रास प्रान्त तक पहुँची। उस प्रान्तके जिन-जिन हिस्सोंसे लोग नेटालके गिरमिटमें जाते, उन्हें गिरमिटिया ही इस मामलेकी जानकारी देते थे। वैसे यह मामला महत्त्वका नहीं था, पर लोगोंको यह जानकर आनन्द और आश्चर्य हुआ कि उनके लिए प्रकट रूपसे काम करनेवाला कोई आदमी

निकल आया है। इस बातसे उन्हें आश्वासन मिला।

मैं ऊपर लिख चुका हूँ कि बालासुन्दरम् अपना साफा उतारकर और उसे अपने हाथमें रखकर मेरे पास आया था। इस घटनामें बड़ी करुणा भरी है; इसमें हमारी बेइज्जती भी भरी है। पगड़ी उतारनेका मेरा किस्सा तो हम जान ही चुके हैं। गिरमिटिया और दूसरे अनजान हिन्दुस्तानी जब किसी भी गोरेके घरमें दाखिल होते, तो उसके सम्मानके लिए पगड़ी उतार लिया करते थे - फिर वह टोपी हो, या बंधी हुई पगड़ी हो या लपेटा हुआ साफा हो। दोनों हाथोंसे सलाम करना काफी नहीं था। बालासुन्दरम्ने सोचा कि मेरे सामने भी इसी तरह आना चाहिये। मेरे निकट बालासुन्दरम्का यह दृश्य मेरा पहला अनुभव था। मैं शरमाया। मैंने बालासुन्दरम्को साफा बाँधनेके लिए कहा। बड़े संकोचके साथ उसने साफा बाँधा। पर इससे उसे जो खुशी हुई, उसे मैं ताड़ गया। दूसरोंको अपमानित करके लोग अपनेको सम्मानित कैसे समझ सकते हैं, इस पहेलीको मैं आज तक हल नहीं कर सका हूँ।

२१. तीन पौण्डका कर

बालासुन्दरम्के किस्सेने गिरमिटिया हिन्दुस्तानियोंके साथ मेरा सम्बन्ध जोड़ दिया। परन्तु उन पर कर लगानेका जो आन्दोलन चला, उसके परिणाम-स्वरूप मुझे उनकी स्थितिका गहरा अध्ययन करना पड़ा।

१८९४ के सालमें गिरमिटिया हिन्दुस्तानियों पर हर साल २५ पौण्डका अर्थात् ३७५ रुपयोंका कर लगानेके कानूनका मसविदा नेटालकी सरकारने तैयार किया। उस मसविदेको पढ़कर मैं तो दिङ्मूढ़ ही हो गया। मैंने उसे स्थानीय काँग्रेसके सामने रखा। इस मामलेमें जो आन्दोलन करना उचित था, वह करनेका एक प्रस्ताव काँग्रेसने पास किया।

लगभग १८६० में जब नेटालमें बसे हुए गोरोंने देखा कि वहाँ इखकी फसल अच्छी हो सकती है, तो उन्होंने मजदूरोंकी खोज शुरू की। मजदूर न मिलें, तो न ईख पैदा हो सकती थी और न चीनी ही बन सकती थी। नेटालके हब्शी यह मजदूरी नहीं कर सकते थे। इसलिए नेटाल-निवासी गोरोंने भारत-सरकारके साथ विचार-विमर्श करके हिन्दुस्तानी मजदूरोंको नेटाल जाने देनेकी अनुमति प्राप्त की। उन्हें यह लालच दिया गया कि पाँच साल तक मजदूरी करनेका बंधन रहेगा और पाँच सालके

बाद उन्हें स्वतंत्र रीतिसे नेटालमें बसनेकी छूट रहेगी। उनको जमीनका मालिक बननेका पूरा अधिकार भी दिया गया था। उस समय गोरे चाहते थे कि हिन्दुस्तानी मजदूर अपने पाँच साल पूरे होनेके बाद जमीन जोतें और अपने उद्यमका लाभ नेटालको दें।

हिन्दुस्तानी मजदूरोंने यह लाभ आशासे अधिक दिया। साग-सब्जी खूब बोयी। हिन्दुस्तानकी अनेक उत्तम तरकारियाँ पैदा कीं। जो साग-सब्जियाँ वहाँ पहलेसे पैदा होती थीं उनके दाम सस्ते कर दिये। हिन्दुस्तानसे आम लाकर लगाये। पर इसके साथ ही उन्होंने व्यापार भी शुरू कर दिया। घर बनानेके लिए जमीनें खरीद लीं और बहुतेरे लोग मजदूर न रहकर अच्छे जमींदार और मकान-मालिक बन गये। इस तरह मजदूरोंमें से मकान-मालिक बन जानेवालोंके पीछे-पीछे वहाँ स्वतंत्र व्यापारी भी पहुँचे। स्व० सेठ अबूबकर आमद उनमें सबसे पहले पहुँचनेवाले थे। उन्होंने वहाँ अपना कारोबार खूब जमाया।

गोरे व्यापारी चौंके। जब पहले-पहल उन्होंने हिन्दुस्तानी मजदूरोंका स्वागत किया था, तब उन्हें उनकी व्यापार करनेकी शक्तिका कोई अन्दाज न था। वे किसानके नाते स्वतंत्र रहें, इस हद तक तो गोरोंको उस समय कोई आपत्ति न थी, पर व्यापारमें उनकी प्रतिद्वन्द्विता उन्हें असह्य जान पड़ी।

हिन्दुस्तानियोंके साथ उनके विरोधके मूलमें यह चीज थी।

उसमें दूसरी चीजें और मिल गयीं। हमारी अलग रहन-सहन, हमारी सादगी, हमारा कम नफेसे संतुष्ट रहना, आरोग्यके नियमोंके बारेमें हमारी लापरवाही, घर-आँगनको साफ रखनेका आलस्य, उनकी मरम्मतमें कंजूसी, हमारे अलग-अलग धर्म - ये सारी बातें विरोधको भड़कानेवाली सिद्ध हुईं।

यह विरोध प्राप्त मताधिकारको छीन लेनेके रूपमें और गिरमिटियों पर कर लगानेके कानूनके रूपमें प्रकट हुआ। कानूनके बाहर तो अनेक प्रकारसे उन्हें परेशान करना शुरू हो ही चुका था।

पहला सुझाव तो यह था कि गिरमिट पूरा होनेके कुछ दिन पहले ही हिन्दुस्तानियोंको जबरदस्ती वापस भेज दिया जाय, ताकि उनके इकरारनामेकी मुदत हिन्दुस्तानमें पूरी हो। पर इस सुझावको भारत-सरकार माननेवाली नहीं थी। इसलिए यह सुझाव दिया गया कि:

१. मजदूरीका इकरार पूरा हो जाने पर गिरमिटिया वापस हिन्दुस्तान चला जाये; अथवा

२. हर दूसरे साल नया गिरमिट लिखवाये और उस हालतमें हर बार उसके वेतनमें कुछ बढ़ोतरी की जाये;

३. अगर वह वापस न जाये और मजदूरीका नया इकरारनामा भी न लिखे, तो हर साल २५ पौण्डका कर दे।

इन सुझावोंका स्वीकार करानेके लिए सर हेनरी बीन्स और मि० मेसनका डेप्युटेशन हिन्दुस्तान भेजा गया। तब लॉर्ड एलविन वाइसरॉय थे। उन्होंने २५ पौण्डका कर तो नामंजूर कर दिया; पर वैसे हरएक हिन्दुस्तानीसे ३ पौण्डका कर लेनेकी स्वीकृति दे दी। मुझे उस समय ऐसा लगा था और अब तक लगता है कि वाइसरॉयकी यह गंभीर भूल थी। इसमें उन्होंने हिन्दुस्तानके हितका तनिक भी विचार नहीं किया। नेटालके गोरोंके लिए ऐसी सुविधा कर देना उनका कोई धर्म नहीं था। तीन-चार सालके बाद यह कर वैसे (गिरमिट-मुक्त) हिन्दुस्तानीकी स्त्रीसे और उसके हर १६ साल और उससे बड़ी उमरके लड़के और १३ साल या उससे बड़ी उमरकी लड़कीसे भी लेनेका निश्चय किया गया। इस प्रकार पति-पत्नी और दो बच्चोंवाले कुटुम्बसे, जिसमें पतिको अधिकसे अधिक १४ शिलिंग प्रतिमास मिलते हों, १२ पौण्ड अर्थात् १८० रुपयेका कर लेना भारी जुल्म माना जायगा। दुनियामें कहीं भी इस स्थितिके गरीब लोगोंसे ऐसा भारी कर नहीं लिया जाता था।

इस करके विरुद्ध जोरोंकी लड़ाई छिड़ी। यदि नेटाल इण्डियन काँग्रेसकी ओरसे कोई आवाज ही न उठाई जाती, तो शायद वाइसरॉय २५ पौण्ड भी मंजूर कर लेते। २५ पौण्डके बदले ३ पौण्ड होना भी काँग्रेसके आन्दोलनका ही प्रताप हो, यह पूरी तरह संभव है। पर इस कल्पनामें मेरी भूल हो सकती है। सम्भव है कि भारत-सरकारने २५ पौण्डके प्रस्तावको शुरूसे ही अस्वीकार कर दिया हो, और हो सकता है कि काँग्रेसके विरोध न करने पर भी वह ३ पौण्डका कर ही स्वीकार करती। तो भी उसमें हिन्दुस्तानके हितकी हानि तो थी ही। हिन्दुस्तानके हित-रक्षकके नाते वाइसरॉयको ऐसा अमानुषी कर कभी स्वीकार नहीं करना चाहिये था।

२५ से ३ पौण्ड (३७५ रुपयेसे ४५ रुपये) होने में काँग्रेस क्या यश लेती? उसे तो यही अखरा कि वह गिरमिटियोंके हितकी पूरी रक्षा न कर सकी। और ३ पौण्डका कर किसी-न-किसी दिन हटना ही चाहिये, इस निश्चयको काँग्रेसने कभी

भुलाया नहीं। पर इस निश्चयको पूरा करनेमें बीस वर्ष बीत गये। इस युद्धमें नेटालके ही नहीं, बल्कि समूचे दक्षिण अफ्रीकाके हिन्दुस्तानियोंको सम्मिलित होना पड़ा। उसमें गोखलेको निमित्त बनना पड़ा। गिरमिटिया हिन्दुस्तानियोंको पूरी तरह हाथ बँटाना पड़ा। उसके कारण कुछ लोगोंको गोलियाँ खाकर मरना पड़ा। दस हजारसे अधिक हिन्दुस्तानियोंको जेल भुगतनी पड़ी।

पर अन्तमें सत्यकी जय हुई। हिन्दुस्तानियोंकी तपस्यामें सत्य मूर्तिमान हुआ। इसके लिए अटल श्रद्धाकी, अखूट धैर्यकी और सतत कार्य करते रहनेकी आवश्यकता थी। यदि कौम हारकर बैठ जाती, कॉंग्रेस लड़ाईको भूल जाती और करको अनिवार्य समझकर उसके आगे झुक जाती, तो वह कर आज तक गिरमिटिया हिन्दुस्तानियोंसे वसूल होता रहता और इसका कलंक स्थानीय हिन्दुस्तानियोंको और समूचे हिन्दुस्तानको लगता।

२२. धर्म-निरीक्षण

इस प्रकार मैं हिन्दुस्तानी समाजकी सेवामें ओतप्रोत हो गया, उसका कारण आत्म-दर्शनकी अभिलाषा थी। ईश्वरकी पहचान सेवासे ही होगी, यह मानकर मैंने सेवा-धर्म स्वीकार किया था। मैं हिन्दुस्तानकी सेवा करता था, क्योंकि वह सेवा मुझे अनायास प्राप्त हुई थी। मुझे उसकी रुचि थी। मुझे उसे खोजने नहीं जाना पड़ा था। मैं तो यात्रा करने, काठियावाड़के षड्यंत्रोंसे बचने और आजीविका खोजनेके लिए दक्षिण अफ्रीका गया था। पर पड़ गया ईश्वरकी खोजमें – आत्म-दर्शनके प्रयत्नमें। ईसाई भाइयोंने मेरी जिज्ञासाको बहुत तीव्र कर दिया था। वह किसी भी तरह शान्त होनेवाली न थी। मैं शान्त होना चाहता तो भी ईसाई भाई-बहन मुझे शान्त होने न देते। क्योंकि डरबनमें मि० स्पेन्सर वॉल्टनने, जो दक्षिण अफ्रीकाके मिशनके मुखिया थे, मुझे खोज निकाला। उनके घरमें मैं कुटुम्बी-जैसा हो गया। इस सम्बन्धका मूल प्रिटोरियामें हुआ समागम था। मि० वॉल्टनकी रीति-नीति कुछ दूसरे प्रकारकी थी। उन्होंने मुझे ईसाई बननेको कहा हो, सो याद नहीं। पर अपना जीवन उन्होंने मेरे सामने रख दिया और अपनी प्रवृत्तियाँ - कार्यकलाप - मुझे देखने दीं। उनकी धर्मपत्नी बहुत नम्र परन्तु तेजस्वी महिला थीं।

मुझे इस दम्पतीकी पद्धति अच्छी लगती थी। अपने बीचके मूलभूत मतभेदोंको

हम दोनों जानते थे। ये मतभेद आपसी चर्चा द्वारा मिटनेवाले नहीं थे। जहाँ उदारता, सहिष्णुता और सत्य होता है वहाँ मतभेद भी लाभदायक सिद्ध होते हैं। मुझे इस युगलकी नम्रता, उद्यम-शीलता और कार्य-परायणता प्रिय थी। इसलिए हम समय-समय पर मिलते रहते थे।

इस सम्बन्धने मुझे जाग्रत रखा। धार्मिक पुस्तकोंके अध्ययनके लिए जो फुरसद मुझे प्रिटोरियामें मिल गयी थीं, वह अब असम्भव थी। पर जो थोड़ा समय बचता, उसका उपयोग मैं वैसे अध्ययनमें करता था। मेरा पत्रव्यवहार जारी था। रायचन्दभाई मेरा मार्गदर्शन कर रहे थे। किसी मित्रने मुझे नर्मदाशंकरकी 'धर्म-विचार' पुस्तक भेजी। उसकी प्रस्तावना मेरे लिए सहायक सिद्ध हुई। मैंने नर्मदाशंकरके विलासी जीवनकी बातें सुनी थीं। प्रस्तावनामें उनके जीवनमें हुए परिवर्तनोंका वर्णन था। उसने मुझे आकर्षित किया और इस कारण उस पुस्तकके प्रति मेरे मनमें आदर उत्पन्न हुआ। मैं उसे ध्यानपूर्वक पढ़ गया। मैक्समूलरकी 'हिन्दुस्तान क्या सिखाता है?' पुस्तक मैंने बड़ी दिलचस्पीके साथ पढ़ी। थियॉसॉफिकल सोसायटी द्वारा प्रकाशित उपनिषदोंका भाषान्तर पढ़ा। इससे हिन्दू धर्मके प्रति मेरा आदर बढ़ा। उसकी खूबियाँ मैं समझने लगा। पर दूसरे धर्मोंके प्रति मेरे मनमें अनादर उत्पन्न नहीं हुआ। वाशिंग्टन अरविंग कृत मुहम्मदका चरित्र और कार्लाइलकी मुहम्मद-स्तुति पढ़ी। मुहम्मद पैगम्बरके प्रति मेरा सम्मान बढ़ा। 'जरथुस्तके वचन' नामक पुस्तक भी मैंने पढ़ी।

इस प्रकार मैंने भिन्न-भिन्न सम्प्रदायोंका थोड़ा-बहुत ज्ञान प्राप्त किया। मेरा आत्म-निरीक्षण बढ़ा। जो पढ़ा और पसंद किया, उसे आचरणमें लानेकी आदत पक्की हुई। अतएव हिन्दू धर्ममें सूचित प्राणायाम-सम्बन्धी कुछ क्रियायें, जितनी पुस्तककी मददसे समझ सका उतनी, मैंने शुरू कीं। पर वे मुझे सधी नहीं। मैं उनमें आगे न बढ़ सका। सोचा था कि वापस हिन्दुस्तान जाने पर उनका अभ्यास किसी शिक्षककी देखरेखमें करूँगा। पर वह विचार कभी पूरा नहीं हो सका।

टॉल्स्टॉयकी पुस्तकोंका अध्ययन मैंने बढ़ा लिया। उनकी 'गॉस्पेल्स इन ब्रीफ' (नये करारका सार), 'व्हॉट टु डू' (तब क्या करें?) आदि पुस्तकोंने मेरे मन पर गहरी छाप डाली। विश्व-प्रेम मनुष्यको कहाँ तक ले जा सकता है, इसे मैं अधिकाधिक समझने लगा।

इसी समय एक दूसरे ईसाई कुटुम्बके साथ मेरा सम्बन्ध जुड़ा। उसकी इच्छासे मैं

हर रविवारको वेस्लियन गिरजेमें जाया करता था। अक्सर हर रविवारकी शामको मुझे उनके घर भोजन भी करना पड़ता था। वेस्लियन गिरजेका मुझ पर अच्छा असर नहीं पड़ा। वहाँ जो प्रवचन होते थे, वे मुझे शुष्क जान पड़े। प्रेक्षकोंमें भक्तिभावके दर्शन नहीं हुए। यह ग्यारह बजेका समाज मुझे भक्तोंका नहीं, बल्कि कुछ दिल बहलाने और कुछ रिवाज पालनेके लिए आये हुए संसारी जीवोंका समाज जान पड़ा। कभी-कभी इस सभामें मुझे बरबस नींदके झोंके आ जाते। इससे मैं शरमाता। पर अपने आसपास भी किसीको ऊँघते देखता, तो मेरी शरम कुछ कम हो जाती। अपनी यह स्थिति मुझे अच्छी नहीं लगी। आखिर मैंने इस गिरजेमें जाना छोड़ दिया।

मैं जिस परिवारमें हर रविवारको जाता था, कहना होगा कि वहाँसे तो मुझे छुट्टी ही मिल गयी। घरकी मालकिन भोली, भली परन्तु संकुचित मनकी मालूम हुई। हर बार उनके साथ कुछ-न-कुछ धर्मचर्चा तो होती ही रहती थी। उन दिनों मैं घर पर 'लाइट ऑफ एशिया' पढ़ रहा था। एक दिन हम ईसा और बुद्धके जीवनकी तुलना करने लगे। मैंने कहा :

"गौतमकी दयाको देखिये। वह मनुष्य-जातिको लाँघकर दूसरे प्राणियों तक पहुँच गयी थी। उनके कंधे पर खेलते हुए मेमनेका चित्र आँखोंके सामने आते ही क्या आपका हृदय प्रेमसे उमड़ नहीं पड़ता? प्राणिमात्रके प्रति ऐसा प्रेम मैं ईसाके चरित्रमें नहीं देख सका।"

उन बहनका दिल दुखा। मैं समझ गया। मैंने अपनी बात आगे न बढ़ायी। हम भोजनालयमें पहुँचे। कोई पाँच वर्षका उनका हँसमुख बालक भी हमारे साथ था। मुझे बच्चे मिल जायें तो फिर और क्या चाहिये? उसके साथ मैंने दोस्ती तो कर ही ली थी। मैंने उसकी थालीमें पड़े मांसके टुकड़ेका मजाक किया और अपनी रकाबीमें सजे हुए सेवकी स्तुति शुरू की। निर्दोष बालक पिघल गया और सेवकी स्तुतिमें सम्मिलित हो गया।

पर माता? वह बेचारी दुखी हुई।

मैं चेता। चुप्पी साध गया। मैंने चर्चाका विषय बदल दिया।

दूसरे हफ्ते सावधान रहकर मैं उनके यहाँ गया तो सही, पर मेरे पाँव भारी हो गये थे। मुझे यह न सूझा कि मैं खुद ही वहाँ जाना बन्द कर दूँ और न ऐसा करना उचित जान पड़ा। पर उस भली बहनने मेरी कठिनाई दूर कर दी। वे बोलीं, "मि०

गांधी, आप बुरा न मानियेगा, पर मुझे आपसे कहना चाहिये कि मेरे बालक पर आपकी सोहबतका बुरा असर होने लगा है। अब वह रोज मांस खानेमें आनाकानी करता है और आपकी उस चर्चाकी याद दिलाकर फल माँगता है। मुझसे यह न निभ सकेगा। मेरा बच्चा मांसाहार छोड़नेसे बीमार चाहे न पड़े, पर कमजोर तो हो ही जायेगा। इसे मैं कैसे सह सकती हूँ? आप जो चर्चा करते हैं, वह हम सयानोंके बीच शोभा दे सकती है। लेकिन बालकों पर तो उसका बुरा ही असर हो सकता है!"

"मिसेज . . . मुझे दुःख है। माताके नाते मैं आपकी भावनाको समझ सकता हूँ। मेरे भी बच्चे हैं। इस आपत्तिका अन्त सरलतासे हो सकता है। मेरे बोलनेका जो असर होगा, उसकी अपेक्षा मैं जो खाता हूँ या नहीं खाता हूँ, उसे देखनेका असर बालक पर बहुत अधिक होगा। इसलिए अच्छा रास्ता तो यह है कि अबसे आगे मैं रविवारको आपके यहाँ न आऊँ। इससे हमारी मित्रतामें कोई बाधा न पहुँचेगी।"

बहनने प्रसन्न होकर उत्तर दिया, "मैं आपका आभार मानती हूँ।"

२३. घरकी व्यवस्था

मैं बम्बईमें और विलायतमें घर बसा चुका था, पर उसमें और नेटालमें घरकी व्यवस्था जमानेमें फरक था। नेटालमें कुछ खर्च मैंने केवल प्रतिष्ठाके लिए चला रखा था। मैंने मान लिया था कि नेटालमें हिन्दुस्तानी बारिस्टरके नाते और हिन्दुस्तानियोंके प्रतिनिधिके रूपमें मुझे काफी खर्च करना चाहिये, इसलिए मैंने अच्छे मुहल्लेमें अच्छा घर लिया था। घरको अच्छी तरह सजाया भी था। भोजन सादा था, पर अंग्रेज मित्रोंको न्योतना होता था और हिन्दुस्तानी साथियोंको भी न्योतता था, इस कारण स्वभावतः वह खर्च भी बढ़ गया था।

नौकरकी कमी तो सब कहीं जान पड़ती थी। किसीको नौकरके रूपमें रखना मुझे आया ही नहीं।

एक साथी मेरे साथ रहता था। एक रसोइया रखा था। वह घरके आदमी जैसा बन गया था। दफ्तरमें जो मुहर्रिर रखे थे, उनमें से भी जिन्हें रख सकता था, मैंने घरमें रख लिया था।

मैं मानता हूँ कि यह प्रयोग काफी सफल रहा। पर उसमें से मुझे संसारके कड़वे अनुभव भी हुए।

मेरा वह साथी बहुत होशियार था और मेरे खयालके मुताबिक मेरे प्रति वफ़ादार था। पर मैं उसे पहचान न सका। दफ्तरके एक मुहर्रिरको मैंने घरमें रख लिया था। उसके प्रति इस साथीके मनमें ईर्ष्या उत्पन्न हुई। साथीने ऐसा जाल रचा कि मैं मुहर्रिर पर शक करने लगा। यह मुहर्रिर बहुत स्वतंत्र स्वभावका था। उसने घर और दफ्तर दोनों छोड़ दिये। मुझे दुःख हुआ। कहीं उसके साथ अन्याय तो नहीं हुआ? यह विचार मुझे कुरेदने लगा।

इसी बीच मैंने जिस रसोइयेको रखा था, उसे किसी कारणसे दूसरी जगह जाना पड़ा। मैंने उसे मित्रकी सार-संभालके लिए रखा था। इसलिए उसके बदले दूसरा रसोइया लगाया। बादमें मुझे पता चला कि वह आदमी उड़ती चिड़िया भाँपनेवाला था। पर मेरे लिए वह इस तरह उपयोगी सिद्ध हुआ, मानो मुझे वैसे ही आदमीकी जरूरत रही हो!

इस रसोइयेको रखे मुश्किलसे दो या तीन दिन ही हुए होंगे। इस बीच उसने मेरे घरमें मेरे अनजाने चलनेवाले अनाचारको देख लिया और मुझे चेतानेका निश्चय किया। लोगोंकी यह धारणा बन गयी थी कि मैं विश्वासशील और अपेक्षाकृत भला आदमी हूँ। इसलिए इस रसोइयेको मेरे ही घरमें चलनेवाला भ्रष्टाचार भयानक प्रतीत हुआ।

मैं दोपहरके भोजनके लिए दफ्तरसे एक बजे घर जाया करता था। एक दिन कोई बारह बजे होंगे। इतनेमें यह रसोइया हाँफता-हाँफता आया और मुझसे कहने लगा, "आपको कुछ देखना हो तो खड़े पैरों घर चलिये।"

मैंने कहा, "इसका अर्थ क्या है? तुम्हें मुझे बताना चाहिये कि काम क्या है। ऐसे समय मुझे घर चलकर क्या देखना है?"

रसोइया बोला, "न चलेंगे तो आप पछतायेंगे। मैं आपको इससे अधिक कहना नहीं चाहता।"

उसकी दृढ़तासे मैं आकर्षित हुआ। मैं अपने मुहर्रिरको साथ लेकर घर गया रसोइया आगे चला।

घर पहुँचने पर वह मुझे दूसरी मंजिल पर ले गया। जिस कमरेमें वह साथी रहता था, उसे दिखाकर बोला, "इस कमरेको खोलकर देखिये।"

अब मैं समझ गया। मैंने कमरेका दरवाजा खटखटाया।

जवाब क्यों मिलता? मैंने बहुत जोरसे दरवाजा खटखटाया। दीवार काँप उठी।

दरवाजा खुला। अन्दर एक बदचलन औरतको देखा। मैंने उससे कहा, "बहन, तुम तो यहाँसे चली ही जाओ। अब फिर कभी इस घरमें पैर न रखना।"

साथीसे कहा, "आजसे तुम्हारा और मेरा सम्बन्ध समाप्त होता है। मैं खूब ठगाया और मूर्ख बना। मेरे विश्वासका यह बदला तो न मिलना चाहिये था।"

साथी बिगड़ा। उसने मेरा सारा पर्दाफाश करनेकी धमकी दी।

"मेरे पास कोई छिपी चीज है ही नहीं। मैंने जो कुछ किया है, उसे तुम खुशीसे प्रकट करो। पर तुम्हारे साथ मेरा सम्बन्ध तो अब समाप्त हुआ।"

साथी और गरमाया। मैंने नीचे खड़े मुहर्रिरसे कहा, "तुम जाओ। पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्टसे मेरा सलाम बोलो और कहो कि मेरे एक साथीने मुझे धोखा दिया है। मैं उसे अपने घरमें रखना नहीं चाहता। फिर भी वह निकलनेसे इनकार करता है। मेहरबानी करके मुझे मदद भेजिये।"

अपराधमें दीनता होती है। मेरे इतना कहनेसे ही साथी ढीला पड़ा। उसने माफी माँगी। सुपरिण्टेण्डेण्टके यहाँ आदमी न भेजनेके लिए वह गिड़गिड़ाया और तुरन्त घर छोड़कर जाना कबूल किया। उसने घर छोड़ दिया।

इस घटनाने मुझे जीवनमें ठीक समय पर सचेत कर दिया। यह साथी मेरे लिए मोहरूप और अवांच्छनीय था, इसे मैं इस घटनाके बाद ही स्पष्ट रूपसे देख सका। इस साथीको रखकर मैंने अच्छे कामके लिए बुरे साधनको पसन्द किया था। बबूलके पेड़से आमकी आशा रखी थी। साथीका चाल-चलन अच्छा नहीं था, फिर भी मैंने मान लिया था कि वह मेरे प्रति वफादार है। उसे सुधारनेका प्रयत्न करते हुए मैं स्वयं लगभग गन्दगीमें सन गया था। मैंने अपने हितैषियोंकी सलाहका अनादर किया था। मोहने मुझे बिलकुल अन्धा बना दिया था।

यदि इस दुर्घटनासे मेरी आँखें न खुली होतीं, मुझे सत्यका पता न चलता, तो सम्भव है कि जो स्वार्पण मैं कर सका हूँ, उसे करनेमें मैं कभी समर्थ न हो पाता। मेरी सेवा सदा अधूरी रहती, क्योंकि वह साथी मेरी प्रगतिको अवश्य रोकता। अपना बहुत-सा समय मुझे उसके लिए देना पड़ता। उसमें मुझको अन्धकारमें रखने और गलत रास्ते ले जानेकी शक्ति थी।

पर जिसे राम रखे, उसे कौन चखे? मेरी निष्ठा शुद्ध थी, इसलिए अपनी गलतियोंके बावजूद मैं बच गया और मेरे पहले अनुभवने मुझे सावधान कर दिया।

उस रसोइयेको शायद भगवानने मेरे पास भेजा था। वह रसोई बनाना नहीं

जानता था, इसलिए वह मेरे यहाँ रह न सकता था। पर उसके आये बिना दूसरा कोई मुझे जाग्रत नहीं कर सकता था। वह स्त्री मेरे घरमें पहली ही बार आयी हो, सो बात नहीं। पर इस रसोइये जितनी हिम्मत दूसरोंको हो ही कैसे सकती थी? इस साथीके प्रति मेरे बेहद विश्वाससे सब लोग परिचित थे।

इतनी सेवा करके रसोइयेने तो उसी दिन और उसी क्षण जानेकी इजाजत चाही। वह बोला: "मैं आपके घरमें नहीं रह सकता। आप भोले भंडारी ठहरे। यहाँ मेरा काम नहीं।"

मैंने आग्रह नहीं किया।

उक्त मुहर्रिर पर शक पैदा करानेवाला यह साथी ही था, यह बात मुझे अब मालूम हुई। उसके साथ हुए अन्यायको मिटानेका मैंने बहुत प्रयत्न किया, पर मैं उसे पूरी तरह सन्तुष्ट न कर सका। मेरे लिए यह सदा ही दुःखकी बात रही। फूटे बरतनको कितना ही पक्का क्यों न जोड़ा जाये, वह जोड़ा हुआ ही कहलायेगा. संपूर्ण कभी नहीं होगा।

२४. देशकी ओर

अब मैं दक्षिण अफ्रीकामें तीन साल रह चुका था। मैं लोगोंको पहचानने लगा था और लोग मुझे पहचानने लगे थे। सन् १८९६ में मैंने छह महीनोंके लिए देश जानेकी इजाजत माँगी। मैंने देखा कि मुझे दक्षिण अफ्रीकामें लम्बे समय तक रहना होगा। कहा जा सकता है कि मेरी वकालत ठीक चल रही थी। सार्वजनिक काममें लोग मेरी उपस्थितिकी आवश्यकता अनुभव कर रहे थे; मैं स्वयं भी करता था। इससे मैंने दक्षिण अफ्रीकामें सपरिवार रहनेका निश्चय किया और उसके लिए देश हो आना ठीक समझा। फिर, मैंने यह भी देखा कि देश जानेसे कुछ सार्वजनिक कार्य भी हो सकता है। मुझे लगा कि देशमें लोकमत जाग्रत करके यहाँके भारतीयोंके प्रश्नमें लोगोंकी अधिक दिलचस्पी पैदा की जा सकती है। तीन पौण्डका कर एक नासूर था -- सदा बहनेवाला घाव था। जब तक वह रद न हो, चित्तको शांति नहीं मिल सकती थी।

लेकिन मेरे देश जाने पर काँग्रेसका और शिक्षा-मण्डलका काम कौन संभाले? दो साथियों पर मेरी दृष्टि पड़ी -- आदमजी मियांखान और पारसी रुस्तमजी। व्यापारी

समाजमें बहुतसे काम करनेवाले निकल आये थे, पर मंत्रीका काम संभाल सकने, नियमित रूपसे काम करने और दक्षिण अफ्रीकामें जन्मे हुए हिन्दुस्तानियोंका मन जीत सकनेकी योग्यता रखनेवालोंमें ये दो प्रथम पंक्तिमें खड़े किये जा सकते थे। मंत्रीके लिए साधारण अंग्रेजी जाननेकी जरूरत तो थी ही। मैंने इन दोमें से स्व. आदमजी मियांखानको मंत्रीपद देनेकी सिफारिश काँग्रेससे की और वह स्वीकार कर ली गयी। अनुभवसे यह चुनाव बहुत अच्छा सिद्ध हुआ। अपनी लगन, उदारता, मिठास और विवेकसे सेठ आदमजी मियांखानने सबको सन्तुष्ट किया और सबको विश्वास हो गया कि मंत्रीका काम करनेके लिए वकील-बारिस्टरकी या बहुत पढ़े हुए उपाधिधारीकी आवश्यकता नहीं है।

सन् १८९६ के मध्यमें मैं देश जानेके लिए 'पोंगोला' स्टीमरमें रवाना हुआ। यह स्टीमर कलकत्ते जानेवाला था।

स्टीमरमें मुसाफिर बहुत थे। दो अंग्रेज अधिकारी थे। उनसे मेरी मित्रता हो गयी। एकके साथ मैं रोज एक घण्टा शतरंज खेलनेमें बिताता था। स्टीमरके डॉक्टरने मुझे एक 'तामिल-शिक्षक' (तामिल सिखानेवाली) पुस्तक दी। अतएव मैंने उसका अभ्यास शुरू कर दिया

नेटालमें मैंने अनुभव किया कि मुसलमानोंके साथ अधिक निकटका सम्बन्ध जोड़नेके लिए मुझे उर्दू सीखनी चाहिये और मद्रासी भाइयोंसे वैसा सम्बन्ध स्थापित करनेके लिए तामिल सीखनी चाहिये।

उर्दूके लिए उक्त अंग्रेज मित्रकी माँग पर मैंने डेकके मुसाफिरोंमें से एक अच्छा मुंशी ढूँढ़ निकाला और हमारी पढ़ाई अच्छी तरह चलने लगी। अंग्रेज अधिकारीकी स्मरण-शक्ति मुझसे बढ़ी-चढ़ी थी। उर्दू अक्षर पहचाननेमें मुझे मुश्किल होती थी, पर वह तो एक बार जिस शब्दको देख लेते उसे कभी भूलते ही न थे। मैं अधिक मेहनत करने लगा। फिर भी उनकी बराबरी नहीं कर सका।

तामिलका अभ्यास भी ठीक चलता रहा। उसमें किसीकी मदद नहीं मिल सकती थी। पुस्तक ऐसे ढंगसे लिखी गयी थी कि मददकी अधिक आवश्यकता न पड़े।

मुझे आशा थी कि इस तरह शुरू किये गये अभ्यासको मैं देशमें पहुँचनेके बाद भी जारी रख सकूँगा। पर वैसा न हो पाया। सन् १८९३ के बादका मेरा वाचन और अध्ययन मुख्यतः जेलमें ही हुआ। इन दोनों भाषाओंका ज्ञान मैंने आगे बढ़ाया तो सही, पर वह सब जेलमें ही। तामिलका दक्षिण अफ्रीकाकी जेलमें और उर्दूका

यरवडा जेलमें। पर तामिल बोलना मैं कभी सीख न सका; पढ़ना ठीक तरहसे सीखा था, पर अभ्यासके अभावमें अब उसे भी भूलता जा रहा हूँ। उस अभावका दुःख मुझे आज भी व्यथित करता है। दक्षिण अफ्रीकाके मद्रासी भाइयोंसे मैंने भर-भर कर प्रेम-रस पाया है। उनका स्मरण मुझे प्रतिक्षण बना रहता है। उनकी श्रद्धा, उनका उद्योग, उनमें से बहुतोंका निःस्वार्थ त्याग किसी भी तामिल-तेलुगुको देखने पर मुझे याद आये बिना रहता ही नहीं। और ये सब लगभग निरक्षरोंकी गिनतीमें थे। जैसे पुरुष थे वैसी ही स्त्रियाँ थीं। दक्षिण अफ्रीकाकी लड़ाई ही निरक्षरोंकी थी और उसके योद्धा भी निरक्षर थे -- वह गरीबोंकी लड़ाई थी और गरीब ही उसमें जूझे थे।

इन भोले और भले भारतवासियोंका चित्त चुरानेमें मुझे भाषाकी बाधा कभी न पड़ी। उन्हें टूटी-फूटी हिन्दुस्तानी और टूटी-फूटी अंग्रेजी आती थी और उससे हमारी गाड़ी चल जाती थी। पर मैं तो इस प्रेमके प्रतिदानके रूपमें तामिल-तेलुगु सीखना चाहता था। तामिल तो कुछ सीख भी ली। तेलुगु सीखनेका प्रयास हिन्दुस्तानमें किया, पर वह ककहरेके ज्ञानसे आगे नहीं बढ़ सका।

मैं तामिल-तेलुगु नहीं सीख पाया और अब शायद ही सीख पाऊँ, इसलिए यह आशा रखे हुए हूँ कि ये द्राविड़ भाषा-भाषी हिन्दुस्तानी भाषा सीखेंगे। दक्षिण अफ्रीकाके द्राविड़ 'मद्रासी' तो थोड़ी-बहुत हिन्दी अवश्य बोल लेते हैं। मुश्किल अंग्रेजी पढ़े-लिखोंकी है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो अंग्रेजीका ज्ञान हमारे लिए अपनी भाषायें सीखनेमें बाधारूप हो!

पर यह तो विषयान्तर हो गया। हम अपनी यात्रा पूरी करें।

अभी 'पोंगोला' के कप्तानका परिचय कराना बाकी है। हम परस्पर मित्र बन गये थे। यह भला कप्तान 'प्लीमथ ब्रदरन' सम्प्रदायका था। इससे हमारे बीच नौकाशास्त्रकी बातोंकी अपेक्षा अध्यात्म-विद्याकी बातें ही अधिक हुई। उसने नीति और धर्मश्रद्धामें भेद किया। उसके विचारमें बाइबलकी शिक्षा बच्चोंका खेल था। उसकी खूबी ही उसकी सरलतामें थी। बालक, स्त्री, पुरुष सब ईसाको और उनके बलिदानको मान लें, तो उनके पाप धुल जायें। इस प्लीमथ ब्रदरने प्रिटोरियावाले ब्रदरके मेरे परिचयको ताजा कर दिया। जिस धर्ममें नीतिकी रखवाली करनी पड़े, वह धर्म उसे नीरस प्रतीत हुआ। इस मित्रता और आध्यात्मिक चर्चाकी जड़में मेरा अन्नाहार था। मैं मांस क्यों नहीं खाता? गोमांसमें क्या दोष है? क्या पेड़-पौधोंकी तरह ही पशु-पक्षियोंको भी ईश्वरने मनुष्यके आहार और आनन्दके लिए नहीं सिरजा

है? ऐसी प्रश्नावलि आध्यात्मिक चर्चा उत्पन्न किये बिना रह ही नहीं सकती थी।

हम एक-दूसरेको अपने विचार समझा नहीं सके। मैं अपने इस विचारमें दृढ़ था कि धर्म और नीति एक ही वस्तुके वाचक हैं। कप्तानको अपने मतके सत्य होनेमें थोड़ी भी शंका नहीं थी।

चौबीस दिनके बाद यह आनन्दप्रद यात्रा पूरी हुई और हुगलीका सौन्दर्य निहारता हुआ मैं कलकत्ते उतरा। उसी दिन मैंने बम्बई जानेका टिकट कटाया।

२५. हिन्दुस्तानमें

कलकत्तेसे बम्बई जाते हुए प्रयाग बीचमें पड़ता था। वहाँ ट्रेन ४५ मिनट रुकती थी। इस बीच मैंने शहरका एक चक्कर लगा आनेका विचार किया। मुझे केमिस्टकी दुकानसे दवा भी खरीदनी थी। केमिस्ट ऊँघता हुआ बाहर निकला। दवा देनेमें उसने काफी देर कर दी। मैं स्टेशन पर पहुँचा तो गाड़ी चलती दिखायी पड़ी। भले स्टेशन-मास्टरने मेरे लिए गाड़ी एक मिनट रोकी थी, पर मुझे वापस आते न देखकर उसने मेरा सामान उतरवा लेनेकी सावधानी बरती।

मैं केलनरके होटलमें ठहरा और वहींसे अपने कामका श्रीगणेश करनेका मैंने निश्चय किया। प्रयागके 'पायोनियर' पत्रकी ख्याति मैंने सुन रखी थी। मैं जानता था कि वह जनताकी आकांक्षाओंका विरोधी है। मेरा खयाल है कि उस समय मि. चेज़नी (छोटे) सम्पादक थे। मुझे तो सब पक्षवालोंसे मिलकर प्रत्येककी सहायता लेनी थी। इसलिए मैंने मि. चेज़नीको मुलाकातके लिए पत्र लिखा। ट्रेन छूट जानेकी बात लिखकर यह सूचित किया कि अगले ही दिन मुझे प्रयाग छोड़ देना है। उत्तरमें उन्होंने मुझे तुरन्त मिलनेके लिए बुलाया। मुझे खुशी हुई। उन्होंने मेरी बात ध्यानपूर्वक सुनी। बोले, "आप जो भी लिखकर भेजेंगे, उस पर मैं तुरन्त टिप्पणी लिखूँगा।" और साथ ही यह कहा, "लेकिन मैं आपसे यह नहीं कह सकता कि मैं आपकी सभी माँगोंको स्वीकार ही कर सकूँगा। हमें तो 'कॉलोनियल' (उपनिवेशवालोंका) दृष्टिबिन्दु भी समझना और देखना होगा।"

मैंने उत्तर दिया, "आप इस प्रश्नका अध्ययन करेंगे और इसे चर्चाका विषय बनायेंगे, इतना ही मेरे लिए बस है। मैं शुद्ध न्यायके सिवा न तो कुछ माँगता हूँ और न कुछ चाहता हूँ।"

बाकीका दिन मैंने प्रयागके भव्य त्रिवेणी-संगमका दर्शन करनेमें और अपने सम्मुख पड़े हुए कामका विचार करनेमें बिताया।

इस आकस्मिक भेंटने मुझ पर नेटालमें हुए हमलेका बीज बोया।

बम्बईमें रुके बिना मैं सीधा राजकोट गया और वहाँ एक पुस्तिका लिखनेकी तैयारीमें लगा। पुस्तिका लिखने और छपानेमें लगभग एक महीना बीत गया। उसका आवरण हरा था, इसलिए बादमें वह 'हरी पुस्तिका' के नामसे प्रसिद्ध हुई। उसमें दक्षिण अफ्रीकाके हिन्दुस्तानियोंकी स्थितिका चित्रण मैंने जान-बूझकर नरम भाषामें किया था। नेटालमें लिखी हुई दो पुस्तिकाओंमें, जिनका जिक्र मैं पहले कर चुका हूँ, मैंने जिस भाषाका प्रयोग किया था उससे नरम भाषाका प्रयोग इसमें किया था; क्योंकि मैं जानता था कि छोटा दुःख भी दूरसे देखने पर बड़ा मालूम होता है।

'हरी पुस्तिका' की दस हजार प्रतियाँ छपायी थीं और उन्हें सारे हिन्दुस्तानके अखबारों और सब पक्षोंके प्रसिद्ध लोगोंको भेजा था। 'पायोनियर' में उस पर सबसे पहले लेख निकला। उसका सारांश विलायत गया और उस सारांशका सारांश फिर रायटरके द्वारा नेटाल पहुँचा। वह तार तो तीन पंक्तियोंका था। नेटालमें हिन्दुस्तानियोंके साथ होनेवाले व्यवहारका जो चित्र मैंने खींचा था, उसका वह लघु संस्करण था। वह मेरे शब्दोंमें नहीं था। उसका जो असर हुआ उसे हम आगे देखेंगे। धीरे-धीरे सब प्रमुख पत्रोंमे इस प्रश्नकी विस्तृत चर्चा हुई।

इस पुस्तिकाको डाकसे भेजनेके लिए इसके पैकेट तैयार करानेका काम मुश्किल था, और पैसा देकर कराना खर्चीला था। मैंने सरल युक्ति खोज ली। मुहल्लेके सब लड़कोंको मैंने इकठ्ठा किया और उनसे सबेरेके दो-तीन घण्टोंमें से जितना समय वे दे सकें उतना देनेके लिए कहा। लड़कोंने इतनी सेवा करना खुशीसे स्वीकार किया। अपनी तरफसे मैंने उन्हें अपने पास जमा होनेवाले काममें आये हुए डाकके टिकट और आशीर्वाद देना कबूल किया। लड़कोंने हँसते-खेलते मेरा काम पूरा कर दिया। इस प्रकार छोटे बच्चोंको स्वयंसेवक बनानेका यह मेरा पहला प्रयोग था। इन बालकोंमें से दो आज मेरे साथी हैं।

इन्हीं दिनों बम्बईमें पहली बार प्लेगका प्रकोप हुआ। चारों तरफ घबराहट फैल रही थी। राजकोटमें भी प्लेग फैलनेका डर था। मैंने सोचा कि मैं आरोग्य-विभागमें अवश्य काम कर सकता हूँ। मैंने अपनी सेवा राज्यको अर्पण करनेके लिए पत्र लिखा। राज्यने जो कमेटी नियुक्त की उसमें मुझे भी स्थान दिया। मैंने पाखानोंकी

सफाई पर जोर दिया और कमेटीने निश्चय किया कि गली-गली जाकर पाखानोंका निरीक्षण किया जाये। गरीब लोगोंने अपने पाखानोंका निरीक्षण करने देनेमें बिलकुल आनाकानी नहीं की; यही नहीं, बल्कि जो सुधार उन्हें सुझाये गये वे भी उन्होंने कर लिये। पर जब हम मुत्सद्दी वर्गके यानी बड़े लोगोंके घरोंका मुआयना करने निकले, तो कई जगहोंमें तो हमें पाखानेका निरीक्षण करनेकी इजाजत तक न मिली, सुधारकी तो बात ही क्या की जाय? हमारा साधारण अनुभव यह रहा कि धनिक समाजके पाखाने ज्यादा गन्दे थे। उनमें अँधेरा, बदबू और बेहद गन्दगी थी। खुड्डी पर कीड़े बिलबिलाते थे। जीते-जी रोज नरकमें ही प्रवेश करने-जैसी वह स्थिति थी। हमारे सुझाये हुए सुधार बिलकुल साधारण थे। मैला जमीन पर न गिराकर कूंडेमें गिरायें। पानीकी व्यवस्था ऐसी की जाये कि वह जमीनमें जज्ब होनेके बदले कूंडेमें इकट्ठा हो। खुड्डी और भंगीके आनेकी जगहके बीच जो दीवार रखी जाती है वह तोड़ दी जाय, जिससे भंगी सारी जगहको अच्छी तरह साफ कर सके, पाखाने कुछ बड़े हो जायें तथा उनमें हवा-उजेला पहुँच सके। बड़े लोगोंने इन सुधारोंको स्वीकार करनेमें बहुत आपत्ति की, और आखिर उन पर अमल तो किया ही नहीं।

कमेटीको भंगियोंकी बस्तीमें भी जाना तो था ही। कमेटीके सदस्योंमें से एक ही सदस्य मेरे साथ वहाँ जानेको तैयार हुअ। भंगियोंकी बस्तीमें जाना और सो भी पाखानोंका निरीक्षण करनेके लिए! पर मुझे तो भंगियोंकी बस्ती देखकर सानन्द आश्चर्य ही हुआ। अपने जीवनमें मैं पहली ही बार उस दिन भंगी-बस्ती देखने गया था। भंगी भाई-बहनोंको हमें देखकर अचम्भा हुआ। मैंने उनके पाखाने देखनेकी इच्छा प्रकट की। उन्होंने कहा:

"हमारे यहाँ पाखाने कैसे? हमारे पाखाने तो जंगलमें हैं। पाखाने तो आप बड़े आदमियोंके यहाँ होते हैं।"

मैंने पूछा, "तो क्या अपने घर आप हमें देखने देंगे?"

"आइये न भाई साहब! जहाँ भी आपकी इच्छा हो, जाइये। ये ही हमारे घर हैं।"

मैं अन्दर गया और घरकी तथा आँगनकी सफाई देखकर खुश हो गया। घरके अन्दर सब लिपा-पुता देखा। आँगन झाड़ा-बुहारा था; और जो इने-गिने बरतन थे, वे सब साफ और चमचमाते हुए थे। मुझे इस बस्तीमें बीमारीके फैलनेका डर नहीं दिखायी दिया।

यहाँ मैं एक पाखानेका वर्णन किये बिना नहीं रह सकता। हरएक घरमें नाली तो थी ही। उसमें पानी भी गिराया जाता और पेशाब भी किया जाता। इसलिए ऐसी कोठरी क्वचित् ही मिलती, जिसमें दुर्गन्ध न हो। पर एक घरमें तो सोनेके कमरेमें ही मोरी और पाखाना दोनों देखे; और घरकी वह सारी गंदकी नालीके रास्ते नीचे उतरती थी। उस कोठरीमें खड़ा भी नहीं रहा जा सकता था। घरके लोग उसमें सो कैसे सकते होंगे, इसे पाठक ही सोच लें।

कमेटीने हवेली (वैष्णव-मंदिर) का भी निरीक्षण किया। हवेलीके मुखियाजीसे गांधी-परिवारका मीठा सम्बन्ध था। मुखियाजीने हवेली देखने देना और सब सम्भव सुधार करा देना स्वीकार किया। उन्होंने खुद वह हिस्सा कभी नहीं देखा था। हवेलीमें रोज जो जूठन और पत्तलें इकट्ठा होतीं, उन्हें पिछवाड़ेकी दीवारके ऊपरसे फेंक दिया जाता था। और, वह हिस्सा कौओं तथा चीलोंका अड्डा बन गया था। पाखाने तो गन्दे थे ही। मुखियाजीने कितना सुधार किया, सो मैं देख न सका। हवेलीकी गन्दगी देखकर दुःख तो हुआ ही। जिस हवेलीको हम पवित्र स्थान मानते हैं, वहाँ तो आरोग्यके नियमोंका अधिक-से-अधिक पालन होनेकी आशा रखी जानी चाहिये। स्मृतिकारोंने अन्तर्बाह्य शौच पर बहुत जोर दिया है, यह बात उस समय भी मेरे ध्यानसे बाहर नहीं थी।

२६. राजनिष्ठा और शुश्रूषा

शुद्ध राजनिष्ठा जितनी मैंने अपनेमें अनुभव की है, उतनी शायद ही दूसरेमें देखी हो। मैं देख सकता हूँ कि इस राजनिष्ठाका मूल सत्य पर मेरा स्वाभाविक प्रेम था। राजनिष्ठाका अथवा दूसरी किसी वस्तुका स्वांग मुझसे कभी भरा ही न जा सका। नेटालमें जब मैं किसी सभामें जाता, तो वहाँ 'गॉड सेव दि किंग' (ईश्वर राजाकी रक्षा करे) गीत अवश्य गाया जाता था। मैंने अनुभव किया कि मुझे भी उसे गाना चाहिये। ब्रिटिश राजनीतिमें दोष तो मैं तब भी देखता था, फिर भी कुल मिलाकर मुझे वह नीति अच्छी लगती थी। उस समय मैं मानता था कि ब्रिटिश शासन और शासकोंका रुख कुल मिलाकर जनताका पोषण करनेवाला है।

दक्षिण अफ्रीकामें मैं इससे उलटी नीति देखता था, वर्ण-द्वेष देखता था। मैं मानता था कि यह क्षणिक और स्थानिक है। इस कारण राजनिष्ठामें मैं अंग्रेजोंसे भी

आगे बढ़ जानेका प्रयत्न करता था। मैंने लगनके साथ मेहनत करके अंग्रेजोंके राष्ट्रगीत 'गॉड सेव दि किंग' की लय सीख ली थी। जब वह सभाओंमें गाया जाता, तो मैं अपना सुर उसमें मिला दिया करता था। और जो भी अवसर आडम्बरके बिना राजनिष्ठा प्रदर्शित करनेके आते, उनमें मैं सम्मिलित होता था।

इस राजनिष्ठाको अपनी पूरी जिन्दगीमें मैंने कभी भुलाया नहीं। इससे व्यक्तिगत लाभ उठानेका मैंने कभी विचार तक नहीं किया। राजभक्तिको ऋण समझकर मैंने सदा ही उसे चुकाया है।

मैं जब हिन्दुस्तान आया तब महारानी विक्टोरियाकी डायमण्ड जुबिली (हीरक जयन्ती) की तैयारियाँ चल रही थीं। राजकोटमें भी एक समिति बनी। मुझे उसका निमंत्रण मिला। मैंने उसे स्वीकार किया। उसमें मुझे दम्भकी गंध आयी। मैंने देखा कि उसमें दिखावा बहुत होता है। यह देखकर मुझे दुःख हुआ। समितिमें रहने या न रहनेका प्रश्न मेरे सामने खड़ा हुआ। अन्तमें मैंने निश्चय किया कि अपने कर्तव्यका पालन करके संतोष मानूँ।

एक सुझाव यह था कि वृक्षारोपण किया जाय। इसमें मुझे दम्भ दिखायी पड़ा। ऐसा जान पड़ा कि वृक्षारोपण केवल साहबोंको खुश करनेके लिए हो रहा है। मैंने लोगोंको समझानेका प्रयत्न किया कि वृक्षारोपणके लिए कोई विवश नहीं करता, वह एक सुझाव-मात्र है। वृक्ष लगाने हों तो पूरे दिलसे लगाने चाहिये, नहीं तो बिलकुल न लगाने चाहिये। मुझे कुछ ऐसा याद पड़ता है कि जब मैं ऐसा कहता था, तो लोग मेरी बातको हँसीमें उड़ा देते थे। अपने हिस्सेका पेड़ मैंने अच्छी तरह लगाया और वह पलपुसकर बढ़ा, इतना मुझे याद है।

'गॉड सेव दि किंग' गीत मैं अपने परिवारके बालकोंको सिखाता था। मुझे याद है कि मैंने उसे ट्रेनिंग कॉलेजके विद्यार्थियोंको सिखाया था। लेकिन वह यही अवसर था अथवा सातवें एडवर्डके राज्यारोहणका अवसर था, सो मुझे ठीक याद नहीं है। आगे चलकर मुझे यह गीत गाना खटका। जैसे-जैसे अहिंसा सम्बन्धी विचार मेरे मनमें दृढ़ होते गये, वैसे-वैसे मैं अपनी वाणी और विचारों पर अधिक निगरानी रखने लगा। उस गीतमें दो पंक्तियाँ ये भी हैं :

उसके शत्रुओंका नाश कर,
उनके षड्यंत्रोंको विफल कर।

इन्हें गाना मुझे खटका। अपने मित्र डॉ० बूथको मैंने अपनी यह कठिनाई बतायी।

उन्होंने भी स्वीकार किया कि यह गाना अहिंसक मनुष्यको शोभा नहीं देता। शत्रु कहलानेवाले लोग दगा ही करेंगे, यह कैसे मान लिया जाय? यह कैसे कहा जा सकता है कि जिन्हें हमने अपने शत्रु माना वे बुरे ही होंगे? ईश्वरसे तो न्याय ही माँगा जा सकता है। डॉ० बूथने इस दलीलको माना। उन्होंने अपने समाजमें गानेके लिए एक नये ही गीतकी रचना की। डॉ० बूथका विशेष परिचय हम आगे करेंगे।

राजनिष्ठाकी तरह शुश्रूषाका गुण भी मुझमें स्वाभाविक था। यह कहा जा सकता है कि बीमारोंकी सेवा करनेका मुझे शौक था, फिर वे अपने हों या पराये। राजकोटमें मेरा दक्षिण अफ्रीकाका काम चल रहा था, इसी बीच मैं बम्बई हो आया। खास-खास शहरोंमें सभायें करके विशेष रूपसे लोकमत तैयार करनेका मेरा इरादा था। इसी खयालसे मैं वहाँ गया था। पहले मैं न्यायमूर्ति रानडेसे मिला। उन्होंने मेरी बात ध्यानसे सुनी और मुझे सर फीरोजशाह मेहतासे मिलनेकी सलाह दी। बादमें मैं जस्टिस बदरुद्दीन तैयबजीसे मिला। उन्होंने मेरी बात सुनकर वही सलाह दी और कहाः "जस्टिस रानडे और मैं आपका बहुत कम मार्गदर्शन कर सकेंगे। हमारी स्थिति तो आप जानते हैं। हम सार्वजनिक काममें हाथ नहीं बँटा सकते। पर हमारी भावना तो आपके साथ है ही। सच्चे मार्गदर्शक तो सर फीरोजशाह हैं।"

सर फीरोजशाहसे तो मुझे मिलना ही था। पर इन दो गुरुजनोंके मुँहसे उनकी सलाहके अनुसार चलनेकी बात सुनकर मुझे इस बातका विशेष बोध हुआ कि सर फीरोजशाहका जनता पर कितना प्रभुत्व था।

मैं सर फीरोजशाहसे मिला। उनके तेजसे चकाचौंध हो जानेको तो मैं तैयार था ही। उनके लिए प्रयुक्त होनेवाले विशेषणोंको मैं सुन चुका था। मुझे 'बम्बईके शेर' और बम्बईके 'बेताजके बादशाह' से मिलना था। पर बादशाहने मुझे डराया नहीं। पिता जिस प्रेमसे अपने नौजवान बेटेसे मिलता है, उसी तरह वे मुझसे मिले। उनसे मुझें उनके 'चेम्बर'में मिलना था। उनके पास अनेक अनुयायियोंका दरबार तो भरा ही रहता था। वाच्छा थे, कामा थे। इनसे उन्होंने मेरी पहचान करायी। वाच्छाका नाम मैं सुन चुका था। वे सर फीरोजशाहके दाहिने हाथ माने जाते थे। वीरचन्द गांधीने अंकशास्त्रीके रूपमें मुझे उनका परिचय दिया था। उन्होंने कहा, "गांधी, हम फिर मिलेंगे।"

इस सारी बातचीतमें मुश्किलसे दो मिनट लगे होंगे। सर फीरोजशाहने मेरी बात सुन ली। न्यायमूर्ति रानडे और तैयबजीसे मिल चुकनेकी बात भी मैंने उन्हें बतला

दी। उन्होंने कहा : ''गांधी, तुम्हारे लिए मुझे आम सभा करनी होगी। मुझे तुम्हारी मदद करनी चाहिये।'' फिर अपने मुंशीकी ओर मुड़े और उसे सभाका दिन निश्चित करनेको कहा। दिन निश्चित करके मुझे बिदा किया। सभासे एक दिन पहले आकर मिलनेकी आज्ञा की। मैं निर्भय होकर मन ही मन खुश होता हुआ घर लौटा।

बम्बईकी इस यात्रामें मैं वहाँ रहनेवाले अपने बहनोईसे मिलने गया। वे बीमार थे। घरमें गरीबी थी। अकेली बहनसे उनकी सेवा-शुश्रूषा हो नहीं पाती थी। बीमारी गंभीर थी। मैंने उन्हें अपने साथ राजकोट चलनेको कहा। वे राजी हो गये। बहन-बहनोईको लेकर मैं राजकोट पहुँचा। बीमारी अपेक्षासे अधिक गंभीर हो गयी। मैंने उन्हें अपने कमरेमें रखा। मैं सारा दिन उनके पास ही रहता था। रातमें भी जागना पड़ता था। उनकी सेवा करते हुए मैं दक्षिण अफ्रीकाका काम कर रहा था। बहनोईका स्वर्गवास हो गया। पर उनके अंतिम दिनोंमें उनकी सेवा करनेका अवसर मुझे मिला, इससे मुझे बड़ा संतोष हुआ।

शुश्रूषाके मेरे इस शौकने आगे चलकर विशाल रूप धारण कर लिया। वह भी इस हद तक कि उसे करनेमें मैं अपना धंधा छोड़ देता था। अपनी धर्मपत्नीको और सारे परिवारको भी उसमें लगा देता था। इस वृत्तिको मैंने शौक कहा है, क्योंकि मैंने देखा है कि जब ये गुण आनन्ददायक हो जाते हैं तभी निभ सकते हैं। खींच-तानकर अथवा दिखावेके लिए या लोकलाजके कारण की जानेवाली सेवा आदमीको कुचल देती है, और ऐसी सेवा करते हुए भी आदमी मुरझा जाता है। जिस सेवामें आनन्द नहीं मिलता, वह न सेवकको फलती है, न सेव्यको रुचिकर लगती है। जिस सेवामें आनन्द मिलता है, उस सेवाके सम्मुख ऐश-आराम या धनोपार्जन इत्यादि कार्य तुच्छ प्रतीत होते हैं।

२७. बम्बईमें सभा

बहनोईके देहान्तके दूसरे ही दिन मुझे बम्बईकी सभाके लिए जाना था। सार्वजनिक सभाके लिए भाषणकी बात सोचने जितना समय मुझे मिला नहीं था। लम्बे जागरणकी थकावट मालूम हो रही थी। आवाज भारी हो गयी थी। ईश्वर जैसे-तैसे मुझे निबाह लेगा यह सोचता हुआ मैं बम्बई पहुँचा। भाषण लिखनेकी बात तो मैंने सपनेमें भी नहीं सोची थी।

सभाकी तारीखसे एक दिन पहले शामको पाँच बजे आज्ञानुसार मैं सर फिरोजशाहके दफ्तरमें हाजिर हुआ।

उन्होंने पूछा, "गांधी, तुम्हारा भाषण तैयार है?"

मैंने डरते-डरेते उत्तर दिया, "जी नहीं, मैंने तो जबानी ही बोलनेकी बात सोच रखी है।"

"बम्बईमें यह नहीं चलेगा। यहाँका रिपोर्टिंग खराब है। यदि सभासे हमें कुछ फायदा उठाना हो, तो तुम्हारा भाषण लिखा हुआ ही होना चाहिये; और वह रातोंरात छप जाना चाहिये। भाषण रात ही में लिख सकोगे न?"

मैं घबराया। पर मैंने लिखनेका प्रयत्न करनेकी हामी भरी।

बम्बईके सिंह बोले, "तो मुंशी तुम्हारे पास भाषण लेने कब पहुँचे?"

मैंने उत्तर दिया, "ग्यारह बजे।"

सर फीरोजशाहने अपने मुंशीको उस वक्त भाषण प्राप्त करके रातोंरात छपा लेनेका हुक्म दिया और मुझे बिदा किया।

दूसरे दिन मैं सभामें गया। वहाँ मैं यह अनुभव कर सका कि भाषण लिखनेका आग्रह करनेमें कितनी बुद्धिमानी थी। फरामजी कावसजी इन्स्टिटयूटके हॉलमें सभा थी। मैंने सुन रखा था कि जिस सभामें सर फीरोजशाह बोलनेवाले हों, उस सभामें खड़े रहनेको जगह नहीं मिलती। ऐसी सभाओंमें विद्यार्थी-समाज खास रस लेता था।

ऐसी सभाका मेरा यह पहला अनुभव था। मुझे विश्वास हो गया कि मेरी आवाज कोई सुन न सकेगा। मैंने काँपते-काँपते भाषण पढ़ना शुरू किया। सर फीरोजाशाह मुझे प्रोत्साहित करते जाते थे। "जरा और ऊँची आवाजसे" यों कहते जाते थे। मुझे कुछ ऐसा खयाल है कि इस प्रोत्साहनसे मेरी आवाज और धीमी पड़ती जाती थी।

पुराने मित्र केशवराव देशपाण्डे मेरी मददको बढ़े। मैंने भाषण उनके हाथमें दिया। उनकी आवाज तो अच्छी थी, पर श्रोतागण क्यों सुनने लगे? 'वाच्छा', 'वाच्छा'की पुकारसे हॉल गूँज उठा। वाच्छा उठे। उन्होंने देशपाण्डेके हाथसे कागज ले लिया और मेरा काम बन गया। सभामें तुरन्त शांति छा गयी और अथसे इति तक सभाने भाषण सुना। प्रथाके अनुसार जहाँ जरूरी था वहाँ 'शेम-शेम' (धिक्कार-धिक्कार) की और तालियोंकी आवाज भी होती रही। मुझे खुशी हुई।

सर फीरोजशाहको मेरा भाषण अच्छा लगा। मुझे गंगा नहानेका-सा सन्तोष हुआ।

इस सभाके परिणाम-स्वरूप देशपाण्डे और एक पारसी सज्जन पिघले और

दोनोंने मेरे साथ दक्षिण अफ्रीका जानेका अपना निश्चय प्रकट किया। पारसी सज्जन आज एक सरकारी पदाधिकारी हैं, इसलिए उनका नाम प्रकट करते हुए मैं डरता हूँ। उनके निश्चयको सर खुरशेदजीने डिगा दिया, और उस डिगनेके मूलमें एक पारसी बहन थीं। उनके सामने प्रश्न था: ब्याह करें या दक्षिण अफीका जायें? उन्होंने ब्याह करना अधिक उचित समझा। पर इन पारसी मित्रकी ओरसे पारसी रुस्तमजीने प्रायश्चित्त किया और पारसी बहनकी तरफका प्रायश्चित्त दूसरी पारसी बहनें सेविकाका काम करके और खादीके पीछे वैराग्य लेकर आज कर रही हैं। इसलिए इस दम्पतीको मैंने क्षमा कर दिया है। देशपाण्डेके सामने ब्याहका प्रलोभन तो न था, परन्तु वे नहीं आ सके। उसका प्रायश्चित्त तो वे खुद ही कर रहे हैं। वापस दक्षिण अफीका जाते समय जंजीबारमें तैयबजी नामके एक सज्जन मिले थे। उन्होंने भी आनेकी आशा बंधायी थी। पर वे दक्षिण अफ्रीका क्यों आने लगे? उनके न आनेके अपराधका बदला अब्बास तैयबजी चुका रहे हैं। पर बारिस्टर मित्रोंको दक्षिण अफ्रीका आनेके लिए ललचानेके मेरे प्रयत्न इस प्रकार निष्फल हुए।

यहाँ मुझे पेस्तनजी पादशाहकी याद आ रही है। उनके साथ विलायतसे ही मेरा मीठा सम्बन्ध हो गया था। पेस्तनजीसे मेरा परिचय लन्दनके एक अन्नाहारी भोजनालयमें हुआ था। मैं जानता था कि उनके भाई बरजोरजी 'दीवाने' के नामसे प्रख्यात थे। मैं उनसे मिला नहीं था, पर मित्र-मंडलीका कहना था कि वे 'सनकी' हैं। घोड़े पर दया करके ट्राममें न बैठते थे। शतावधानीके समान स्मरण-शक्ति होते हुए भी डिग्रियाँ न लेते थे। स्वाभावके इतने स्वतंत्र कि किसीसे भी दबते न थे। और पारसी होते हुए भी अन्नाहारी थे। पेस्तनजी ठीक वैसे नहीं माने जाते थे। पर उनकी होशियारी प्रसिद्ध थी। उनकी यह ख्याति विलायतमें भी थी। किन्तु हमारे बीचके सम्बन्धका मूल तो उनका अन्नाहार था। उनकी बुद्धिमत्ताकी बराबरी करना मेरी शक्तिके बाहर था।

बम्बईमें मैंने पेस्तनजीको खोज निकाला। वे हाईकोर्टके प्रोथोनोटरी (मुख्य लेखक) थे। मैं जब मिला तब वे बृहद् गुजराती शब्दकोशके काममें लगे हुए थे। दक्षिण अफ्रीकाके काममें मदद माँगनेकी दृष्टिसे मैंने एक भी मित्रको छोड़ा नहीं था। पेस्तनजी पादशाहने तो मुझे भी दक्षिण अफ्रीका न जानेकी सलाह दी। बोले : "मुझसे आपकी मदद तो क्या होगी? पर मुझे आपका दक्षिण अफ्रीका लौटना ही पसन्द नहीं है। यहाँ अपने देशमें ही कौन कम काम है? देखिये, अपनी भाषाकी ही

सेवाका कितना बड़ा काम पड़ा है? मुझे विज्ञानसम्बन्धी पारिभाषिक शब्दोंके पर्याय ढूँढ़ने हैं। यह तो एक ही क्षेत्र हुआ। देशकी गरीबीका विचार कीजिये। दक्षिण अफ्रीकामें हमारे भाई कष्टमें अवश्य हैं, पर उसमें आपके जैसे आदमीका खप जाना मैं सहन नहीं कर सकता। यदि हम यहाँ अपने हाथमें राजसत्ता ले लें, तो वहाँ उनकी मदद अपने-आप हो जायगी। आपको तो मैं समझा नहीं सकता, पर आपके-जैसे दूसरे सेवकोंको आपके साथ करानेमें मैं कभी मदद नहीं करूँगा।'' ये वचन मुझे अच्छे न लगे। पर पेस्तनजी पादशाहके प्रति मेरा आदर बढ़ गया। उनका देशप्रेम और भाषाप्रेम देखकर मैं उनके दृष्टिकोणको अच्छी तरह समझ गया। पर मुझे लगा कि दक्षिण अफ्रीकाका काम छोड़नेके बदले उनकी दृष्टिसे भी मुझे उसमें अधिक जोरसे लगे रहना चाहिये। देशभक्तको देशसेवाके एक भी अंगकी यथासम्भव उपेक्षा नहीं करनी चाहिये, और मेरे लिए तो गीताका यह श्लोक तैयार ही था :

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥ (अ. ३, श्लोक ३५)

ऊँचे परधर्मसे नीचा स्वधर्म अच्छा है। स्वधर्ममें मौत भी अच्छी है, परधर्म भयावह है।

२८. पूनामें

सर फीरोजशाह मेहताने मेरा मार्ग सरल कर दिया था। बम्बईसे मैं पूना गया। मुझे मालूम था कि पूनामें दो दल थे। मुझे तो सबकी मददकी जरूरत थी। मैं लोकमान्य तिलकसे मिला। उन्होंने कहा :

''सब पक्षोंकी मदद लेनेका आपका विचार बिलकुल ठीक है। आपके मामलेमें कोई मतभेद हो ही नहीं सकता। लेकिन आपके लिए तटस्थ सभापति चाहिये। आप प्रो. भाण्डारकरसे मिलिये। वे आजकल किसी आन्दोलनमें सम्मिलित नहीं होते। पर सम्भव है कि इस कामके लिए आगे आ जायें। उनसे मिलनेके बाद मुझे परिणामसे सूचित कीजिये। मैं आपकी पूरी मदद करना चाहता हूँ। आप प्रो. गोखलेसे तो मिलेंगे ही। मेरे पास आप जब आना चाहें, निःसंकोच आइये।''

लोकमान्यका यह मेरा प्रथम दर्शन था। मैं उनकी लोकप्रियताका कारण तुरन्त समझ गया।

यहाँसे मैं गोखलेके पास गया। फर्ग्यूसन कॉलेजमें थे। मुझसे बड़े प्रेमसे मिले और मुझे अपना बना लिया। उनसे भी मेरा यह पहला ही परिचय था। पर ऐसा जान पड़ा, मानो हम पहले मिल चुके हों। सर फीरोजशाह मुझे हिमालय-जैसे, लोकमान्य समुद्र-जैसे और गोखले गंगा-जैसे लगे। गंगामें मैं नहा सकता था। हिमालय पर चढ़ा नहीं जा सकता था। समुद्रमें डूबनेका डर था। गंगाकी गोदमें तो खेला जा सकता था। उसमें डोंगियाँ लेकर सैर की जा सकती थी। गोखलेने बारीकीसे मेरी जाँच की - उसी तरह, जिस तरह स्कूलमें भरती होते समय किसी विद्यार्थीकी की जाती है। उन्होंने मुझे बताया कि मैं किस-किससे और कैसे मिलूँ और मेरा भाषण देखनेको माँगा। मुझे कॉलेजकी व्यवस्था दिखायी। जब जरूरत हो तब फिर मिलनेको कहा। डॉ० भाण्डारकरके जवाबकी खबर देनेको कहा और मुझे बिदा किया। राजनीतिके क्षेत्रमें जो स्थान गोखलेने जीते-जी मेरे हृदयमें प्राप्त किया और स्वर्गवासके बाद आज भी जो स्थान उन्हें प्राप्त है, वह और कोई पा न सका।

रामकृष्ण भाण्डारकरने मेरा वैसा ही स्वागत किया, जैसा कोई बाप बेटेका करता है। उनके यहाँ गया तब दुपहरीका समय था। ऐसे समयमें भी मैं अपना काम कर रहा था, वह चीज ही उस उद्यमी शास्त्रज्ञको प्यारी लगी। और तटस्थ सभापतिके लिए मेरे आग्रहकी बात सुनकर 'देट्स इट, देट्स इट' (यह ठीक है, यह ठीक है) के उद्‌गार उनके मुँहसे सहज ही निकल पड़े।

बातचीतके अन्तमें वे बोले, "तुम किसीसे भी पूछोगे तो वह बतलायेगा कि आजकल मैं किसी राजनीतिक काममें हिस्सा नहीं लेता हूँ, पर तुम्हें मैं खाली हाथ नहीं लौटा सकता। तुम्हारा मामला इतना मजबूत है और तुम्हारा उद्यम इतना स्तुत्य है कि मैं तुम्हारी सभामें आनेसे इनकार कर ही नहीं सकता। यह अच्छा हुआ कि तुम श्री तिलक और श्री गोखलेसे मिल लिये। उनसे कहो कि मैं दोनों पक्षों द्वारा बुलायी गयी सभामें खुशीसे आऊँगा और सभापति-पद स्वीकार करूँगा। समयके बारेमें मुझसे पूछनेकी जरूरत नहीं है। दोनों पक्षोंको जो समय अनुकूल होगा, उसके अनुकूल मैं हो जाऊँगा।" यों कहकर उन्होंने धन्यवाद और आशीर्वादके साथ मुझे बिदा किया।

बिना किसी हो-हल्ले और आडम्बरके एक सादे मकानमें पूनाकी इस विद्वान और त्यागी मण्डलीने सभा की, और मुझे सम्पूर्ण प्रोत्साहनके साथ बिदा किया।

वहाँसे मैं मद्रास गया। मद्रास तो पागल हो उठा। बालासुन्दरम्‌के किस्सेका सभा

पर गहरा असर पड़ा। मेरे लिए मेरा भाषण अपेक्षाकृत लम्बा था। पूरा छपा हुआ था। पर सभाने उसका एक-एक शब्द ध्यानपूर्वक सुना। सभाके अंतमें उस 'हरी पुस्तिका' पर लोग टूट पड़े। मद्रासमें संशोधन और परिवर्धनके साथ उसकी दूसरी आवृत्ति दस हजारकी छपायी थी। उसका अधिकांश निकल गया। पर मैंने देखा कि दस हजारकी जरूरत नहीं थी। मैंने लोगोंके उत्साहका अन्दाज कुछ अधिक कर लिया था। मेरे भाषणका प्रभाव तो अंग्रेजी जाननेवाले समाज पर ही पड़ा था। उस समाजके लिए अकेले मद्रास शहरमें दस हजार प्रतियोंकी आवश्यकता नहीं हो सकती थी।

यहाँ मुझे बड़ी-से-बड़ी मदद स्व० जी० परमेश्वरन् पिल्लैसे मिली। वे 'मद्रास स्टैण्डर्ड'के संपादक थे। उन्होंने इस प्रश्नका अच्छा अध्ययन कर लिया था। वे मुझे अपने दफ्तरमें समय-समय पर बुलाते थे और मेरा मार्गदर्शन करते रहते थे। 'हिन्दू'के जी० सुब्रह्मण्यम्से भी मैं मिला था। उन्होंने और डॉ० सुब्रह्मण्यम्ने भी पूरी सहानुभूति दिखायी थी। पर जी० परमेश्वरन् पिल्लैने तो मुझे अपने समाचारपत्रका इस कामके लिए मनचाहा उपयोग करने दिया और मैंने निःसंकोच उसका उपयोग किया भी। सभा पाच्याप्पा हॉलमें हुई थी और मेरा खयाल है कि डॉ० सुब्रह्मण्यम् उसके सभापति बने थे। मद्रासमें सबके साथ विशेषकर अंग्रेजीमें ही बोलना पड़ता था, फिर भी मैंने बहुतोंसे इतना प्रेम और उत्साह पाया कि मुझे घर-जैसा ही लगा। प्रेम किन बन्धनोंको नहीं तोड़ सकता?

२९. 'जल्दी लौटिये'

मद्राससे मैं कलकत्ते गया। कलकत्तेमें मेरी कठिनाइयोंका पार न रहा। वहाँ मैं 'ग्रेट ईस्टर्न' होटलमें ठहरा। किसीसे जान-पहचान नहीं थी। होटलमें 'डेली टेलिग्राफ' के प्रतिनिधि मि. एलर थॉर्पसे पहचान हुई। वे बंगाल क्लबमें रहते थे। उन्होंने मुझे वहाँ आनेके लिए न्योता। उस समय उन्हें पता नहीं था कि होटलके दीवानखानेमें किसी हिन्दुस्तानीको नहीं ले जाया जा सकता। बादमें उन्हें इस प्रबन्धका पता चला। इससे वे मुझे अपने कमरेमें ले गये। हिन्दुस्तानियोंके प्रति स्थानीय अंग्रेजोंका तिरस्कार देखकर उन्हें खेद हुआ। मुझे दीवानखानेमें न ले जानेके लिए उन्होंने क्षमा माँगी। 'बंगालके देव' सुरेन्द्रनाथ बैनर्जीसे तो मुझे मिलना

ही था। उनसे मिला। जब मैं मिला, उनके आसपास दूसरे मिलनेवाले भी बैठे थे। उन्होंने कहा, "मुझे डर है कि लोग आपके काममें रस नहीं लेंगे। आप देखते हैं कि यहाँ देशमें ही कुछ कम विडम्बनायें नहीं हैं। फिर भी आपसे जो हो सके अवश्य कीजिये। इस काममें आपको महाराजाओंकी मददकी जरूरत होगी। आप ब्रिटिश इण्डिया एसोसियेशनके प्रतिनिधियोंसे मिलिये; राजा सर प्यारीमोहन मुकर्जी और महाराजा टागोरसे भी मिलियेगा। दोनों उदार वृत्तिके हैं और सार्वजनिक कामोंमें काफी हिस्सा लेते हैं।"

मैं इन सज्जनोंसे मिला। पर वहाँ मेरी दाल न गली। दोनोंने कहा, "कलकत्तेमें सार्वजनिक सभा करना आसान काम नहीं। पर करनी ही हो, तो उसका बहुत-कुछ आधार सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी पर होगा।"

मेरी कठिनाइयाँ बढ़ती जा रही थीं। मैं 'अमृतबाजार पत्रिका'के कार्यालयमें गया। वहाँ भी जो सज्जन मुझे मिले उन्होंने मान लिया था कि मैं कोई रमताराम हूँगा। 'बंगवासी'ने तो हद कर दी। मुझे एक घण्टे तक बैठाये ही रखा। सम्पादक महोदय दूसरोंके साथ बातचीत करते जाते थे। लोग आते-जाते रहते थे, पर सम्पादकजी मेरी तरफ देखते भी न थे। एक घण्टे तक राह देखनेके बाद जब मैंने अपनी बात छेड़ी, तो उन्होंने कहा, "आप देखते नहीं हैं, हमारे पास कितना काम पड़ा है?' आप-जैसे तो कई हमारे यहाँ आते रहते हैं। आप वापस जायें यही अच्छा है। हमें आपकी बात नहीं सुननी है।"

मुझे क्षणभर दुःख तो हुआ, पर मैं सम्पादकका दृष्टिकोण समझ गया। 'बंगवासी'की ख्याति मैंने सुन रखी थी। सम्पादकके पास लोग आते-जाते रहते हैं, यह भी मैं देख सका था। वे सब उनके परिचित थे। उनका अखबार हमेशा भरापूरा रहता था। उस समय दक्षिण अफ्रीकाका नाम भी कोई मुश्किलसे जानता था। नित नये आदमी अपने दुखड़े लेकर आते ही रहते थे। उनके लिए तो अपना दुःख बड़ी-से-बड़ी समस्या होती, पर सम्पादकके पास ऐसे दुःखियोंकी भीड़ लगी रहती थी। वह बेचारा सबके लिए क्या कर सकता था? पर दुखियाकी दृष्टिमें सम्पादककी सत्ता बड़ी चीज होती है, हालाँकि सम्पादक स्वयं तो जानता है कि उसकी सत्ता उसके दफ्तरकी दहलीज भी नहीं लाँघ पाती।

मैं हारा नहीं। दूसरे सम्पादकोंसे मिलता रहा। अपने रिवाजके अनुसार मैं अंग्रेजोंसे भी मिला। 'स्टेट्समैन' और 'इंग्लिशमैन' दोनों दक्षिण अफ्रीकाके सवालका

महत्त्व समझते थे। उन्होंने लम्बी मुलाकातें छापीं। 'इंग्लिशमैन'के मि. सॉण्डर्सने मुझे अपनाया। मुझे उनके दफ्तर और अखबारका उपयोग करनेकी पूरी अनुकूलता प्राप्त हो गयी। उन्होंने अपने अग्रलेखमें काटछाँट करनेकी भी छूट मुझे दे दी। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि हमारे बीच स्नेहका सम्बन्ध हो गया। उन्होंने मुझे वचन दिया कि जो मदद उनसे हो सकेगी, वे करते रहेंगे। मेरे दक्षिण अफ्रीका लौट जाने पर भी उन्होंने मुझसे पत्र लिखते रहनेको कहा और वचन दिया कि स्वयं उनसे जो कुछ हो सकेगा, वे करेंगे। मैंने देखा कि इस वचनका उन्होंने अक्षरशः पालन किया, और जब तक वे बहुत बीमार नहीं हो गये, मुझसे पत्र-व्यवहार करते रहे। मेरे जीवनमें ऐसे अनसोचे मीठे सम्बन्ध अनेक जुड़े हैं। मि० सॉण्डर्सको मेरी जो बात अच्छी लगी, वह थी अतिशयोक्तिका अभाव और सत्य-परायणता। उन्होंने मुझसे जिरह करनेमें कोई कसर नहीं रखी थी। उसमें उन्होंने अनुभव किया कि दक्षिण अफ्रीकाके गोरोंके पक्षको निष्पक्ष भावसे रखनेमें और भारतीय पक्षसे उसकी तुलना करनेमें मैंने कोई कमी नहीं रखी थी।

मेरा अनुभव मुझे बतलाता है कि प्रतिपक्षीको न्याय देकर हम जल्दी न्याय पा जाते हैं।

इस प्रकार मुझे अनसोची मदद मिल जानेसे कलकत्तेमें भी सार्वजनिक सभा होनेकी आशा बँधी। इतनेमें डरबनसे तार मिला : ''पार्लियामेण्ट जनवरीमें बैठेगी। जल्दी लौटिये।

इससे अखबारोंमें एक पत्र लिखकर मैंने तुरन्त लौट जानेकी जरूरत जता दी और कलकत्ता छोड़ा। दादा अब्दुल्लाके बम्बईके एजेण्टको तार दिया कि पहले स्टीमरसे मेरे जानेकी व्यवस्था करें। दादा अब्दुल्लाने स्वयं 'कुरलैण्ड' नामका स्टीमर खरीद लिया था। उन्होंने उसमें मुझे और मेरे परिवारको मुफ्त ले जानेका आग्रह किया। मैंने उसे धन्यवाद-सहित स्वीकार कर लिया, और दिसम्बरके आरंभमें 'कुरलैण्ड' स्टीमरसे अपनी धर्मपत्नी, दो लड़कों और अपने स्व० बहनोईके एकमात्र लड़केको लेकर दूसरी बार दक्षिण अफ्रीकाके लिए रवाना हुआ। इस स्टीमरके साथ ही दूसरा 'नादरी' स्टीमर भी डरबनके लिए रवाना हुआ। दादा अब्दुल्ला उसके एजेन्ट थे। दोनों स्टीमरोंमें कुल मिलाकर करीब ८०० हिन्दुस्तानी यात्री रहे होंगे। उनमें आधेसे अधिक लोग ट्रान्सवाल जानेवाले थे।

आत्मकथा : तीसरा भाग

१. तूफानकी आगाही

कुटुम्बके साथ यह मेरी पहली समुद्री यात्रा थी। मैंने कितनी ही बार लिखा है कि हिन्दू समाजमें ब्याह बचपनमें होनेके कारण और मध्यम श्रेणीके लोगोंमें पतिके प्रायः साक्षर और पत्नीके प्रायः निरक्षर होनेके कारण पति-पत्नीके जीवनमें अन्तर रहता है और पतिको पत्नीका शिक्षक बनना पड़ता है। मुझे अपनी धर्मपत्नी और बालकोंकी वेशभूषाकी, खाने-पीनेकी और बोलचालकी संभाल रखनी होती थी। मुझे उन्हें रीति-रिवाज सिखाने होते थे। उन दिनोंकी कितनी ही बातोंकी याद मुझे आज भी हँसाती है। हिन्दू पत्नी पति-परायणतामें अपने धर्मकी पराकाष्ठा मानती है; हिन्दू पति अपनेको पत्नीका ईश्वर मानता है। इसलिए पत्नीको पति जैसा नचाये वैसा नाचना होता है।

जिस समयकी बात लिख रहा हूँ, उस समय मैं मानता था कि सभ्य माने जानेके लिए हमारा बाहरी आचार-व्यवहार यथासम्भव यूरोपियनोंसे मिलता-जुलता होना चाहिये। ऐसा करनेसे ही लोगों पर प्रभाव पड़ता है और बिना प्रभाव पड़े देशसेवा नहीं हो सकती।

इस कारण पत्नीकी और बच्चोंकी वेश-भूषा मैंने ही पसन्द की। स्त्री-बच्चोंका परिचय काठियावाड़ी बनियोंके रूपमें कराना मुझे कैसे अच्छा लगता? भारतीयोंमें पारसी अधिक-से-अधिक सुधरे हुए माने जाते थे। अतएव जहाँ यूरोपियन पोशाकका अनुकरण करना अनुचित प्रतीत हुआ, वहाँ पारसी पोशाक अपनायी। पत्नीके लिए साड़ियाँ पारसी बहनोंके ढंगकी खरीदीं। बच्चोंके लिए पारसी कोट-पतलून खरीदे। सबके लिए बूट और मोजे जरूरी थे ही। पत्नी और बच्चोंको दोनों चीजें कई महीने तक पसंद नहीं पड़ीं। जूते काटते। मोजे बदबू करते। पैर सूज जाते। लेकिन इन सारी अड़चनोंके जवाब मेरे पास तैयार थे। उत्तरकी योग्यताकी अपेक्षा आज्ञाका बल तो अधिक था ही। इसलिए पत्नी और बालकोंने पोशाकके फेरफारको लाचारीसे स्वीकार कर लिया। उतनी ही लाचारी और उससे भी अधिक अरुचिसे खानेमें उन्होंने छुरी-काँटेका उपयोग शुरू किया। बादमें जब मेरा मोह दूर हुआ, तो उन्होंने फिरसे बूट-

मोजे, छुरी-कांटे इत्यादिका त्याग किया। शुरूमें जिस तरह ये परिवर्तन दुःखदायक थे, उसी तरह आदत पड़नेके बाद उनका त्याग भी कष्टप्रद था। पर आज तो मैं देखता हूँ कि हम सब सुधारोंकी कैंचुल उतारकर हलके हो गये हैं।

इसी स्टीमरमें दूसरे कुछ रिश्तेदार और जान-पहचानवाले भी थे। मैं उनसे और डेकके दूसरे यात्रियोंसे भी खूब मिलता-जुलता रहता था। क्योंकि स्टीमर मेरे मुवक्किल और मित्रका था, इसलिए घरका-सा लगता था और मैं हर जगह आजादीसे घूम-फिर सकता था।

स्टीमर दूसरे बन्दरगाह पर ठहरे बिना सीधा नेटाल पहुँचनेवाला था। इसके लिए केवल अठारह दिनकी यात्रा थी। हमारे पहुँचनेमें तीन-चार दिन बाकी थे कि इतनेमें समुद्रमें भारी तूफान ऊठा, मानो वह हमारे पहुँचते ही उठनेवाले तूफानकी हमें चेतावनी दे रहा हो! इस दक्षिणी प्रदेशमें दिसम्बरका महीना गरमी और वर्षाका महीना होता है, इसलिए दक्षिणी समुद्रमें इन दिनों छोटे-मोटे तूफान तो उठते ही रहते हैं। लेकिन यह तूफान इतने जोरका था और इतनी देर तक रहा कि यात्री घबरा उठे।

यह दृश्य भव्य था। दुःखमें सब एक हो गये। सारे भेद-भाव भूल गये। ईश्वरको हृदय-पूर्वक याद करने लगे। हिन्दू-मुसलमान सब साथ मिलकर भगवानका स्मरण करने लगे। कुछ लोगोंने मनौतियाँ मानीं। कप्तान भी यात्रियोंसे मिला-जुला और सबको आश्वासन देते हुए बोला, "यद्यपि यह तूफान बहुत जोरका माना जा सकता है, तो भी इससे कहीं ज्यादा जोरके तूफानोंका मैंने स्वयं अनुभव किया है। स्टीमर मजबूत हो तो वह अचानक डूबता नहीं।" इस प्रकार उसने यात्रियोंको बहुत-कुछ समझाया, पर इससे उन्हें तसल्ली न हुई। स्टीमरमें आवाजें ऐसी होती थीं, मानो अभी कहींसे टूट जायेगा, अभी कहीं छेद हो जायेगा। जब वह हचकोले खाता तो ऐसा लगता, मानो अभी उलट जायेगा। डेक पर तो कोई रह ही कैसे सकता था? सबके मुँहसे एक ही बात सुनायी पड़ती थी : 'भगवान जैसा रखे वैसा रहना होगा।"

जहाँ तक मुझे याद है, इस चिन्तामें चौबीस घंटे बीते होंगे। आखिर बादल बिखरे। सूर्यनारायणने दर्शन दिये। कप्तानने कहा, "तूफान चला गया है।"

लोगोंके चेहरों परसे चिन्ता दूर हुई और उसीके साथ ईश्वर भी लुप्त हो गया! लोग मौतका डर भूल गये और तत्काल ही गाना-बजाना तथा खाना-पीना शुरू हो गया। मायाका आवरण फिर छा गया। लोग नमाज पढ़ते और भजन भी गाते, पर

तूफानके समय उनमें जो गंभीरता दीख पड़ी वह चली गयी थी!

पर इस तूफानने मुझे यात्रियोंके साथ ओतप्रोत कर दिया था। कहा जा सकता है कि मुझे तूफानका डर न था। अथवा कम-से-कम था। लगभग ऐसे ही तूफानका अनुभव मैं पहले कर चुका था। मुझे न समुद्र लगता था, न चक्कर आते थे। इसलिए मैं यात्रियोंमें निर्भय होकर घूम सकता था, उन्हें हिम्मत बँधा सकता था और कप्तानकी भविष्य-वाणियाँ उन्हें सुनाता रहता था। यह स्नेहगाँठ मेरे लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुई।

हमने अठारह या उन्नीस दिसम्बरको डरबनमें लंगर डाला। 'नादरी' भी उसी दिन पहुँचा।

पर वास्तविक तूफानका अनुभव तो अभी होना बाकी था।

२. तूफान

अठारह दिसम्बरके आसपास दोनों स्टीमरोंने लंगर डाले। दक्षिण अफ्रीकाके बन्दरगाहोंमें यात्रियोंके स्वास्थ्यकी पूरी जाँच की जाती है। यदि रास्तेमें किसीको कोई छूतवाली बीमारी हुई हो, तो स्टीमरको सूतकमें - क्वारण्टीनमें - रखा जाता है। हमारे बम्बई छोड़ते समय वहाँ प्लेगकी शिकायत थी, इसलिए हमें इस बातका डर जरूर था कि सूतककी कुछ बाधा होगी। बन्दरमें लंगर डालनेके बाद स्टीमरको सबसे पहले पीला झण्डा फहराना होता है। डॉक्टरी जाँचके बाद डॉक्टरके मुक्ति देने पर पीला झण्डा उतरता है और फिर यात्रियोंके रिश्तेदारों आदिको स्टीमर पर आनेकी इजाजत मिलती है।

तदनुसार हमारे स्टीमर पर भी पीला झण्डा फहरा रहा था। डॉक्टर आये। जाँच करके उन्होंने पाँच दिनका सूतक घोषित किया, क्योंकि उनकी यह धारणा थी कि प्लेगके कीटाणु तेईस दिन तक जिन्दा रह सकते हैं। इसलिए उन्होंने ऐसा आदेश दिया कि बम्बई छोड़नेके बाद तेईस दिनकी अवधि पूरी होने तक स्टीमरोंको सूतकमें रखा जाये।

पर इस सूतककी आज्ञाका हेतु केवल स्वास्थ्य-रक्षा न था। डरबनके गोरे नागरिक हमें उलटे पैरों लौटा देनेका जो आन्दोलन कर रहे थे, वह भी इस आज्ञाके मूलमें एक कारण था।

दादा अब्दुल्लाकी तरफसे हमें शहरमें चल रहे इस आन्दोलनकी खबरें मिलती रहती थीं। गोरे लोग एकके बाद दूसरी विराट सभायें कर रहे थे। दादा अब्दुल्लाके नाम धमकियाँ भेजते थे, उन्हें लालच भी देते थे। अगर दादा अब्दुल्ला दोनों स्टीमरोंको वापस ले जायें, तो गोरे नुकसानको भरपाई करनेको तैयार थे। दादा अब्दुल्ला किसीकी धमकीसे डरनेवाले न थे। इस समय वहाँ सेठ अब्दुल करीम हाजी आदम दुकान पर थे। उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि कितना ही नुकसान क्यों न उठाना पड़े, वे स्टीमरोंको बन्दर पर लायेंगे और यात्रियोंको उतारेंगे। मेरे नाम उनके विस्तृत पत्र बराबर आते रहते थे। सौभाग्यसे इस समय स्व० मनसुखलाल हीरालाल नाजर मुझसे मिलनेके लिए डरबन आ पहुँचे थे। वे होशियार और बहादुर आदमी थे। उन्होंने हिन्दुस्तानी कौमको नेक सलाह दी। मि० लाटन वकील थे। वे भी वैसे ही बहादुर थे। उन्होंने गोरोंकी करतूतोंकी निन्दा की और इस अवसर पर कौमको जो सलाह दी, वह सिर्फ वकीलके नाते पैसे लेकर नहीं, बल्कि एक सच्चे मित्रके नाते दी।

इस प्रकार डरबनमें द्वंद्व-युद्ध छिड़ गया। एक ओर मुट्ठीभर गरीब हिन्दुस्तानी और उनके इने-गिने अंग्रेज मित्र थे; दूसरी ओर धनबल प्रतिपक्षियोंको राज्यका बल भी प्राप्त हो गया था, क्योंकि नेटालकी सरकारने खुल्लमखुल्ला उनकी मदद की थी। मि० हेरी एस्कम्बने, जो मंत्रि-मंडलमें थे और उसके कर्ताधर्ता थे, इन गोरोंकी सभाओंमें प्रकट रूपसे हिस्सा लिया।

मतलब यह कि हमारा सूतक केवल स्वास्थ्य-रक्षाके नियमोंके ही कारण न था। उसका हेतु किसी भी तरह एजेण्टको अथवा यात्रियोंको दबा कर हमें वापस भेजना था। एजेण्टको तो धमकी मिल ही रही थी। अब हमारे नाम भी धमकियाँ आने लगीं : "अगर तुम वापस न गये, तो तुम्हें समुद्रमें डूबो दिया जायगा। लौट जाओगे तो लौटनेका भाड़ा भी शायद तुम्हें मिल जाये।" मैं यात्रियोंके बीच खूब घूमा-फिरा। उन्हें धीरज बँधाया। 'नादरी'के यात्रियोंको भी धीरजसे काम लेनेके संदेश भेजे। यात्री शान्त रहे और उन्होंने हिम्मतका परिचय दिया।

यात्रियोंके मनोरंजनके लिए स्टीमर पर खेलोंका प्रबंध किया गया था। बड़े दिनका त्यौहार आया। कप्तानने उस दिन पहले दर्जेके यात्रियोंको भोज दिया। यात्रियोंमें मुख्यत: मैं और मेरे परिवारके लोग ही थे। भोजनके बाद भाषण करनेकी प्रथा तो थी ही। मैंने पश्चिमी सभ्यता पर भाषण किया। मैं जानता था कि यह अवसर गंभीर

भाषणका नहीं होता, पर मैं दूसरा कोई भाषण दे ही नहीं सकता था। मैं आनंदमें सम्मिलित हुआ था, पर मेरा दिल तो डरबनमें चल रही लड़ाईमें ही लगा हुआ था, क्योंकि इस हमलेमें मध्यबिन्दु मैं था। मुझ पर दो आरोप थे :

१. मैंने हिन्दुस्तानमें नेटाल-वासी गोरोंकी अनुचित निन्दा की थी;

२. मैं नेटालको हिन्दुस्तानियोंसे भर देना चाहता था, और इसलिए खासकर नेटालमें बसानेके लिए हिन्दुस्तानियोंको 'कुरलैण्ड' और 'नादरी' में भर लाया था।

मुझे अपनी जिम्मेदारीका खयाल था। मेरे कारण दादा अब्दुल्ला भारी नुक्सानमें पड़ गये थे। यात्रियोंके प्राण संकटमें थे। और अपने परिवारको साथ लाकर मैंने उसे भी दुःखमें डाल दिया था।

पर मैं स्वयं बिलकुल निर्दोष था। मैंने किसीको नेटाल आनेके लिए ललचाया नहीं था। 'नादरी'के यात्रियोंको मैं पहचानता भी न था। 'कुरलैण्ड'में अपने दो-तीन रिश्तेदारोंको छोड़कर बाकीके सैकड़ों यात्रियोंके नामधाम तक मैं जानता न था। मैंने हिन्दुस्तानमें नेटालके अंग्रेजोंके विषयमें ऐसा एक भी शब्द नहीं कहा, जो मैं नेटालमें कह न चुका था। और जो कुछ मैंने कहा था, उसके लिए मेरे पास काफी प्रमाण थे।

अतएव नेटालके अंग्रेज जिस सभ्यताकी उपज थे, जिसके वे प्रतिनिधि और हिमायती थे, उस सभ्यताके प्रति मेरे मनमें खेद उत्पन्न हुआ। मैं उसीका विचार करता रहता था, इसलिए इस छोटी-सी सभाके सामने मैंने अपने वे ही विचार रखे, और श्रोतावर्गने उन्हें सहन कर लिया। जिस भावसे मैंने उन्हें रखा, कप्तान आदिने उसी भावमें उन्हें ग्रहण किया। उन विचारोंसे उनके जीवनमें कोई फेरफार हुआ या नहीं, सो मैं नहीं जानता। पर इस भाषणके बाद कप्तान और दूसरे अधिकारियोंके साथ पश्चिमी सभ्यताके विषयमें मेरी बहुत बातें हुईं। मैंने पश्चिमकी सभ्यताको प्रधानतया हिंसक बतलाया और पूर्वकी सभ्यताको अहिंसक। प्रश्नकर्ताओंने मेरे सिद्धान्त मुझी पर लागू किये। बहुत करके कप्तानने ही पूछा :

"गोरे जैसी धमकी दे रहे हैं उसीके अनुसार वे आपको चोट पहुँचायें, तो आप अहिंसाके अपने सिद्धांत पर किस प्रकार अमल करेंगे?"

मैंने जवाब दिया : "मुझे आशा है कि उन्हें माफ कर देनेकी और उन पर मुकदमा न चलानेकी हिम्मत और बुद्धि ईश्वर मुझे देगा। आज भी मुझे उन पर रोष नहीं है। उनके अज्ञान, उनकी संकुचित दृष्टिके लिए मुझे खेद होता है। मैं समझता हूँ कि वे जो कह रहे हैं और कर रहे हैं वह उचित है ऐसा वे शुद्ध भावसे मानते हैं।

अतएव मेरे लिए रोषका कोई कारण नहीं।'' पूछनेवाला हँसा। शायद मेरी बात पर उसे विश्वास नहीं हुआ।

इस प्रकार हमारे दिन बीतते और लम्बे होते गये। सूतक समाप्त करनेकी अवधि अन्त तक निश्चित नहीं हुई। इस विभागके अधिकारीसे पूछने पर वह कहता, ''यह मेरी शक्ति से बाहरकी बात है। सरकार मुझे आदेश दे, तो मैं आप लोगोंको उतरनेकी इजाजत दे दूँ।''

अन्तमें यात्रियोंको और मुझे अल्टिमेटम मिले। दोनोंको धमकी दी गयी कि तुम्हारी जान खतरेमें है। दोनोंने नेटालके बन्दर पर उतरनेके अपने अधिकारके विषयमें लिखा, और अपना यह निश्चय घोषित किया कि कैसा भी संकट क्यों न हो, हम अपने इस अधिकार पर डटे रहेंगे।

आखिर तेईसवें दिन, अर्थात् १३ जनवरी, १८९७के दिन, स्टीमरोंको मुक्ति मिली और यात्रियोंको उतरनेका आदेश मिला।

३. कसौटी

जहाज धक्के पर लगा। यात्री उतरे। पर मेरे बारेमें मि० एस्कम्बने कप्तानसे कहलाया था : ''गांधीको और उनके परिवारको शामके समय उतारियेगा। उनके विरुद्ध गोरे बहुत उत्तेजित हो गये हैं और उनके प्राण संकटमें हैं। पोर्ट सुपरिण्टेण्डेण्ट मि० टेटम उन्हें शामको अपने साथ ले जायेंगे।''

कप्तानने मुझे इस सन्देशकी खबर दी। मैंने तदनुसार चलना स्वीकार किया। लेकिन इस सन्देशको मिले आधा घंटा भी न हुआ था कि इतनेमें मि० लाटन आये और कप्तानसे मिलकर बोले, ''यदि मि० गांधी मेरे साथ चलें, तो मैं उन्हें अपनी जिम्मेदारी पर ले जाना चाहता हूँ। स्टीमरके एजेण्टके वकीलके नाते मैं आपसे कहता हूँ कि मि० गांधीके बारेमें जो सन्देश आपको मिला है उसके बन्धनसे आप मुक्त हैं।'' इस प्रकार कप्तानसे बातचीत करके वे मेरे पास आये और मुझसे कुछ इस मतलबकी बातें कहीं : ''आपको जीवनका डर न हो, तो मैं चाहता हूँ कि श्रीमती गांधी और बच्चे गाड़ीमें रुस्तमजी सेठके घर जायें और आप तथा मैं आम रास्तेसे पैदल चलें। मुझे यह बिलकुल अच्छा नहीं लगता कि आप अँधेरा होने पर चुपचाप शहरमें दाखिल हों। मेरा खयाल है कि आपका बाल भी बाँका न होगा।

अब तो सब कुछ शान्त है। गोरे सब तितर-बितर हो गये हैं। पर कुछ भी क्यों न हो, मेरी राय है कि आपको छिपे तौर पर शहरमें कभी न जाना चाहिये।''

मैं सहमत हो गया। मेरी धर्मपत्नी और बच्चे गाड़ीमें बैठकर रुस्तमजी सेठके घर सही-सलामत पहुँच गये। कप्तानकी अनुमति लेकर मैं मि० लाटनके साथ उतरा। रुस्तमजी सेठका घर वहाँसे लगभग दो मील दूर था।

जैसे ही हम जहाजसे उतरे, कुछ लड़कोंने मुझे पहचान लिया और वे 'गांधी, गांधी' चिल्लाने लगे तुरन्त ही कुछ लोग इकट्ठा हो गये और चिल्लाहट बढ़ गयी। मि० लाटनने देखा कि भीड़ बढ़ जायगी, इसलिए उन्होंने रिक्शा मँगवाया। मुझे उसमें बैठना कभी अच्छा न लगता था। उस पर सवार होनेका मुझे यह पहला ही अनुभव होने जा रहा था। पर लड़के क्यों बैठने देते? उन्होंने रिक्शावालेको धमकाया और वह भाग खड़ा हुआ।

हम आगे बढ़े। भीड़ भी बढ़ती गयी। खासी भीड़ जमा हो गयी। सबसे पहले तो भीड़वालोंने मुझे मि० लाटनसे अलग कर दिया। फिर मुझ पर कंकरों और सड़े अण्डोंकी वर्षा शुरू हुई। किसीने मेरी पगड़ी उछाल कर फेंक दी। फिर लातें शुरू हुई।

मुझे गश आ गया। मैंने पासके घरकी जाली पकड़ ली और दम लिया। वहाँ खड़ा रहना तो सम्भव ही न था। तमाचे पड़ने लगे।

इतनेमें पुलिस अधिकारीकी स्त्री, जो मुझे पहचानती थी, उस रास्तेसे गुजरी। मुझे देखते ही वह मेरी बगलमें आकर खड़ी हो गयी और धूपके न रहते भी उसने अपनी छत्री खोल ली। इससे भीड़ कुछ नरम पड़ी। अब मुझ पर प्रहार करने हों, तो मिसेज एलेक्ज़ेण्डरको बचाकर ही किये जा सकते थे।

इस बीच मुझ पर मार पड़ते देखकर कोई हिन्दुस्तानी नौजवान पुलिस थाने पर दौड़ गया। सुपरिण्टेण्डेण्ट एलेक्ज़ेण्डरने एक टुकड़ी मुझे घेर कर बचा लेनेके लिए भेजी। वह समय पर पहुँची। मेरा रास्ता पुलिस थानेके पास ही होकर जाता था। सुपरिण्टेण्डेन्टने मुझे थानेमें आश्रय लेनेकी सलाह दी। मैंने इनकार किया और कहा, ''जब लोगोंको अपनी भूल मालूम हो जायेगी, तो वे शान्त हो जायेंगे। मुझे उनकी न्यायबुद्धि पर विश्वास है।''

पुलिसके दस्तेके साथ मैं सही-सलामत पारसी रुस्तमजीके घर पहुँचा। मेरी पीठ पर छिपी मार पड़ी थी। एक जगह थोड़ा खून निकल आया था। स्टीमरके डॉक्टर दादा बरजोर वहीं मौजूद थे। उन्होंने मेरी अच्छी सेवा-शुश्रूषा की।

यों भीतर शान्ति थी, पर बाहर गोरोंने घरको घेर लिया था। शाम हो चुकी थी। अँधेरा हो चला था। बाहर हजारों लोग तीखी आवाजमें शोर कर रहे थे और 'गांधीको हमें सौंप दो'की पुकार मचा रहे थे। परिस्थितिका खयाल करके सुपरिण्टेण्डेण्ट एलेक्ज़ेण्डर वहाँ पहुँच गये थे और भीड़को धमकीसे नहीं, बल्कि उसका मन बहलाकर वशमें रख रहे थे।

फिर भी वे निश्चिन्त तो नहीं थे। उन्होंने मुझे इस आशयका संदेशा भेजा : "यदि आप अपने मित्रके मकान, माल-असबाब और अपने बाल-बच्चोंको बचाना चाहते हों, तो जिस तरह मैं कहूँ उस तरह आपको इस घरसे छिपे तौर पर निकल जाना चाहिये।"

एक ही दिनमें मुझे एक-दूसरेके विरुद्ध दो काम करनेका प्रसंग आया। जब प्राणोंका भय केवल काल्पनिक प्रतीत होता था, तब मि० लाटनने मुझे प्रकट रूपसे बाहर निकलनेकी सलाह दी और मैंने उसे मान लिया। जब संकट प्रत्यक्ष मेरे सामने आकर खड़ा हो गया, तब दूसरे मित्रने इससे उलटी सलाह दी और मैंने उसे भी मान लिया! कौन कह सकता है कि मैं अपने प्राणोंके संकटसे डरा या मित्रके जान-मालकी जोखिमसे अथवा अपने परिवारकी प्राणहानिसे या तीनोंसे? कौन निश्चय-पूर्वक कह सकता है कि मेरा स्टीमरसे हिम्मत दिखाकर उतरना और बादमें संकटके प्रत्यक्ष सामने आने पर छिपकर भाग निकलना उचित था? पर घटित घटनाओंके बारेमें इस तरहकी चर्चा ही व्यर्थ है। उनका उपयोग यही है कि जो हो चुका है, उसे समझ लें और उससे जितना सीखनेको मिले, सीख लें। अमुक प्रसंगमें अमुक मनुष्य क्या करेगा, यह निश्चय-पूर्वक कहा ही नहीं जा सकता। इसी तरह हम यह भी देख सकते हैं कि मनुष्यके बाहरी आचरणसे उसके गुणोंकी जो परीक्षा की जाती है, वह अधूरी और अनुमान-मात्र होती है।

सो कुछ भी हो, भागनेके काममें उलझ जानेसे मैं अपनी चोटोंको भूल गया। मैंने हिन्दुस्तानी सिपाहीकी वर्दी पहनी। कभी सिर पर मार पड़े तो उससे बचनेके लिए माथे पर पीतलकी एक तश्तरी रखी और ऊपरसे मद्रासी तर्जका बड़ा साफा बाँधा। साथमें खुफिया पुलिसके दो जवान थे। उनमें से एकने हिन्दुस्तानी व्यापारीकी पोशाक पहनी और अपना चेहरा हिन्दुस्तानीकी तरह रंग लिया। दूसरेने क्या पहना, सो मैं भूल गया हूँ। हम बगलकी गलीमें होकर पड़ोसकी एक दुकानमें पहुँचे और गोदाममें लगी हुई बोरोंकी थप्पियोंको अँधेरेमें लाँघते हुए दुकानके दरवाजेसे भीड़में

घुस कर आगे निकल गये। गलीके नुक्कड़ पर गाड़ी खड़ी थी उसमें बैठाकर मुझे अब उसी थानेमें ले गये, जिसमें आश्रय लेनेकी सलाह सुपरिण्टेण्डेण्ट एलेक्ज़ेण्डरने पहले दी थी। मैंने सुपरिण्टेण्डेण्ट एलेक्ज़ेण्डरको और खुफिया पुलिसके अधिकारियोंको धन्यवाद दिया।

इस प्रकार जब एक तरफ़से मुझे ले जाया जा रहा था, तब दूसरी तरफ सुपरिण्टेण्डेण्ट एलेक्ज़ेण्डर भीड़से गाना गवा रहे थे। उस गीतका अनुवाद यह है :

'चलो, हम गांधीको फाँसी लटका दें,
इमलीके उस पेड़ पर फाँसी लटका दें।'

जब सुपरिण्टेण्डेण्ट एलेक्ज़ेण्डरको मेरे सही-सलामत थाने पर पहुँच जानेकी खबर मिली तो उन्होंने भीड़से कहा : "आपका शिकार तो इस दुकानमें से सही-सलामत निकल भागा है।" भीड़में किसीको गुस्सा आया, कोई हँसा, बहुतोंने इस बातको माननेसे इनकार किया।

इस पर सुपरिण्टेण्डेण्ट एलेक्ज़ेण्डरने कहा, "तो आप लोग अपनेमें से जिसे नियुक्त कर दें उसे मैं अन्दर ले जाऊँ और वह तलाश करके देख ले। अगर आप गांधीको ढूँढ़ निकालें, तो मैं उसे आपके हवाले कर दूँगा। न ढूँढ़ सकें तो आपको बिखर जाना होगा। मुझे यह विश्वास तो है ही कि आप पारसी रुस्तमजीका मकान हरगिज नहीं जलायेंगे और न गांधीके स्त्री-बच्चोंको कष्ट पहुँचायेंगे।"

भीड़ने प्रतिनिधि नियुक्त किये। उन्होंने तलाशके बाद उसे निराशाजनक समाचार सुनाये। सब सुपरिण्टेण्डेण्ट एलेक्ज़ेण्डरकी सूझ-बूझ और चतुराईकी प्रशंसा करते हुए, पर मन-ही-मन कुछ गुस्सा होते हुए, बिखर गये।

उस समयके उपनिवेश-मंत्री स्व० मि० चेम्बरलेनने तार द्वारा सूचित किया कि मुझ पर हमला करनेवालों पर मुकदमा चलाया जाय और मुझे न्याय दिलाया जाय। मि० एस्कम्बने मुझे अपने पास बुलाया। मुझे पहुँची हुई चोटके लिए खेद प्रकट करते हुए उन्होंने कहा, "आप यह तो मानेंगे ही कि आपका बाल भी बाँका हो तो मुझे उससे कभी खुशी नहीं हो सकती। आपने मि० लाटनकी सलाह मानकर तुरन्त उतर जानेका साहस किया। आपको ऐसा करनेका हक था, पर आपने मेरे सन्देशको मान लिया होता, तो यह दुःखद घटना न घटती। अब अगर आप हमला करनेवालोंको पहचान सकें, तो मैं उन्हें गिरफ्तार करवाने और उन पर मुकदमा चलानेको तैयार हूँ। मि. चेम्बरलेन भी यही चाहते हैं।"

मैंने जवाब दिया : "मुझे किसी पर मुकदमा नहीं चलाना है। सम्भव है, हमला करनेवालोंमें से एक-दोको मैं पहचान लूँ, पर उन्हें सजा दिलानेसे मुझे क्या लाभ होगा फिर, मैं हमला करनेवालोंको दोषी भी नहीं मानता। उन्हें तो यह कहा गया है कि मैंने हिन्दुस्तानमें अतिशयोक्तिपूर्ण बातें कहकर नेटालके गोरोंको बदनाम किया है। वे इस बातको मानकर गुस्सा हों, तो इसमें आश्चर्य क्या है? दोष तो बड़ोंका और, मुझे कहनेकी इजाजत दें तो, आपका माना जाना चाहिये। आप लोगोंको सही रास्ता दिखा सकते थे, पर आपने भी रायटरके तारको ठीक माना और यह कल्पना कर ली कि मैंने अतिशयोक्ति की होगी। मुझे किसी पर मुकदमा नहीं चलाना है। जब वस्तुस्थिति प्रकट होगी और लोगोंको पता चलेगा, तो वे खुद पछतायेंगे।"

"तो आप मुझे यह बात लिखकर दे देंगे? मुझे मि० चेम्बरलेनको इस आशयका तार भेजना पड़ेगा। मैं नहीं चाहता कि आप जल्दीमें कुछ लिखकर दे दें। मेरी इच्छा ये है कि आप मि० लाटनसे और अपने दूसरे मित्रोंसे सलाह करके जो उचित जान पड़े सो करें। हाँ, मैं यह स्वीकार करता हूँ कि यदि आप हमला करनेवालों पर मुकदमा नहीं चलायेंगे, तो सब ओर शांति स्थापित करनेमें मुझे बहुत मदद मिलेगी और आपकी प्रतिष्ठा तो निश्चय ही बढ़ेगी।"

मैंने जवाब दिया, "इस विषयमें मेरे विचार पक्के हो चुके हैं। यह निश्चय समझिये कि मुझे किसी पर मुकदमा नहीं चलाना है, इसलिए मैं आपको यहीं लिखकर दे देना चाहता हूँ।"

यह कहकर मैंने आवश्यक पत्र लिखकर दे दिया।

४. शान्ति

हमलेके दो-एक दिन बाद जब मैं मि० एस्कम्बसे मिला तब मैं पुलिस थानेमें ही था। रक्षाके लिए मेरे साथ एक-दो सिपाही रहते थे, पर दरअसल जब मुझे मि० एस्कम्बके पास ले जाया गया तब रक्षाकी आवश्यकता रही नहीं थी।

जिस दिन मैं जहाजसे उतरा उसी दिन, अर्थात् पीला झण्डा उतरनेके बाद तुरन्त, 'नेटाल एडवरटाइज़र' नामक पत्रका प्रतिनिधि मुझसे मिल गया था। उसने मुझे कई प्रश्न पूछे थे और उनके उत्तरमें मैं प्रत्येक आरोपका पूरा-पूरा जवाब दे सका था। सर

फीरोजशाह मेहताके प्रतापसे उस समय मैंने हिन्दुस्तानमें एक भी भाषण बिना लिखे नहीं किया था। अपने उन सब भाषणों और लेखोंका संग्रह तो मेरे पास था ही। मैंने वह सब उसे दिया और सिद्ध कर दिखाया कि मैंने हिन्दुस्तानमें ऐसी एक भी बात नहीं कही, जो अधिक तीव्र शब्दोंमें दक्षिण अफ्रीकामें न कही हो। मैंने यह भी बता दिया कि 'कुरलैण्ड और नादरी'के यात्रियोंको लानेमें मेरा हाथ बिलकुल न था। उनमें अधिकतर तो पुराने ही थे और बहुतेरे नेटालमें रहनेवाले नहीं थे बल्कि ट्रान्सवाल जानेवाले थे। उन दिनों नेटालमें मन्दी थी। ट्रान्सवालमें बहुत अधिक कमाई होती थी। इस कारण अधिकतर हिन्दुस्तानी वहीं जाना पसन्द करते थे।

इस खुलासेका और हमलावरों पर मुकदमा दायर करनेसे मेरे इनकार करनेका इतना ज्यादा असर पड़ा कि गोरे शरमिन्दा हुए। समाचारपत्रोंने मुझे निर्दोष सिद्ध किया और हुल्लड़ करनेवालोंकी निन्दा की। इस प्रकार परिणाममें तो मुझे लाभ ही हुआ, और मेरा लाभ मेरे कार्यका ही लाभ था। इससे भारतीय समाजकी प्रतिष्ठा बढ़ी और मेरा मार्ग अधिक सरल हो गया।

तीन या चार दिन बाद मैं अपने घर गया और कुछ ही दिनोंमें व्यवस्थित रीतिसे अपना कामकाज करने लगा। इस घटनाके कारण मेरी वकालत भी बढ़ गयी।

परंतु इस तरह यदि हिन्दुस्तानियोंकी प्रतिष्ठा बढ़ी, तो उनके प्रति गोरोंका द्वेष भी बढ़ा। गोरोंको विश्वास हो गया कि हिन्दुस्तानियोंमें दृढतापूर्वक लड़नेकी शक्ति है। फलतः उनका डर बढ़ गया। नेटालकी धारासभामें दो कानून पेश हुए, जिनसे हिन्दुस्तानियोंकी कठिनाइयाँ बढ़ गयीं। एकसे भारतीय व्यापारियोंके धंधेको नुकसान पहुँचा, दूसरेसे हिन्दुस्तानियोंके आनेजाने पर अंकुश लग गया। सौभाग्यसे मताधिकारकी लड़ाईके समय यह फैसला हो चुका था कि हिन्दुस्तानियोंके खिलाफ हिन्दुस्तानीके नाते कोई कानून नहीं बनाया जा सकता। मतलब यह कि कानूनमें रंगभेद या जातिभेद नहीं होना चाहिये। इसलिए ऊपरके दोनों कानून उनकी भाषाको देखते हुए तो सब पर लागू होते जान पड़ते थे, पर उनका मूल उद्देश्य केवल हिन्दुस्तानी कौम पर दबाव डालना था।

इन कानूनोंने मेरा काम बहुत ज्यादा बढ़ा दिया और हिन्दुस्तानियोंमें जागृति भी बढ़ायी। हिन्दुस्तानियोंको ये कानून इस तरह समझा दिये गये कि इनकी बारीकसे बारीक बातोंसे भी कोई हिन्दुस्तानी अपरिचित न रह सके। हमने इनके अनुवाद भी प्रकाशित कर दिये। झगड़ा आखिर विलायत पहुँचा। पर कानून नामंजूर नहीं हुए

मेरा अधिकतर समय सार्वजनिक काममें ही बीतने लगा। मनसुखलाल नाजर मेरे साथ रहे। उनके नेटालमें होनेकी बात मैं ऊपर लिख चुका हूँ। वे सार्वजनिक काममें अधिक हाथ बँटाने लगे, जिससे मेरा काम कुछ हलका हो गया।

मेरी अनुपस्थितिमें सेठ आदमजी मियांखानने अपने मंत्रीपदको खूब सुशोभित किया था। उन्होंने सदस्य बढ़ाये थे और स्थानीय काँग्रेसके कोषमें लगभग एक हजार पौण्डकी वृद्धि की थी। यात्रियों पर हुए हमलेके कारण और उपर्युक्त कानूनोंके कारण जो जागृति पैदा हुई, उससे मैंने इस वृद्धिमें भी वृद्धि करनेका विशेष प्रयत्न किया और कोषमें लगभग पाँच हजार पौण्ड जमा हो गये। मेरे मनमें लोभ यह था कि यदि काँग्रेसका स्थायी कोष हो जाये, उसके लिए जमीन ले ली जाये और उसका भाड़ा आने लगे तो काँग्रेस निर्भय हो जाये। सार्वजनिक संस्थाका यह मेरा पहला अनुभव था। मैंने अपना विचार साथियोंके सामने रखा। उन्होंने उसका स्वागत किया। मकान खरीदे गये और वे भाड़े पर उठा दिये गये। उनके किरायेसे काँग्रेसका मासिक खर्च आसानीसे चलने लगा। सम्पत्तिका सुदृढ़ ट्रस्ट बन गया। वह सम्पत्ति आज भी मौजूद है, पर अंदर अंदर वह आपसी कलहका कारण बन गयी है और जायदादका किराया आज अदालतमें जमा होता है।

यह दुःखद घटना तो मेरे दक्षिण अफ्रीका छोड़नेके बाद घटी, पर सार्वजनिक संस्थाओंके लिए स्थायी कोष रखनेके सम्बन्धमें मेरे विचार दक्षिण अफ्रीकामें ही बदल चुके थे। अनेकानेक सार्वजनिक संस्थाओंकी उत्पत्ति और उनके प्रबन्धकी जिम्मेदारी संभालनेके बाद मैं इस दृढ़ निर्णय पर पहुँचा हूँ कि किसी भी सार्वजनिक संस्थाको स्थायी कोष पर निभनेका प्रयत्न नहीं करना चाहिये। इसमें उसकी नैतिक अधोगतिका बीज छिपा रहता है।

सार्वजनिक संस्थाका अर्थ है, लोगोंकी स्वीकृति और लोगोंके धनसे चलनेवाली संस्था। ऐसी संस्थाको जब लोगोंकी सहायता न मिले, तो उसे जीवित रहनेका अधिकार ही नहीं रहता। देखा यह गया है कि स्थायी सम्पत्तिके भरोसे चलनेवाली संस्था लोकमतसे स्वतंत्र हो जाती है और कितनी ही बार वह उलटा आचरण भी करती है। हिन्दुस्तानमें हमें पग-पग पर इसका अनुभव होता है। कितनी ही धार्मिक मानी जानेवाली संस्थाओंके हिसाब-किताबका कोई ठिकाना ही नहीं रहता। उनके ट्रस्टी ही उनके मालिक बन बैठे हैं और वे किसीके प्रति उत्तरदायी भी नहीं हैं। जिस तरह प्रकृति स्वयं प्रतिदिन उत्पन्न करती और प्रतिदिन खाती है, वैसी ही व्यवस्था

सार्वजनिक संस्थाओंकी भी होनी चाहिये, इसमें मुझे कोई शंका नहीं है। जिस संस्थाको लोग मदद देनेके लिए तैयार न हो, उसे सार्वजनिक संस्थाके रूपमें जीवित रहनेका अधिकार ही नहीं है। प्रतिवर्ष मिलनेवाला चन्दा ही उन संस्थाओंकी अपनी लोकप्रियता और उनके संचालकोंकी प्रामाणिकताकी कसौटी है, और मेरी यह राय है कि हरएक संस्थाको इस कसौटी पर कसा जाना चाहिये।

मेरे यह लिखनेसे कोई गलतफहमी न होनी चाहिये। ऊपरकी टीका उन संस्थाओं पर लागू नहीं होती, जिन्हें मकान इत्यादिकी आवश्यकता होती है। सार्वजनिक संस्थाओंके दैनिक खर्चका आधार लोगोंसे मिलनेवाला चन्दा ही होना चाहिये।

ये विचार दक्षिण अफ्रीकाके सत्याग्रहके दिनोंमें दृढ़ हुए। छह वर्षोंकी वह महान लड़ाई स्थायी कोषके बिना चली, यद्यपि उसके लिए लाखों रुपयोंकी आवश्यकता थी। मुझे ऐसे अवसरोंकी याद है कि जब अगले दिनका खर्च कहाँसे आयेगा, इसकी मुझे खबर न होती थी। लेकिन आगे जिन विषयोंकी चर्चा की जानेवाली है, उनका उल्लेख यहाँ नहीं करूँगा। पाठकोंको मेरे इस मतका समर्थन इस कथामें उचित प्रसंग पर यथास्थान मिल जायेगा।

९. बच्चोंकी शिक्षा

सन् १८९७की जनवरीमें मैं डरबन उतरा, तब मेरे साथ तीन बालक थे। मेरा भानजा लगभग दस वर्षकी उमरका, मेरा बड़ा लड़का नौ वर्षका और दूसरा लड़का पाँच वर्षका। इन सबको कहाँ पढ़ाया जाये?

मैं अपने लड़कोंको गोरोंके लिए चलनेवाले स्कूलोंमें भेज सकता था, पर वह केवल मेहरबानी और अपवाद-रूप होता। दूसरे सब हिन्दुस्तानी बालक वहाँ पढ़ नहीं सकते थे। हिन्दुस्तानी बालकोंको पढ़ानेके लिए ईसाई मिशनके स्कूल थे, पर उनमें मैं अपने बालकोंको भेजनेके लिए तैयार न था। वहाँ दी जानेवाली शिक्षा मुझे पसन्द न थी। वहाँ गुजराती द्वारा तो शिक्षा मिलती ही कहाँसे? सारी शिक्षा अंग्रेजीमें ही दी जाती थी, अथवा बहुत प्रयत्न किया जाता, तो अशुद्ध तामिल या हिन्दीमें दी जा सकती थी। पर इन और ऐसी अन्य त्रुटियोंको सहन करना मेरे लिए सम्भव न था।

मैं स्वयं बालकोंको पढ़ानेका थोड़ा प्रयत्न करता था। पर वह अत्यन्त अनियमित

था। अपनी रुचिके अनुकूल गुजराती शिक्षक मैं खोज न सका।

मैं परेशान हुआ। मैंने ऐसे अंग्रेजी शिक्षकके लिए विज्ञापन दिया, जो बच्चोंको मेरी रुचिके अनुकूल शिक्षा दे सके। मैंने सोचा कि इस तरह जो शिक्षक मिलेगा उसके द्वारा थोड़ी नियमित शिक्षा होगी और बाकी मैं स्वयं, जैसे बन पड़ेगी, दूँगा। एक अंग्रेज महिलाको ७ पौण्डके वेतन पर रखकर गाड़ी कुछ आगे बढ़ायी।

बच्चोंके साथ मैं केवल गुजरातीमें ही बातचीत करता था। इससे उन्हें थोड़ी गुजराती सीखनेको मिल जाती थी। मैं उन्हें देश भेजनेके लिए तैयार न था। उस समय भी मेरा यह खयाल था कि छोटे बच्चोंको माता-पितासे अलग नहीं रहना चाहिये। सुव्यवस्थित घरमें बालकोंको जो शिक्षा सहज ही मिल जाती है, वह छात्रालयोंमें नहीं मिल सकती। अतएव अधिकतर वे मेरे साथ ही रहे। भानजे और बड़े लड़केको मैंने कुछ महीनोंके लिए देशमें अलग-अलग छात्रालयोंमें भेजा अवश्य था, पर वहाँसे उन्हें तुरन्त वापस बुला लिया था। बादमें मेरा बड़ा लड़का, वयस्क होने पर, अपनी इच्छासे अहमदाबादके हाईस्कूलमें पढ़नेके लिए दक्षिण अफ्रीका छोड़कर देश चला गया था। अपने भानजेको जो शिक्षा मैं दे सका, उससे उसे संतोष था, ऐसा मेरा खयाल है। भरी जवानीमें, कुछ ही दिनोंकी बीमारीके बाद, उसका देहान्त हो गया। मेरे दूसरे तीन लड़के कभी किसी स्कूलमें गये ही नहीं। दक्षिण अफ्रीकाके सत्याग्रहके सिलसिलेमें मैंने जो विद्यालय खोला था, उसमें उन्होंने थोड़ी नियमित पढ़ाई की थी।

मेरे ये प्रयोग अपूर्ण थे। लड़कोंको मैं स्वयं जितना समय देना चाहता था उतना दे नहीं सका। इस कारण और दूसरी अनिवार्य परिस्थितियोंके कारण मैं अपनी इच्छाके अनुसार उन्हें अक्षर-ज्ञान नहीं दे सका। इस विषयमें मेरे सब लड़कोंको न्यूनाधिक मात्रामें मुझसे शिकायत भी रही है, क्योंकि जब-जब वे 'बी.ए', 'एम.ए.' और 'मैट्रिक्युलेट' के भी सम्पर्कमें आते, तब स्वयं किसी स्कूलमें न पढ़ सकनेकी कमीका अनुभव करते थे।

तिस पर भी मेरी अपनी राय यह है कि जो अनुभव-ज्ञान उन्हें मिला है, माता-पिताका जो सहवास वे प्राप्त कर सके हैं, स्वतंत्रताका जो पदार्थपाठ उन्हें सीखनेको मिला है, वह सब उन्हें न मिलता यदि मैंने उनको चाहे जिस तरह स्कूल भेजनेका आग्रह रखा होता। उनके बारेमें जो निश्चिन्तता आज मुझे है वह न होती, और जो सादगी तथा सेवाभाव उन्होंने सीखा है वह मुझसे अलग रहकर विलायतमें या दक्षिण

अफ्रीकामें कृत्रिम शिक्षा प्राप्त करके वे सीख न पाते; बल्कि उनकी बनावटी रहन-सहन देशकार्यमें मेरे लिए कदाचित् विघ्नरूप हो जाती।

अतएव यद्यपि मैं उन्हें जितना चाहता था उतना अक्षर-ज्ञान नहीं दे सका, तो भी अपने पिछले वर्षोंका विचार करते समय मेरे मनमें यह खयाल नहीं उठता कि उनके प्रति मैंने अपने धर्मका यथाशक्ति पालन नहीं किया और न मुझे उसके लिए पश्चात्ताप होता है। इसके विपरीत, अपने बड़े लड़केके बारेमें मैं जो दुःखद परिणाम देखता हूँ, वह मेरे अधकचरे पूर्वकालकी प्रतिध्वनि है, ऐसा मुझे सदा ही लगा है। उस समय उसकी उमर इतनी थी कि जिसे मैंने हर प्रकारसे अपना मूर्च्छाकाल, वैभव-काल माना है, उसका स्मरण उसे बना रहे। वह क्यों माने कि वह मेरा मूर्च्छाकाल था? वह ऐसा क्यों न माने कि वह मेरा ज्ञानकाल था और उसके बादमें हुए परिवर्तन अयोग्य और मोहजन्य थे? वह क्यों न माने कि उस समय मैं संसारके राजमार्ग पर चल रहा था इस कारण सुरक्षित था तथा बादमें किये हुए परिवर्तन मेरे सूक्ष्म अभियान और अज्ञानकी निशानी थे? यदि मेरे लड़के बारिस्टर आदिकी पदवी पाते तो क्या बुरा होता? मुझे उनके पंख काट देनेका क्या अधिकार था? मैंने उन्हें ऐसी स्थितिमें क्यों नहीं रखा कि वे उपाधियाँ प्राप्त करके मनचाहा जीवन-मार्ग पसन्द कर सकते? इस तरहकी दलीलें मेरे कितने ही मित्रोंने मेरे सम्मुख रखी हैं।

मुझे इन दलीलोंमें कोई तथ्य नहीं दिखायी दिया। मैं अनेक विद्यार्थियोंके सम्पर्कमें आया हूँ। दूसरे बालकों पर मैंने दूसरे प्रयोग भी किये हैं, अथवा करानेमें सहायक हुआ हूँ। उनके परिणाम भी मैंने देखे हैं। वे बालक और मेरे लड़के आज समान अवस्थाके हैं। मैं नहीं मानता कि वे मनुष्यतामें मेरे लड़कोंसे आगे बढ़े हुए हैं, अथवा उनसे मेरे लड़के कुछ अधिक सीख सकते हैं।

फिर भी, मेरे प्रयोगका अन्तिम परिणाम तो भविष्य ही बता सकता है। यहाँ इस विषयकी चर्चा करनेका हेतु तो यह है कि मनुष्य-जातिकी उत्क्रांतिका अध्ययन करनेवाले लोग गृह-शिक्षा और स्कूली शिक्षाके भेदका और मातापिता द्वारा अपने जीवनमें किये हुए परिवर्तनोंका उनके बालकों पर जो प्रभाव पड़ता है उसका कुछ अन्दाज लगा सकें।

इसके अतिरिक्त, इस प्रकरणका एक उद्देश्य यह भी है कि सत्यका पुजारी इस प्रयोगसे यह देख सके कि सत्यकी आराधना उसे कहाँ तक ले जाती है, और स्वतंत्रता देवीका उपासक देख सके कि वह देवी कैसा बलिदान चाहती है।

बालकोंको अपने साथ रखते हुए भी यदि मैंने स्वाभिमानका त्याग किया होता, दूसरे भारतीय बालक जिसे न पा सकें उसकी अपने बालकोंके लिए इच्छा न रखनेके विचारका पोषण न किया होता, तो मैं अपने बालकोंको अक्षर-ज्ञान अवश्य दे सकता था। किन्तु उस दशामें स्वतंत्रता और स्वाभिमानका जो पदार्थ-पाठ वे सीखे वह न सीख पाते। और जहाँ स्वतंत्रता तथा अक्षर-ज्ञानके बीच ही चुनाव करना हो, वहाँ कौन कहेगा कि स्वतंत्रता अक्षर-ज्ञानसे हजार गुनी अधिक अच्छी नहीं है?

सन् १९२० में जिन नौजवानोंको मैंने स्वतंत्रता-घातक स्कूलों और कॉलेजोंको छोड़नेके लिए आमंत्रित किया था, और जिनसे मैंने कहा था कि स्वतंत्रताके लिए निरक्षर रहकर आम रास्ते पर गिट्टी फोड़ना गुलामीमें रहकर अक्षर-ज्ञान प्राप्त करनेसे कहीं अच्छा है, वे अब मेरे कथनके मर्मको कदाचित् समझ सकेंगे।

६. सेवा-वृत्ति

वकालतका मेरा धन्धा अच्छा चल रहा था, पर उससे मुझे संतोष नहीं था। जीवन अधिक सादा होना चाहिये, कुछ शारीरिक सेवा-कार्य होना चाहिये, यह मन्थन मनमें चलता ही रहता था।

इतनेमें एक दिन कोढ़से पीड़ित एक अपंग मनुष्य मेरे घर आ पहुँचा। उसे खाना देकर बिदा कर देनेके लिए दिल तैयार न हुआ। मैंने उसको एक कोठरीमें ठहराया, उसके घाव साफ किये और उसकी सेवा की।

पर यह व्यवस्था अधिक दिन तक चल न सकती थी। उसे हमेशाके लिए घरमें रखनेकी सुविधा मेरे पास न थी, न मुझमें इतनी हिम्मत ही थी। इसलिए मैंने उसे गिरमिटियोंके लिए चलनेवाले सरकारी अस्पतालमें भेज दिया।

पर इससे मुझे आश्वासन न मिला। मनमें हमेशा यह विचार बना रहता कि सेवा-शुश्रूषाका ऐसा कुछ काम मैं हमेशा करता रहूँ, तो कितना अच्छा हो! डॉक्टर बूथ सेण्ट एंड्म्स मिशनके मुखिया थे। वे हमेशा अपने पास आनेवालोंको मुफ्त दवा दिया करते थे। बहुत भले और दयालु आदमी थे। पारसी रुस्तमजीकी दानशीलताके कारण डॉ॰ बूथकी देखरेखमें एक बहुत छोटा अस्पताल खुला। मेरी प्रबल इच्छा हुई कि मैं इस अस्पतालमें नर्सका काम करूँ। उसमें दवा देनेके लिए एकसे दो घण्टोंका काम रहता था। उसके लिए दवा बनाकर देनेवाले किसी वेतनभोगी मनुष्यकी अथवा

स्वयंसेवककी आवश्यकता थी। मैंने यह काम अपने जिम्मे लेने और अपने समयमें से इतना समय बचानेका निर्णय किया। वकालतका मेरा बहुत-सा काम तो दफ्तरमें बैठकर सलाह देने, दस्तावेज तैयार करने अथवा झगडोंका फैसला करानेका होता था। कुछ मामले मजिस्ट्रेटकी अदालतमें चलते थे। उनमें से अधिकांश विवादास्पद नहीं होते थे। ऐसे मामलोंको चलानेकी जिम्मेदारी मि० खानने, जो मुझसे बादमें आये थे और जो उस समय मेरे साथ ही रहते थे, अपने सिर पर ले ली और मैं उस छोटे-से अस्पतालमें काम करने लगा।

रोज सबेरे वहाँ जाना होता था। आने-जानेमें और अस्पतालका काम करनेमें प्रतिदिन लगभग दो घण्टे लगते थे। इस कामसे मुझे थोड़ी शान्ति मिली। मेरा काम बीमारकी हालत समझकर उसे डॉक्टरको समझाने और डॉक्टरकी लिखी दवा तैयार करके बीमारको देनेका था। इस कामसे मैं दुखी-दर्दी हिन्दुस्तानियोंके निकट सम्पर्कमें आया। उनमें से अधिकांश तामिल, तेलुगु अथवा उत्तर हिन्दुस्तानके गिरमिटिया होते थे।

यह अनुभव मेरे लिए भविष्यमें बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ। बोअरयुद्धके समय घायलोंकी सेवा-शुश्रूषाके काममें और दूसरे बीमारोंकी परिचर्यामें मुझे इससे बड़ी मदद मिली।

बालकोंके पालन-पोषणका प्रश्न तो मेरे सामने था ही। दक्षिण अफ्रीकामें मेरे दो लड़के और हुए। उन्हें किस तरह पाल-पोसकर बड़ा किया जाय, इस प्रश्नको हल करनेमें मुझे इस कामने अच्छी मदद की। मेरा स्वतंत्र स्वभाव मेरी कड़ी कसौटी करता था, और आज भी करता है। हम पति-पत्नीने निश्चय किया था कि प्रसूति आदि काम शास्त्रीय पद्धतिसे करेंगे। अतएव यद्यपि डॉक्टर और नर्सकी व्यवस्था की गयी थी, तो भी प्रश्न था कि कहीं ऐन मौके पर डॉक्टर न मिला और दाई भाग गई, तो मेरी क्या दशा होगी? दाई तो हिन्दुस्तानी ही रखनी थी। तालीम पायी हुई हिन्दुस्तानी दाई हिन्दुस्तानमें भी मुश्किलसे मिलती है, तब दक्षिण अफ्रीकाकी तो बात ही क्या कही जाय? अतएव मैंने बाल-संगोपनका अध्ययन कर लिया। डॉ० त्रिभुवनदासकी 'माने शिखामण (माताको सीख) नामक पुस्तक मैंने पढ़ डाली। यह कहा जा सकता है कि उसमें संशोधन-परिवर्धन करके अंतिम दो बच्चोंको मैंने स्वयं पाला-पोसा। हर बार दाईकी मदद कुछ ही समयके लिए ली — दो महीनेसे ज्यादा तो ली ही नहीं; वह भी मुख्यतः धर्मपत्नीकी सेवाके लिए ही। बालकोंको नहलाने-

धुलानेका काम शुरूमें मैं ही करता था।

अन्तिम शिशुके जन्मके समय मेरी पूरी-पूरी परीक्षा हो गयी। पत्नीको प्रसव-वेदना अचानक शुरू हुई। डॉक्टर घर पर न थे। दाईको बुलवाना था। वह पास होती तो भी उससे प्रसव करानेका काम न हो पाता। अतः प्रसवके समयका सारा काम मुझे अपने हाथों ही करना पड़ा। सौभाग्यसे मैंने इस विषयको 'माने शिखामण' पुस्तकमें ध्यान-पूर्वक पढ़ लिया था। इसलिए मुझे कोई घबराहट न हुई।

मैंने देखा कि अपने बालकोंके समुचित पालन-पोषणके लिए मातापिता दोनोंको बाल-संगोपन आदिका साधारण ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिये। मैंने तो इस विषयकी अपनी सावधानीका लाभ पग-पग पर अनुभव किया है। मेरे बालक आज जिस सामान्य स्वास्थ्यका लाभ उठा रहे हैं उसे वे उठा न पाते, यदि मैंने इस विषयका सामान्य ज्ञान प्राप्त करके उस पर अमल न किया होता। हम लोगोंमें यह भ्रम फैला हुआ है कि पहले पाँच वर्षोंमें बालकको शिक्षा प्राप्त करनेकी आवश्यकता नहीं होती। पर सच तो यह है कि पहले पाँच वर्षोंमें बालकको जो मिलता है वह बादमें कभी नहीं मिलता। मैं यह अनुभवसे कह सकता हूँ कि बच्चेकी शिक्षा माँके पेटसे शुरू होती है। गर्भाधान-कालकी माता-पिताकी शारीरिक और मानसिक स्थितिका प्रभाव बालक पर पड़ता है। गर्भके समयकी माताकी प्रकृति और माताके आहार-विहारके भले-बुरे फलोंकी विरासत लेकर बालक जन्म लेता है। जन्मके बाद वह माता-पिताका अनुकरण करने लगता है और स्वयं असहाय होनेके कारण उसके विकासका आधार माता-पिता पर रहता है।

जो समझदार दम्पती इन बातोंको सोचेंगे वे पति-पत्नीके संगको कभी विषय-वासनाकी तृप्तिका साधन नहीं बनायेंगे, बल्कि जब उन्हें सन्तानकी इच्छा होगी तभी सहवास करेंगे। रतिसुख एक स्वतंत्र वस्तु है, इस धारणामें मुझे तो घोर अज्ञान ही दिखायी पड़ता है। जनन-क्रिया पर संसारके अस्तित्वका आधार है। संसार ईश्वरकी लीलाभूमि है, उसकी महिमाका प्रतिबिम्ब है। उसकी सुव्यवस्थित वृद्धिके लिए ही रतिक्रियाका निर्माण हुआ है, इस बातको समझनेवाला मनुष्य विषय-वासनाको महाप्रयत्न करके भी अंकुशमें रखेगा और रतिसुखके परिणाम-स्वरूप होनेवाली संततिकी शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक रक्षाके लिए जिस ज्ञानकी प्राप्ति आवश्यक हो उसे प्राप्त करके उसका लाभ अपनी सन्तानको देगा।

७. ब्रह्मचर्य — १

अब ब्रह्मचर्यके विषयमें विचार करनेका समय आ गया है। एकपत्नीव्रतका तो विवाहके समयसे ही मेरे हृदयमें स्थान था। पत्नीके प्रति वफादारी मेरे सत्यव्रतका अंग था। पर अपनी स्त्रीके साथ भी ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहिये, इसका स्पष्ट बोध मुझे दक्षिण अफ्रीकामें ही हुआ। किस प्रसंगसे अथवा किस पुस्तकके प्रभावसे यह विचार मेरे मनमें उत्पन्न हुआ, सो आज मुझे स्पष्ट याद नहीं आता। इतना ही स्मरण है कि इसमें रायचन्दभाईके प्रभावकी प्रधानता थी।

उनके साथके एक संवादका मुझे स्मरण है। एक बार मैं ग्लैडस्टनके प्रति मिसेज ग्लैडस्टनके प्रेमकी प्रशंसा कर रहा था। मैंने कहीं पढ़ा था कि पार्लियामेण्टकी सभामें भी मिसेज ग्लैडस्टन अपने पतिको चाय बनाकर पिलाती थीं। इस वस्तुका पालन इस नियम-बद्ध दम्पतीके जीवनका एक नियम बन गया था। मैंने कविको वह प्रसंग पढ़कर सुनाया और उसके सन्दर्भमें दम्पती-प्रेमकी स्तुति की। रायचन्दभाई बोले, ''इसमें तुम्हें महत्त्वकी कौनसी बात मालूम होती है? मिसेज ग्लैडस्टनका पत्नीत्व या उनका सेवाभाव? यदि वे ग्लैडस्टनकी बहन होतीं तो? अथवा उनकी वफादार नौकरानी होतीं और उतने ही प्रेमसे चाय देतीं तो? ऐसी बहनों, ऐसी नौकरानियोंके दृष्टान्त क्या हमें आज नहीं मिलते? और, नारी-जातिके बदले ऐसा प्रेम यदि तुमने नर-जातिमें देखा होता, तो क्या तुम्हें सानन्द आश्चर्य न होता? मेरे इस कथन पर विचार करना।''

रायचंदभाई स्वयं विवाहित थे। याद पड़ता है कि उस समय तो मुझे उनके ये वचन कठोर लगे थे, पर इन वचनोंने मुझे चुम्बककी तरह पकड़ लिया। मुझे लगा कि पुरुष सेवककी ऐसी स्वामीभक्तिका मूल्य पत्नीकी पतिनिष्ठाके मूल्यसे हजार गुना अधिक है। पति-पत्नीमें ऐक्य होता है, इसलिए उनमें परस्पर प्रेम हो तो कोई आश्चर्य नहीं। मालिक और नौकरके बीच वैसा प्रेम प्रयत्न-पूर्वक विकसित करना होता है। दिन-पर-दिन कविके वचनोंका बल मेरी दृष्टिमें बढ़ता प्रतीत हुआ।

मैंने अपने-आपसे पूछा: मुझे अपनी पत्नीके साथ कैसा सम्बन्ध रखना चाहिये? पत्नीको विषय-भोगका वाहन बनानेमें पत्नीके प्रति वफादारी कहाँ रहती है? जब तक मैं विषय-वासनाके अधीन रहता हूँ, तब तक तो मेरी वफादारीका मूल्य साधारण ही माना जायगा। यहाँ मुझे यह कहना चाहिये कि हमारे आपसके सम्बन्धमें पत्नीकी

ओरसे कभी आक्रमण हुआ ही नहीं। इस दृष्टिसे मैं जब चाहता तभी मेरे लिए ब्रह्मचर्यका पालन सुलभ था। मेरी अशक्ति अथवा आसक्ति ही मुझे रोक रही थी।

जाग्रत होनेके बाद भी दो बार तो मैं विफल ही रहा। प्रयत्न करता परन्तु गिर पड़ता। प्रयत्नमें मुख्य उद्देश्य ऊँचा नहीं था। मुख्य उद्देश्य था, सन्तानोत्पत्तिको रोकना। उसके बाह्य उपचारोंके बारेमें मैंने विलायतमें कुछ पढ़ा था। डॉ० एलिन्सनके इन उपायोंके प्रचारका उल्लेख मैं अन्नाहार-विषयक प्रकरणमें कर चुका हूँ। उसका थोडा और क्षणिक प्रभाव मुझ पर पड़ा था। पर मि० हिल्सने उसका जो विरोध किया था और आन्तरिक साधनके -- संयमके -- समर्थनमें जो कहा था, उसका प्रभाव मुझ पर बहुत अधिक पड़ा और अनुभवसे वह चिरस्थायी बन गया। इसलिए सन्तानोत्पत्तिकी अनावश्यकता ध्यानमें आते ही मैंने संयम-पालनका प्रयत्न शुरू कर दिया।

संयम-पालनकी कठिनाइयोंका पार न था। हमने अलग खाटें रखीं। रातमें पूरी तरह थकनेके बाद ही सोनेका प्रयत्न किया। इस सारे प्रयत्नका विशेष परिणाम मैं तुरन्त नहीं देख सका। पर आज भूतकाल पर निगाह डालते हुए देखता हूँ कि इन सब प्रयत्नोंने मुझे अंतिम निश्चयका बल दिया।

अंतिम निश्चय तो मैं सन् १९०६ में ही कर सका था। उस समय सत्याग्रहका आरम्भ नहीं हुआ था। मुझे उसका सपना तक नहीं आया था। बोअर-युद्धके बाद नेटालमें जुलू 'विद्रोह' हुआ। उस समय मैं जोहानिस्बर्गमें वकालत करता था। पर मैंने अनुभव किया कि इस 'विद्रोह' के मौके पर भी मुझे अपनी सेवा नेटाल सरकारको अर्पण करनी चाहिये। मैंने सेवा अर्पण की और वह स्वीकृत हुई। उसका वर्णन आगे आयेगा। पर इस सेवाके सिलसिलेमें मेरे मनमें संयम-पालनके तीव्र विचार उत्पन्न हुए। अपने स्वभावके अनुसार मैंने साथियोंसे इसकी चर्चा की। मैंने अनुभव किया कि सन्तानोत्पत्ति और सन्तानका लालन-पालन सार्वजनिक सेवाके विरोधी हैं। इस 'विद्रोह' में सम्मिलित होनेके लिए मुझे जोहानिस्बर्गकी अपनी गृहस्थी उजाड़ देनी पड़ी थी। टीम-टामसे बसाये गये घरका और साज-सामानका, जिसे बसाये मुश्किलसे एक महीना हुआ होगा, मैंने त्याग कर दिया। पत्नी और बच्चोंको फीनिक्समें रख दिया और मैं डोली उठानेवालोंकी टुकड़ी लेकर निकल पड़ा। कठिन कूच करते हुए मैंने देखा कि यदि मुझे लोकसेवामें ही तन्मय हो जाना हो, तो पुत्रैषणा और वित्तैषणाका त्याग करना चाहिये और वानप्रस्थ-धर्म पालना चाहिये।

'विद्रोह' में तो मुझे डेढ़ महीनेसे अधिक समय नहीं देना पड़ा, पर छह हफ्तोंका यह समय मेरे जीवनका अत्यन्त मूल्यवान समय था। इस समय मैंने व्रतके महत्त्वको अधिक-से-अधिक समझा। मैंने देखा कि व्रत बन्धन नहीं, बल्कि स्वतंत्रताका द्वार है। आज तक मुझे अपने प्रयत्नोंमें चाहिये उतनी सफलता न मिलनेका कारण यह था कि मैं दृढ़निश्चयी नहीं था। मुझे अपनी शक्ति पर अविश्वास था, ईश्वरकी कृपा पर अविश्वास था, और इस कारण मेरा मन अनेक तरंगो और अनेक विकारोंके चक्करमें पड़ा रहता था। मैंने देखा कि व्रत-बद्ध न होनेसे मनुष्य मोहमें पड़ता है। व्रतसे बंधना व्यभिचारसे छुटकारा पाकर एकपत्नी-व्रतका पालन करनेके समान है। 'मैं प्रयत्न करनेमें विश्वास रखता हूँ, व्रतसे बंधना नहीं चाहता' -- यह वचन निर्बलताकी निशानी है, और इसमें सूक्ष्म रूपसे भोगकी वासना छिपी होती है। जो वस्तु त्याज्य है, उसका सर्वथा त्याग करनेमें हानि कैसे हो सकती है? जो साँप मुझे डसनेवाला है, उसका त्याग मैं निश्चय-पूर्वक करता हूँ, त्यागका केवल प्रयत्न नहीं करता। मैं जानता हूँ कि केवल प्रयत्नके भरोसे रहेनेमें मृत्यु निहित है। प्रयत्नमें साँपकी विकरालताके स्पष्ट ज्ञानका अभाव है। इसी तरह जिस वस्तुके त्यागका हम केवल प्रयत्न करते हैं उस वस्तुके त्यागके औचित्यके बारेमें हमें स्पष्ट दर्शन नहीं हुआ है, यह सिद्ध होता है। 'आगे चलकर मेरे विचार बदल जायें तो?' ऐसी शंका करके प्राय: हम व्रत लेनेसे डरते हैं। इस विचारमें स्पष्ट दर्शनका अभाव ही है। इसीलिए निष्कुलानन्दने कहा है:

'त्याग न टके रे वैराग विना.'

जहाँ अमुक वस्तुके प्रति संपूर्ण वैराग्य उत्पन्न हो गया है, वहाँ उसके विषयमें व्रत लेना अनिवार्य हो जाता है।

८. ब्रह्मचर्य — २

अच्छी तरह चर्चा करने और गहराईसे सोचनेके बाद सन् १९०६में मैंने ब्रह्मचर्यका व्रत लिया। व्रत लेनेके दिन तक मैंने धर्मपत्नीके साथ सलाह नहीं की थी; पर व्रत लेते समय की। उसकी ओरसे मेरा कोई विरोध नहीं हुआ।

यह व्रत मेरे लिए बहुत कठिन सिद्ध हुआ। मेरी शक्ति कम थी। मैं सोचता, विकारोंको किस प्रकार दबा सकूँगा। अपनी पत्नीके साथ विकारयुक्त सम्बन्धका

त्याग मुझे एक अनोखी बात मालूम होती थी। फिर भी मैं यह साफ देख सकता था कि यही मेरा कर्तव्य है। मेरी नीयत शुद्ध थी। यह सोचकर कि भगवान शक्ति देगा, मैं इसमें कूद पड़ा।

आज बीस बरस बाद उस व्रतका स्मरण करते हुए मुझे सानन्द आश्चर्य होता है। संयम पालनेकी वृत्ति तो मुझमें १९०१ से ही प्रबल थी, और मैं संयम पाल भी रहा था; पर जिस स्वतंत्रता और आनन्दका उपभोग मैं अब करने लगा, सन् १९०६ के पहले उसके वैसे उपभोगका कोई स्मरण मुझे नहीं है। क्योंकि उस समय मैं वासना-बद्ध था, किसी भी समय उसके वश हो सकता था। अब वासना मुझ पर सवारी करनेमें असमर्थ हो गयी।

साथ ही, मैं अब ब्रह्मचर्यकी महिमाको अधिकाधिक समझने लगा। व्रत मैंने फीनिक्समें लिया था। घायलोंकी सेवा-शुश्रूषाके कामसे छुट्टी पाने पर मैं फीनिक्स गया था। वहाँसे मुझे तुरन्त जोहानिस्बर्ग जाना था। मैं वहाँ गया और एक महीनेके अन्दर ही सत्याग्रहकी लड़ाईका श्रीगणेश हुआ। मानो यह ब्रह्मचर्य-व्रत मुझे उसके लिए तैयार करने ही आया हो! सत्याग्रहकी कोई कल्पना मैंने पहलेसे करके नहीं रखी थी। उसकी उत्पत्ति अनायास, अनिच्छापूर्वक ही हुई। पर मैंने देखा कि उससे पहलेके मेरे सारे कदम – फीनिक्स जाना, जोहानिस्बर्गका भारी घरखर्च कम कर देना और अन्तमें ब्रह्मचर्य-व्रत लेना – मानो उसकी तैयारीके रूपमें ही थे।

ब्रह्मचर्यके सम्पूर्ण पालनका अर्थ है, ब्रह्म-दर्शन। यह ज्ञान मुझे शास्त्र द्वारा नहीं हुआ। यह अर्थ मेरे सामने क्रम-क्रमसे अनुभव-सिद्ध होता गया। उससे सम्बन्ध रखनेवाले शास्त्रवाक्य मैंने बादमें पढ़े। ब्रह्मचर्यमें शरीर-रक्षण, बुद्धि-रक्षण और आत्माका रक्षण समाया हुआ है, इसे मैं व्रत लेनेके बाद दिन-दिन अधिकाधिक अनुभव करने लगा। अब ब्रह्मचर्यको एक घोर तपश्चर्याके रूपमें रहने देनेके बदले उसे रसमय बनाना था, उसीके सहारे निभना था, इसलिए अब उसकी विशेषताओंके मुझे नित-नये दर्शन होने लगे।

इस प्रकार यद्यपि मैं इस व्रतमें से रस लूट रहा था, तो भी कोई यह न माने कि मैं उसकी कठिनाईका अनुभव नहीं करता था। आज मुझे छप्पन वर्ष पूरे हो चुके हैं, फिर भी इसकी कठिनताका अनुभव तो मुझे होता ही है। यह एक असिधारा-व्रत है, इसे मैं अधिकाधिक समझ रहा हूँ और निरन्तर जागृतिकी आवश्यकताका अनुभव करता हूँ।

ब्रह्मचर्यका पालन करना हो तो स्वादेन्द्रिय पर प्रभुत्व प्राप्त करना ही चाहिये। मैंने स्वयं अनुभव किया है कि यदि स्वादको जीत लिया जाय, तो ब्रह्मचर्यका पालन बहुत सरल हो जाता है। इस कारण अबसे आगेके मेरे आहार-संबंधी प्रयोग केवल अन्नाहारकी दृष्टिसे नहीं, बल्कि ब्रह्मचर्यकी दृष्टिसे होने लगे। मैंने प्रयोग करके अनुभव किया कि आहार थोड़ा, सादा, बिना मिर्च-मसालेका और प्राकृतिक स्थितिवाला होना चाहिये। ब्रह्मचारीका आहार वनपक्व फल हैं, इसे अपने विषयमें तो मैंने छह वर्ष तक प्रयोग करके देखा है। जब मैं सूखे और हरे वनपक्व फलों पर रहता था, तब जिस निर्विकार अवस्थाका अनुभव मैंने किया, वैसा अनुभव आहारमें परिवर्तन करनेके बाद मुझे नहीं हुआ। फलाहारके दिनोंमें ब्रह्मचर्य स्वाभाविक हो गया था। दुग्धाहारके कारण वह कष्ट-साध्य बन गया है। मुझे फलाहारसे दुग्धाहार पर क्यों जाना पड़ा, इसकी चर्चा मैं यथास्थान करूँगा। यहाँ तो इतना ही कहना काफी है कि ब्रह्मचारीके लिए दूधका आहार व्रत-पालनमें बाधक है, इस विषयमें मुझे शंका नहीं है। इसका कोई यह अर्थ न करे कि ब्रह्मचारी-मात्रके लिए दूधका त्याग इष्ट है। ब्रह्मचर्य पर आहारका कितना प्रभाव पड़ता है, इसके संबंधमें बहुत प्रयोग करनेकी आवश्यकता है। दूधके समान स्नायु-पोषक और उतनी ही सरलतासे पचनेवाला फलाहार मुझे अभी तक मिला नहीं; और न कोई वैद्य, हकीम या डॉक्टर ऐसे फलों अथवा अन्नकी जानकारी दे सका है। अतएव दूधको विकारोत्पादक वस्तु जानते हुए भी मैं उसके त्यागकी सलाह अभी किसीको नहीं दे सकता।

बाह्य उपचारोंमें जिस तरह आहारके प्रकार और परिमाणकी मर्यादा आवश्यक है, उसी तरह उपवासके बारेमें भी समझना चाहिये। इन्द्रियाँ इतनी बलवान हैं कि उन्हें चारों तरफसे, ऊपरसे और नीचेसे, यों दसों दिशाओंसे घेरा जाय तो ही वे अंकुशमें रहती हैं। सब जानते हैं कि आहारके बिना वे काम नहीं कर सकतीं। अतएव इन्द्रिय-दमनके हेतुसे स्वेच्छा-पूर्वक किये गये उपवाससे इन्द्रिय-दमनमें बहुत मदद मिलती है, इसमें मुझे कोई सन्देह नहीं। कई लोग उपवास करते हुए भी इसमें विफल होते हैं। उसका कारण यह है कि उपवास ही सब कुछ कर सकेगा, ऐसा मानकर वे केवल स्थूल उपवास करते हैं और मनसे छप्पन भोगोंका स्वाद लेते रहते हैं। उपवासके दिनोंमें वे उपवासकी समाप्ति पर क्या खायेंगे, इसके विचारोंका स्वाद लेते रहते हैं, और फिर शिकायत करते हैं कि न स्वादेन्द्रियका संयम सधा और न जननेन्द्रियका! उपवासकी सच्ची उपयोगिता वहीं होती है जहाँ मनुष्यका मन भी

देह-दमनमें साथ देता है। तात्पर्य यह कि मनमें विषय-भोगके प्रति विरक्ति आनी चाहिये। विषयकी जड़ें मनमें रहती हैं। उपवास आदि साधनोंसे यद्यपि बहुत सहायता मिलती है, फिर भी वह अपेक्षाकृत कम ही होती है। कहा जा सकता है कि उपवास करते हुए भी मनुष्य विषयासक्त रह सकता है। पर बिना उपवासके विषयासक्तिको जड़मूलसे मिटाना संभव नहीं है। अतएव ब्रह्मचर्यके पालनमें उपवास अनिवार्य अंग है।

ब्रह्मचर्यका प्रयत्न करनेवाले बहुतेरे लोग विफल होते हैं, क्योंकि वे खाने-पीने, देखने-सुनने इत्यादिमें अब्रह्मचारीकी तरह रहना चाहते हुए भी ब्रह्मचर्य-पालनकी इच्छा रखते हैं। यह प्रयत्न वैसा ही कहा जायगा, जैसा गरमीमें जाड़ेका अनुभव करनेका प्रयत्न। संयमी और स्वैराचारीके, भोगी और त्यागीके जीवनमें भेद होना ही चाहिये। साम्य होता है, पर वह ऊपरसे देखने-भरका। भेद स्पष्ट प्रकट होना चाहिये। आँखका उपयोग दोनों करते हैं। पर ब्रह्मचारी देव-दर्शन करता है, भोगी नाटक-सिनेमामें लीन रहता है। दोनों कानका उपयोग करते हैं। पर एक ईश्वर-भजन सुनता है, दूसरा विलासी गाने सुननेमें रस लेता है। दोनों ही जागरण करते हैं। पर एक जाग्रत अवस्थामें हृदय-मंदिरमें विराजे हुए रामकी आराधना करता है, दूसरेको नाच-गानकी धुनमें सोनेका होश ही नहीं रहता। दोनों भोजन करते हैं। पर एक शरीर-रूपी तीर्थक्षेत्रको निबाहने-भरके लिए देहको भाड़ा देता है, दूसरा स्वादके लिए देहमें अनेक वस्तुएँ भरकर उसे दुर्गन्धका घर बना डालता है। इस प्रकार दोनोंके आचार-विचारमें भेद बना ही रहता है और यह अन्तर दिन-दिन बढ़ता जाता है, घटता नहीं।

ब्रह्मचर्यका अर्थ है, मन-वचन-कायासे समस्त इन्द्रियोंका संयम। इस संयमके लिए ऊपर बताये गये त्यागोंकी आवश्यकता है, इसे मैं दिन-प्रतिदिन अनुभव करता रहा हूँ और आज भी कर रहा हूँ। त्यागके क्षेत्रकी सीमा ही नहीं है, जैसे ब्रह्मचर्यकी महिमाकी कोई सीमा नहीं है। ऐसा ब्रह्मचर्य अल्प प्रयत्नसे सिद्ध नहीं होता। करोड़ों लोगोंके लिए वह सदा केवल आदर्शरूप ही रहेगा। क्योंकि प्रयत्नशील ब्रह्मचारी अपनी त्रुटियोंका नित्य दर्शन करेगा, अपने अन्दर ओने-कोनेमें छिपकर बैठे हुए विकारोंको पहचान लेगा और उन्हें निकालनेका सतत प्रयत्न करेगा। जब तक विचारों पर इतना अंकुश प्राप्त नहीं होता कि इच्छाके बिना एक भी विचार मनमें न आये, तब तक ब्रह्मचर्य सम्पूर्ण नहीं कहा जा सकता। विचार-मात्र विकार है। उन्हें

वशमें करनेका मतलब है, मनको वशमें करना; और मनको वशमें करना तो वायुको वशमें करनेसे भी कठिन है। फिर भी यदि आत्मा है, तो यह वस्तु भी साध्य है ही। हमारे मार्गमें कठिनाइयाँ आकर बाधा डालती हैं, इससे कोई यह न माने कि वह असाध्य है। वह परम अर्थ है। और परम अर्थके लिए परम प्रयत्नकी आवश्यकता हो तो उसमें आश्चर्य ही क्या?

परन्तु ऐसा ब्रह्मचर्य केवल प्रयत्न-साध्य नहीं है, इसे मैंने हिन्दुस्तानमें आनेके बाद अनुभव किया। कहा जा सकता है कि तब तक मैं मूर्च्छावश था। मैंने यह मान लिया था कि फलाहारसे विकार समूल नष्ट हो जाते हैं और मैं अभिमान-पूर्वक यह मानता था कि अब मेरे लिए कुछ करना बाकी नहीं है।

पर इस विचारके प्रकरण तक पहुँचनेमें अभी देर है। इस बीच इतना कह देना आवश्यक है कि ईश्वर-साक्षात्कारके लिए जो लोग मेरी व्याख्यावाले ब्रह्मचर्यका पालन करना चाहते हैं, वे यदि अपने प्रयत्नके साथ ही ईश्वर पर श्रद्धा रखनेवाले हों, तो उनके लिए निराशाका कोई कारण नहीं रहेगा।

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।।* (गीता २, ५९)

अतएव आत्मार्थीके लिए रामनाम और रामकृपा ही अन्तिम साधन हैं, इस वस्तुका साक्षात्कार मैंने हिन्दुस्तानमें ही किया।

९. सादगी

भोग भोगना मैंने शुरू तो किया, पर वह टिक न सका। घरके लिए साज-सामान भी बसाया, पर मेरे मनमें उसके प्रति कभी मोह उत्पन्न नहीं हो सका। इसलिए घर बसानेके साथ ही मैंने खर्च कम करना शुरू कर दिया। धोबीका खर्च भी ज्यादा मालूम हुआ। इसके अलावा, धोबी निश्चित समय पर कपड़े नहीं लौटाता था। इसलिए दो-तीन दर्जन कमीजों और उतने ही कालरोंसे भी मेरा काम चल नहीं पाता था। कालर मैं रोज बदलता था। कमीज रोज नहीं तो एक दिनके अन्तरसे बदलता था। इससे दोहरा खर्च होता था। मुझे यह व्यर्थ प्रतीत हुआ। अतएव मैंने

* निराहारीके विषय तो शान्त हो जाते हैं, पर उसकी वासनाका शमन नहीं होता। ईश्वर-दर्शनसे वासना भी शान्त हो जाती है।

धुलाईका सामान जुटाया। धुलाई-कला पर पुस्तक पढ़ी और धोना सीखा। पत्नीको भी सिखाया। कामका कुछ बोझ तो बढ़ा ही, पर नया काम होनेसे उसे करनेमें आनन्द आता था।

पहली बार अपने हाथों धोये हुए कालरको तो मैं कभी भूल नहीं सकता। उसमें कलफ अधिक लग गया था और इस्तरी पूरी गरम नहीं थी। तिस पर कालरके जल जानेके डरसे इस्तरीको मैंने अच्छी तरह दबाया भी नहीं था। इससे कालरमें कड़ापन तो आ गया, पर उसमें से कलफ झड़ता रहता था! ऐसी हालतमें मैं कोर्ट गया और वहाँ बारिस्टरोंके लिए मजाकका साधन बन गया। पर इस तरहका मजाक सह लेनेकी शक्ति उस समय भी मुझमें काफी थी।

मैंने सफाई देते हुए कहा, "अपने हाथों कालर धोनेका मेरा यह पहला प्रयोग है, इस कारण इसमें से कलफ झड़ता है। मुझे इससे कोई अड़चन नहीं होती; तिस पर आप सब लोगोंके लिए विनोदकी इतनी सामग्री जुटा रहा हूँ, सो घातेमें।"

एक मित्रने पूछा, "पर क्या धोबियोंका अकाल पड़ गया है?"

"यहाँ धोबीका खर्च मुझे तो असह्य मालूम होता है। कालरकी कीमतके बराबर धुलाई हो जाती है और इतनी धुलाई देनेके बाद भी धोबीकी गुलामी करनी पड़ती है। इसकी अपेक्षा अपने हाथसे धोना मैं ज्यादा पसन्द करता हूँ।"

स्वावलम्बनकी यह खूबी मैं मित्रोंको समझा नहीं सका।

मुझे कहना चाहिये कि आखिर धोबीके धंधेमें अपने काम लायक कुशलता मैंने प्राप्त कर ली थी और घरकी धुलाई धोबीकी धुलाईसे जरा भी घटिया नहीं होती थी। कालरका कड़ापन और चमक धोबीके धोये कालरसे कम न रहती थी। गोखलेके पास स्व० महादेव गोविन्द रानडेकी प्रसादीरूप एक दुपट्टा था। गोखले उस दुपट्टेको अतिशय जतनसे रखते थे और विशेष अवसर पर ही उसका उपयोग करते थे। जोहानिस्बर्गमें उनके सम्मानमें जो भोज दिया गया था, वह एक महत्त्वपूर्ण अवसर था। उस अवसर पर उन्होंने जो भाषण दिया वह दक्षिण अफ्रीकामें उनका बड़े-से-बड़ा भाषण था। अतएव उस अवसर पर उन्हें उक्त दुपट्टेका उपयोग करना था। उसमें सिलवटें पड़ी हुई थीं और उस पर इस्तरी करनेकी जरूरत थी। धोबीका पता लगाकर उससे तुरन्त इस्तरी कराना सम्भव न था। मैंने अपनी कलाका उपयोग करने देनेकी अनुमति गोखलेसे चाही।

"मैं तुम्हारी वकालतका तो विश्वास कर लूँगा, पर इस दुपट्टे पर तुम्हें अपनी

धोबी-कलाका उपयोग नहीं करने दूँगा। इस दुपट्टे पर तुम दाग लगा दो तो? इसकी कीमत तुम जानते हो?'' यों कहकर अत्यन्त उल्लाससे उन्होंने प्रसादीकी कथा मुझे सुनायी।

मैंने फिर बिनती की और दाग न पड़ने देनेकी जिम्मेदारी ली। मुझे इस्तरी करनेकी अनुभूति मिली और अपनी कुशलताका प्रमाण-पत्र मुझे मिल गया! अब दुनिया मुझे प्रमाण-पत्र न दे तो भी क्या?

जिस तरह मैं धोबीकी गुलामीसे छूटा, उसी तरह नाईकी गुलामीसे भी छूटनेका अवसर आ गया। हजामत तो विलायत जानेवाले सब कोई हाथसे बनाना सीख ही लेते हैं, पर कोई बाल छाँटना भी सीखता होगा, इसका मुझे खयाल नहीं है। एक बार प्रिटोरियामें मैं एक अंग्रेज हज्जामकी दुकान पर पहुँचा। उसने मेरी हजामत बनानेसे साफ इनकार कर दिया और इनकार करते हुए जो तिरस्कार प्रकट किया, सो घातेमें रहा। मुझे दुःख हुआ। मैं बाजार पहुँचा। मैंने बाल काटनेकी मशीन खरीदी और आईनेके सामने खड़े रहकर बाल काटे। बाल जैसे-तैसे कट तो गये, पर पीछेके बाल काटनेमें बड़ी कठिनाई हुई। सीधे तो वे कट ही न पाये। कोर्टमें खूब कहकहे लगे।

''तुम्हारे बाल ऐसे क्यों हो गये हैं? सिर पर चूहे तो नहीं चढ़ गये थे?''

मैंने कहा: ''जी नहीं, मेरे काले सिरको गोरा हज्जाम कैसे छू सकता है? इसलिए कैसे भी क्यों न हों, अपने हाथसे काटे हुए बाल मुझे अधिक प्रिय हैं।''

इस उत्तरसे मित्रोंको आश्चर्य नहीं हुआ। असलमें उस हज्जामका कोई दोष न था। अगर वह काली चमड़ीवालोंके बाल काटने लगता तो उसकी रोजी मारी जाती। हम भी अपने अछूतोंके बाल ऊँची जातिके हिन्दुओंके हज्जामोंको कहाँ काटने देते हैं? दक्षिण अफ्रीकामें मुझे इसका बदला एक नहीं, अनेकों बार मिला है; और चूँकि मैं यह मानता था कि यह हमारे दोषका परिणाम है, इसलिए मुझे इस बातसे कभी गुस्सा नहीं आया।

स्वावलम्बन और सादगीके मेरे शौकने आगे चलकर जो तीव्र स्वरूप धारण किया उसका वर्णन यथास्थान होगा। इस चीजकी जड़ तो मेरे अन्दर शुरूसे ही थी। उसके फूलने-फलनेके लिए केवल सिंचाईकी आवश्यकता थी। वह सिंचाई अनायास ही मिल गयी।

१०. बोअर-युद्ध

सन् १८९७ से १८९९ के बीचके अपने जीवनके दूसरे अनेक अनुभवोंको छोड़कर अब मैं बोअर-युद्ध पर आता हूँ। जब यह युद्ध हुआ तब मेरी अपनी सहानुभूति केवल बोअरोंकी तरफ ही थी। पर मैं मानता था कि ऐसे मामलोंमें व्यक्तिगत विचारोंके अनुसार काम करनेका अधिकार मुझे अभी प्राप्त नहीं हुआ है। इस संबंधके मन्थन-चिन्तनका सूक्ष्म निरीक्षण मैंने 'दक्षिण अफ्रीकाके सत्याग्रहका इतिहास' में किया है, इसलिए यहाँ नहीं करना चाहता। जिज्ञासुओंको मेरी सलाह है कि वे उस इतिहासको पढ़ जायें। यहाँ तो इतना ही कहना काफी होगा कि ब्रिटिश राज्यके प्रति मेरी वफादारी मुझे उस युद्धमें सम्मिलित होनेके लिए जबरदस्ती घसीट ले गयी। मैंने अनुभव किया कि जब मैं ब्रिटिश प्रजाजनके नाते अधिकार माँग रहा हूँ, तो उसी नाते ब्रिटिश राज्यकी रक्षामें हाथ बँटाना भी मेरा धर्म है। उस समय मेरी यह राय थी कि हिन्दुस्तानकी सम्पूर्ण उन्नति ब्रिटिश साम्राज्यके अन्दर रहकर हो सकती है।

अतएव जितने साथी मिले उतनोंको लेकर और अनेक कठिनाइयाँ सहकर हमने घायलोंकी सेवा-शुश्रूषा करनेवाली एक टुकड़ी खड़ी की। अब तक साधारणतया यहाँके अंग्रेजोंकी यही धारणा थी कि हिन्दुस्तानी संकटके कामोंमें नहीं पड़ते। उन्हें स्वार्थके अतिरिक्त और कुछ नहीं सूझता। इसलिए कई अंग्रेज मित्रोंने मुझे निराश करनेवाले उत्तर दिये थे। अकेले डॉक्टर बूथने मुझे बहुत प्रोत्साहित किया। उन्होंने हमें घायल योद्धाओंकी सार-संभाल करना सिखाया। अपनी योग्यताके विषयमें हमने डॉक्टरी प्रमाणपत्र प्राप्त किये। मि० लाटन और स्व० मि० एस्कम्बने भी हमारे इस कार्यको पसन्द किया। अन्तमें लड़ाईके समय सेवा करने देनेके लिए हमने सरकारसे बिनती की। जवाबमें सरकारने हमें धन्यवाद दिया, पर यह सूचित किया कि इस समय हमें आपकी सेवाकी आवश्यकता नहीं है।

पर मुझे ऐसी 'ना'से संतोष मानकर बैठना न था। डॉ० बूथकी मदद लेकर उनके साथ मैं नेटालके बिशपसे मिला। हमारी टुकड़ीमें बहुतसे ईसाई हिन्दुस्तानी थे। बिशपको मेरी यह माँग बहुत पसन्द आयी। उन्होंने मदद करनेका बचन दिया।

इस बीच परिस्थितियाँ भी अपना काम कर रही थीं। बोअरोंकी तैयारी, दृढ़ता, वीरता इत्यादि अपेक्षासे अधिक तेजस्वी सिद्ध हुईं। सरकारको बहुतसे रंगरूटोंकी

जरूरत पड़ी और अन्तमें हमारी बिनती स्वीकृत हुई।

हमारी इस टुकड़ीमें लगभग ग्यारह सौ आदमी थे। उनमें करीब चालीस मुखिया थे। दूसरे कोई तीन सौ स्वतंत्र हिन्दुस्तानी भी रंगरूटोंमें भरती हुए थे। बाकीके गिरमिटिये थे। डॉ० बूथ भी हमारे साथ थे। उस टुकड़ीने अच्छा काम किया। यद्यपि उसे गोला-बारूदकी हदके बाहर ही काम करना होता था और 'रेड क्रॉस'*का संरक्षण प्राप्त था, फिर भी संकटके समय गोला-बारूदकी सीमाके अन्दर काम करनेका अवसर भी हमें मिला। ऐसे संकटमें न पड़नेका इकरार सरकारने अपनी इच्छासे हमारे साथ किया था, पर स्पियांकोपकी हारके बाद हालत बदल गयी। इसलिए जनरल बुलरने यह संदेशा भेजा कि यद्यपि आप लोग जोखिम उठानेके लिए वचन-बद्ध नहीं हैं, तो भी यदि आप जोखिम उठाकर घायल सिपाहियों और अफसरोंको रणक्षेत्रसे उठाकर और डोलियोंमें डालकर ले जानेको तैयार हो जायेंगे, तो सरकार आपका उपकार मानेगी। हम तो जोखिम उठानेको तैयार ही थे। अतएव स्पियांकोपकी लड़ाईके बाद हम गोला-बारूदकी सीमाके अन्दर काम करने लगे।

इन दिनों सबको कई बार दिनमें बीस-पचीस मीलकी मंजिल तय करनी पड़ती थी और एक बार तो घायलोंको डोलीमें डालकर इतने मील चलना पड़ा था। जिन घायल योद्धाओंको हमें इस प्रकार उठाकर ले जाना पड़ा, उनमें जनरल वुडगेट वगैरा भी थे।

छह हफ्तोंके बाद हमारी टुकड़ीको बिदा दी गयी। स्पियांकोप और वालक्रान्जकी हारके बाद लेडी स्मिथ आदि स्थानोंको बोअरोंके घेरेमें से बड़ी तेजीके साथ छुड़ानेका विचार ब्रिटिश सेनापतिने छोड़ दिया था, और इंग्लैंड तथा हिन्दुस्तानसे और अधिक सेनाके आनेकी राह देखने तथा धीमी गतिसे काम करनेका निश्चय किया था।

हमारे छोटे-से कामकी उस समय तो बड़ी स्तुति हुई। इससे हिन्दुस्तानियोंकी प्रतिष्ठा बढ़ी। 'आखिर हिन्दुस्तानी साम्राज्यके बारिस तो हैं ही' इस आशयके गीत

---

* 'रेड क्रॉस'का अर्थ है, लाल स्वस्तिक। युद्धमें शुश्रूषाका काम करनेवालोंके बायें हाथ पर इस चिह्नवाली पट्टी बाँधी जाती है। नियम यह है कि शत्रु भी उन्हें चोट नहीं पहुँचा सकता। अधिक विवरणके लिए देखिये, 'दक्षिण अफ्रीकाके सत्याग्रहका इतिहास' - भाग १, प्रकरण ९।

गाये गये। जनरल बुलरने अपने खरीतेमें हमारी टुकड़ीके कामकी तारीफ की। मुखियोंको युद्धके पदक भी मिले।

इससे हिन्दुस्तानी कौम अधिक संगठित हो गयी। मैं गिरमिटिया हिन्दुस्तानियोंके बहुत अधिक सम्पर्कमें आ सका। उनमें अधिक जागृति आयी और हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, मद्रासी, गुजराती, सिन्धी सब हिन्दुस्तानी हैं, यह भावना अधिक दृढ़ हुई। सबने माना कि अब हिन्दुस्तानियोंके दुःख दूर होने ही चाहिये। उस समय तो गोरोंके व्यवहारमें भी स्पष्ट परिवर्तन दिखायी दिया।

लड़ाईमें गोरोंके साथ जो सम्पर्क हुआ वह मधुर था। हमें हजारों टॉमियोंके साथ रहनेका मौका मिला। वे हमारे साथ मित्रताका व्यवहार करते थे, और यह जानकर कि हम उनकी सेवाके लिए आये हैं, हमारा उपकार मानते थे।

दुःखके समय मनुष्यका स्वभाव किस तरह पिघलता है, इसका एक मधुर संस्करण यहाँ दिये बिना मैं रह नहीं सकता। हम चीवली छावनीकी तरफ जा रहे थे। यह वही क्षेत्र था, जहाँ लॉर्ड रॉबर्ट्सके पुत्र लेफ्टिनेण्ट रॉबर्ट्सको प्राणघातक चोट लगी थी। लेफ्टिनेण्ट रॉबर्ट्सके शबको ले जानेका सम्मान हमारी टुकड़ीको मिला था। अगले दिन धूप तेज थी। हम कूच कर रहे थे। सब प्यासे थे। पानी पीनेके लिए रास्तेमें एक छोटा-सा झरना पड़ा। पहले पानी कौन पीये? मैंने सोचा कि पहले टॉमी पानी पी लें, बादमें हम पियेंगे। पर टॉमियोंने हमें देखकर तुरन्त हमसे पानी पी लेनेका आग्रह शुरू किया, और इस तरह बड़ी देर तक हमारे बीच 'आप पहले, हम पीछे' का मीठा झगड़ा चलता रहा।

११. सफाई-आन्दोलन और अकाल-कोष

समाजके एक भी अंगका निरुपयोगी रहना मुझे हमेशा अखरा है। जनताके दोष छिपाकर उसका बचाव करना अथवा दोष दूर किये बिना अधिकार प्राप्त करना मुझे हमेशा अरुचिकर लगा है। इसलिए दक्षिण अफ्रीकामें रहनेवाले हिन्दुस्तानियों पर लगाये जानेवाले एक आरोपका, जिसमें कुछ तथ्य था, इलाज करनेका काम मैंने वहाँके अपने निवासकालमें ही सोच लिया था। हिन्दुस्तानियों पर जब-तब यह आरोप लगाया जाता था कि वे अपने घर-बार साफ नहीं रखते और बहुत गन्दे रहते हैं। इस आरोपको निःशेष करनेके लिए आरम्भमें हिन्दुस्तानियोंके मुखिया

माने जानेवाले लोगोंके घरोंमें तो सुधार आरम्भ हो ही चुके थे। पर घर-घर घूमनेका सिलसिला तब शुरू हुआ जब डरबनमें प्लेगके प्रकोपका डर पैदा हुआ। इसमें म्युनिसिपैलिटीके अधिकारियोंका भी सहयोग और सम्मति थी। हमारी सहायता मिलनेसे उनका काम हलका हो गया और हिन्दुस्तानियोंको कम कष्ट उठाने पड़े; क्योंकि साधारणतः जब प्लेग आदिका उपद्रव होता है, तब अधिकारी घबरा जाते हैं और उपायोंकी योजनामें मर्यादासे आगे बढ़ जाते हैं। जो लोग उनकी दृष्टिमें खटकते हैं, उन पर उनका दबाव असह्य हो जाता है। भारतीय समाजने खुद ही सख्त उपायोंसे काम लेना शुरू कर दिया था, इसलिए वह इन सख्तियोंसे बच गया।

मुझे कुछ कड़वे अनुभव भी हुए। मैंने देखा कि स्थानीय सरकारसे अधिकारोंकी माँग करनेमें जितनी सरलतासे मैं अपने समाजकी सहायता पा सकता था, उतनी सरलतासे लोगोंसे उनके कर्तव्यका पालन करानेके काममें सहायता प्राप्त न कर सका। कुछ जगहों पर मेरा अपमान किया जाता, कुछ जगहों पर विनय-पूर्वक उपेक्षाका परिचय दिया जाता। गन्दगी साफ करनेके लिए कष्ट उठाना उन्हें बहुत अखरता था। तब पैसा खर्च करनेकी तो बात ही क्या? लोगोंसे कुछ भी काम कराना हो तो धीरज रखना चाहिये, यह पाठ मैंने अच्छी तरह सीख लिया। सुधारकी गरज तो सुधारककी अपनी होती है। जिस समाजमें वह सुधार कराना चाहता है, उससे तो उसे विरोध, तिरस्कार और प्राणोंके संकटकी भी आशा रखनी चाहिये। सुधारक जिसे सुधार मानता है, समाज उसे बिगाड़ क्यों न माने? अथवा बिगाड़ न माने तो भी उसके प्रति उदासीन क्यों न रहे?

इस आन्दोलनका परिणाम यह हुआ कि भारतीय समाजमें घर-बार साफ रखनेके महत्त्वको न्यूनाधिक मात्रामें स्वीकार कर लिया गया। अधिकारियोंकी दृष्टिमें मेरी साख बढ़ी। वे समझ गये कि मेरा धन्धा केवल शिकायतें करना या अधिकार माँगनेका ही नहीं है; बल्कि शिकायतें करने या अधिकार माँगनेमें मैं जितना तत्पर हूँ, उतना ही उत्साह और दृढ़ता भीतरी सुधारके लिए भी मुझमें है।

पर अभी समाजकी वृत्तिको दूसरी एक दिशामें विकसित करना बाकी था। इन उपनिवेशवासी भारतीयोंको भारतवर्षके प्रति अपना धर्म भी अवसर आने पर समझना और पालना था। भारतवर्ष तो कंगाल है। लोग धन कमानेके लिए परदेश जाते हैं। उनकी कमाईका कुछ हिस्सा भारतवर्षको उसकी आपत्तिके समयमें मिलना चाहिये।

सन् १८९७ में यहाँ अकाल पड़ा था और सन् १८९९ में दूसरा भारी अकाल पड़ा। इन दोनों अकालोंके समय दक्षिण अफ्रीकासे अच्छी मदद आयी थी। पहले अकालके समय जितनी रकम इकट्ठा हो सकी थी, दूसरे अकालके मौके पर उससे कहीं अधिक रकम इकट्ठा हुई थी। इस चंदेमें हमने अंग्रेजोंसे भी मदद माँगी थी और उनकी ओरसे अच्छा उत्तर मिला था। गिरमिटिया हिन्दुस्तानियोंने भी अपने हिस्सेकी रकम जमा करायी थी।

इस प्रकार इन दो अकालोंके समय जो प्रथा शुरू हुई वह अब तक कायम है, और हम देखते हैं कि जब भारतवर्षमें कोई सार्वजनिक संकट उपस्थित होता है, तब दक्षिण अफ्रीकाकी ओरसे वहाँ बसनेवाले भारतीय हमेशा अच्छी रकमें भेजते हैं।

इस तरह दक्षिण अफ्रीकाके भारतीयोंकी सेवा करते हुए मैं स्वयं धीरे-धीरे कई बातें अनायास सीख रहा था। सत्य एक विशाल वृक्ष है। ज्यों-ज्यों उसकी सेवा की जाती है, त्यों-त्यों उसमें से अनेक फल पैदा होते दिखायी पड़ते हैं। उसका अन्त ही नहीं होता। हम जैसे-जैसे उसकी गहराईमें उतरते हैं, वैसे-वैसे उसमें से अधिक रत्न मिलते जाते हैं, सेवाके अवसर प्राप्त होते रहते हैं।

१२. देश-गमन

लड़ाईके कामसे मुक्त होनेके बाद मैंने अनुभव किया कि अब मेरा काम दक्षिण अफ्रीकामें नहीं, बल्कि हिन्दुस्तानमें है। मैंने देखा कि दक्षिण अफ्रीकामें बैठा-बैठा मैं कुछ सेवा तो अवश्य कर सकूँगा, पर वहाँ मेरा मुख्य धंधा धन कमाना ही हो जायगा।

देशका मित्रवर्ग भी देश लौट आनेके लिए बराबर आग्रह करता रहता था। मुझे भी लगा कि देश जानेसे मेरा उपयोग अधिक हो सकेगा। नेटालमें मि० खान और मनसुखलाल नाजर थे ही।

मैंने साथियोंके सामने मुक्त होनेकी इच्छा प्रकट की। बड़ी कठिनाईसे एक शर्तके साथ वह स्वीकृत हुई। शर्त यह थी कि यदि एक वर्षके अन्दर कौमको मेरी आवश्यकता मालूम हुई, तो मुझे वापस दक्षिण अफ्रीका पहुँचना होगा: मुझे यह शर्त कड़ी लगी, पर मैं प्रेमपाशमें बँधा हुआ था:

काचे रे तांतणे मने हरजीए बांधी,
जेम ताणे तेम तेमनी रे,
मने लागी कटारी प्रेमनी.*

मीराबाईकी यह उपमा थोड़े-बहुत अंशोंमें मुझ पर घटित हो रही थी। पंच भी परमेश्वर ही हैं। मित्रोंकी बातको मैं ठुकरा नहीं सकता था। मैंने वचन दिया और उनकी अनुमति प्राप्त की।

कहना होगा कि इस समय मेरा निकट सम्बन्ध नेटालके साथ ही था। नेटालके हिन्दुस्तानियोंने मुझे प्रेमामृतसे नहला दिया। जगह-जगह मानपत्र समर्पणकी सभायें हुई और हर जगहसे कीमती भेंटें मिलीं।

सन् १८९६ में जब मैं देश आया था, तब भी भेंटें मिली थीं। पर इस बारकी भेंटोंसे और सभाओंके दृश्यसे मैं अकुला उठा। भेंटोंमें सोनेचाँदीकी चीजें तो थीं ही, पर हीरेकी चीजें भी थीं।

इन सब चीजोंको स्वीकार करनेका मुझे क्या अधिकार था? यदि मैं उन्हें स्वीकार करता तो अपने मनको यह कैसे समझाता कि कौमकी सेवा मैं पैसे लेकर नहीं करता? इन भेंटोंमें से मुवक्किलोंकी दी हुई थोड़ी चीजोंको छोड़ दें, तो बाकी सब मेरी सार्वजनिक सेवाके निमित्तसे ही मिली थीं। फिर, मेरे मन तो मुवक्किलों और दूसरे साथियोंके बीच कोई भेद नहीं था। खास-खास सभी मुवक्किल सार्वजनिक कामोंमें भी मदद देनेवाले थे।

साथ ही, इन भेंटोंमें पचास गिन्नियोंका एक हार कस्तूरबाईके लिए था। पर वह वस्तु भी मेरी सेवाके कारण ही मिली थी। इसलिए वह दूसरी भेंटोंसे अलग नहीं की जा सकती थी।

जिस शामको इनमें से मुख्य भेंटें मिली थीं, वह रात मैंने पागलकी तरह जागकर बितायी। मैं अपने कमरेमें चक्कर काटता रहा, पर उलझन किसी तरह सुलझती न थी। सैकडोंकी कीमतके उपहारोंको छोड़ना कठिन मालूम होता था; रखना उससे भी अधिक कठिन लगता था।

मन प्रश्न करता: मैं शायद भेंटोंको पचा पाऊँ, पर मेरे बच्चोंका क्या होगा?

---

* हरिजीने मुझे कच्चे (प्रेमके) धागेसे बाँध रखा है। वे ज्यों-ज्यों उसे खींचते हैं त्यों-त्यों मैं उनकी होती जाती हूँ। मुझे प्रेमकी कटारी लगी है।

स्त्रीका क्या होगा? उन्हें शिक्षा तो सेवाकी मिलती थी। उन्हें हमेशा समझाया जाता था कि सेवाके दाम नहीं लिये जा सकते। मैं घरमें कीमती गहने वगैरा रखता नहीं था। सादगी बढ़ती जा रही थी। ऐसी स्थितिमें सोनेकी घड़ियोंका उपयोग कौन करता? सोनेकी जंजीरें और हीरेकी अंगूठियाँ कौन पहनता? मैं उस समय भी गहनों-गाँठोंका मोह छोड़नेका उपदेश औरोंको दिया करता था। अब इन गहनों और जवाहरातका मैं क्या करता?

मैं इस निर्णय पर पहुँचा कि मुझे ये चीजें रखनी ही नहीं चाहिये। पारसी रुस्तमजी आदिको इन गहनोंका ट्रस्टी नियुक्त करके उनके नाम लिखे जानेवाले पत्रका मसविदा मैंने तैयार किया, और सबेरे स्त्री-पुत्रादिसे सलाह करके अपना बोझ हलका करनेका निश्चय किया।

मैं यह जानता था कि धर्मपत्नीको समझाना कठिन होगा। बच्चोंको समझानेमें जरा भी कठिनाई नहीं होगी, इसका मुझे विश्वास था। अतः उन्हें इस मामलेमें वकील बनानेका मैंने निश्चय किया।

लड़के तो तुरन्त समझ गये। उन्होंने कहा, "हमें इन गहनोंकी आवश्यकता नहीं है। हमें ये सब लौटा ही देने चाहिये। और जीवनमें कभी हमें इन वस्तुओंकी आवश्यकता हुई, तो क्या हम स्वयं न खरीद सकेंगे?"

मैं खुश हुआ। मैंने पूछा, "तो तुम अपनी माँको समझाओगे न?"

"जरूर जरूर। यह काम हमारा समझिये। उसे कौन ये गहने पहनने हैं? वह तो हमारे लिए ही रखना चाहती है। हमें उनकी जरूरत नहीं है, फिर वह हठ क्यों करेगी?"

पर काम जितना सोचा था उससे अधिक कठिन सिद्ध हुआ।

"भले आपको जरूरत न हो और आपके लड़कोंको भी न हो। बच्चोंको तो जिस रास्ते लगा दो, उसी रास्ते वे लग जाते हैं। भले मुझे न पहनने दें, पर मेरी बहुओंका क्या होगा? उनके तो ये चीजें काम आयेंगी न? और कौन जानता है कल क्या होगा? इतने प्रेमसे दी गयीं चीजें वापस नहीं की जा सकतीं।" पत्नीकी वाग्धारा चली और उसके साथ अश्रुधारा मिल गयी। बच्चे दृढ़ रहे। मुझे तो डिगना था ही नहीं।

मैंने धीरेसे कहा: "लड़कोंका व्याह तो होने दो। हमें कौन उन्हें बचपनमें व्याहना है? बड़े होने पर तो ये स्वयं ही जो करना चाहेंगे, करेंगे। और हमें कहाँ

गहनोंकी शौकीन बहुएँ खोजनी हैं? इतने पर भी कुछ कराना ही पड़ा, तो मैं कहाँ चला जाऊँगा?''

''जानती हूँ आपको। मेरे गहने भी तो आपने ही ले लिये न? जिन्होंने मुझे सुखसे न पहनने दिये, वह मेरी बहुओंके लिए क्या लायेंगे? लड़कोंको आप अभीसे बैरागी बना रहे हैं! ये गहने वापस नहीं दिये जा सकते। और, मेरे हार पर आपका क्या अधिकार है?''

मैंने पूछा, ''पर यह हार तुम्हारी सेवाके बदलेमें मिला है या मेरी सेवाके?''

''कुछ भी हो। आपकी सेवा मेरी भी सेवा हुई। मुझसे आपने रात-दिन जो मजदूरी करवायी वह क्या सेवामें शुमार न होगी? मुझे रुलाकर भी आपने हर किसीको घरमें ठहराया और उसकी चाकरी करवायी, उसे क्या कहेंगे?''

ये सारे बाण नुकीले थे। इनमें से कुछ चुभते थे, पर गहने तो मुझे वापस करने ही थे। बहुत-सी बातोंमें मैं जैसे-तैसे कस्तूरबाकी सहमति प्राप्त कर सका। १८९६ में और १९०१ में मिली हुई भेंटें मैंने लौटा दीं। उनका ट्रस्ट बना और सार्वजनिक कामके लिए उनका उपयोग मेरी अथवा ट्रस्टियोंकी इच्छाके अनुसार किया जाय, इस शर्तके साथ वे बैंकमें रख दी गयीं। इन गहनोंको बेचनेके निमित्तसे मैं कई बार पैसे इकट्ठा कर सका हूँ। आज भी आपत्ति-कोषके रूपमें यह धन मौजूद है और उसमें वृद्धि होती रहती है।

अपने इस कार्य पर मुझे कभी पश्चात्ताप नहीं हुआ। दिन बीतने पर कस्तूरबाको भी इसके औचित्यकी प्रतीति हो गयी। इससे हम बहुतसे लालचोंसे बच गये हैं।

मेरा यह मत बना है कि सार्वजनिक सेवकके लिए निजी भेंटें नहीं हो सकतीं।

१३. देशमें

इस प्रकार मैं देश जानेके लिए बिदा हुआ। रास्तेमें मारिशस (टापू) पड़ता था। वहाँ जहाज लम्बे समय तक ठहरा था। इसलिए मैं मारिशसमें उतरा और वहाँकी स्थितिकी ठीक-ठीक जानकारी प्राप्त कर ली। एक रात मैंने वहाँके गवर्नर सर चार्ल्स ब्रूसके यहाँ भी बितायी थी।

हिन्दुस्तान पहुँचने पर थोड़ा समय मैंने घूमने-फिरनेमें बिताया। यह सन् १९०१का जमाना था। उस सालकी काँग्रेस कलकत्तेमें होनेवाली थी। दीनशा

एदलजी वाच्छा उसके अध्यक्ष थे। मुझे काँग्रेसमें तो जाना था ही। काँग्रेसका यह मेरा पहला अनुभव था।

बम्बईसे जिस गाड़ीमें सर फीरोजशाह मेहता रवाना हुए उसीमें मैं भी गया था। मुझे उनसे दक्षिण अफ्रीकाके बारेमें बातें करनी थीं। उनके डिब्बेमें एक स्टेशन तक जानेकी मुझे अनुमति मिली थी। उन्होंने तो खास सलूनका प्रबन्ध किया था। उनके शाही खर्च और ठाट-बाटसे मैं परिचित था। जिस स्टेशन पर उनके डिब्बेमें जानेकी मुझे अनुमति मिली थी, उस स्टेशन पर मैं उसमें पहुँचा। उस समय उनके डिब्बेमें तबके दीनशाजी और तबके चिमनलाल सेतलवाड़* बैठे थे। उनके साथ राजनीतिक चर्चा चल रही थी। मुझे देखकर सर फीरोजशाह बोले, "गांधी, तुम्हारा काम पार न पड़ेगा। तुम जो कहोगे सो प्रस्ताव तो हम पास कर देंगे, पर अपने देशमें ही हमें कौनसे अधिकार मिलते हैं? मैं तो मानता हूँ कि जब तक अपने देशमें हमें सत्ता नहीं मिलती, तब तक उपनिवेशोंमें तुम्हारी स्थिति सुधर नहीं सकती।"

मैं तो सुनकर दंग ही रह गया। सर जिमनलालने हाँ-में-हाँ मिलायी। सर दीनशाने मेरी ओर दयार्द्र दृष्टिसे देखा।

मैंने समझानेका कुछ प्रयत्न किया, परन्तु बम्बईके बेताजके बादशाहको मेरे समान आदमी क्या समझा सकता था? मैंने इतनेसे ही संतोष माना कि मुझे काँग्रेसमें प्रस्ताव पेश करने दिया जायगा।

सर दीनशा वाच्छा मेरा उत्साह बढ़ानेके लिए बोले, "गांधी, प्रस्ताव लिखकर मुझे बताना भला!"

मैंने उनका उपकार माना। दूसरे स्टेशन पर ज्यों ही गाड़ी खड़ी हुई, मैं भागा और अपने डिब्बेमें घुस गया।

हम कलकत्ते पहुँचे। अध्यक्ष आदि नेताओंको नागरिक धूमधामसे ले गये। मैंने किसी स्वयंसेवकसे पूछा, "मुझे कहाँ जाना चाहिये?"

वह मुझे रिपन कॉलेज ले गया। वहाँ बहुतसे प्रतिनिधि ठहराये गये थे। मेरे सौभाग्यसे जिस विभागमें मैं था, उसीमें लोकमान्य तिलक भी ठहरे हुए थे। मुझे याद पड़ता है कि वे एक दिन बाद पहुँचे थे। जहाँ लोकमान्य हों वहाँ छोटा-सा दरबार तो लग ही जाता था। मैं चित्रकार होता, तो जिस खटिया पर वे बैठते थे, उसका चित्र

---

* इन दोनोंको 'सर' की उपाधि बादमें मिली थी।

खींच देता। उस जगहका और उनकी बैठकका आज भी मुझे इतना स्पष्ट स्मरण है। उनसे मिलने आनेवाले अनगिनत लोगोंमें से एक ही का नाम मुझे अब याद है — 'अमृतबाजार पत्रिका' के मोतीबाबू। उन दोनोंका खिलखिलाकर हँसना और राज्यकर्ताओंके अन्यायके विषयमें उनकी बात भूलने योग्य नहीं हैं।

लेकिन वहाँकी व्यवस्थाको थोड़ा देखें।

स्वयंसेवक एक-दूसरेसे टकराते रहते थे। जो काम जिसे सौंपा जाता, वह स्वयं उसे नहीं करता था। वह तुरन्त दूसरेको पुकारता था। दूसरा तीसरेको। बेचारा प्रतिनिधि तो न तीनमें होता, न तेरहमें।

मैंने अनेक स्वयंसेवकोंसे दोस्ती की। उनसे दक्षिण अफ्रीकाकी कुछ बातें कीं। इससे वे जरा शरमिन्दा हुए। मैंने उन्हें सेवाका मर्म समझानेका प्रयत्न किया। वे कुछ समझे। पर सेवाकी अभिरुचि कुकुरमुत्तेकी तरह बातकी बातमें तो उत्पन्न नहीं होती। उसके लिए इच्छा चाहिये और बादमें अभ्यास। इन भोले और भले स्वयंसेवकोंमें इच्छा तो बहुत थी, पर तालीम और अभ्यास वे कहाँसे पाते? काँग्रेस सालमें तीन दिनके लिए इकट्ठा होकर फिर सो जाती थी। सालमें तीन दिनकी तालीमसे कितना सीखा जा सकता था?

जैसे स्वयंसेवक थे, वैसे ही प्रतिनिधि थे। उन्हें भी इतने ही दिनोंकी तालीम मिलती थी। वे अपने हाथसे अपना कोई भी काम न करते थे। सब बातोंमें उनके हुक्म छूटते रहते थे। 'स्वयंसेवक, यह लाओ; स्वयंसेवक, वह लाओ' चला ही करता था।

अखा भगत* के 'अदकेरा अंग' — 'अतिरिक्त अंग' का भी ठीकठीक अनुभव हुआ। छुआछूतको माननेवाले वहाँ बहुत थे। द्राविड़ी रसोई बिलकुल अलग थी। उन प्रतिनिधियोंको तो 'दृष्टिदोष' भी लगता था! उनके लिए कॉलेजके अहातेमें चटाइयोंका रसोईघर बनाया गया था। उसमें धुआँ इतना रहता था कि आदमीका दम घुट जाय। खाना-पीना सब उसीके अन्दर। रसोईघर क्या था, एक तिजोरी थी। वह कहींसे भी खुला न था।

---

* गुजरातके एक भक्तकवि। इन्होंने अपने एक छप्पयमें छुआछूतको 'आभडछेट अदकेरो अंग' कहकर उसका विरोध किया है और कहा है कि हिन्दू धर्ममें अस्पृश्यताके लिए कोई स्थान नहीं है।

मुझे यह वर्णधर्म उलटा लगा। काँग्रेसमें आनेवाले प्रतिनिधि जब इतनी छुआछूत रखते हैं, तो उन्हें भेजनेवाले लोग कितनी रखते होंगे? इस प्रकारका त्रैराशिक लगानेसे जो उत्तर मिला, उस पर मैंने एक लम्बी साँस ली।

गंदगीकी हद नहीं थी। चारों तरफ़ पानी ही पानी फैल रहा था। पाखाने कम थे। उनकी दुर्गन्धकी याद आज भी मुझे हैरान करती है। मैंने एक स्वयंसेवकको यह सब दिखाया। उसने साफ इनकार करते हुए कहा, "यह तो भंगीका काम है।" मैंने झाडू माँगा। वह मेरा मुँह ताकता रहा। मैंने झाडू खोज निकाला। पाखाना साफ किया। पर यह तो मेरी अपनी सुविधाके लिए हुआ। भीड़ इतनी ज्यादा थी और पाखाने इतने कम थे कि हर बारके उपयोगके बाद उनकी सफाई होनी जरूरी थी। यह मेरी शक्तिके बाहरकी बात थी। इसलिए मैंने अपने लायक सुविधा करके संतोष माना। मैंने देखा कि दूसरोंको यह गंदगी जरा भी अखरती न थी।

पर बात यहीं खतम नहीं होती। रातके समय कोई-कोई तो कमरेके सामनेवाले बरामदेमें ही निबट लेते थे। सवेरे स्वयंसेवकोंको मैंने मैला दिखाया। कोई साफ करनेको तैयार न था। उसे साफ करनेका सम्मान भी मैंने ही प्राप्त किया।

यद्यपि अब इन बातोंमें बहुत सुधार हो गया है, फिर भी अविचारी प्रतिनिधि अब तक काँग्रेसके शिबिरको जहाँ-तहाँ मलत्याग करके गन्दा करते हैं और सब स्वयंसेवक उसे साफ करनेके लिए तैयार नहीं होते।

मैंने देखा कि अगर ऐसी गंदगीमें काँग्रेसकी बैठक अधिक दिनों तक जारी रहती, तो अवश्य बीमारी फैल जाती।

१४. क्लर्क और बैरा

काँग्रेसके अधिवेशनको एक-दो दिनकी देर थी। मैंने निश्चय किया था कि काँग्रेसके कार्यालयमें मेरी सेवा स्वीकार की जाये, तो सेवा करूँ और अनुभव लूँ।

जिस दिन हम पहुँचे उसी दिन नहा-धोकर मैं काँग्रेसके कार्यालयमें गया। श्री भूपेन्द्रनाथ बसु और श्री घोषाल मंत्री थे। मैं भूपेन्द्रबाबूके पास पहुँचा और सेवाकी माँग की। उन्होंने मेरी ओर देखा और बोले:

"मेरे पास तो कोई काम नहीं है, पर शायद मि० घोषाल आपको कुछ काम दे सकेंगे। उनके पास जाइये।"

मैं घोषालबाबूके पास गया। उन्होंने मुझे ध्यानसे देखा और जरा हँसकर मुझसे पूछा:

"मेरे पास तो कलर्कका काम है, आप करेंगे?"

मैंने उत्तर दिया: "अवश्य करूँगा। मेरी शक्तिसे बाहर न हो, ऐसा हर काम करनेके लिए मैं आपके पास आया हूँ।"

"नौजवान, यही सच्ची भावना है।"

और बगलमें खड़े स्वयंसेवकोंकी ओर देखकर बोले:

"सुनते हो, यह युवक क्या कह रहा है?"

फिर मेरी ओर मुड़कर बोले:

"तो देखिये, यह तो है पत्रोंका ढेर, और यह मेरे सामने कुर्सी है। इस पर आप बैठिये। आप देखते हैं कि मेरे पास सैकड़ों आदमी आते रहते हैं। मैं उनसे मिलूँ या इन बेकार पत्र लिखनेवालोंको उनके पत्रोंका जवाब लिखूँ? मेरे पास ऐसे क्लर्क नहीं हैं, जिनसे यह काम ले सकूँ। इन सब पत्रोंमें से बहुतोंमें कामकी एक भी बात नहीं होगी। पर आप सबको देख जाइये। जिसकी पहुँच भेजना उचित समझें उसकी पहुँच भेज दीजिये। जिसके जवाबके बारेमें मुझसे पूछना जरूरी समझें, मुझे पूछ लीजिये।" मैं तो इस विश्वाससे मुग्ध हो गया।

श्री घोषाल मुझे पहचानते न थे। नाम-धाम जाननेका काम तो उन्होंने बादमें किया। पत्रोंका ढेर साफ करनेका काम मुझे बहुत आसान लगा। अपने सामने रखे हुए ढेरको मैंने तुरन्त निबटा दिया। घोषालबाबू खुश हुए। उनका स्वभाव बातूनी था। मैं देखता था कि बातोंमें वे अपना बहुत समय बिता देते थे। मेरा इतिहास जाननेके बाद तो मुझे कलर्कका काम सौंपनेके लिए वे कुछ लज्जित हुए। पर मैंने उन्हें निश्चिन्त कर दिया:

"कहाँ आप और कहाँ मैं? आप काँग्रेसके पुराने सेवक हैं, मेरे गुरुजन हैं। मैं एक अनुभवहीन नवयुवक हूँ। यह काम सौंपकर आपने मुझ पर उपकार ही किया है, क्योंकि मुझे काँग्रेसमें काम करना है। उसके कामकाजको समझनेका आपने मुझे अलभ्य अवसर दिया है।"

घोषालबाबू बोले, "असलमें यही सच्ची वृत्ति है। पर आजके नवयुवक इसे नहीं मानते। वैसे मैं तो काँग्रेसको उसके जन्मसे जानता हूँ। उसे जन्म देनेमें मि० ह्यूमके साथ मेरा भी हिस्सा था।"

हमारे बीच अच्छी मित्रता हो गयी। दोपहरके भोजनमें उन्होंने मुझे अपने साथ ही रखा। घोषालबाबूके बटन भी 'बैरा' लगाता था। यह देखकर 'बैरे'का काम मैंने ही ले लिया। मुझे वह पसन्द था। बड़ोंके प्रति मेरे मनमें बहुत आदर था। जब वे मेरी वृत्ति समझ गये, तो अपनी निजी सेवाके सारे काम मुझसे लेने लगे। बटन लगाते समय मुझसे मुसकराकर कहते, "देखिये न, काँग्रेसके सेवकको बटन लगानेका भी समय नहीं मिलता, क्योंकि उस समय भी उसे काम रहता है!"

इस भोलेपन पर मुझे हँसी तो आयी, पर ऐसी सेवाके प्रति मनमें थोड़ी भी अरुचि उत्पन्न न हुई। और मुझे जो लाभ हुआ, उसकी तो कीमत आँकी ही नहीं जा सकती।

कुछ ही दिनोंमें मुझे काँग्रेसकी व्यवस्थाका ज्ञान हो गया। कई नेताओंसे भेंट हुई। गोखले, सुरेन्द्रनाथ आदि योद्धा आते-जाते रहते थे। मैं उनकी रीति-नीति देख सका। वहाँ समयकी जो बरबादी होती थी, उसे भी मैंने अनुभव किया। अंग्रेजी भाषाका प्राबल्य भी देखा। इससे उस समय भी मुझे दुःख हुआ था। मैंने देखा कि एक आदमीसे हो सकनेवाले काममें अनेक आदमी लग जाते थे, और यह भी देखा कि कितने ही महत्त्वपूर्ण काम कोई करता ही न था।

मेरा मन इस सारी स्थितिकी टीका किया करता था। पर चित्त उदार था, इसलिए वह मान लेता था कि जो हो रहा है, उसमें अधिक सुधार करना सम्भव न होगा। फलतः मनमें किसीके प्रति अरुचि पैदा न होती थी।

१५. काँग्रेसमें

काँग्रेसका अधिवेशन शुरू हुआ। पण्डालका भव्य दृश्य, स्वयंसेवकोंकी कतारें, मंच पर नेताओंकी उपस्थिति इत्यादि देखकर मैं घबरा गया। इस सभामें मेरा पता कहाँ लगेला, यह सोचकर मैं अकुला उठा।

सभापतिका भाषण तो एक पुस्तक ही थी। स्थिति ऐसी नहीं थी कि वह पूरा पढ़ा जा सके। अतः उसके कुछ अंश ही पढ़े गये।

बादमें विषय-निर्वाचिनी समितिके सदस्य चुने गये। उसमें गोखले मुझे ले गये थे।

सर फीरोजशाहने मेरा प्रस्ताव लेनेकी स्वीकृति तो दी थी, पर उसे काँग्रेसकी विषय-निर्वाचिनी समितिमें कौन प्रस्तुत करेगा, कब करेगा, यह सोचता हुआ मैं

समितिमें बैठा रहा। हरएक प्रस्ताव पर लम्बे-लम्बे भाषण होते थे, सब अंग्रेजीमें। हरएकके साथ प्रसिद्ध व्यक्तियोंके नाम जुड़े होते थे। इस नक्कारखानेमें मेरी तूतीकी आवाज कौन सुनेगा? ज्यों-ज्यों रात बीतती जाती थी, त्यों-त्यों मेरा दिल धड़कता जाता था। मुझे याद आ रहा है कि अन्त-अन्तमें पेश होनेवाले प्रस्ताव आजकलके विमानोंकी गतिसे चल रहे थे। सब कोई भागनेकी तैयारीमें थे। रातके ग्यारह बज गये थे। मुझमें बोलनेकी हिम्मत न थी। मैं गोखलेसे मिल चुका था और उन्होंने मेरा प्रस्ताव देख लिया था।

उनकी कुर्सीके पास जाकर मैंने धीरेसे कहा:

"मेरे लिए कुछ कीजियेगा।"

उन्होंने कहा: "आपके प्रस्तावको मैं भूला नहीं हूँ। यहाँकी उतावली आप देख रहे हैं, पर मैं इस प्रस्तावको भूलने नहीं दूँगा।"

सर फीरोजशाह बोले: "कहिये, सब काम निबट गया न?"

गोखले बोल उठे: "दक्षिण अफ्रीकाका प्रस्ताव तो बाकी ही है। मि० गांधी कबसे बैठे राह देख रहे हैं।"

सर फीरोजशाहने पूछा: "आप उस प्रस्तावको देख चुके हैं?"

"हाँ।"

"आपको वह पसन्द आया?"

"काफी अच्छा है।"

"तो गांधी, पढ़ो।"

मैंने काँपते हुए प्रस्ताव पढ़ सुनाया।

गोखलेने उसका समर्थन किया।

सब बोल उठे, "सर्व-सम्मतिसे पास।"

वाच्छा बोले, "गांधी, तुम पाँच मिनट लेना।"

इस दृश्यसे मुझे प्रसन्नता न हुई। किसीने भी प्रस्तावको समझनेका कष्ट नहीं उठाया। सब जल्दीमें थे। गोखलेने प्रस्ताव देख लिया था, इसलिए दूसरोंको देखने-सुननेकी आवश्यकता प्रतीत न हुई।

सवेरा हुआ।

मुझे तो अपने भाषणकी फिकर थी। पाँच मिनटमें क्या बोलूँगा? मैंने तैयारी तो अच्छी कर ली थी, पर उपयुक्त शब्द सूझते न थे। लिखित भाषण न पढ़नेका मेरा

निश्चय था। पर ऐसा प्रतीत हुआ कि दक्षिण अफ्रीकामें भाषण करनेकी जो स्वस्थता मुझमें आयी थी, उसे मैं यहाँ खो बैठा था।

मेरे प्रस्तावका समय आने पर सर दीनशाने मेरा नाम पुकारा। मैं खड़ा हुआ। मेरा सिर चकराने लगा। जैसे-तैसे मैंने प्रस्ताव पढ़ा। किसी कविने अपनी कविता छपाकर सब प्रतिनिधियोंमें बाँटी थी। उसमें परदेश जानेकी और समुद्र-यात्राकी स्तुति थी। वह मैंने पढ़ सुनायी और दक्षिण अफ्रीकाके दुःखोंकी थोड़ी चर्चा की। इतनेमें सर दीनशाकी घंटी बजी। मुझे विश्वास था कि मैंने अभी पाँच मिनट पूरे नहीं किये हैं। मुझे पता न था कि यह घंटी मुझे चेतानेके लिए दो मिनट पहले ही बजा दी गयी थी। मैंने बहुतोंको आध-आध, पौन-पौन घंटे बोलते देखा था और घंटी नहीं बजी थी। मुझे दुःख तो हुआ। घंटी बजते ही मैं बैठ गया। पर उक्त काव्यमें सर फीरोजशाहको उत्तर मिल गया, ऐसा मेरी अल्पबुद्धिने उस समय मान लिया।

प्रस्ताव पास होनेके बारेमें तो पूछना ही क्या था? उन दिनों दर्शक और प्रतिनिधिका भेद क्वचित् ही किया जाता था। प्रस्तावोंका विरोध करनेका कोई प्रश्न ही नहीं था। सब हाथ उठाते ही थे। सारे प्रस्ताव सर्व-सम्मतिसे पास होते थे। मेरा प्रस्ताव भी इसी तरह पास हुआ। इसलिए मुझे प्रस्तावका महत्त्व नहीं जान पड़ा। फिर भी काँग्रेसमें मेरा प्रस्ताव पास हुआ, यह बात ही मेरे आनन्दके लिए पर्याप्त थी। जिस पर काँग्रेसकी मुहर लग गयी उस पर सारे भारतकी मुहर है, यह ज्ञान किसके लिए पर्याप्त न होगा?

१६. लार्ड कर्जनका दरबार

काँग्रेस-अधिवेशन समाप्त हुआ, पर मुझे तो दक्षिण अफ्रीकाके कामके लिए कलकत्तेमें रहकर चेम्बर ऑफ कॉमर्स इत्यादि मण्डलोंसे मिलना था। इसलिए मैं कलकत्तेमें एक महीना ठहरा। इस बार मैंने होटलमें ठहरनेके बदले परिचय प्राप्त करके 'इण्डिया क्लब' में ठहरनेकी व्यवस्था की। इस क्लबमें अग्रगण्य भारतीय उतरा करते थे। इससे मेरे मनमें यह लोभ था कि उनसे मेल-जोल बढ़ाकर मैं उनमें दक्षिण अफ्रीकाके कामके लिए दिलचस्पी पैदा कर सकूँगा। इस क्लबमें गोखले हमेशा तो नहीं, पर कभी-कभी बिलियर्ड खेलने आया करते थे। जैसे ही उन्हें पता चला कि मैं कलकत्तेमें ठहरनेवाला हूँ, उन्होंने मुझे अपने साथ रहनेके लिए निमंत्रित किया। मैंने

उनका निमंत्रण साभार स्वीकार किया, पर मुझे अपने-आप वहाँ जाना ठीक न लगा। एक-दो दिन बाट जोहता रहा। इतनेमें गोखले खुद आकर मुझे अपने साथ ले गये। मेरा संकोच देखकर उन्होंने कहा : "गांधी, तुम्हें इस देशमें रहना है। अतएव ऐसी शरमसे काम नहीं चलेगा। जितने अधिक लोगोंके साथ मेलजोल बढ़ा सको तुम्हें बढ़ाना चाहिये। मुझे तुमसे कॉंग्रेसका काम लेना है।"

गोखलेके स्थान पर जानेसे पहले 'इण्डिया क्लब' का एक अनुभव यहाँ देता हूँ।

उन्हीं दिनों लार्ड कर्जनका दरबार हुआ। उसमें जानेवाले कोई राजा-महाराजा इस क्लबमें ठहरे हुए थे। क्लबमें तो मैं उनको हमेशा सुन्दर बंगाली धोती, कुर्ता और चादरकी पोशाकमें देखता था। आज उन्होंने पतलून, चोगा, खानसामोंकी-सी पगड़ी और चमकीले बूट पहने थे। यह देखकर मुझे दुःख हुआ और मैंने इस परिवर्तनका कारण पूछा।

जवाब मिला, "हमारा दुःख हम ही जानते हैं। अपनी सम्पत्ति और अपनी उपाधियोंको सुरक्षित रखनेके लिए हमें जो अपमान सहने पड़ते हैं, उन्हें आप कैसे जान सकते हैं?"

"पर यह खानसामे-जैसी पगड़ी और ये बूट किसलिए?"

"हममें और खानसामोंमें आपने क्या फर्क देखा? वे हमारे खानसामा हैं, तो हम लार्ड कर्जनके खानसामा हैं। यदि मैं दरबारमें अनुपस्थित रहूँ, तो मुझको उसका दण्ड भुगतना पड़े। अपनी साधारण पोशाक पहनकर जाऊँ, तो वह अपराध माना जायगा। और वहाँ जाकर भी क्या मुझे लार्ड कर्जनसे बातें करनेका अवसर मिलेगा? कदापि नहीं।"

मुझे इस स्पष्टवक्ता भाई पर दया आयी।

ऐसे ही प्रसंगवाला एक और दरबार मुझे याद आ रहा है। जब काशीके हिन्दू विश्वविद्यालयकी नींव लार्ड हार्डिंगके हाथों रखी गयी, तब उनका दरबार हुआ था। उसमें राजा-महाराजा तो आये ही थे। भारतभूषण मालवीयजीने मुझसे भी उसमें उपस्थित रहनेका विशेष आग्रह किया था। मैं वहाँ गया था। केवल स्त्रियोंको ही शोभा देनेवाली राजा-महाराजाओंकी पोशाकें देखकर मुझे दुःख हुआ था। रेशमी पाजामे, रेशमी अंगरखे और गलेमें हीरे-मोतीकी मालायें, हाथ पर बाजूबन्द और पगड़ी पर हीरे-मोतीकी झालरें! इन सबके साथ कमरमें सोनेकी मूठवाली तलवार लटकती थी। किसीने बताया कि ये चीजें उनके राज्याधिकारकी नहीं, बल्कि उनकी

गुलामीकी निशानियाँ थीं। मैं मानता था कि ऐसे नामर्दी-सूचक आभूषण वे स्वेच्छासे पहनते होंगे। पर मुझे पता चला कि ऐसे सम्मेलनोंमें अपने सब मूल्यवान आभूषण पहनकर जाना राजाओंके लिए अनिवार्य था। मुझे यह भी मालूम हुआ कि कइयोंको ऐसे आभूषण पहननेसे घृणा थी और ऐसे और ऐसे दरबारके अवसरोंको छोड़कर अन्य किसी अवसर पर वे इन गहनोंको पहनते भी न थे। इस बातमें कितनी सचाई थी, सो मैं जानता नहीं। वे दूसरे अवसरों पर पहनते हों या न पहनते हों, क्या वाइसरॉयके दरबारमें और क्या दूसरी जगह, औरतोंको ही शोभा देनेवाले आभूषण पहनकर जाना पड़े, यही पर्याप्त दुःखकी बात है। धन, सत्ता और मान मनुष्यसे कितने पाप और अनर्थ कराते हैं!

१७. गोखलेके साथ एक महीना — १

पहले ही दिनसे गोखलेने मुझे यह अनुभव न करने दिया कि मैं मेहमान हूँ। उन्होंने मुझे अपने सगे छोटे भाईकी तरह रखा। मेरी सब आवश्यकतायें जान लीं और उनके अनुकूल सारी व्यवस्था कर दी। सौभाग्यसे मेरी आवश्यकतायें थोड़ी ही थीं। मैंने अपना सब काम स्वयं कर लेनेकी आदत डाली थी, इसलिए मुझे दूसरोंसे बहुत थोड़ी सेवा लेनी होती थी। स्वावलम्बनकी मेरी इस आदतकी, उस समयकी मेरी पोशाक आदिकी, सफाईकी, मेरे उद्यमकी और मेरी नियमितताकी उन पर गहरी छाप पड़ी थी और इन सबकी वे इतनी तारीफ करते थे कि मैं घबरा उठता था।

मुझे यह अनुभव न हुआ कि उनके पास मुझसे छिपाकर रखने लायक कोई बात थी। जो भी बड़े आदमी उनसे मिलने आते, उनका मुझसे परिचय कराते थे। ऐसे परिचयोंमें आज मेरी आँखोंके सामने सबसे अधिक डॉ० प्रफुल्लचन्द्र राय आते हैं। वे गोखलेके मकानके पास ही रहते थे और कह सकता हूँ कि लगभग रोज ही उनसे मिलने आते थे।

''ये प्रोफेसर राय हैं। इन्हें हर महीने आठ सौ रुपये मिलते हैं। ये अपने खर्चके लिए चालीस रुपये रखकर बाकी सब सार्वजनिक कामोंमें दे देते हैं। इन्होंने ब्याह नहीं किया है और न करना चाहते हैं।'' इन शब्दोंमें गोखलेने मुझसे उनका परिचय कराया।

आजके डॉ० राय और उस समयके प्रो० रायमें मैं थोड़ा ही फरक पाता हूँ। जो

वेश-भूषा उनकी तब थी, लगभग वही आज भी है। हाँ, आज वे खादी पहनते हैं, उस समय खादी थी ही नहीं। स्वदेशी मिलके कपड़े रहे होंगे। गोखले और प्रो० रायकी बातचीत सुनते हुए मुझे तृप्ति ही न होती थी, क्योंकि उनकी बातें देशहितकी ही होती थीं अथवा कोई ज्ञानचर्चा होती थी। कई बातें दुःखद भी होतीं, क्योंकि उनमें नेताओंकी टीका रहती थी। इसलिए जिन्हें मैंने महान योद्धा समझना सीखा था, वे मुझे बौने लगने लगे।

गोखलेकी काम करनेकी रीतिसे मुझे जितना आनन्द हुआ उतनी ही शिक्षा भी मिली। वे अपना एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाने देते थे। मैंने अनुभव किया कि उनके सारे संबंध देशकार्यके निमित्तसे ही थे। सारी चर्चायें भी देशकार्यके खातिर ही होती थीं। उनकी बातोंमें मुझे कहीं मलिनता, दम्भ अथवा झूठके दर्शन नहीं हुए। हिन्दुस्तानकी गरीबी और गुलामी उन्हें प्रतिक्षण चुभती थी। अनेक लोग अनेक विषयोंमें उनकी रुचि जगानेके लिए आते थे। उन सबको वे एक ही जवाब देते थे:

"आप यह काम कीजिये। मुझे अपना काम करने दीजिये। मुझे तो देशकी स्वाधीनता प्राप्त करनी है। उसके मिलने पर ही मुझे दूसरा कुछ सूझेगा। इस समय तो इस कामसे मेरे पास एक क्षण भी बाकी नहीं बचता।"

रानडेके प्रति उनका पूज्यभाव बात-बातमें देखा जा सकता था। 'रानडे यह कहते थे' ये शब्द तो उनकी बातचीतमें लगभग 'सूत उवाच' जैसे हो गये थे। मैं वहाँ था उन्हीं दिनों रानडेकी जयन्ती (अथवा पुण्यतिथि, इस समय ठीक याद नहीं है) पड़ती थी। ऐसा लगा कि गोखले उसे हमेशा मनाते थे। उस समय वहाँ मेरे सिवा उनके मित्र प्रो० काथवटे और दूसरे एक सज्जन थे, जो सब-जज थे। इनको उन्होंने जयन्ती मनानेके लिए निमंत्रित किया और उस अवसर पर उन्होंने हमें रानडेके अनेक संस्मरण सुनाये। रानडे, तैलंग और माण्डलिककी तुलना भी की। मुझे स्मरण है कि उन्होंने तैलंगकी भाषाकी प्रशंसा की थी। सुधारकके रूपमें माण्डलिककी स्तुति की थी। अपने मुवक्किलकी वे कितनी चिन्ता रखते थे, इसके दृष्टान्तके रूपमें उन्होंने यह किस्सा सुनाया कि एक बार रोजकी ट्रेन छूट जाने पर वे किस तरह स्पेशयल ट्रेनसे अदालत पहुँचे थे। और रानडेकी चौमुखी शक्तिका वर्णन करके उस समयके नेताओंमें उनकी सर्वश्रेष्ठता सिद्ध की थी। रानडे केवल न्यायमूर्ति नहीं थे। वे इतिहासकार थे, अर्थशास्त्री थे, सुधारक थे। सरकारी जज होते हुए भी वे काँग्रेसमें दर्शककी तरह निडर भावसे उपस्थित होते थे। इसी तरह उनकी बुद्धिमत्ता पर

लोगोंको इतना विश्वास था कि सब उनके निर्णयको स्वीकार करते थे। यह सब वर्णन करते हुए गोखलेके हर्षकी सीमा न रहती थी।

गोखले घोड़ागाड़ी रखते थे। मैंने उनसे इसकी शिकायत की। मैं उनकी कठिनाइयाँ समझ नहीं सका था। पूछा: "आप सब जगह ट्राममें क्यों नहीं जा सकते? क्या इससे नेतावर्गकी प्रतिष्ठा कम होती है?"

कुछ दुःखी होकर उन्होंने उत्तर दिया: "क्या तुम भी मुझे पहचान न सके? मुझे बड़ी धारासभासे जो रुपया मिलता है, उसे मैं अपने काममें नहीं लाता। तुम्हें ट्राममें घूमते देखकर मुझे ईर्ष्या होती है, पर मैं वैसा नहीं कर सकता। जितने लोग मुझे पहचानते हैं उतने ही जब तुम्हें भी पहचानने लगेंगे, तब तुम्हारे लिए भी ट्राममें घूमना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो जायगा। नेता जो कुछ करते हैं सो मौज-शौकके लिए ही करते हैं, यह माननेका कोई कारण नहीं है। तुम्हारी सादगी मुझे पसन्द है। मैं यथासम्भव सादगीसे रहता हूँ। पर तुम निश्चित मानना कि मुझ जैसोंके लिए कुछ खर्च अनिवार्य हैं।"

इस तरह मेरी एक शिकायत तो ठीक ढंगसे रद हो गयी। पर दूसरी जो शिकायत मैंने की, उसका कोई सन्तोषजनक उत्तर वे नहीं दे सके। मैंने कहा, "पर आप टहलने भी तो ठीकसे नहीं जाते। ऐसी दशामें आप बीमार रहें तो इसमें आश्चर्य क्या? क्या देशके काममें से व्यायामके लिए भी फुरसत नहीं मिल सकती?"

जवाब मिला: "तुम मुझे किस समय फुरसतमें देखते हो कि मैं घूमने जा सकूँ?"

मेरे मनमें गोखलेके लिए इतना आदर था कि मैं उन्हें प्रत्युत्तर नहीं देता था। ऊपरके उत्तरसे मुझे संतोष नहीं हुआ था, फिर भी मैं चुप रहा। मैंने यह माना है, और आज भी मानता हूँ, कि कितने ही काम होने पर भी जिस तरह हम खानेका समय निकाले बिना नहीं रहते, उसी तरह व्यायामका समय भी हमें निकालना चाहिये। मेरी यह नम्र राय है कि इससे देशकी सेवा अधिक ही होती है, कम नहीं।

१८. गोखलेके साथ एक महीना — २

गोखलेकी छायातले रहकर मैंने सारा समय घरमें बैठकर नहीं बिताया।

दक्षिण अफ्रीकाके अपने ईसाई मित्रोंसे मैंने कहा था कि मैं हिन्दुस्तानके ईसाइयोंसे मिलूँगा और उनकी स्थितिकी जानकारी प्राप्त करूँगा। मैंने कालीचरण

बैनर्जीका नाम सुना था। वे कॉंग्रेसके कामोंमें अगुआ बनकर हाथ बँटाते थे, इसलिए मेरे मनमें जो अविश्वास था, वह कालीचरण बैनर्जीके प्रति नहीं था। मैंने उनसे मिलनेके बारेमें गोखलेसे चर्चा की। उन्होंने कहा: "वहाँ जाकर तुम क्या पाओगे? वे बहुत भले आदमी हैं, पर मेरा खयाल है कि वे तुम्हें संतोष नहीं दे सकेंगे। मैं उन्हें भलीभाँति जानता हूँ। फिर भी तुम्हें जाना हो तो शौकसे जाओ।"

मैंने समय माँगा। उन्होंने तुरन्त समय दिया और मैं गया। उनके घर उनकी धर्मपत्नी मृत्युशय्या पर पड़ी थीं। घर उनका सादा था। कॉंग्रेसमें उनको कोट-पतलूनमें देखा था। पर घरमें उन्हें बंगाली धोती और कुर्ता पहने देखा। यह सादगी मुझे पसन्द आयी। उन दिनों मैं स्वयं पारसी कोट-पतलून पहनता था, फिर भी मुझे उनकी यह पोशाक और सादगी बहुत पसन्द पड़ी। मैंने उनका समय न गँवाते हुए अपनी उलझनें पेश कीं।

उन्होंने मुझसे पूछा: "आप मानते हैं कि हम अपने साथ पाप लेकर पैदा होते हैं?"

मैंने कहा, "जी हाँ।"

"तो इस मूल पापका निवारण हिन्दू धर्ममें नहीं है, जब कि ईसाई धर्ममें है।" यों कहकर वे बोले: "पापका बदला मौत है। बाइबल कहती है कि इस मौतसे बचनेका मार्ग ईसाकी शरण है।"

मैंने भगवद्गीताके भक्तिमार्गकी चर्चा की। पर मेरा बोलना निरर्थक था। मैंने इन भले आदमीका उनकी भलमनसाहतके लिए उपकार माना। मुझे संतोष न हुआ, फिर भी इस भेंटसे मुझे लाभ ही हुआ।

मैं यह कह सकता हूँ कि इसी महीनेमें मैंने कलकत्तेकी एक-एक गली छान डाली। अधिकांश काम मैं पैदल चलकर करता था। इन्हीं दिनों मैं न्यायमूर्ति मित्रसे मिला। सर गुरुदास बैनर्जीसे मिला। दक्षिण अफ्रीकाके कामके लिए उनकी सहायताकी आवश्यकता थी। उन्हीं दिनों मैंने राजा सर प्यारीमोहन मुकर्जीके भी दर्शन किये।

कालीचरण बैनर्जीने मुझसे काली-मन्दिरकी चर्चा की थी। वह मन्दिर देखनेकी मेरी तीव्र इच्छा थी। पुस्तकमें मैंने उसका वर्णन पढ़ा था। इससे एक दिन मैं वहाँ जा पहुँचा। न्यायमूर्ति मित्रका मकान उसी मुहल्लेमें था। अतएव जिस दिन उनसे मिला, उसी दिन काली-मन्दिर भी गया। रास्तेमें बलिदानके बकरोंकी लम्बी कतार चली जा

रही थी। मन्दिरकी गलीमें पहुँचते ही मैंने भिखारियोंकी भीड़ लगी देखी। वहाँ साधु-संन्यासी तो थे ही। उन दिनों भी मेरा नियम हृष्ट-पुष्ट भिखारियोंको कुछ न देनेका था। भिखारियोंने मुझे बुरी तरह घेर लिया था।

एक बाबाजी चबूतरे पर बैठे थे। उन्होंने मुझे बुलाकर पूछा, "क्यों बेटा, कहाँ जाते हो?"

मैंने समुचित उत्तर दिया। उन्होंने मुझे और मेरे साथियोंको बैठनेके लिए कहा। हम बैठ गये।

मैंने पूछा, "इन बकरोंके बलिदानको आप धर्म मानते हैं?"

"जीवकी हत्याको धर्म कौन मानता है?"

"तो आप यहाँ बैठकर लोगोंको समझाते क्यों नहीं?"

"यह काम हमारा नहीं है। हम तो यहाँ बैठकर भगवद्-भक्ति करते हैं।"

"पर इसके लिए आपको कोई दूसरी जगह न मिली?"

बाबाजी बोले: "हम कहीं भी बैठें, हमारे लिए सब जगह समान है। लोग तो भेड़ोंके झुंडकी तरह हैं। बड़े लोग जिस रास्ते ले जाते हैं, उसी रास्ते वे चलते हैं। हम साधुओंको इससे क्या मतलब?"

मैंने संवाद आगे नहीं बढ़ाया। हम मन्दिरमें पहुँचे। सामने लहूकी नदी बह रही थी। दर्शनोंके लिए खड़े रहनेकी मेरी इच्छा न रही। मैं बहुत अकुलाया, बेचैन हुआ। वह दृश्य मैं अब तक भूल नहीं सका हूँ। उसी दिन मुझे एक बंगाली सभाका निमंत्रण मिला था। वहाँ मैंने एक सज्जनसे इस क्रूर पूजाकी चर्चा की। उन्होंने कहा: "हमारा खयाल यह है कि वहाँ जो नगाड़े वगैरा बजते हैं, उनके कोलाहलमें बकरोंको चाहे जैसे भी मारो उन्हें कोई पीड़ा नहीं होती।"

उनका यह विचार मेरे गले न उतरा। मैंने उन सज्जनसे कहा कि यदि बकरोंको जबान होती तो वे दूसरी ही बात कहते। मैंने अनुभव किया कि यह क्रूर रिवाज बन्द होना चाहिये। बुद्धदेववाली कथा मुझे याद आयी। पर मैंने देखा कि यह काम मेरी शक्तिसे बाहर है।

उस समय मेरे जो विचार थे वे ही आज भी हैं। मेरे खयालमें बकरोंके जीवनका मूल्य मनुष्यके जीवनसे कम नहीं है। मनुष्य-देहको निबाहनेके लिए मैं बकरेकी देह लेनेको तैयार न होऊँगा। मैं यह मानता हूँ कि जो जीव जितना अधिक अपंग है, उतना ही उसे मनुष्यकी क्रूरतासे बचनेके लिए मनुष्यका आश्रय पानेका अधिक

अधिकार है। पर वैसी योग्यताके अभावमें मनुष्य आश्रय देनेमें असमर्थ है। बकरोंको इस पापपूर्ण होमसे बचानेके लिए जितनी आत्मशुद्धि और त्याग मुझमें है, उससे कहीं अधिककी मुझे आवश्यकता है। जान पड़ता है कि अभी तो उस शुद्धि और त्यागका रटन करते हुए ही मुझे मरना होगा। मैं यह प्रार्थना निरन्तर करता रहता हूँ कि ऐसा कोई तेजस्वी पुरुष और ऐसी कोई तेजस्विनी सती उत्पन्न हो, जो इस महापातकमें से मनुष्यको बचावे, निर्दोष प्राणियोंकी रक्षा करे और मन्दिरको शुद्ध करे। ज्ञानी, बुद्धिशाली, त्यागवृत्तिवाला और भावना-प्रधान बंगाल यह सब कैसे सहन करता है?

१९. गोखलेके साथ एक महीना — ३

कालीमाताके निमित्तसे होनेवाला विकराल यज्ञ देखकर बंगाली जीवनको जाननेकी मेरी इच्छा बढ़ गयी। ब्रह्मसमाजके बारेमें तो मैं काफी पढ़-सुन चुका था। मैं प्रतापचन्द्र मजूमदारका जीवन-वृत्तान्त थोड़ा जानता था। उनके व्याख्यान मैं सुनने गया था। उनका लिखा केशवचन्द्र सेनका जीवन-वृत्तान्त मैंने प्राप्त किया और उसे अत्यन्त रस-पूर्वक पढ़ गया। मैंने साधारण ब्रह्मसमाज और आदि ब्रह्मसमाजका भेद जाना। पंडित विश्वनाथ शास्त्रीके दर्शन किये। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुरके दर्शनोंके लिए मैं प्रो० काथवटेके साथ गया। पर वे उन दिनों किसीसे मिलते न थे, इससे उनके दर्शन न हो सके। उनके यहाँ ब्रह्मसमाजका उत्सव था। उसमें सम्मिलित होनेका निमंत्रण पाकर हम लोग वहाँ गये थे और वहाँ उच्च कोटिका बंगाली संगीत सुन पाये थे। तभीसे बंगाली संगीतके प्रति मेरा अनुराग बढ़ गया।

ब्रह्मसमाजका यथासंभव निरीक्षण करनेके बाद यह तो हो ही कैसे सकता था कि मैं स्वामी विवेकानन्दके दर्शन न करूँ? मैं अत्यन्त उत्साहके साथ बेलूर मठ तक लगभग पैदल पहुँचा। मुझे इस समय ठीकसे याद नहीं है कि मैं पूरा चला था या आधा। मठका एकान्त स्थान मुझे अच्छा लगा था। यह समाचार सुनकर मैं निराश हुआ कि स्वामीजी बीमार हैं, उनसे मिला नहीं जा सकता और वे अपने कलकत्तेवाले घरमें हैं। मैंने भगिनी निवेदिताके निवासस्थानका पता लगाया। चौरंगीके एक महलमें उनके दर्शन किये। उनकी तड़क-भड़कसे मैं चकरा गया। बातचीतमें भी हमारा मेल नहीं बैठा। मैंने गोखलेसे इसकी चर्चा की। उन्होंने कहा:

"वह बड़ी तेज महिला है। अतएव उससे तुम्हारा मेल न बैठे, इसे मैं समझ सकता हूँ।"

फिर एक बार उनसे मेरी भेंट पेस्तनजी पादशाहके घर हुई थी। वे पेस्तनजीकी वृद्धा माताको उपदेश दे रही थीं, इतनेमें मैं उनके घर जा पहुँचा था। अतएव मैंने उनके बीच दुभाषियेका काम किया था। हमारे बीच मेल न बैठते हुए भी इतना तो मैं देख सकता था कि हिन्दू धर्मके प्रति भगिनीका प्रेम छलका पड़ता था। उनकी पुस्तकोंका परिचय मैंने बादमें किया।

मैंने दिनके दो भाग कर लिये थे। एक भाग मैं दक्षिण अफ्रीकाके कामके सिलसिलेमें कलकत्तेमें रहनेवाले नेताओंसे मिलनेमें बिताता था, और दूसरा भाग कलकत्तेकी धार्मिक संस्थायें और दूसरी सार्वजनिक संस्थायें देखनेमें बिताता था।

एक दिन बोअर-युद्धमें हिन्दुस्तानी शुश्रूषा-दलने जो काम किया था, उस पर डॉ० मलिकके सभापतित्वमें मैंने भाषण किया। 'इंग्लिशमैन' के साथकी मेरी पहचान इस समय भी बहुत सहायक सिद्ध हुई। मि० सॉण्डर्स उन दिनों बीमार थे, पर उनकी मदद तो सन् १८९६ में जितनी मिली थी उतनी ही इस समय भी मिली। यह भाषण गोखलेको पसंद आया था और जब डॉ० रायने मेरे भाषणकी प्रशंसा की तो वे बहुत खुश हुए थे।

यों, गोखलेकी छायामें रहनेसे बंगालमें मेरा काम बहुत सरल हो गया था। बंगालके अग्रगण्य कुटुंबोंकी जानकारी मुझे सहज ही मिल गयी और बंगालके साथ मेरा निकट सम्बन्ध जुड़ गया। इस चिरस्मरणीय महीनेके बहुतसे संस्मरण मुझे छोड़ देने पड़ेंगे। उस महीनेमें मैं ब्रह्मदेशका भी एक चक्कर लगा आया था। वहाँके फुंगियोंसे मिला था। उनका आलस्य देखकर मैं दुःखी हुआ था। मैंने स्वर्ण-पैगोडाके दर्शन किये। मंदिरमें असंख्य छोटी-छोटी मोमबत्तियाँ जल रही थीं। वे मुझे अच्छी नहीं लगीं। मन्दिरके गर्भगृहमें चूहोंको दौड़ते देखकर मुझे स्वामी दयानन्दके अनुभवका स्मरण हो आया। ब्रह्मदेशकी महिलाओंकी स्वतंत्रता, उनका उत्साह और वहाँके पुरुषोंकी सुस्ती देखकर मैंने महिलाओंके लिए अनुराग और पुरुषोंके लिए दुःख अनुभव किया। उसी समय मैंने यह भी अनुभव किया कि जिस तरह बम्बई हिन्दुस्तान नहीं है, उसी तरह रंगून ब्रह्मदेश नहीं है; और जिस प्रकार हम हिन्दुस्तानमें अंग्रेज व्यापारियोंके कमीशन एजेण्ट या दलाल बने हुए हैं, उसी प्रकार ब्रह्मदेशमें हमने अंग्रेजोंके साथ मिलकर ब्रह्मदेशवासियोंको कमीशन एजेण्ट बनाया है।

ब्रह्मदेशसे लौटनेके बाद मैंने गोखलेसे विदा ली। उनका वियोग मुझे अखरा, पर बंगालका — अथवा सच कहा जाय तो कलकत्तेका — मेरा काम पूरा हो चुका था।

मैंने सोचा था कि धन्धेमें लगनेसे पहले हिन्दुस्तानकी एक छोटी-सी यात्रा रेलगाड़ीके तीसरे दर्जेमें करूँगा और तीसरे दर्जेके यात्रियोंका परिचय प्राप्त करके उनका कष्ट जान लूँगा। मैंने गोखलेके सामने अपना यह विचार रखा। उन्होंने पहले तो उसे हँसकर उड़ा दिया। पर जब मैंने इस यात्राके विषयमें अपनी आशाओंका वर्णन किया, तो उन्होंने प्रसन्नता-पूर्वक मेरी योजनाको स्वीकृति दे दी। मुझे पहले तो काशी जाना था और वहाँ पहुँचकर विदुषी एनी बेसेण्टके दर्शन करने थे। वे उस समय बीमार थीं।

इस यात्राके लिए मुझे नया सामान जुटाना था। पीतलका एक डिब्बा गोखलेने ही दिया और उसमें मेरे लिए बेसनके लड्डु और पूरियाँ रखवा दीं। बारह आनेमें किरमिचका एक थैला लिया। छाया (पोरबन्दरके पासके एक गाँव) की ऊनका एक ओवरकोट बनवाया। थैलेमें यह ओवरकोट, तौलिया, कुर्ता और धोती थी। ओढ़नेको एक कम्बल था। इसके अलावा एक लोटा भी साथमें रख लिया था। इतना सामान लेकर मैं निकला।

गोखले और डॉ० राय मुझे स्टेशन तक पहुँचाने आये। मैंने दोनोंसे न आनेकी बिनती की। पर दोनोंने आनेका अपना आग्रह न छोड़ा। गोखले बोले : "तुम पहले दर्जेमें जाते तो शायद मैं न चलता, पर अब तो मुझे चलना ही पड़ेगा।"

प्लेटफार्म पर जाते समय गोखलेको किसीने नहीं रोका। उन्होंने अपनी रेशमी पगड़ी बाँधी थी और धोती तथा कोट पहना था। डॉ० रायने बंगाली पोशाक पहनी थी, इसलिए टिकट-बाबूने पहले तो उन्हें अंदर जानेसे रोका, पर जब गोखलेने कहा, "मेरे मित्र हैं," तो डॉ० राय भी दाखिल हुए। इस तरह दोनोंने मुझे बिदा किया।

२०. काशीमें

यह यात्रा कलकत्तेसे राजकोट तककी थी। इसमें काशी, आगरा, जयपुर, पालनपुर और राजकोट जाना था। इतना देखनेके बाद अधिक समय कहीं देना संभव न था। हर जगह मैं एक-एक दिन रहा था। पालनपुरके सिवा सब जगह मैं धर्मशालामें अथवा यात्रियोंकी तरह पण्डोंके घर ठहरा था। जैसा कि मुझे याद है, इतनी यात्रामें गाड़ी-भाड़े सहित मेरे कुल इकतीस रुपये खर्च हुए थे। तीसरे दर्जेकी यात्रामें भी मैं अकसर डाकगाड़ी छोड़ देता था, क्योंकि मैं जानता था कि उसमें अधिक भीड़ होती है। उसका किराया भी सवारी (पैसेन्जर) गाड़ीके तीसरे दर्जेके किरायेसे अधिक होता था। यह एक अड़चन तो थी ही।

तीसरे दर्जेके डिब्बोंमें गन्दगी और पाखानोंकी बुरी हालत तो जैसी आज है, वैसी ही उस समय भी थी। आज शायद थोड़ा सुधार हो गया हो तो बात अलग है। पर पहले और तीसरे दर्जेके बीच सुभीतोंका फरक मुझे किरायेके फरकसे कहीं ज्यादा जान पड़ा। तीसरे दर्जेके यात्री भेड़-बकरी समझे जाते हैं और सुभीतेके नाम पर उनको भेड़-बकरियोंके-से डिब्बे मिलते हैं। यूरोपमें तो मैंने तीसरे ही दर्जेमें यात्रा की थी। अनुभवकी दृष्टिसे एक बार पहले दर्जेमें भी यात्रा की थी। वहाँ मैंने पहले और तीसरे दर्जेके बीच यहाँके जैसा फरक नहीं देखा। दक्षिण अफ्रीकामें तीसरे दर्जेके यात्री अधिकतर हब्शी ही होते हैं। लेकिन वहाँके तीसरे दर्जेमें भी यहाँके तीसरे दर्जेसे अधिक सुविधायें हैं। कुछ प्रदेशोंमें तो वहाँ तीसरे दर्जेमें सोनेकी सुविधा भी रहती है और बैठकें गद्दीदार होती हैं। हर खण्डमें बैठनेवाले यात्रियोंकी संख्याकी मर्यादाका ध्यान रखा जाता है। यहाँ तो तीसरे दर्जेमें संख्याकी मर्यादा पाले जानेका मुझे कोई अनुभव ही नहीं है।

रेलवे-विभागकी ओरसे होनेवाली इन असुविधाओंके अलावा यात्रियोंकी गन्दी आदतें सुघड़ यात्रीके लिए तीसरे दर्जेकी यात्राको दण्ड-स्वरूप बना देती हैं। चाहे जहाँ थूकना, चाहे जहाँ कचरा डालना, चाहे जैसे और चाहे जब बीड़ी पीना, पान-तम्बाकू चबाना और जहाँ बैठे वहीं उसकी पिचकारियाँ छोड़ना, फर्श पर जूठन गिराना, चिल्ला-चिल्लाकर बातें करना, पासमें बैठे हुए आदमीकी सुख-सुविधाका विचार न करना और गन्दी बोली बोलना — यह तो सार्वत्रिक अनुभव है।

तीसरे दर्जेकी यात्राके अपने १९०२ के अनुभवमें और १९१५ से १९१९ तकके

मेरे दूसरी बारके ऐसे ही अखण्ड अनुभवमें मैंने बहुत अन्तर नहीं पाया। इस महाव्याधिका एक ही उपाय मेरी समझमें आया है, और वह यह है कि शिक्षित समाजको तीसरे दर्जेमें ही यात्रा करनी चाहिये और लोगोंकी आदतें सुधारनेका प्रयत्न करना चाहिये। इसके अलावा, रेलवे-विभागके अधिकारियोंको शिकायत कर-करके परेशान कर डालना चाहिये, अपने लिए कोई सुविधा प्राप्त करने या प्राप्त सुविधाकी रक्षा करनेके लिए घूस-रिश्वत नहीं देनी चाहिये और उनके एक भी गैरकानूनी व्यवहारको बरदाश्त नहीं करना चाहिये।

मेरा यह अनुभव है कि ऐसा करनेसे बहुत-कुछ सुधार हो सकता है। अपनी बीमारीके कारण मुझे सन् १९२० से तीसरे दर्जेकी यात्रा लगभग बन्द कर देनी पड़ी है, इसका दुःख और लज्जा मुझे सदा बनी रहती है। और वह भी ऐसे अवसर पर बन्द करनी पड़ी, जब तीसरे दर्जेके यात्रियोंकी तकलीफोंको दूर करनेका काम कुछ ठिकाने लग रहा था। रेलों और जहाजोंमें गरीब यात्रियोंको भोगने पड़ते कष्ट, उनकी अपनी कुटेवोंके कारण इन कष्टोंमें होनेवाली वृद्धि, व्यापारके निमित्तसे विदेशी व्यापारको सरकारकी ओरसे दी जानेवाली अनुचित सुविधायें, आदि बातें इस समय हमारे लोक-जीवनकी बिलकुल अलग और महत्त्वकी समस्या बन गयी हैं। अगर इसे हल करनेमें एक-दो चतुर और लगनवाले सज्जन अपना पूरा समय लगा दें, तो वह अधिक नहीं कहा जायगा।

पर तीसरे दर्जेकी यात्राकी इस चर्चाको अब यहीं छोड़कर मैं काशीके अनुभव पर आता हूँ। काशी स्टेशन पर मैं सबेरे उतरा। मुझे किसी पण्डेके ही यहाँ उतरना था। कई ब्राह्मणोंने मुझे घेर लिया। उनमें से जो मुझे थोड़ा सुघड़ और सज्जन लगा, उसका घर मैंने पसन्द किया। मेरा चुनाव अच्छा सिद्ध हुआ। ब्राह्मणके आँगनमें गाय बँधी थी। ऊपर एक कमरा था। उसमें मुझे ठहराया गया। मैं विधि-पूर्वक गंगा-स्नान करना चाहता था। तब तक मुझे उपवास रखना था। पण्डेने सब तैयारी की। मैंने उससे कह रखा था कि मैं सवा रुपयेसे अधिक दक्षिणा नहीं दे सकूँगा, अतएव उसीके लायक तैयारी वह करे। पण्डेने बिना झगड़ेके मेरी बिनती स्वीकार कर ली। वह बोला: "हम लोग अमीर-गरीब सब लोगोंको पूजा तो एकसी ही कराते हैं। दक्षिणा यजमानकी इच्छा और शक्ति पर निर्भर करती है।" मेरे खयालसे पण्डाजीने पूजा-विधिमें कोई गड़बड़ी नहीं की। लगभग बारह बजे इससे फुरसत पाकर मैं काशीविश्वनाथके दर्शन करने गया। वहाँ जो कुछ देखा उससे मुझे दुःख ही हुआ।

सन् १८९१ में जब मैं बम्बईमें वकालत करता था, तब एक बार प्रार्थना-समाजके मन्दिरमें 'काशीकी यात्रा' विषय पर व्याख्यान सुना था। अतएव थोड़ी निराशाके लिए तो मैं पहेलेसे तैयार ही था। पर वास्तवमें जो निराशा हुई, वह अपेक्षासे अधिक थी।

संकरी, फिसलनवाली गलीमें से होकर जाना था। शान्तिका नाम भी नहीं था। मक्खियोंकी भिनभिनाहट तथा यात्रियों और दुकानदारोंका कोलाहल मुझे असह्य प्रतीत हुआ।

जहाँ मनुष्य ध्यान और भगवत्-चिन्तनकी आशा रखता है, वहाँ उसे इनमें से कुछ भी नहीं मिलता! यदि ध्यानकी जरूरत हो, तो वह अपने अन्तरमें से पाना होगा। अवश्य ही मैंने ऐसी श्रद्धालु बहनोंको भी देखा, जिन्हें इस बातका बिलकुल पता न था कि उनके आसपास क्या हो रहा है। वे केवल अपने ध्यानमें ही निमग्न थीं। पर इसे प्रबन्धकोंका पुरुषार्थ नहीं माना जा सकता। काशी-विश्वनाथके आसपास शान्त, निर्मल, सुगन्धित और स्वच्छ वातावरण — बाह्य एवं आन्तरिक — उत्पन्न करना और उसे बनाये रखना प्रबन्धकोंका कर्तव्य होना चाहिये। इसके बदले वहाँ मैंने ठग दुकानदारोंका बाजार देखा, जिसमें नये-से-नये ढंगकी मिठाइयाँ और खिलौने बिकते थे।

मन्दिरमें पहुँचने पर दरवाजेके सामने बदबूदार सड़े हुए फूल मिले। अन्दर बढ़िया संगमरमरका फर्श था। पर किसी अन्धश्रद्धालुने उसे रुपयोंसे जड़वाकर खराब कर डाला था और रुपयोंमें मैल भर गया था।

मैं ज्ञानवापीके समीप गया। वहाँ मैंने ईश्वरको खोजा, पर वह न मिला। इससे मैं मन ही मन क्षुब्ध हो रहा था। ज्ञानवापीके आसपास भी गंदगी देखी। दक्षिणाके रूपमें कुछ चढ़ानेकी मेरी श्रद्धा नहीं थी। इसलिए मैंने सचमुच ही एक पाई चढ़ायी, जिससे पुजारी पण्डाजी तमतमा उठे। उन्होंने पाई फेंक दी। दो-चार गालियाँ देकर बोले, "तू यों अपमान करेगा तो नरकमें पड़ेगा।"

मैं शान्त रहा। मैंने कहा, "महाराज, मेरा तो जो होना होगा सो होगा, पर आपके मुँहमें गाली शोभा नहीं देती। यह पाई लेनी हो तो लीजिये, नहीं तो यह भी हाथसे जायेगी।" "जा, तेरी पाई मुझे नहीं चाहिये," कहकर उन्होंने मुझे दो-चार और सुना दीं। मैं पाई लेकर चल दिया। मैंने माना कि महाराजने पाई खोयी और मैंने बचायी। पर महाराज पाई खोनेवाले नहीं थे। उन्होंने मुझे वापस बुलाया और

कहा, "अच्छा, धर दे। मैं तेरे जैसा नहीं होना चाहता। मैं न लूँ, तो तेरा बुरा हो।"

मैंने चुपचाप पाई दे दी और लम्बी साँस लेकर चल दिया। इसके बाद मैं दो बार और काशी-विश्वनाथके दर्शन कर चुका हूँ, पर वह तो 'महात्मा' बननेके बाद। अतएव १९०२ के अनुभव तो फिर कहाँसे पाता! मेरा 'दर्शन' करनेवाले लोग मुझे दर्शन क्यों करने देते? 'महात्मा' के दुःख तो मेरे-जैसे 'महात्मा' ही जानते हैं। अलबत्ता, गन्दगी और कोलाहल तो मैंने पहलेके जैसा ही पाया।

किसीको भगवानकी दयाके विषयमें शंका हो, तो उसे ऐसे तीर्थक्षेत्र देखने चाहिये। वह महायोगी अपने नाम पर कितना ढोंग, अधर्म, पाखंड इत्यादि सहन करता है? उसने तो कह रखा है:

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।

अर्थात् 'जैसी करनी वैसी भरनी।' कर्मको मिथ्या कौन कर सकता है? फिर भगवानको बीचमें पड़नेकी जरूरत ही क्या है? वह तो अपने कानून बनाकर निवृत्त-सा हो गया है।

यह अनुभव लेकर मैं मिसेज बेसेण्टके दर्शन करने गया। मैं जानता था कि वे हाल ही बीमारीसे उठी हैं। मैंने अपना नाम भेजा। वे तुरन्त आयीं। मुझे तो दर्शन ही करने थे, अतएव मैंने कहा: "मुझे आपके दुर्बल स्वास्थ्यका पता है। मैं तो सिर्फ आपके दर्शन करने आया हूँ। दुर्बल स्वास्थ्यके रहते भी आपने मुझे मिलनेकी अनुमति दी, इसीसे मुझे संतोष है। मैं आपका अधिक समय नहीं लेना चाहता।"

यह कहकर मैंने बिदा ली।

२१. बम्बईमें स्थिर हुआ?

गोखलेकी बड़ी इच्छा थी कि मैं बम्बईमें बस जाऊँ, वहाँ बारिस्टरका धन्धा करूँ और उनके साथ सार्वजनिक सेवामें हाथ बँटाऊँ। उस समय सार्वजनिक सेवाका मतलब था, काँग्रेसकी सेवा। उनके द्वारा स्थापित संस्थाका मुख्य कार्य काँग्रेसकी व्यवस्था चलाना था।

मेरी भी यही इच्छा थी, पर काम मिलनेके बारेमें मुझे आत्म-विश्वास न था। पिछले अनुभवोंकी याद भूली नहीं थी। खुशामद करना मुझे विषतुल्य लगता था।

इस कारण पहले तो मैं राजकोटमें ही रहा। वहाँ मेरे पुराने हितैषी और मुझे

विलायत भेजनेवाले केवलराम मावजी दवे थे। उन्होंने मुझे तीन मुकदमे सौंपे। दो अपीलें काठियावाड़के ज्युडशियल असिस्टेण्टके सम्मुख थीं और एक इब्तदाई मुकदमा जामनगरमें था। यह मुकदमा महत्त्वपूर्ण था। मैंने इस मुकदमेकी जोखिम उठानेसे आनाकानी की। इस पर केवलराम बोल उठे, "हारेंगे तो हम हारेंगे न? तुमसे जितना हो सके, तुम करो। मैं भी तो तुम्हारे साथ रहूँगा ही न?"

इस मुकदमेमें मेरे सामने स्व. समर्थ थे। मैंने तैयारी ठीक की थी। यहाँके कानूनका तो मुझे बहुत ज्ञान नहीं था। केवलराम दवेने मुझे इस विषयमें पूरी तरह तैयार कर दिया था। मेरे दक्षिण अफ्रीका जानेसे पहले मित्र मुझे कहा करते थे कि सर फीरोजशाह मेहताको कानून-शहादत जबानी याद है और यही उनकी सफलताकी कुंजी है। मैंने इसे याद रखा था और दक्षिण अफ्रीका जाते समय यहाँका कानून-शहादत मैं टीकाके साथ पढ़ गया। इसके अतिरिक्त दक्षिण अफ्रीकाका अनुभव तो मुझे था ही।

मुकदमेमें हम विजयी हुए। इससे मुझमें कुछ विश्वास पैदा हुआ। उक्त दो अपीलोंके बारेमें तो मुझे शुरूसे ही कोई डर न था। इससे मुझे लगा कि यदि बम्बई जाऊँ तो वहाँ भी वकालत करनेमें कोई दिक्कत न होगी।

इस विषय पर आनेके पहले थोड़ा अंग्रेज अधिकारियोंके अविचार और अज्ञानका अपना अनुभव सुना दूँ। ज्युडीशियल असिस्टेण्ट कहीं एक जगह टिक कर नहीं बैठते थे। उनकी सवारी घूमती रहती थी -- आज यहाँ, कल वहाँ। जहाँ वे महाशय जाते थे, वहाँ वकीलों और मुवक्किलोंको भी जाना होता था। वकीलका मेहनताना जितना केन्द्रीय स्थान पर होता, उससे अधिक बाहर होता था। इसलिए मुवक्किलको सहज ही दुगना खर्च पड़ जाता था। पर जज इसका बिलकुल विचार न करता था।

इस अपीलकी सुनवाई वेरावलमें होनेवाली थी। वहाँ उन दिनों बड़े जोरका प्लेग था। मुझे याद है कि रोजके पचास केस होते थे। वहाँकी आबादी ५,५०० के लगभग थी। गाँव प्रायः खाली हो गया था। मैं वहाँकी निर्जन धर्मशालामें टिका था। वह गाँव से कुछ दूर थी। पर बेचारे मुवक्किल क्या करते? यदि वे गरीब होते तो एक भगवान ही उनका मालिक था।

मेरे नाम वकील मित्रोंका तार आया था कि मैं साहबसे प्रार्थना करूँ कि प्लेगके कारण वे अपना मुकाम बदल दें। प्रार्थना करने पर साहबने मुझसे पूछा, "आपको कुछ डर लगता है?"

मैंने कहा, "सवाल मेरे डरनेका नहीं है। मैं मानता हूँ कि मैं अपना प्रबन्ध कर लूँगा, पर मुवक्किलोंका क्या होगा?"

साहब बोले: "प्लेगने तो हिन्दुस्तानमें घर कर लिया है। उससे क्या डरना? वेरावलकी हवा कैसी सुन्दर है! (साहब गाँवसे दूर समुद्रकिनारे एक महलनुमा तंबूमें रहते थे।) लोगोंको इस तरह बाहर रहना सीखना चाहिये।"

इस फिलासफीके आगे मेरी क्या चलती? साहबने सरिश्तेदारसे कहा, "मि० गांधीकी बातको ध्यानमें रखिये और अगर वकीलों तथा मुवक्किलोंको बहुत असुविधा होती हो तो मुझे बतलाइये।"

इसमें साहबने तो शुद्ध भावसे अपनी समझके अनुसार ठीक ही किया। पर उन्हें कंगाल हिन्दुतानकी मुश्किलोंका अंदाज कैसे हो सकता था? वे बेचारे हिन्दुस्तानकी आवश्यकताओं, भली-बुरी आदतों और रीति-रिवाजोंको क्योंकर समझ सकते थे? जिसे गिन्नियोंमें गिनती करनेकी आदत हो, उसे पाइयोंमें हिसाब लगानेको कहिये, तो वह झटसे हिसाब कैसे कर सकेगा? अत्यन्त शुभ हेतु रखते हुए भी जिस तरह हाथी चींटीके लिए विचार करनेमें असमर्थ होता है, उसी तरह हाथीकी आवश्यकतावाला अंग्रेज चींटीकी आवश्यकतावाले भारतीयके लिए विचार करने या नियम बनानेमें असमर्थ ही होगा।

अब मूल विषय पर आता हूँ।

ऊपर बताये अनुसार सफलता मिलनेके बाद भी मैं कुछ समयके लिए राजकोटमें ही रहनेकी बात सोच रहा था। इतनेमें एक दिन केवलराम मेरे पास आये और बोले: "गांधी, तुमको यहाँ नहीं रहने दिया जायगा। तुम्हें तो बम्बई ही जाना होगा।"

"लेकिन वहाँ मुझे पूछेगा कौन? क्या मेरा खर्च आप चलायेंगे?"

"हाँ, हाँ; मैं तुम्हारा खर्च चलाऊँगा। तुम्हें बड़े बारिस्टरकी तरह कभी-कभी यहाँ ले आया करूँगा और लिखा-पढ़ी वगैराका काम तुमको वहाँ भेजता रहूँगा। बारिस्टरोंको छोटा-बड़ा बनाना तो हम वकीलोंका काम है न? तुमने अपनी योग्यताका प्रमाण तो जामनगर और वेरावलमें दे ही दिया है, इसलिए मैं निश्चिन्त हूँ। तुम सार्वजनिक कामके लिए सिरजे गये हो, तुम्हें हम काठियावाड़में दफन न होने देंगे। कहो, कब रवाना होते हो?"

"नेटालसे मेरे कुछ पैसे आने बाकी हैं, उनके आने पर चला जाऊँगा।"

पैसे एक-दो हफ्तोंमें आ गये और मैं बम्बई पहुँचा। पेइन, गिलबर्ट और सयानीके

दफ्तरमें 'चेम्बर्स' (कमरे) किराये पर लिये और मुझे लगा कि अब मैं बम्बईमें स्थिर हो गया।

२२. धर्म-संकट

मैंने जैसे दफ्तर किराये पर लिया, वैसे ही गिरगाँवमें घर भी लिया। पर ईश्वरने मुझे स्थिर न होने दिया। घर लिये अधिक दिन नहीं हुए थे कि इतनेमें मेरा दूसरा लड़का बहुत बीमार हो गया। उसे कालज्वरने जकड़ लिया। ज्वर उतरता न था। बेचैनी भी थी। फिर रातमें सन्निपातके लक्षण भी दिखायी पड़े। इस बीमारीके पहले बचपनमें उसे चेचक भी बहुत जोरकी निकल चुकी थी।

मैंने डॉक्टरकी सलाह ली। उन्होंने कहा, "इसके लिए दवा बहुत कम उपयोगी होगी। इसे तो अण्डे और मुर्गीका शोरवा देनेकी जरूरत है।"

मणिलालकी उमर दस सालकी थी। उससे मैं क्या पूछता? अभिभावक होनेके नाते निर्णय तो मुझीको करना था। डॉक्टर एक बहुत भले पारसी थे। मैंने कहा, "डॉक्टर, हम सब अन्नाहारी हैं। मेरी इच्छा अपने लड़केको इन दोमें से एक भी चीज देनेकी नहीं होती। क्या दूसरा कोई उपाय नहीं?"

डॉक्टर बोले: "आपके लड़केके प्राण संकटमें हैं। दूध और पानी मिलाकर दिया जा सकता है, पर इससे उसे पूरा पोषण नहीं मिल सकेगा। जैसा कि आप जानते हैं, मैं बहुतेरे हिन्दू कुटुम्बोंमें जाता हूँ। पर दवाके नाम पर तो हम उन्हें जो भी चीज दें, वे ले लेते हैं। मैं सोचता हूँ कि आप अपने लड़के पर ऐसी सख्ती न करें तो अच्छा हो।"

"आप कहते हैं, सो ठीक है। आपको यही कहना भी चाहिये। मेरी जिम्मेदारी बहुत बड़ी है। लड़का बड़ा होता तो मैं अवश्य ही उसकी इच्छा जाननेका प्रयत्न करता और वह जो चाहता उसे करने देता। यहाँ तो मुझे ही इस बालकके बारेमें निर्णय करना है। मेरा खयाल है कि मनुष्यके धर्मकी परीक्षा ऐसे ही समय होती है। सही हो या गलत, पर मैंने यह धर्म माना है कि मनुष्यको मांसादिक न खाना चाहिये। जीवनके साधनोंकी भी सीमा होती है। कुछ बातें ऐसी हैं, जो जीनेके लिए भी हमें नहीं करनी चाहिये। मेरे धर्मकी मर्यादा मुझे अपने लिए और अपने परिवारवालोंके लिए ऐसे समय भी मांस इत्यादिका उपयोग करनेसे रोकती है।

इसलिए मुझे वह जोखिम उठानी ही होगी, जिसकी आप कल्पना करते हैं। पर आपसे मैं एक चीज माँग लेता हूँ। आपका उपचार तो मैं नहीं करूँगा, किन्तु मुझे इस बच्चेकी छाती, नाड़ी इत्यादि देखना नहीं आता। मुझे पानीके उपचारोंका थोड़ा ज्ञान है। मैं उन उपचारोंको आजमाना चाहता हूँ। पर यदि आप बीच-बीचमें मणिलालकी तबीयत देखने आते रहेंगे और उसके शरीरमें होनेवाले फेरफारोंकी जानकारी मुझे देते रहेंगे, तो मैं आपका उपकार मानूँगा।''

सज्जन डॉक्टरने मेरी कठिनाई समझ ली और मेरी प्रार्थनाके अनुसार मणिलालको देखने आना कबूल कर लिया।

यद्यपि मणिलाल स्वयं निर्णय करनेकी स्थितिमें नहीं था, फिर भी मैंने उसे डॉक्टरके साथ हुई चर्चा सुना दी और उससे कहा कि वह अपनी राय बतावे।

''आप खुशीसे पानीके उपचार कीजिये। मुझे न शोरवा पीना है, और न अंडे खाने हैं।''

इस कथनसे मैं खुश हुआ, यद्यपि मैं समझता था कि मैंने उसे ये दोनों चीजें खिलायी होतीं तो वह खा भी लेता।

मैं कूने*के उपचार जानता था। उसके प्रयोग भी मैंने किये थे। मैं यह भी जानता था कि बीमारीमें उपवासका बड़ा स्थान है। मैंने मणिलालको कूनेकी रीतिसे कटिस्नान कराना शुरू किया। मैं उसे तीन मिनटसे ज्यादा टबमें नहीं रखता था। तीन दिन तक उसे केवल पानी मिलाये हुए संतरेके रस पर रखा।

बुखार उतरता न था। रात वह अंट-संट बकता था। तापमान १०४ डिग्री तक जाता था। मैं घबराया। यदि बालकको खो बैठा तो दुनिया मुझे क्या कहेगी? बड़े भाई क्या कहेंगे? दूसरे डॉक्टरको क्यों न बुलाया जाय? वैद्यको क्यों न बुलाया जाय? अपनी ज्ञानहीन बुद्धि लड़ानेका माता-पिताको क्या अधिकार है?

एक ओर ऐसे विचार आते थे; तो दूसरी ओर इस तरहके विचार भी आते थे:

'हे जीव! तू जो अपने लिए करता, वही लड़केके लिए भी करे, तो परमेश्वरको संतोष होगा। तुझे पानीके उपचार पर श्रद्धा है, दवा पर नहीं। डॉक्टर रोगीको प्राणदान नहीं देता। वह भी तो प्रयोग ही करता है। जीवनकी डोर तो एक ईश्वरके ही हाथमें है। ईश्वरका नाम लेकर, उस पर श्रद्धा रख कर, तू अपना मार्ग मत छोड़।'

---

* लुई कूने।

मनमें इस तरहका मन्थन चल रहा था। रात पड़ी। मैं मणिलालको बगलमें लेकर सोया था। मैंने उसे भिगोकर निचोयी हुई चादरमें लपेटनेका निश्चय किया। मैं उठा। चादर ली। उसे ठंडे पानीमें भिगोया। निचोया। उसमें उसे सिरसे पैर तक लपेट दिया। ऊपरसे दो कम्बल ओढ़ा दिये। सर पर गीला तौलिया रखा। बुखारसे शरीर तवेकी तरह तप रहा था और बिलकुल सूखा था। पसीना आता ही न था।

मैं बहुत थक गया था। मणिलालको उसकी माँके जिम्मे करके मैं आधे घंटेके लिए चौपाटी पर चला गया - थोड़ी हवा खाकर ताजा होने और शांति प्राप्त करनेके लिए। रातके करीब दस बजे होंगे। लोगोंका आना-जाना कम हो गया था। मुझे बहुत कम होश था। मैं विचार-सागरमें गोते लगा रहा था। हे ईश्वर! इस धर्म-संकटमें तू मेरी लाज रखना। 'राम-राम' की रटन तो मुँहमें थी ही। थोडे चक्कर लगाकर धडकती छातीसे वापस आया। घरमें पैर रखते ही मणिलालने मुझे पुकारा: "बापू, आप आ गये?"

"हाँ, भाई।"

"मुझे अब इसमें से निकालिये न? मैं जला जा रहा हूँ।"

"क्यों, क्या पसीना छूट रहा है?"

"मैं तो भीग गया हूँ। अब मुझे निकालिये न, बापूजी!"

मैंने मणिलालका माथा देखा। माथे पर पसीनेकी बूंदें दिखाई दीं। बुखार कम हो रहा था। मैंने ईश्वरका आभार माना।

"मणिलाल, अब तुम्हारा बुखार चला जायगा। अभी थोड़ा और पसीना नहीं आने दोगे?"

"नहीं बापूजी! अब तो मुझे निकाल लीजिये। फिर दुबारा और लपेटना हो तो लपेट दीजियेगा।"

मुझे धीरज आ गया था, इसलिए उसे बातोंमें उलझा कर कुछ मिनट और निकाल दिये। उसके माथेसे पसीनेकी धारायें बह चलीं। मैंने चादर खोली, शरीर पोंछा और बाप-बेटे साथ सो गये। दोनोंने गहरी नींद ली।

सवेरे मणिलालका बुखार हलका हो गया था। दूध और पानी तथा फलोंके रस पर वह चालीस दिन रहा। मैं निर्भय हो चुका था। ज्वर हठीला था, पर वशमें आ गया था। आज मेरे सब लड़कोंमें मणिलालका शरीर सबसे अधिक सशक्त है।

मणिलालका नीरोग होना रामकी देन है, अथवा पानीके उपचारकी, अल्पाहारकी

और सार-संभालकी, इसका निर्णय कौन कर सकता है? सब अपनी-अपनी श्रद्धाके अनुसार जैसा चाहें, करें। मैंने तो यह जाना कि ईश्वरने मेरी लाज रखी, और आज भी मैं यही मानता हूँ।

२३. फिर दक्षिण अफ्रीका

मणिलाल स्वस्थ तो हुआ, पर मैंने देखा कि गिरगाँववाला घर रहने योग्य नहीं था। उसमें सील थी। पर्याप्त उजेला नहीं था। अतएव रेवाशंकरभाईसे सलाह करके हम दोनोंने बम्बईके किसी उपनगरमें खुली जगह बंगला लेनेका निश्चय किया। मैं बांदरा, सांताक्रूज वगैरामें भटका। बांदरामें कसाइखाना था, इसलिए वहाँ रहनेकी हममें से किसीकी इच्छा न हुई। घाटकोपर वगैरा समुद्रसे दूर लगे। आखिर सांताक्रूजमें एक सुन्दर बंगला मिल गया। हम उसमें रहने गये और हमने यह अनुभव किया कि आरोग्यकी दृष्टिसे हम सुरक्षित हो गये हैं। मैंने चर्चगेट जानेके लिए पहले दर्जेका पास खरीद लिया। पहले दर्जेमें अकसर मैं अकेला ही होता था, इससे कुछ गर्वका भी अनुभव करता था, ऐसा याद पड़ता है। कई बार बांदरासे चर्चगेट जानेवाली खास ट्रेन पकड़नेके लिए मैं सांताक्रूजसे बांदरा तक पैदल जाता था।

मैंने देखा कि मेरा धंधा आर्थिक दृष्टिसे मेरी अपेक्षासे अधिक अच्छा चल निकला। दक्षिण अफ्रीकाके मुवक्किल मुझे कुछ-न-कुछ काम देते रहते थे। मुझे लगा कि उससे मेरा खर्च सरलता-पूर्वक चल जायगा।

हाईकोर्टका काम तो मुझे अभी कुछ मिलता न था। पर उन दिनों 'मूट'* (चर्चा) चलती थी, उसमें मैं जाया करता था। चर्चामें सम्मिलित होनेकी हिम्मत नहीं थी। मुझे याद है कि उसमें जमियतराम नानाभाई अच्छा हिस्सा लेते थे। दूसरे नये बारिस्टरोंकी तरह मैं भी हाईकोर्टमें मुकदमे सुनने जाया करता था। वहाँ जो कुछ जाननेको मिलता, उसकी तुलनामें समुद्रकी फरफराती हुई हवामें झपकियाँ लेनेमें अधिक आनन्द आता था। मैं दूसरे साथियोंको भी झपकियाँ लेते देखता था, इससे मुझे शरम न मालूम होती थी। मैंने देखा कि झपकियाँ लेना फैशनमें शुमार हो गया था।

---

* अभ्यासके लिए फर्जी मुकदमेमें बहस करना।

मैंने हाईकोर्टके पुस्तकालयका उपयोग करना शुरू किया और वहाँ कुछ जान-पहचान भी शुरू की। मुझे लगा कि थोड़े समयमें मैं भी हाईकोर्टमें काम करने लगूँगा।

इस प्रकार एक ओरसे मेरे धंधेमें कुछ निश्चिन्तता आने लगी।

दूसरी ओर गोखलेकी आँख तो मुझ पर लगी ही रहती थी। हफ्तेमें दो-तीन बार चेम्बरमें आकर वे मेरी कुशल पूछ जाते और कभी-कभी अपने खास मित्रोंको भी साथमें लाया करते थे। अपनी कार्य-पद्धतिसे भी वे मुझे परिचित करते रहते थे।

पर यह कहा जा सकता है कि मेरे भविष्यके बारेमें ईश्वरने मेरा सोचा कुछ भी न होने दिया।

मैंने सुस्थिर होनेका निश्चय किया और थोड़ी स्थिरता अनुभव की कि अचानक दक्षिण अफ्रीकाका तार मिला: "चेम्बरलेन यहाँ आ रहे हैं, आपको आना चाहिये।" मुझे अपने वचनका स्मरण तो था ही। मैंने तार दिया: "मेरा खर्च भेजिये, मैं आनेको तैयार हूँ।" उन्होंने तुरन्त रुपये भेज दिये और मैं दफ्तर समेट कर रवाना हो गया।

मैंने सोचा था कि मुझे एक वर्ष तो सहज ही लग जायगा। इसलिए बंगला रहने दिया और बाल-बच्चोंको वहीं रखना उचित समझा।

उस समय मैं मानता था कि जो नौजवान देशमें कोई कमाई न करते हों और साहसी हों, उनके लिए परदेश चला जाना अच्छा है। इसलिए मैं अपने साथ चार-पाँच नौजवानोंको लेता गया। उनमें मगनलाल गांधी भी थे।

गांधी-कुटुम्ब बड़ा था। आज भी है। मेरी भावना यह थी कि उनमें से जो स्वतंत्र होना चाहें, वे स्वतंत्र हो जायें। मेरे पिता कइयोंको निभाते थे, पर रियासती नौकरीमें। मुझे लगा कि वे इस नौकरीसे छूट सकें तो अच्छा हो। मैं उन्हें नौकरियाँ दिलानेमें मदद नहीं कर सकता था। शक्ति होती तो भी ऐसा करनेकी मेरी इच्छा न थी। मेरी धारणा यह थी कि वे और दूसरे लोग भी स्वावलम्बी बनें तो अच्छा हो।

पर आखिर तो जैसे-जैसे मेरे आदर्श आगे बढ़ते गये (ऐसा मैं मानता हूँ), वैसे-वैसे इन नौजवानोंके आदर्शोंको भी मैंने अपने आदर्शोंकी ओर मोड़नेका प्रयत्न किया। उनमें मगनलाल गांधीको अपने मार्ग पर चलानेमें मुझे बहुत सफलता मिली। पर इस विषयकी चर्चा आगे करूँगा।

बाल-बच्चोंका वियोग, बसाये हुए घरको तोड़ना, निश्चित स्थितिमें से

अनिश्चितमें प्रवेश करना - यह सब क्षणभर तो अखरा। पर मुझे तो अनिश्चित जीवनकी आदत पड़ गयी थी। इस संसारमें, जहाँ ईश्वर अर्थात् सत्यके सिवा कुछ भी निश्चित नहीं है, निश्चितताका विचार करना ही दोषमय प्रतीत होता है। यह सब जो हमारे आसपास दीखता है और होता है, सो अनिश्चित है, क्षणिक है। उसमें जो एक परम तत्त्व निश्चित रूपसे छिपा हुआ है, उसकी झाँकी हमें हो जाय, उस पर हमारी श्रद्धा बनी रहे, तभी जीवन सार्थक होता है। उसकी खोज ही परम पुरुषार्थ है।

यह नहीं कहा जा सकता कि मैं डरबन एक दिन भी पहले पहुँचा। मेरे लिए वहाँ काम तैयार ही था। मि. चेम्बरलेनके पास डेप्युटेशनके जानेकी तारीख निश्चित हो चुकी थी। मुझे उनके सामने पढ़ा जानेवाला प्रार्थना-पत्र तैयार करना था और डेप्युटेशनके साथ जाना था।

१. किया-कराया चौपट?

मि० चेम्बरलेन दक्षिण अफ्रीकासे साढ़े तीन करोड़ पौण्ड लेने आये थे तथा अंग्रेजोंका और हो सके तो बोअरोंका मन जीतने आये थे। इसलिए भारतीय प्रतिनिधियोंको नीचे लिखा ठंडा जवाब मिला:

"आप तो जानते हैं कि उत्तरदायी उपनिवेशों पर साम्राज्य-सरकारका अंकुश नाममात्रका ही है। आपकी शिकायतें तो सच्ची जान पड़ती हैं। मुझसे जो हो सकेगा, मैं करूँगा। पर आपको जिस तरह भी बने, यहाँके गोरोंको रिझाकर रहना है।"

जवाब सुनकर प्रतिनिधि ठंडे हो गये। मैं निराश हो गया। 'जब जागे तभी सबेरा' मानकर फिरसे श्रीगणेश करना होगा, यह बात मेरे ध्यानमें आ गयी और साथियोंको मैंने समझा दी।

मि० चेम्बरलेनका जवाब क्या गलत था? गोलमोल बात कहनेके बदले उन्होंने साफ बात कह दी। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस'का कानून उन्होंने थोड़े मीठे शब्दोंमें समझा दिया।

पर हमारे पास लाठी थी ही कहाँ? हमारे पास तो लाठीके प्रहार झेलने लायक शरीर भी मुश्किलसे थे।

मि० चेम्बरलेन कुछ हफ्ते ही रहनेवाले थे। दक्षिण अफ्रीका कोई छोटा-सा प्रान्त नहीं है। वह एक देश है, खण्ड है। अफ्रीकामें तो अनेक उपखण्ड समाये हुए हैं। यदि कन्याकुमारीसे श्रीनगर १९०० मील हैं, तो डरबनसे केपटाउन ११०० मीलसे कम नहीं है। इस खण्डमें मि० चेम्बरलेनको तूफानी दौरा करना था। वे ट्रान्सवालके लिए रवाना हुए। मुझे वहाँके भारतीयोंका केस तैयार करके उनके सामने पेश करना था। प्रिटोरिया किस तरह पहुँचा जाय? वहाँ मैं समय पर पहुँच सकूँ, इसके लिए अनुमति प्राप्त करनेका काम हमारे लोगोंसे हो सकने जैसा न था।

युद्धके बाद ट्रान्सवाल उजाड़ जैसा हो गया था। वहाँ न खानेको अन्न था, न पहनने-ओढ़नेको कपड़े मिलते थे। खाली और बन्द पड़ी हुई दुकानोंको मालसे भरना

और खुलवाना था। यह तो धीरे-धीरे ही हो सकता था। जैसे-जैसे माल इकट्ठा होता जाय, वैसे-वैसे ही घरबार छोड़कर भागे हुए लोगोंको वापस आने दिया जा सकता था। इस कारण प्रत्येक ट्रान्सवालवासीको परवाना लेना पडता था। गोरोंको तो परवाना माँगते ही मिल जाता था। मुसीबत हिन्दुस्तानियोंकी थी।

लड़ाईके दिनोंमें हिन्दुस्तान और लंकासे बहुतसे अधिकारी और सिपाही दक्षिण अफ्रीका पहुँच गये थे। उनमें से जो लोग वहीं आबाद होना चाहें उनके लिए वैसी सुविधा कर देना ब्रिटिश राज्याधिकारियोंका कर्तव्य माना गया था। उन्हें अधिकारियोंका नया मण्डल तो बनाना ही था। उसमें इन अनुभवी अधिकारियोंका सहज ही उपयोग हो गया। इन अधिकारियोंकी तीव्र बुद्धिने एक नया विभाग ही खोज निकाला। उसमें उनकी कुशलता भी अधिक तो थी ही! हब्शियोंसे सम्बन्ध रखनेवाला एक अलग विभाग पहलेसे ही था। ऐसी दशामें एशियावासियोंके लिए भी एक विभाग क्यों न हो? दलील ठीक मानी गयी। यह नया विभाग मेरे दक्षिण अफ्रीका पहुँचनेसे पहले ही खुल चुका था और धीरे-धीरे अपना जाल बिछा रहा था। जो अधिकारी भागे हुओंको वापस आनेके परवाने देता था वही सबको दे सकता था। पर उसे यह कैसे मालूम हो कि एशियावासी कौन है? इसके समर्थनमें दलील यह दी गयी कि नये विभागकी सिफारिश पर ही अशियावासियोंको परवाने मिला करें, तो उस अधिकारीकी जिम्मेदारी कम हो जाय और उसका काम भी कुछ हलका हो जाय। वस्तुस्थिति यह थी कि नये विभागको कुछ कामकी और कुछ दामकी जरूरत थी। काम न हो तो इस विभागकी आवश्यकता सिद्ध न हो सके और फलतः वह बन्द हो जाय। अतएव उसे यह काम सहज ही मिल गया।

हिन्दुस्तानियोंको इस विभागमें अर्जी देनी पड़ती थी। फिर बहुत दिनों बाद उसका उत्तर मिलता था। ट्रान्सवाल जानेकी इच्छा रखनेवाले लोग अधिक थे। अतएव उनके लिए दलाल खड़े हो गये। इन दलालों और अधिकारियोंके बीच गरीब हिन्दुस्तानियोंके हजारों रुपये लुट गये। मुझसे कहा गया था कि बिना वसीलेके परवाना मिलता ही नहीं और कई बार तो वसीले या जरियेके होते हुए भी प्रति व्यक्ति सौ-सौ पौण्ड तक खर्च हो जाते हैं। इसमें मेरा ठिकाना कहाँ लगता?

मैं अपने पुराने मित्र डरबनके पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्टके पास पहुँचा और उनसे कहा, "आप मेरा परिचय परवाना देनेवाले अधिकारीसे करा दीजिये और मुझे परवाना दिला दीजिये। आप यह तो जानते हैं कि मैं ट्रान्सवालमें रहा हूँ।" वे तुरन्त

सिर पर टोप रखकर मेरे साथ आये और मुझे परवाना दिला दिया। मेरी ट्रेनको मुश्किलसे एक घंटा बाकी था। मैंने सामान वगैरा तैयार रखा था। सुपरिण्टेण्डेण्ट एलेक्जेण्डरका आभार मानकर मैं प्रिटोरियाके लिए रवाना हो गया।

मुझे कठिनाइयोंका ठीक-ठीक अंदाज हो गया था। मैं प्रिटोरिया पहुँचा। प्रार्थना-पत्र तैयार किया। डरबनमें प्रतिनिधियोंके नाम किसीसे पूछे गये हों, सो मुझे याद नहीं। लेकिन यहाँ नया विभाग काम कर रहा था। इसलिए प्रतिनिधियोंके नाम पहलेसे पूछ लिये गये थे। इसका हेतु मुझे अलग रखना था, ऐसा प्रिटोरियाके हिन्दुस्तानियोंको पता चल गया था।

यह दुःखद किन्तु मनोरंजक कहानी आगे लिखी जायगी।

२. एशियाई विभागकी नवाबशाही

नये विभागके अधिकारी समझ नहीं पाये कि मैं ट्रान्सवालमें दाखिल कैसे हो गया। उन्होंने अपने पास आने-जानेवाले हिन्दुस्तानियोंसे पूछा, पर वे बेचारे क्या जानते थे? अधिकारियोंने अनुमान किया कि मैं अपनी पुरानी जान-पहचानके कारण बिना परवानेके दाखिल हुआ होऊँगा और अगर ऐसा हो तो मुझे गिरफ्तार किया जा सकता है।

किसी बड़ी लड़ाईके बाद हमेशा ही कुछ समयके लिए राज्यकर्ताओंको विशेष सत्ता दी जाती है। दक्षिण अफ्रीकामें भी यही हुआ था। वहाँ शान्तिरक्षाके हेतु एक कानून बनाया गया था। इस कानूनकी एक धारा यह थी कि यदि कोई बिना परवानेके ट्रान्सवालमें दाखिल हो, तो उसे गिरफ्तार कर लिया जाय और कैदमें रखा जाय। इस धाराके आधार पर मुझे पकड़नेके लिए सलाह-मशविरा चला। पर मुझसे परवाना माँगनेकी हिम्मत किसीकी नहीं हुई।

अधिकारियोंने डरबन तार तो भेजे ही थे। जब उन्हें यह सूचना मिली कि मैं परवाना लेकर दाखिल हुआ हूँ, तो वे निराश हो गये। पर ऐसी निराशासे यह विभाग हिम्मत हारनेवाला नहीं था। मैं ट्रान्सवाल पहुँच गया था, लेकिन मुझे मि० चेम्बरलेनके पास न पहुँचने देनेमें यह विभाग अवश्य सफल हो सकता था।

इसलिए प्रतिनिधियोंके नाम माँगे गये। दक्षिण अफ्रीकामें रंगभेदका अनुभव तो जहाँ-तहाँ होता ही था, पर यहाँ हिन्दुस्तानकी-सी गन्दगी और चालबाजीकी बू

आयी। दक्षिण अफ्रीकामें शासनके साधारण विभाग जनताके लिए काम करते थे, इसलिए वहाँके अधिकारियोंमें एक प्रकारकी सरलता और नम्रता थी। इसका लाभ थोड़े-बहुत अंशमें काली-पीली चमड़ीवालोंको भी अनायास मिल जाता था। अब जब इससे भिन्न एशियाई वातावरणने प्रवेश किया, तो वहाँके जैसी निरंकुशता, वैसे-षड्यंत्र आदि बुराइयाँ भी आ घुसीं। दक्षिण अफ्रीकामें एक प्रकारकी लोकसत्ता थी, जब कि एशियासे तो निरी नवाबशाही ही आयी; क्योंकि वहाँ जनताकी सत्ता नहीं थी, बल्कि जनता पर ही सत्ता चलायी जाती थी। दक्षिण अफ्रीकामें गोरे घर बनाकर बस गये थे, इसलिए वे वहाँकी प्रजा माने गये। इस कारण अधिकारियों पर उनका अंकुश रहता था। इसमें एशियासे आये हुए निरंकुश अधिकारियोंने सम्मिलित होकर हिन्दुस्तानियोंकी स्थिति सरोतेके बीच सुपारी-जैसी कर डाली।

मुझे भी इस सत्ताका ठीक-ठीक अनुभव प्राप्त हुआ। पहले तो मुझे इस विभागके उच्चाधिकारीके पास बुलवाया गया। वे उच्चाधिकारी लंकासे आये थे। 'बुलवाया गया' प्रयोगमें कदाचित् अतिशयोक्तिका आभास हो सकता है, इसलिए थोड़ी अधिक स्पष्टता कर दूँ। मेरे नाम उनका कोई पत्र नहीं आया था। पर मुख्य-मुख्य हिन्दुस्तानियोंको वहाँ बार-बार जाना ही पड़ता था। वैसे मुखियोंमें स्व० सेठ तैयब हाजी खानमुहम्मद भी थे। उनसे साहबने पूछा, "गांधी कौन है? वह क्यों आया है?"

तैयब सेठने जवाब दिया, "वे हमारे सलाहकार हैं। उन्हें हमने बुलाया है।"

साहब बोले, "तो हम सब यहाँ किस कामके लिए बैठे हैं? क्या हम आप लोगोंकी रक्षाके लिए नियुक्त नहीं हुए हैं? गांधी यहाँकी हालत क्या जाने?"

तैयब सेठने जैसा भी उनसे बना इस चोटका जवाब देते हुए कहा: "आप तो हैं ही, पर गांधी तो हमारे ही माने जायेंगे न? वे हमारी भाषा जानते हैं। हमें समझते हैं। आप तो आखिरकार अधिकारी ठहरे।"

साहबने हुकम दिया, "गांधीको मेरे पास लाना।"

तैयब सेठ आदिके साथ मैं गया। कुर्सी तो क्योंकर मिल सकती थी? हम सब खड़े रहे।

साहबने मेरी तरफ देखकर पूछा, "कहिये, आप यहाँ किसलिए आये हैं?"

मैंने जवाब दिया, "अपने भाइयोंके बुलाने पर मैं उन्हें सलाह देने आया हूँ।"

"पर क्या आप जानते नहीं कि आपको यहाँ आनेका अधिकार ही नहीं है? परवाना तो आपको भूलसे मिल गया है। आप यहाँके निवासी नहीं माने जा सकते।

आपको वापस जाना होगा। आप मि० चेम्बरलेनके पास नहीं जा सकते। यहाँके हिन्दुस्तानियोंकी रक्षा करनेके लिए तो हमारा विभाग विशेष रूपसे खोला गया है। अच्छा, जाइये।''

इतना कहकर साहबने मुझे बिदा किया। मुझे जवाब देनेका अवसर ही न दिया।

दूसरे साथियोंको रोक लिया। उन्हें साहबने धमकाया और सलाह दी कि वे मुझे ट्रान्सवालसे बिदा कर दें।

साथी कड़वा मुँह लेकर लौटे। यों एक नई ही पहेली अनपेक्षित रूपसे हमारे सामने हल करनेके लिए खड़ी हो गयी।

३. कड़वा घूँट पिया

इस अपमानसे मुझे बहुत दुःख हुआ। पर पहले मैं ऐसे अपमान सहन कर चुका था, इससे पक्का हो गया था। अतएव मैंने अपमानकी परवाह न करते हुए तटस्थता-पूर्वक जब जो कर्तव्य मुझे सूझ जाय, सो करते रहनेका निश्चय किया।

उक्त अधिकारीके हस्ताक्षरोंवाला पत्र मिला। उसमें लिखा था कि मि० चेम्बरलेन डरबनमें मि० गांधीसे मिल चुके हैं, इसलिए अब उनका नाम प्रतिनिधियोंमें से निकाल डालनेकी जरूरत है।

साथियोंको यह पत्र असह्य प्रतीत हुआ। उन्होंने अपनी राय दी कि डेप्युटेशन ले जानेका विचार छोड़ दिया जाय। मैंने उन्हें हमारे समाजकी विषम स्थिति समझायी: ''अगर आप मि० चेम्बरलेनके पास नहीं जायेंगे, तो यह माना जायगा कि यहाँ हमें कोई कष्ट है ही नहीं। आखिर जो कहना है सो तो लिखकर ही कहना है और वह तैयार है। मैं पढ़ूँ या दूसरा कोई पढ़े, इसकी चिन्ता नहीं है। मि० चेम्बरलेन हमसे कोई चर्चा थोड़े ही करनेवाले हैं! मेरा जो अपमान हुआ है, उसे हमें पी जाना पड़ेगा।''

मैं यों कह ही रहा था कि इतनेमें तैयब सेठ बोल उठे: ''पर आपका अपमान सारे भारतीय समाजका अपमान है। आप हमारे प्रतिनिधि हैं, इसे कैसे भुलाया जा सकता है?''

मैंने कहा, ''यह सच है, पर समाजको भी ऐसे अपमान पी जाने पड़ेंगे। हमारे पास दूसरा इलाज ही क्या है?''

तैयब सेठने जवाब दिया: "भले जो होना हो सो हो, पर जानबूझकर दूसरा अपमान क्यों सहा जाय? बिगाड़ तो यों भी हो ही रहा है। हमें हक ही कौनसे मिले हैं?"

मुझे यह जोश अच्छा लगता था। पर मैं जानता था कि इसका उपयोग नहीं किया जा सकता। मुझे अपने समाजकी मर्यादाका अनुभव था। अतएव मैंने साथियोंको शान्त किया और मेरे बदले स्व० जॉर्ज गॉडफ्रेको, जो हिन्दुस्तानी बारिस्टर थे, ले जानेकी सलाह दी।

अतः मि० गॉडफ्रे डेप्युटेशनके नेता बने। मेरे बारेमें मि० चेम्बरलेनने थोड़ी चर्चा भी की; 'एक ही व्यक्तिको दूसरी बार सुननेकी अपेक्षा नयेको सुनना अधिक उचित है' - आदि बातें कहकर उन्होंने किये हुए घावको भरनेका प्रयत्न किया।

पर इससे समाजका और मेरा काम बढ़ गया, पूरा न हुआ। पुनः 'ककहरे' से आरम्भ करना आवश्यक हो गया। "आपके कहनेसे समाजने लड़ाईमें हिस्सा लिया, पर परिणाम तो यही निकला न?" इस तरह ताना मारनेवाले भी समाजमें निकल आये। पर मुझ पर इन तानोंका कोई असर नहीं हुआ। मैंने कहा, "मुझे इस सलाहका पछतावा नहीं है। मैं अब भी यह मानता हूँ कि हमने लड़ाईमें भाग लेकर ठीक ही किया है। वैसा करके हमने अपने कर्तव्यका पालन किया है। हमें उसका फल चाहे देखनेको न मिले, पर मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि शुभ कार्यका फल शुभ ही होता है। बीती बातोंका विचार करनेकी अपेक्षा अब हमारे लिए अपने वर्तमान कर्तव्यका विचार करना अधिक अच्छा होगा। अतएव हम उसके बारेमें सोचें।"

दूसरोंने भी इस बातका समर्थन किया।

मैंने कहा: "सच तो यह है कि जिस कामके लिए मुझे बुलाया गया था, वह अब पूरा हुआ माना जायगा। पर मैं मानता हूँ कि आपके मुझे छुट्टी दे देने पर भी अपने बसभर मुझे ट्रान्सवालसे हटना नहीं चाहिये। मेरा काम अब नेटालसे नहीं, बल्कि यहाँसे चलना चाहिये। एक सालके अन्दर वापस जानेका विचार मुझे छोड़ देना चाहिये और यहाँकी वकालतकी सनद हासिल करनी चाहिये। इस नये विभागसे निबट लेनेकी हिम्मत मुझमें है। यदि हमने मुकाबला न किया तो समाज लुट जायगा और शायद यहाँसे उसके पैर भी उखड़ जायेंगे। समाजका अपमान और तिरस्कार रोज-रोज बढ़ता ही जायगा। मि० चेम्बरलेन मुझसे नहीं मिले, उक्त अधिकारीने मेरे साथ तिरस्कारपूर्ण व्यवहार किया, यह तो सारे समाजके अपमानकी तुलनामें कुछ भी नहीं है। यहाँ हमारा कुत्तोंकी तरह रहना बरदाश्त किया ही नहीं जा सकता।"

इस प्रकार मैंने चर्चा चलायी। प्रिटोरिया और जोहानिस्बर्गमें रहनेवाले भारतीय नेताओंसे विचार-विमर्श करके अन्तमें जोहानिस्बर्गमें दफ्तर रखनेका निश्चय हुआ।

ट्रान्सवालमें मुझे वकालतकी सनद मिलनेके बारेमें भी शंका तो थी ही। पर वकील-मण्डलकी ओरसे मेरे प्रार्थना-पत्रका विरोध नहीं हुआ और बड़ी अदालतने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर ली।

हिन्दुस्तानीको अच्छे स्थानमें आफिसके लिए घर मिलना भी कठिन काम था। मि० रीचके साथ मेरा अच्छा परिचय हो गया था। उस समय वे व्यापारी-वर्गमें थे। उनकी जान-पहचानके हाउस-एजेण्टके द्वारा मुझे आफिसके लिए अच्छी बस्तीमें घर मिल गया और मैंने वकालत शुरू कर दी।

४. बढ़ती हुई त्यागवृत्ति

ट्रान्सवालमें भारतीय समाजके अधिकारोंके लिए किस प्रकार लड़ना पड़ा, और एशियाई विभागके अधिकारियोंके साथ कैसा व्यवहार करना पड़ा, इसका वर्णन करनेसे पहले मेरे जीवनके दूसरे अंग पर दृष्टि डाल लेना आवश्यक है।

अब तक कुछ द्रव्य इकट्ठा करनेकी मेरी इच्छा थी। परमार्थके साथे स्वार्थका मिश्रण था।

जब बम्बईमें दफ्तर खोला, तो एक अमेरिकन बीमा-एजेण्ट मिलने आया था। उसका चेहरा सुन्दर था और बातें मीठी थी। उसने मेरे साथ मेरे भावी हितकी बातें ऐसे ढंगसे कीं मानो हम पुराने मित्र हों; "अमेरिकामें तो आपकी स्थितिके सब लोग अपने जीवनका बीमा कराते हैं। आपको भी ऐसा करके भविष्यके विषयमें निश्चिन्त हो जाना चाहिये। जीवनका भरोसा है ही नहीं। अमेरिकामें तो हम बीमा कराना अपना धर्म समझते हैं। क्या मैं आपको एक छोटी-सी पॉलिसी लेनेके लिए ललचा नहीं सकता?"

तब एक दक्षिण अफ्रीकामें और हिन्दुस्तानमें बहुतसे एजेण्टोंकी बात मैंने मानी नहीं थी। मैं सोचता था कि बीमा करानेमें कुछ भीरुता और ईश्वरके प्रति अविश्वास रहता है। पर इस बार मैं लालचमें आ गया। वह एजेण्ट जैसे-जैसे बातें करता जाता, वैसे-वैसे मेरे सामने पत्नी और बच्चोंकी तसवीर खड़ी होती जाती। "भले आदमी, तुमने पत्नीके सब गहने बेच डाले हैं। यदि कल तुम्हें कुछ हो जाय, तो पत्नी और

बच्चोंके भरण-पोषणका भार उन गरीब भाई पर ही पड़ेगा न, जिन्होंने पिताका स्थान लिया है और उसे सुशोभित किया है? यह उचित न होगा।'' मैंने अपने मनके साथ इस तरहकी दलीलें कीं और रु० १०,००० का बीमा करा लिया।

पर दक्षिण अफ्रीकामें मेरी स्थिति बदल गयी और फलतः मेरे विचार भी बदल गये। दक्षिण अफ्रीकाकी नयी आपत्तिके समय मैंने जो क़दम उठाये, सो ईश्वरको साक्षी रखकर ही उठाये थे। दक्षिण अफ्रीकामें मेरा कितना समय चला जायगा, इसकी मुझे कोई कल्पना नहीं थी। मैंने समझ लिया था कि मैं हिन्दुस्तान वापस नहीं जा पाऊँगा। मुझे अपने बाल-बच्चोंको साथ ही रखना चाहिये। अब उनका वियोग बिलकुल नहीं होना चाहिये। उनके भरण-पोषणकी व्यवस्था भी दक्षिण अफ्रीकामें ही होनी चाहिये। इस प्रकार सोचनेके साथ ही उक्त पॉलिसी मेरे लिए दुःखद बन गयी। बीमा-एजेण्टके जालमें फँस जानेके लिए मैं लज्जित हुआ। ''यदि बड़े भाई पिताके समान हैं, तो छोटे भाईकी विधवाके बोझको वे भारी समझेंगे यह तूने कैसे सोच लिया? यह भी क्यों माना कि तू ही पहले मरेगा? पालन करनेवाला तो ईश्वर है। न तू है, न भाई हैं। बीमा कराकर तूने अपने बाल-बच्चोंको भी पराधीन बना दिया है। वे स्वावलंबी क्यों न बनें? असंख्य गरीबोंके बाल-बच्चोंका क्या होता है? तू अपनेको उन्हींके समान क्यों नहीं मानता?''

इस प्रकार विचारधारा चली। उस पर अमल मैंने तुरन्त ही नहीं किया था। मुझे याद है कि बीमेकी एक किस्त तो मैंने दक्षिण अफ्रीकासे भी भेजी थी।

पर इस विचार-प्रवाहको बाहरका उत्तेजन मिला। दक्षिण अफ्रीकाकी पहली यात्रामें मैं ईसाई वातावरणके सम्पर्कमें आकर धर्मके प्रति जाग्रत बना था। इस बार मैं थियॉसॉफीके वातावरणके संसर्गमें आया। मि० रीच थियॉसॉफिस्ट थे। उन्होंने मेरा सम्बन्ध जोहानिस्बर्गकी सोसायटीसे करा दिया। मैं उसका सदस्य तो नहीं ही बना। थियॉसॉफीके सिद्धान्तोंसे मेरा मतभेद बना रहा। फिर भी मैं लगभग हरएक थियॉसॉफिस्टके गाढ़ परिचयमें आया। उनके साथ रोज मेरी धर्म-चर्चा होती थी। मैं उनकी पुस्तकें पढ़ता था। उनकी सभामें बोलनेके अवसर भी मुझे आते थे। थियॉसॉफीमें भाईचारा स्थापित करना और बढ़ाना मुख्य वस्तु है। हम लोग विषयकी खूब चर्चा करते थे और जहाँ मैं इस सिद्धान्तमें और सदस्योंके आचरणमें भेद पाता, वहाँ आलोचना भी करता था। स्वयं मुझ पर इस आलोचनाका काफी प्रभाव पड़ा। मैं आत्म-निरीक्षण करना सीख गया।

८. निरीक्षणका परिणाम

सन् १८९३ में जब मैं ईसाई मित्रोंके निकट सम्पर्कमें आया, तब मैं केवल शिक्षार्थीकी स्थितिमें था। ईसाई मित्र मुझे बाइबलका संदेश सुनाने, समझाने और मुझसे उसको स्वीकार करानेका प्रयत्न करते थे। मैं नम्रतापूर्वक, तटस्थ भावसे उनकी शिक्षाको सुन और समझ रहा था। इस निमित्तसे मैंने हिन्दू धर्मका यथाशक्ति अध्ययन किया और दूसरे धर्मोंको समझनेकी कोशिश की। अब १९०३ में स्थिति थोड़ी बदल गयी। थियॉसॉफिस्ट मित्र मुझे अपने मण्डलमें सम्मिलित करनेकी इच्छा अवश्य रखते थे। पर उनका हेतु हिन्दूके नाते मुझसे कुछ प्राप्त करना था। थियॉसॉफीकी पुस्तकोंमें हिन्दू धर्मकी छाया और उसका प्रभाव तो काफी है ही। अतएव इन भाइयोंने मान लिया कि मैं उनकी सहायता कर सकूँगा। मैंने उन्हें समझाया कि संस्कृतका मेरा अध्ययन नहींके बराबर है। मैंने उसके प्राचीन धर्मग्रंथ संस्कृतमें नहीं पढ़े हैं। अनुवादोंके द्वारा भी मेरी पढ़ाई कम ही हुई है। फिर भी चूँकि वे संस्कार और पुनर्जन्मको मानते थे, इसलिए उन्होंने समझा कि मुझसे थोड़ी-बहुत सहायता तो मिलेगी ही और मैं 'निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते'* जैसी स्थितिमें आ पड़ा। किसीके साथ मैंने स्वामी विवेकानन्दका, तो किसीके साथ मणिलाल नभुभाईका 'राजयोग' पढ़ना शुरू किया। एक मित्रके साथ 'पातंजल-योगदर्शन' पढ़ना पड़ा। बहुतोंके साथ गीताका अभ्यास शुरू हुआ। 'जिज्ञासु-मण्डल'के नामसे एक छोटा-सा मण्डल भी स्थापित किया और नियमित अभ्यास होने लगा। गीताजी पर मुझे प्रेम और श्रद्धा तो थी ही। अब उसकी गहराईमें उतरनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई। मेरे पास एक-दो अनुवाद थे। उनकी सहायतासे मैंने मूल संस्कृत समझ लेनेका प्रयत्न किया और नित्य एक-दो श्लोक कण्ठ करनेका निश्चय किया।

प्रातः दातुन और स्नानके समयका उपयोग गीताके श्लोक कण्ठ करनेमें किया। दातुनमें प्रन्द्रह और स्नानमें बीस मिनट लगते थे। खड़े-खड़े करता था। सामनेकी दीवार पर गीताके श्लोक लिखकर चिपका देता था और आवश्यकतानुसार उन्हें देखता तथा घोखता जाता था। ये घोखे हुए श्लोक स्नान करने तक पक्के हो जाते

---

* जहाँ कोई वृक्ष न हो वहाँ एरंड ही वृक्ष बन जाता है।

थे। इस बीच पिछले कण्ठ किये हुए श्लोकोंको भी मैं एक बार दोहरा जाता था। इस प्रकार तेरह अध्याय तक कण्ठ करनेकी बात मुझे याद है। बादमें काम बढ़ गया। सत्याग्रहका जन्म होने पर उस बालकके लालन-पालनमें मेरा विचार करनेका समय भी बीतने लगा और कहना चाहिये कि आज भी बीत रहा है।

इस गीतापाठका प्रभाव मेरे सहाध्यायियों पर क्या पड़ा उसे वे जानें, परन्तु मेरे लिए तो वह पुस्तक आचारकी एक प्रौढ़ मार्गदर्शिका बन गयी। वह मेरे लिए धार्मिक कोशका काम देने लगी। जिस प्रकार नये अंग्रेजी शब्दोंके हिज्जों या उनके अर्थके लिए मैं अंग्रेजी शब्दकोश देखता था, उसी प्रकार आचार-संबंधी कठिनाइयों और उसकी अटपटी समस्याओंको मैं गीताजीसे हल करता था। उसके अपरिग्रह, समभाव आदि शब्दोंने मुझे पकड़ लिया। समभावका विकास कैसे हो, उसकी रक्षा किस प्रकार की जाय? अपमान करनेवाले अधिकारी, रिश्वत लेनेवाले अधिकारी, व्यर्थ विरोध करनेवाले कलके साथी इत्यादि और जिन्होंने बड़े-बड़े उपकार किये है ऐसे सज्जनोंके बीच भेद न करनेका क्या अर्थ है? अपरिग्रह किस प्रकार पाला जाता होगा? देहका होना ही कौन कम परिग्रह है? स्त्री-पुत्रादि परिग्रह नहीं तो और क्या है? ढेरों पुस्तकोंसे भरी इन अलमारियोंको क्या जला डालूँ? घर जलाकर तीर्थ करने जाऊँ? तुरन्त ही उत्तर मिला कि घर जलाये बिना तीर्थ किया ही नहीं जा सकता। यहाँ अंग्रेजी कानूनने मेरी मदद की। स्नेलकी कानूनी सिद्धान्तोंकी चर्चा याद आयी। गीताजीके अध्ययनके फलस्वरूप 'ट्रस्टी' शब्दका अर्थ विशेष रूपसे समझमें आया। कानून-शास्त्रके प्रति मेरा आदर बढ़ा। मुझे उसमें भी धर्मके दर्शन हुए। ट्रस्टीके पास करोड़ों रुपयोंके रहते हुए भी उनमेंकी एक भी पाई उसकी नहीं होती। मुमुक्षुको ऐसा ही बरताव करना चाहिये, यह बात मैंने गीताजीसे समझी। मुझे यह दीपककी तरह स्पष्ट दिखायी दिया कि अपरिग्रही बननेमें, समभावी होनेमें हेतुका, हृदयका परिवर्तन आवश्यक है। मैंने रेवाशंकरभाईको इन आशयका पत्र लिख भेजा कि बीमेकी पॉलिसी बन्द कर दें। कुछ रकम वापस मिले तो ले लें, न मिले तो भरे हुए पैसोंको गया समझ लें। बच्चोंकी और स्त्रीकी रक्षा उन्हें और हमें पैदा करनेवाला ईश्वर करेगा। पितृतुल्य भाईको लिखा: "आज तक तो मेरे पास जो बचा वह मैंने आपको अर्पण किया। अब मेरी आशा आप छोड़ दीजिये। अब जो बचेगा सो यहीं हिन्दुस्तानी समाजके हितमें खर्च होगा।"

भाईको यह बात मैं शीघ्र ही समझा न सका। पहले तो उन्होंने मुझे कड़े शब्दोंमें

उनके प्रति मेरा धर्म समझाया: "तुम्हें पिताजीसे अधिक बुद्धिमान नहीं बनना चाहिये। पिताजीने जिस प्रकार कुटुम्बका पोषण किया, उसी प्रकार तुम्हें भी करना चाहिये" आदि। मैंने उत्तरमें विनय-पूर्वक लिखा कि मैं पिताका ही काम कर रहा हूँ। कुटुम्ब शब्दका थोड़ा विशाल अर्थ किया जाय, तो मेरा निश्चय आपकी समझमें आ सकेगा।

भाईने मेरी आशा छोड़ दी। एक प्रकारसे बोलना ही बन्द कर दिया। इससे मुझे दुःख हुआ। पर जिसे मैं अपना धर्म मानता था उसे छोड़नेसे कहीं अधिक दुःख होता था। मैंने कम दुःख सहन कर लिया। फिर भी भाईके प्रति मेरी भक्ति निर्मल और प्रचण्ड बनी रही। भाईका दुःख उनके प्रेममें से उत्पन्न हुआ था। उन्हें मेरे पैसोंसे अधिक आवश्यकता मेरे सद्व्यवहारकी थी।

अपने अंतिम दिनोंमें भाई पिघले। मृत्युशय्या पर पड़े-पड़े उन्हें प्रतीति हुई कि मेरा आचरण ही सच्चा और धर्मपूर्ण था। उनका अत्यन्त करुणाजनक पत्र मिला। यदि पिता पुत्रसे क्षमा माँग सकता है, तो उन्होंने मुझसे क्षमा माँगी। उन्होंने लिखा कि मैं उनके लड़कोंका पालन-पोषण अपनी रीति-नीतिके अनुसार करूँ। स्वयं मुझसे मिलनेके लिए वे अधीर हो गये। मुझे तार दिया। मैंने तारसे ही जवाब दिया: "आ जाइये।" पर हमारा मिलन बदा न था।

उनकी अपने पुत्रों-संबंधी इच्छा भी पूरी नहीं हुई। भाईने देशमें ही देह छोड़ी। लड़कों पर उनके पूर्व-जीवनका प्रभाव पड़ चुका था। उनमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ। मैं उन्हें अपने पास खींच न सका। इसमें उनका कोई दोष नहीं था। स्वभावको कौन बदल सकता है? बलवान संस्कारोंको कौन मिटा सकता है? हमारी यह धारणा मिथ्या है कि जिस तरह हममें परिवर्तन होता है या हमारा विकास होता है, उसी तरह हमारे आश्रितों अथवा साथियोंमें भी होना चाहिये।

माता-पिता बननेवालोंकी जिम्मेदारी कितनी भयंकर है, इसका कुछ अनुभव इस दृष्टांतसे हो सकता है।

६. निरामिषाहारके लिए बलिदान

मेरे जीवनमें जैसे-जैसे त्याग और सादगी बढ़ी और धर्म-जागृतिका विकास हुआ, वैसे-वैसे निरामिषाहारका और उसके प्रचारका मेरा शौक बढ़ता गया। प्रचार-कार्यकी एक ही रीति मैंने जानी है। वह है: आचारकी, और आचारके साथ जिज्ञासुओंसे वार्तालापकी।

जोहानिसबर्गमें एक निरामिषाहारी गृह था। एक जर्मन, जो कूनेकी जल-चिकित्सामें विश्वास रखता था, उसे चलाता था। मैंने वहाँ जाना शुरू किया और जितने अंग्रेज मित्रोंको वहाँ ले जा सकता था उतनोंको उसके यहाँ ले जाता था। पर मैंने देखा कि वह भोजनालय लम्बे समय तक चल नहीं सकता। उसे पैसेकी तंगी तो बनी ही रहती थी। मुझे जितनी उचित मालूम हुई उतनी मैंने उसकी मदद की। कुछ पैसे खोये भी। आखिर वह बन्द हो गया। थियॉसॉफिस्टोंमें अधिकतर निरामिषाहारी होते हैं; कुछ पूरे, कुछ अधूरे। इस मण्डलमें एक साहसी महिला भी थी। उसने बड़े पैमाने पर एक निरामिषाहारी भोजनालय खोला। यह महिला कलाकी शौकीन थी। वह खुले हाथों खर्च करती थी और हिसाब-किताबका उसे बहुत ज्ञान नहीं था। उसकी खासी बड़ी मित्र-मंडली थी। पहले तो उसका काम छोटे पैमाने पर शुरू हुआ, पर उसने उसे बढ़ाने और बड़ी जगह लेनेका निश्चय किया। इसमें उसने मेरी मदद माँगी। उस समय मुझे उसके हिसाब आदिकी कोई जानकारी नहीं थी। मैंने यह मान लिया था कि उसका अन्दाज ठीक ही होगा। मेरे पास पैसेकी सुविधा थी। कई मुवक्किलोंके रुपये मेरे पास जमा रहते थे। उनमें से एकसे पूछकर उसकी रकममें से लगभग एक हजार पौण्ड उस महिलाको मैंने दे दिये। यह मुवक्किल विशाल हृदयका और विश्वासी था। वह पहले गिरमिटमें आया था। उसने (हिन्दीमें) कहा: "भाई, आपका दिल चाहे तो पैसा दे दो। मैं कुछ ना जानूँ। मैं तो आप ही को जानता हूँ।" उसका नाम बदरी था। उसने सत्याग्रहमें बहुत बड़ा हिस्सा लिया था। वह जेल भी भुगत आया था। इतनी संमतिके सहारे मैंने उसके पैसे उधार दे दिये। दो-तीन महीनोंमें ही मुझे पता चल गया कि यह रकम वापस नहीं मिलेगी। इतनी बड़ी रकम खो देनेकी शक्ति मुझमें नहीं थी। मेरे पास इस बड़ी रकमका दूसरा उपयोग था। रकम वापस मिली ही नहीं। पर विश्वासी बदरीकी रकम डूब कैसे सकती थी? वह तो मुझीको जानता था? यह रकम मैंने भर दी।

एक मुवक्किल मित्रसे मैंने अपने इस लेन-देनकी चर्चा की। उन्होंने मुझे मीठा उलाहना देते हुए जाग्रत किया।

"भाई, (दक्षिण अफ्रीकामें मैं 'महात्मा' नहीं बना था, 'बापू' भी नहीं हुआ था। मुवक्किल मित्र मुझे 'भाई' कहकर ही पुकारते थे।) यह आपका काम नहीं है। हम तो आपके विश्वास पर चलनेवाले हैं। यह पैसा आपको वापस नहीं मिलेगा। बदरीको तो आप बचा लेंगे और अपना पैसा खोयेंगे। पर इस तरह सुधारके कामोंमें सब मुवक्किलोंके पैसे देने लगेंगे, तो मुवक्किल मर जायेंगे और आप भिखमंगे बनकर घर बैठेंगे। इससे आपके सार्वजनिक कामको क्षति पहुँचेगी।"

सौभाग्यसे ये मित्र अभी जीवित हैं। दक्षिण अफ्रीकामें और दूसरी जगह उनसे अधिक शुद्ध मनुष्य मैंने नहीं देखा। किसीके प्रति उनके मनमें शंका उत्पन्न हो और उन्हें जान पड़े कि वह शंका खोटी है, तो तुरन्त उससे क्षमा माँगकर वे अपनी आत्माको साफ कर लेते हैं। मुझे इस मुवक्किलकी चेतावनी सच मालूम हुई। बदरीकी रकम तो मैं चुका सका। पर दूसरे हजार पौण्ड यदि उन्हीं दिनों मैंने खो दिये होते, तो उन्हें चुकानेकी शक्ति मुझमें बिलकुल नहीं थी। उसके लिए मुझे कर्ज ही लेना पड़ता। यह धंधा तो मैंने अपनी जिन्दगीमें कभी नहीं किया और उसके लिए मेरे मनमें हमेशा ही बड़ी अरुचि रही है। मैंने अनुभव किया कि सुधार करनेके लिए भी अपनी शक्तिके बाहर जाना उचित नहीं था। मैंने यह भी अनुभव किया कि इस प्रकार पैसे उधार देनेमें मैंने गीताके तटस्थ निष्काम कर्मके मुख्य पाठका अनादर किया था। वह भूल मेरे लिए दीपस्तम्भ-सी बन गयी।

निरामिषाहारके प्रचारके लिए ऐसा बलिदान करनेकी मुझे कोई कल्पना न थी। मेरे लिए वह जबरदस्तीका पुण्य बन गया।

७. मिट्टी और पानीके प्रयोग

जैसे-जैसे मेरे जीवनमें सादगी बढ़ती गयी, वैसे -वैसे रोगोंके लिए दवा लेनेकी मेरी अरुचि, जो पहलेसे ही थी बढ़ती गई। जब मैं डरबनमें वकालत करता था तब डॉ० प्राणजीवनदास मेहता मुझे अपने साथ ले जानेके लिए आये थे। उस समय मुझे कमजोरी रहती थी और कभी-कभी सूजन भी हो आती थी। उन्होंने इसका उपचार किया था और मुझे आराम हो गया था। इसके बाद देशमें वापस आने तक मुझे कोई

उल्लेख करने-जैसी बीमारी हुई हो, ऐसा याद नहीं आता।

पर जोहानिस्बर्गमें मुझे कब्ज रहता था और कभी-कभी सिर भी दुखा करता था। कोई दस्तावर दवा लेकर मैं स्वास्थ्यको संभाले रहता था। खाने-पीनेमें पथ्यका ध्यान तो हमेश रखता ही था, पर उससे मैं पूरी तरह व्याधिमुक्त नहीं हुआ। मनमें यह खयाल बना ही रहता कि दस्तावर दवाओंसे भी छुटकारा मिले तो अच्छा हो।

इन्हीं दिनों मैंने मैन्चेस्टरमें 'नो ब्रेकफास्ट एसोसिशन' की स्थापनाका समाचार पढ़ा। इसमें दलील यह थी कि अंग्रेज बहुत बार और बहुत खाते हैं, रात बारह बजे तक खाते रहते हैं और फिर डॉक्टरोंके घर खोजते फिरते हैं। इस उपाधिसे छूटना हो तो सवेरेका नाश्ता - 'ब्रेकफास्ट' - छोड़ देना चाहिये। मुझे लगा कि यद्यपि यह दलील मुझ पर पूरी तरह घटित नहीं होती, फिर भी कुछ अंशोंमें लागू होती है। मैं तीन बार पेट भर कर खाता था और दोपहरको चाय भी पीता था। मैं कभी अल्पाहारी नहीं रहा। निरामिषाहारमें मसालोंके बिना जितने भी स्वाद लिये जा सकते थे, मैं लेता था। छह-सात बजेसे पहले शायद ही उठता था। अतएव मैंने सोचा कि यदि मैं सुबहका नाश्ता छोड़ दूँ, तो सिरके दर्दसे अवश्य ही छुटकारा पा सकूँगा। मैंने सुबहका नाश्ता छोड़ दिया। कुछ दिनों तक अखरा तो सही, पर सिरका दर्द बिलकुल मिट गया। इससे मैंने यह नतीजा निकाला की मेरा आहार आवश्यकतासे अधिक था।

पर इस परिवर्तनसे कब्जकी शिकायत दूर न हुई। कूनेके कटि-स्नानका उपचार करनेसे थोड़ा आराम हुआ। पर अपेक्षित परिवर्तन तो नहीं ही हुआ। इस बीच उसी जर्मन होटलवालेने या दूसरे किसी मित्रने मुझे जुस्टकी 'रिटर्न टु नेचर' (प्रकृतिकी ओर लौटो) नामक पुस्तक दी। उसमें मैंने मिट्टीके उपचारके बारेमें पढ़ा। सूखे और हरे फल ही मनुष्यका प्राकृतिक आहार है, इस बातका भी इस लेखकने बहुत समर्थन किया है। इस बार मैंने केवल फलाहारका प्रयोग तो शुरू नहीं किया, पर मिट्टीका उपचार तुरन्त शुरू कर दिया। मुझ पर उसका आश्चर्यचनक प्रभाव पड़ा। उपचार इस प्रकार था : खेतकी साफ लाल या काली मिट्टी लेकर उसमें प्रमाणसे पानी डालकर साफ, पतले, गीले कपड़ेमें उसे लपेटा और पेट पर रखकर उस पर पट्टी बाँध दी। यह पुलटिस रातको सोते समय बाँधता था और सबेरे अथवा रातमें जब जाग जाता तब उसे खोल दिया करता था। इससे मेरा कब्ज जाता रहा। उसके बाद मिट्टीके ये उपचार मैंने अपने पर और अपने अनेक साथियों पर किये और मुझे याद है कि वे

शायद ही किसी पर निष्फल रहे हों।

देशमें आनेके बाद मैं ऐसे उपचारोंके विषयमें आत्म-विश्वास खो बैठा हूँ। मुझे प्रयोग करनेका, एक जगह स्थिर होकर बैठनेका, अवसर भी नहीं मिल सका। फिर भी मिट्टी और पानीके उपचारोंके बारेमें मेरी श्रद्धा बहुत कुछ वैसी ही है जैसी आरंभमें थी। आज भी मैं मर्यादाके अन्दर रहकर मिट्टीका उपचार स्वयं अपने ऊपर तो करता ही हूँ और प्रसंग पड़ने पर अपने साथियों को भी उसकी सलाह देता हूँ। जीवनमें दो गंभीर बीमारियाँ मैं भोग चुका हूँ, फिर भी मेरा यह विश्वास है कि मनुष्यको दवा लेनेकी शायद ही आवश्यकता रहती है। पथ्य तथा पानी, मिट्टी इत्यादिके घरेलू उपचारोंसे एक हजारमें से ९९९ रोगी स्वस्थ हो सकते हैं। क्षण-क्षणमें वैद्य, हकीम और डॉक्टरके घर दौड़नेसे और शरीरमें अनेक प्रकारके पाक और रसायन ठूँसनेसे मनुष्य न सिर्फ अपने जीवनको छोटा कर लेता है, बल्कि अपने मन पर काबू भी खो बैठता है। फलतः वह मनुष्यत्व गँवा देता है और शरीरका स्वामी रहनेके बदले उसका गुलाम बन जाता है।

मैं यह बीमारीके बिछौने पर पड़ा-पड़ा लिखा रहा हूँ, इस कारण कोई इन विचारोंकी अवगणना न करें। मैं अपनी बीमारीके कारण जानता हूँ। मुझे इस बातका पूरा-पूरा ज्ञान और भान है कि अपने ही दोषोंके कारण मैं बीमार पड़ा हूँ और इस भानके कारण ही मैंने धीरज नहीं छोड़ा है। इस बीमारीको मैंने ईश्वरका अनुग्रह माना है और अनेक दवाओंके सेवनके लालचसे मैं दूर रहा हूँ। मैं यह भी जानता हूँ कि अपने हठसे मैं डॉक्टर मित्रोंको परेशान कर देता हूँ, पर वे उदार भावसे मेरे हठको सह लेते हैं और मेरा त्याग नहीं करते।

पर मुझे इस समयकी अपनी स्थितिके वर्णनको अधिक बढ़ाना न चाहिये, इसलिए हम सन् १९०४-५ के समयकी तरफ लौट आवें।

पर आगे बढ़कर उसका विचार करनेसे पहले पाठकोंको थोड़ा सावधान करनेकी आवश्यकता है। यह लेख पढ़कर जो जुस्टकी पुस्तक खरीदें, वे उसकी हर बातको वेदवाक्य न समझें। सभी रचनाओंमें प्रायः लेखककी एकांगी दृष्टि रहती है। किन्तु प्रत्येक वस्तुको कम से कम सात दृष्टियोंसे देखा जा सकता है और उस-उस दृष्टिसे वह वस्तु सच होती है। पर सब दृष्टियाँ एक ही समय और एक ही अवसर पर कभी सच नहीं होतीं। साथ ही, कई पुस्तकोंमें बिक्रीके और नामके लालचका दोष भी होता है। अतएव जो कोई उक्त पुस्तक पढ़ें वे उसे विवेक-पूर्वक पढ़ें और कुछ प्रयोग

करने हों तो किसी अनुभवीकी सलाह लेकर करें, अथवा धैर्य-पूर्वक ऐसी वस्तुका थोड़ा अभ्यास करके प्रयोग आरंभ करें।

८. एक सावधानी

प्रवाह-पतित कथाके प्रसंगको अभी मुझे अगले प्रकरण तक टालना पड़ेगा।

पिछले प्रकरणमें मिट्टीके प्रयोगोंके विषयमें मैं जो कुछ लिख चुका हूँ, उसके जैसा मेरा आहार-विषयक प्रयोग भी था। अतएव इस संबंधमें भी इस समय यहाँ थोड़ा लिख डालना मैं उचित समझता हूँ। दूसरी कुछ बातें प्रसंगानुसार आगे आवेंगी।

आहार-विषयक मेरे प्रयोगों और तत्सम्बन्धी विचारोंका विस्तार इस प्रकरणमें नहीं किया जा सकता। इस विषयमें मैंने 'आरोग्य-विषयक सामान्य ज्ञान'* नामक जो पुस्तक दक्षिण अफ्रीकामें 'इण्डियन ओपीनियन'के लिए लिखी थी, उसमें विस्तार-पूर्वक लिखा है। मेरी छोटी-छोटी पुस्तकोंमें यह पुस्तक पश्चिममें और यहाँ भी सबसे अधिक प्रसिद्ध हुई है। मैं आज तक इसका कारण समझ नहीं सका हूँ। यह पुस्तक केवल 'इण्डियन ओपीनियन' के पाठकोंके लिए लिखी गयी थी। पर उसके आधार पर अनेक भाई-बहनोंने अपने जीवनमें फेरफार किये हैं और मेरे साथ पत्रव्यवहार भी किया है। इसलिए इस विषयमें यहाँ कुछ लिखना आवश्यक हो गया है। क्योंकि यद्यपि उसमें लिखे हुए अपने विचारोंमें फेरफार करनेकी आवश्यकता मुझे प्रतीत नहीं हुई, तथापि अपने आचारमें मैंने जो महत्त्वका फेरफार किया है, उसे इस पुस्तकके सब पाठक नहीं जानते। यह आवश्यक है कि वे उस फेरफारको तुरन्त जान लें।

इस पुस्तकके लिखनेमें - अन्य पुस्तकोंकी भाँति ही - केवल धर्मभावना काम कर रही थी और वही आज भी मेरे प्रत्येक काममें वर्तमान है। इसलिए उसमें बताये हुए कई विचारों पर मैं आज अमल नहीं कर पाता हूँ, इसका मुझे खेद है, इसकी मुझे शरम आती है।

मेरा दृढ विश्वास है कि मनुष्य बालकके रूपमें माताका जो दूध पीता है, उसके

---

* इस विषयनें गांधीजीके अन्तिम विचारोंके अध्ययनके लिए १९४२में लिखी उनकी 'आरोग्यकी कुंजी' नामक पुस्तक देखिये। नवजीवन ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित।

सिवा उसे दूसरे दूधकी आवश्यकता नहीं है। हरे और सुखे वनपक्व फलोंके अतिरिक्त मनुष्यका और कोई आहार नहीं है। बादाम आदि चीजोंमें से और अंगूर आदि फलोंमें से उसे शरीर और बुद्धिके लिए आवश्यक पूरा पोषण मिल जाता है। जो ऐसे आहार पर रह सकता है, उसके लिए ब्रह्मचर्यादि आत्म-संयम बहुत सरल हो जाता है। जैसा आहार वैसी डकार, मनुष्य जैसा खाता है वैसा बनता है, इस कहावतमें बहुत सार है। उसे मैंने और मेरे साथियोंने अनुभव किया है।

इन विचारोंका विस्तृत समर्थन मेरी आरोग्य-सम्बन्धी पुस्तकमें है।

पर हिन्दुस्तानमें अपने प्रयोगोंको सम्पूर्णता तक पहुँचाना मेरे भाग्यमें बदा न था। खेड़ा जिलेमें सिपाहियोंकी भरतीका काम करते -करते मैं अपनी भूलसे मृत्युशय्या पर पड़ा। दूधके बिना जीनेके लिए मैंने बहुत हाथ-पैर मारे। जिन वैद्यों, डॉक्टरों और रसायनशास्त्रियोंको मैं जानता था, उनकी मदद माँगी। किसीने मूँगके पानी, किसीने महुएके तेल और किसीने बादामके दूधका सुझाव दिया। इन सब चीजोंके प्रयोग करते-करते मैंने शरीरको निचोड़ डाला, पर उसमें मैं बिछौना छोड़कर उठ न सका।

वैद्योंने मुझे चरक इत्यादिके श्लोक सुनाकर समझाया कि रोग दूर करनेके लिए खाद्याखाद्यकी बाधा नहीं होती और मांसादि भी खाये जा सकते हैं। ये वैद्य दुग्धत्याग पर दृढ़ रहनेमें मेरी सहायता कर सकें, ऐसी स्थिति न थी। तब जहाँ 'बीफ-टी' (गोमांसकी चाय) और 'ब्राण्डी' की गुंजाइश हो, वहाँसे तो दूधके त्यागमें सहायता मिल ही कैसे सकती थी? गाय-भैंसका दूध तो मैं ले ही नहीं सकता था। यह मेरा व्रत था। व्रतका हेतु तो दूधमात्रका त्याग था। पर व्रत लेते समय मेरे सामने गोमाता और भैंसमाता ही थीं इस कारणसे तथा जीनेकी आशासे मैंने मनको जैसे-तैसे फुसला लिया। मैंने व्रतके अक्षरका पालन किया और बकरीका दूध लेनेका निश्चय किया। बकरीमाताका दूध लेते समय भी मैंने यह अनुभव किया कि मेरे व्रतकी आत्माका हनन हुआ है।

पर मुझे 'रौलट एक्ट' के विरुद्ध जूझना था। यह मोह मुझे छोड़ नहीं रहा था। इससे जीनेकी इच्छा बढ़ी और जिसे मैं अपने जीवनका महान प्रयोग मानता हूँ उसकी गति रुक गयी।

खान-पानके साथ आत्माका संबंध नहीं है। वह न खाती है, न पीती है। जो पेटमें जाता है वह नहीं, बल्कि जो वचन अन्दरसे निकलते हैं वे हानि-लाभ पहुँचानेवाले होते हैं - इत्यादि दलीलोंसे मैं परिचित हूँ। इनमें तथ्यांश है। पर बिना

दलील किये मैं यहाँ अपना यह दृढ़ निश्चय ही प्रकट किये देता हूँ कि जो मनुष्य ईश्वरसे डरकर चलना चाहता है, जो ईश्वरके प्रत्यक्ष दर्शन करनेकी इच्छा रखता है, ऐसे साधक और मुमुक्षुके लिए अपने आहारका चुनाव - त्याग और स्वीकार - उतना ही आवश्यक है, जितना कि विचार और वाणीका चुनाव - त्याग और स्वीकार - आवश्यक है।

पर जिस विषयमें मैं स्वयं गिरा हूँ उसके बारेमें मैं केवल दूसरोंको अपने सहारे चलनेकी सलाह नहीं दूँगा, बल्कि उन्हें वैसा करनेसे रोकूँगा। अतएव आरोग्य-विषयक मेरी पुस्तकके सहारे प्रयोग करनेवाले सब भाई-बहनोंको मैं सावधान करना चाहता हूँ। दूधका त्याग पूरी तरह लाभप्रद प्रतीत हो अथवा अनुभवी वैद्य-डॉक्टर उसे छोड़नेकी सलाह दें, तभी वे उसको छोड़ें। सिर्फ मेरी पुस्तकके भरोसे वे दूधका त्याग न करें। यहाँका मेरा अनुभव अब तक तो मुझे यही बतलाता है कि जिसकी जठराग्नि मंद हो गयी है और जिसने बिछौना पकड़ लिया है, उसके लिए दूध जैसी दूसरी हलकी और पोषक खुराक है ही नहीं। अतएव उक्त पुस्तकके पाठकोंसे मेरी बिनती और सिफारिश है कि उसमें दूधकी जो मर्यादा सूचित की गयी है उस पर चलनेकी वे जिद न करें।

इस प्रकरणको पढ़नेवाले कोई वैद्य, डॉक्टर, हकीम या दूसरे अनुभवी दूधके बदलेमें किसी उतनी ही पोषक किन्तु सुपाच्य वनस्पतिको अपने अध्ययनके आधार पर नहीं, बल्कि अनुभवके आधार पर जानते हो, तो उसकी जानकारी देकर मुझे उपकृत करें।

९. बलवानसे भिड़न्त

अब एशियाई अधिकारियोंकी ओर लौटें।

एशियाई अधिकारियोंका बड़ेसे बड़ा थाना जोहानिस्बर्गमें था। मैं यह देख रहा था कि उस थानेमें हिन्दुस्तानी, चीनी आदि लोगोंका रक्षण नहीं, बल्कि भक्षण होता था। मेरे पास रोज शिकायतें आतीं : "हकदार दाखिल नहीं हो सकते और बिना हकवाले सौ-सौ पौण्ड देकर चले आ रहे हैं। इसका इलाज आप नहीं करेंगे तो और कौन करेगा?" मेरी भी यही भावना थी। यदि यह सडांध दूर न हो, तो मेरा ट्रान्सवालमें बसना व्यर्थ माना जायगा।

मैं प्रमाण जुटाने लगा। जब मेरे पास प्रमाणोंका अच्छा-सा संग्रह हो गया, तो मैं पुलिस-कमिश्नरके पास पहुँचा। मुझे लगा कि उसमें दया और न्यायकी वृत्ति है। मेरी बातको बिलकुल अनसुनी करनेके बदले उसने मुझे धीरजसे सुना और प्रमाण उपस्थित करनेको कहा। गवाहोंके बयान उसने स्वयं ही लिये। उसे विश्वास हो गया। पर जिस तरह मैं जानता था उसी तरह वह भी जानता था कि दक्षिण अफ्रीकामें गोरे पंचों द्वारा गोरे अपराधियोंको दण्ड दिलाना कठिन है। उसने कहा, "फिर भी हम प्रयत्न तो करें ही। ऐसे अपराधी जूरी द्वारा छोड़ दिये जायेंगे, इस डरसे उन्हें न पकड़वाना भी उचित नहीं है। इसलिए मैं तो उन्हें पकड़वाऊँगा। आपको मैं इतना विश्वास दिलाता हूँ कि अपनी मेहनतमें मैं कोई कसर नहीं रखूँगा।"

मुझे तो विश्वास था ही। दूसरे अधिकारियों पर भी मुझे सन्देह तो था, पर उनके विरुद्ध मेरे पास कमजोर प्रमाण था। दोके बारेमें कोई सन्देह नहीं था। अतएव दोके नाम वारण्ट निकले।

मेरा आना-जाना छिपा रह ही नहीं सकता था। कई लोग देखते थे कि मैं प्रायः प्रतिदिन पुलिस-कमिश्नरके यहाँ जाता हूँ। इन दो अधिकारियोंके छोटे-बड़े जासूस तो थे ही। वे मेरे दफ्तर पर निगरानी रखते और मेरे आने-जानेकी खबरें उन अधिकारियोंको पहुँचाते थे। यहाँ मुझे यह कहना चाहिये कि उक्त अधिकारियोंका अत्याचार इतना ज्यादा था कि उन्हें ज्यादा जासूस नहीं मिलते थे। यदि हिन्दुस्तानियों और चीनियोंकी मुझे मदद न होती, तो ये अधिकारी पकड़े ही न जाते।

इन दोमें से एक अधिकारी भागा। पुलिस-कमिश्नरने बाहरका वारण्ट निकालकर उसे वापस पकड़वा मँगाया। मुकदमा चला। प्रमाण भी मजबूत थे और एकके तो भागनेका प्रमाण भी जूरीके पास पहुँच सका था। फिर भी दोनों छूट गये!

मुझे बड़ी निराशा हुई। पुलिस-कमिश्नरको भी दुःख हुआ। वकालतसे मुझे अरुचि हो गयी। बुद्धिका उपयोग अपराधको छिपानेमें होता देखकर मुझे बुद्धि ही अप्रिय लगने लगी।

दोनों अधिकारियोंका अपराध इतना प्रसिद्ध हो गया था कि उनके छूट जाने पर भी सरकार उन्हें रख नहीं सकी। दोनों बरखास्त हो गये और एशियाई विभाग कुछ साफ़ हुआ। अब हिन्दुस्तानियोंको धीरज बँधा और उनकी हिम्मत भी बढ़ी।

इससे मेरी प्रतिष्ठा बढ़ गयी। मेरे धंधेमें भी वृद्धि हुई। हिन्दुस्तानी समाजके जो

सैकड़ों पौण्ड हर महीने रिश्वतमें जाते थे, उनमें बहुत-कुछ बचत हुई। यह तो नहीं कहा जा सकता कि पूरी रकम बची। बेईमान तो अब भी रिश्वत खाते थे। पर यह कहा जा सकता है कि जो प्रामाणिक थे, वे अपनी प्रामाणिकताकी रक्षा कर सकते थे।

मैं कह सकता हूँ कि इन अधिकारियोंके इतने अधम होने पर भी उनके विरुद्ध व्यक्तिगत रूपसे मेरे मनमें कुछ भी न था। मेरे इस स्वभावको वे जानते थे। और जब उनकी कंगाल हालतमें मुझे उन्हें मदद करनेका मौका मिला, तो मैंने उनकी मदद भी की थी। यदि मेरा विरोध न हो तो उन्हें जोहानिस्बर्गकी म्युनिसिपालिटीमें नौकरी मिल सकती थी। उनका एक मित्र मुझे मिला और मैंने उन्हें नौकरी दिलानेमें मदद करना मंजूर कर लिया। उन्हें नौकरी मिल भी गयी।

मेरे इस कार्यका यह प्रभाव पड़ा कि मैं जिन गोरोंके सम्पर्कमें आया, वे मेरी तरफसे निर्भय रहने लगे, और यद्यपि उनके विभागोंके विरुद्ध मुझे लड़ना पड़ता था, तीखे शब्द कहने पड़ते थे, फिर भी वे मेरे साथ मीठा संबंध रखते थे। इस प्रकारका बरताव मेरा एक स्वभाव ही था, इसे मैं उस समय ठीकसे जानता न था। यह तो मैं बादमें समझने लगा कि ऐसे बरतावमें सत्याग्रहकी जड़ मौजूद है और यह अहिंसाका एक विशेष अंग है।

मनुष्य और उसका काम ये दो भिन्न वस्तुएँ हैं। अच्छे कामके प्रति आदर और बुरेके प्रति तिरस्कार होना ही चाहिये। भले-बुरे काम करने वालोंके प्रति सदा आदर अथवा दया रहनी चाहिये। यह चीज समझनेमें सरल है, पर इसके अनुसार आचरण कम-से-कम होता है। इसी कारण इस संसारमें विष फैलता रहता है।

सत्यकी शोधके मूलमें ऐसी अहिंसा है। मैं प्रतिक्षण यह अनुभव करता रहता हूँ कि जब तक यह अहिंसा हाथमें नहीं आती, तब तक सत्य मिल ही नहीं सकता। व्यवस्था या पद्धतिके विरुद्ध झगड़ना शोभा देता है, पर व्यवस्थापकके विरुद्ध झगड़ा करना तो अपने विरुद्ध झगड़नेके समान है। क्योंकि हम सब एक ही कूंचीसे रचे गये हैं, एक ही ब्रह्माकी सन्तान हैं। व्यवस्थापकमें अनन्त शक्तियाँ निहित हैं। व्यवस्थापकका अनादर या तिरस्कार करनेसे उन शक्तियोंका अनादर होता है और वैसा होने पर व्यवस्थापकको और संसारको हानि पहुँचती है।

१०. एक पुण्यस्मरण और प्रायश्चित

मेरे जीवनमें ऐसी घटनायें घटती ही रही हैं, जिनके कारण मैं अनेक धर्मावलम्बियोंके और अनेक जातियोंके गाढ़ परिचयमें आ सका हूँ। इन सबके अनुभवोंके आधार पर यह कहा जा सकता है कि मैंने अपने और पराये, देशी और विदेशी, गोरे और काले, हिन्दु और मुसलमान अथवा ईसाई, पारसी या यहूदीके बीच कोई भेद नहीं किया। मैं कह सकता हूँ कि मेरा हृदय ऐसे भेदको पहचान ही न सका। अपने सम्बन्धमें मैं इस चीजको गुण नहीं मानता, क्योंकि जिस प्रकार अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि यमोंकी सिद्धिका प्रयत्न करनेका और उस प्रयत्नके अबतक चलनेका मुझे पूरा भान है, उसी प्रकार मुझे याद नहीं पड़ता कि ऐसे अभेदको सिद्ध करनेका मैंने विशेष प्रयत्न किया हो।

जब मैं डरबनमें वकालत करता था, तब अकसर मेरे मुहर्रिर मेरे साथ रहते थे। उनमें हिन्दू और ईसाई थे अथवा प्रान्तकी दृष्टिसे कहूँ तो गुजराती और मद्रासी थे। मुझे स्मरण नहीं है कि उनके बारेमें मेरे मनमें कभी भेदभाव पैदा हुआ हो। मैं उन्हें अपना कुटुम्बी मानता था और यदि पत्नीकी ओरसे इसमें कोई बाधा आती तो मैं उससे लड़ता था। एक मुहर्रिर ईसाई था। उसके माता-पिता पंचम जातिके थे। हमारे घरकी बनावट पश्चिमी ढबकी थी। उसमें कमरोंके अन्दर मोरियाँ नहीं होतीं - मैं मानता हूँ कि होनी भी नहीं चाहिये। - इससे हरएक कमरेमें मोरीकी जगह पेशाबके लिए खास बरतन रखा जाता है। उसे उठानेका काम नौकरका न था, बल्कि हम पति-पत्नीका था। जो मुहर्रिर अपनेको घरका-सा मानने लगते, वे तो अपने बरतन खुद उठाते भी थे। यह पंचम कुलमें उत्पन्न मुहर्रिर नया था। उसका बरतन हमें ही उठाना चाहिये था। कस्तूरबाई दूसरे बरतन तो उठाती थी, पर इस बरतनको उठाना उसे असह्य लगा। इससे हमारे बीच कलह हुआ। मेरा उठाना उससे सहा न जाता था और खुद उठाना उसे भारी हो गया था। आँखोंसे मोतीकी बूँदें टपकाती, हाथमें बरतन उठाती और अपनी लाल आँखोंसे मुझे उलाहना देकर सीढ़ियाँ उतरती हुई कस्तूरबाईका चित्र मैं आज भी खींच सकता हूँ।

पर मैं तो जितना प्रेमी उतना ही क्रूर पति था। मैं अपनेको उसका शिक्षक भी मानता था, इस कारण अपने अंधे प्रेमके वश होकर उसे खूब सताता था।

यों उसके सिर्फ बरतन उठाकर ले जानेसे मुझे संतोष न हुआ। मुझे संतोष तभी

होता जब वह उसे हँसते मुँह ले जाती। इसलिए मैंने दो बातें ऊँची आवाजमें कहीं। मैं बड़बड़ा उठा, "यह कलह मेरे घरमें नहीं चलेगा।"

यह वचन कस्तूरबाईको तीरकी तरह चुभ गया।

वह भड़क उठीं : "तो अपना घर अपने पास रखो। मैं यह चली।"

मैं उस समय भगवानको भूल बैठा था। मुझमें दयाका लेश भी नहीं रह गया था। मैंने उसका हाथ पकड़ा। सीढ़ियोंके सामने ही बाहर निकलनेका दरवाजा था। मैं उस असहाय अबलाको पकड़कर दरवाजे तक खींच ले गया। दरवाजा आधा खोला।

कस्तूरबाईकी आँखोंसे गंगा-यमुना बह रही थीं। वह बोली :

"तुम्हें तो शरम नहीं है। लेकिन मुझे है। जरा तो शरमाओ। मैं बाहर निकलकर कहाँ जा सकती हूँ? यहाँ मेरे माँ-बाप नहीं है कि उनके घर चली जाऊँ। मैं तुम्हारी पत्नी हूँ, इसलिए मुझे तुम्हारी डाँट-फटकार सहनी ही होगी। अब शरमाओ और दरवाजा बन्द करो। कोई देखेगा तो दोमें से एककी भी शोभा नहीं रहेगी।"

मैंने मुँह तो लाल रखा, पर शरमिन्दा जरूर हुआ। दरवाजा बन्द कर दिया। यदि पत्नी मुझे छोड़ नहीं सकती थी, तो मैं भी उसे छोड़कर कहाँ जा सकता था? हमारे बीच झगड़े तो बहुत हुए हैं, पर परिणाम सदा शुभ ही रहा है। पत्नीने अपनी अद्भुत सहनशक्ति द्वारा विजय प्राप्त की है।

मैं यह वर्णन आज तटस्थ भावसे कर सकता हूँ, क्योंकि यह घटना हमारे बीते युगकी है। आज मैं मोहान्ध पति नहीं हूँ। शिक्षक नहीं हूँ। कस्तूरबाई चाहे तो मुझे आज धमका सकती है। आज हम परखे हुए मित्र हैं, एक-दूसरेके प्रति निर्विकार बनकर रहते हैं। कस्तूरबाई आज मेरी बीमारीमें किसी बदलेकी इच्छा रखे बिना मेरी चाकरी करनेवाली सेविका है।

ऊपरकी घटना सन् १८९८ की है। उस समय मैं ब्रह्मचर्य-पालनके विषयमें कुछ भी न जानता था। यह वह समय था जब मुझे इसका स्पष्ट भान न था कि पत्नी केवल सहधर्मिणी, सहचारिणी और सुख-दुःखकी साथिन है। मैं यह जानता हूँ कि उन दिनों मैं यह मानकर चलता था कि पत्नी विषय-भोगका भाजन है, और पतिकी कैसी भी आज्ञा क्यों न हो, उसका पालन करनेके लिए वह सिरजी गयी है।

सन् १९०० से मेरे विचारोंमें गंभीर परिवर्तन हुआ। उसकी परिणति सन् १९०६ में हुई। पर इसकी चर्चा हम यथास्थान करेंगे।

यहाँ तो इतना कहना काफी है कि जैसे-जैसे मैं निर्विकार बनता गया, वैसे-वैसे

मेरी गृहस्थी शान्त, निर्मल और सुखी होती गयी है और आज भी होती जा रही है।

इस पुण्यस्मरणसे कोई यह न समझ ले कि हम दोनों आदर्श पति-पत्नी हैं, अथवा मेरी पत्नीमें कोई दोष ही नहीं है या कि अब तो हमारे आदर्श एक ही हैं। कस्तूरबाईके अपने कोई स्वतंत्र आदर्श हैं या नहीं, सो वह बेचारी खुद भी नहीं जानती होगी। संभव है कि मेरे बहुतेरे आचरण उसे आज भी अच्छे न लगते हों। इसके सम्बन्धमें हम कभी चर्चा नहीं करते, करनेमें कोई सार नहीं। उसे न तो उसके माता-पिताने शिक्षा दी और न जब समय था तब मैं दे सका। पर उसमें एक गुण बहुत ही बड़ी मात्रामें है, जो दूसरी बहुतसी हिन्दू स्त्रियोंमें न्यूनाधिक मात्रामें रहता है। इच्छासे हो चाहे अनिच्छासे, ज्ञानसे हो चाहे अज्ञानसे, उसने मेरे पीछे-पीछे चलनेमें अपने जीवनकी सार्थकता समझी है और स्वच्छ जीवन बितानेके मेरे प्रयत्नमें मुझे कभी रोका नहीं है। इस कारण यद्यपि हमारी बुद्धि-शक्तिमें बहुत अन्तर है, फिर भी मैंने अनुभव किया है कि हमारा जीवन संतोषी, सुखी और ऊर्ध्वगामी है।

११. अंग्रेजोंका गाढ़ परिचय

इस प्रकरणको लिखते समय प्रसंग ऐसा आ गया है, जब मुझे पाठकोंको यह बताना चाहिये कि सत्यके प्रयोगोंकी यह कथा किस प्रकार लिखी जा रही है। यह कथा मैंने लिखनी शुरू की थी, तब मेरे पास कोई योजना तैयार न थी। इन प्रकरणोंको मैं अपने सामने कोई पुस्तकें, डायरी या दूसरे कागज-पत्र रखकर नहीं लिख रहा हूँ। कहा जा सकता है कि लिखनेके दिन अन्तर्यामी मुझे जिस तरह रास्ता दिखाता है, उसी तरह मैं लिखता हूँ। मैं निश्चयपूर्वक नहीं जानता कि जो क्रिया मेरे अन्तरमें चलती है, उसे अन्तर्यामीकी क्रिया कहा जा सकता है या नहीं। लेकिन कई वर्षों मैंने जिस प्रकार अपने बड़ेसे बड़े माने गये और छोटेसे छोटे गिने जा सकनेवाले कार्य किये हैं, उसकी छानबीन करते हुए मुझे यह कहना अनुचित नहीं प्रतीत होता कि वे अन्तर्यामीकी प्रेरणासे हुए हैं।

अन्तर्यामीको मैंने देखा नहीं, जाना नहीं। संसारकी ईश्वर-विषयक श्रद्धाको मैंने अपनी श्रद्धा बना लिया है। यह श्रद्धा किसी प्रकार मिटायी नहीं जा सकती। इसलिए श्रद्धाके रूपमें पहचानना छोड़कर मैं उसे अनुभवके रूपमें पहचानता हूँ। फिर भी इस प्रकार अनुभवके रूपमें उसका परिचय देना भी सत्य पर एक प्रकारका प्रहार करना

है। इसलिए कदाचित् यह कहना ही अधिक उचित होगा कि शुद्ध रूपमें उसका परिचय करानेवाला शब्द मेरे पास नहीं है।

मेरी यह मान्यता है कि उस अदृष्ट अन्तर्यामीके वशीभूत होकर मैं यह कथा लिख रहा हूँ।

जब मैंने पिछला प्रकरण लिखना शुरू किया, तो उसे शीर्षक 'अंग्रेजोंके परिचय' दिया था। पर प्रकरण लिखते समय मैंने देखा कि इन परिचयोंका वर्णन करनेसे पहले जो पुण्य-स्मरण मैंने लिखा उसे लिखना आवश्यक था। अतएव वह प्रकरण मैंने लिखा और लिख चुकनेके बाद पहलेका शीर्षक बदलना पड़ा।

अब इस प्रकरणको लिखते समय एक नया धर्म-संकट उत्पन्न हो गया है। अंग्रेजोंका परिचय देते हुए क्या कहना और क्या न कहना, यह महत्त्वका प्रश्न बन गया है। जो प्रस्तुत है वह न कहा जाय, तो सत्यको लांछन लगेगा। पर जहाँ इस कथाका लिखना ही कदाचित् प्रस्तुत न हो, वहाँ प्रस्तुत-अप्रस्तुतके बीचके झगड़ेका एकाएक फैसला करना कठिन हो जाता है।

इतिहासके रूपमें आत्मकथा-मात्रकी अपूर्णता और उसकी कठिनाइयोंके बारेमें पहले मैंने जो पढ़ा था, उसका अर्थ आज मैं अधिक समझता हूँ। मैं यह जानता हूँ कि सत्यके प्रयोगोंकी इस आत्मकथामें जितना मुझे याद है उतना सब मैं हरगिज नहीं दे रहा हूँ। कौन जानता है कि सत्यका दर्शन करानेके लिए मुझे कितना देना चाहिये अथवा न्याय-मन्दिरमें एकांगी और अधूरे प्रमाणोंकी क्या कीमत कूती जायेगी? लिखे हुए प्रकरणों पर कोई फुरसतवाला आदमी मुझसे जिरह करने बैठे, तो वह इन प्रकरणों पर कितना अधिक प्रकाश डालेगा? और यदि वह आलोचककी दृष्टिसे इनकी छानबीन करे, तो कैसी कैसी 'पोलें' प्रकट करके दुनियाको हँसावेगा और स्वयं फूलकर कुप्पा बनेगा?

इस तरह सोचने पर क्षणभरके लिए मनमें यही विचार आता है कि क्या इन प्रकरणोंका लिखना बन्द कर देना ही अधिक उचित न होगा? किन्तु जब तक आरम्भ किया हुआ काम स्पष्ट रूपसे अनीतिमय प्रतीत न हो तब तक उसे बन्द न किया जाय, इस न्यायसे मैं इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि अन्तर्यामी रोकता नहीं उस समय तक ये प्रकरण मुझे लिखते रहना चाहिये।

यह कथा टीकाकारोंको संतुष्ट करनेके लिए नहीं लिखी जा रही है। सत्यके प्रयोगोंमें यह भी एक प्रयोग ही है। साथ ही, लिखनेके पीछे यह दृष्टि तो है ही कि

इससे साथियोंको कुछ आश्वासन मिलेगा। इसका आरम्भ ही उनके संतोषके लिए किया गया है। यदि स्वामी आनन्द और जयरामदास मेरे पीछे न पड़ जाते, तो कदाचित् यह कथा आरम्भ ही न होती। अतएव इसके लिखनेमें यदि कोई दोष हो रहा हो तो उसमें वे हिस्सेदार हैं।

अब मैं शीर्षकके विषय पर आता हूँ। जिस प्रकार मैंने हिन्दुस्तानी मुहर्रिरों और दूसरोंको घरमें अपने कुटुम्बियोंकी तरह रखा था, उसी प्रकार मैं अंग्रेजोंको भी रखने लगा। मेरा यह व्यवहार मेरे साथ रहनेवाले सब लोगोंके अनुकूल न था। पर मैंने उन्हें हठ-पूर्वक अपने घर रखा था। कह नहीं सकता कि सबको रखनेमें मैंने हमेशा बुद्धिमानी ही की थी। कुछ सम्बन्धोंके कड़वे अनुभव भी प्राप्त हुए थे। किन्तु ऐसे अनुभव तो देशी-विदेशी दोनोंके सम्बन्धमें हुए। कड़वे अनुभवोंके लिए मुझे पश्चात्ताप नहीं हुआ। कड़वे अनुभवोंके होते हुए और यह जानते हुए भी कि मित्रोंको असुविधा होती है और कष्ट उठाना पड़ता है, मैंने अपनी आदत नहीं बदली और मित्रोंने उसे उदारतापूर्वक सहन किया है। नये-नये मनुष्योंके साथके सम्बन्ध जब मित्रोंके लिए दुःखद सिद्ध हुए हैं, तब उनका दोष उन्हें दिखानेमें मैं हिचकिचाया नहीं हूँ। मेरी अपनी यह मान्यता है कि आस्तिक मनुष्योंमें, जो अपनेमें विद्यमान ईश्वरको सबमें देखा चाहते हैं, सबके साथ अलिप्त होकर रहनेकी शक्ति आनी चाहिये। और ऐसी शक्ति तभी विकसित की जा सकती है, जब जहाँ-जहाँ अनखोजे अवसर आवें वहाँ-वहाँ उनसे दूर न भागकर नये-नये सम्पर्क स्थापित किये जायें और वैसा करते हुए भी राग-द्वेषसे दूर रहा जाय।

इसलिए जब बोअर-ब्रिटिश युद्ध शुरू हुआ, तब अपना घर भरा होते हुए भी मैंने जोहानिस्बर्गसे आये हुए दो अंग्रेजोंको अपने यहाँ टिका लिया। दोनों थियॉसॉफिस्ट थे। उनमें से एकका नाम किचन था। इनकी चर्चा हमें आगे भी करनी होगी। इन मित्रोंके सहवासने भी धर्मपत्नीको रुलाया ही था। मेरे कारण उसके हिस्सेमें रोनेके अनेक अवसर आये हैं। बिना किसी परदेके इतने निकट सम्बन्धमें अंग्रेजोंको घरमें रखनेका यह मेरा पहला अनुभव था। इंग्लैंडमें मैं उनके घरोंमें अवश्य रहा था। पर उस समय मैं उनकी रहन-सहनकी मर्यादामें रहा था और वह रहना लगभग होटलमें रहने-जैसा था। यहाँ बात उससे उलटी थी। ये मित्र कुटुम्बके व्यक्ति बन गये थे। उन्होंने बहुत-कुछ भारतीय रहन-सहनका अनुसरण किया था। यद्यपि घरके अन्दर बाहरका साज-सामान अंग्रेजी ढंगका था, तथापि अन्दरकी रहन-सहन और खान-

पान आदि मुख्यतः भारतीय थे। मुझे याद है कि इन मित्रोंको रखनेमें कई कठिनाइयाँ खड़ी हुई थीं, लेकिन मैं यह अवश्य कह सकता हूँ कि दोनों व्यक्ति घरके दूसरे लोगोंके साथ पूरी तरह हिलमिल गये थे। जोहानिस्बर्गमें ये सम्बन्ध डरबनसे भी अधिक आगे बढ़े।

१२. अंग्रेजोंसे परिचय

एक बार जोहानिस्बर्गमें मेरे पास चार हिन्दुस्तानी कारकुन हो गये थे। मैं नहीं कह सकता कि उन्हें कारकुन मानूँ या बेटे। किन्तु इससे मेरा काम न चला। टाइपिंगके बिना मेरा काम चल ही नहीं सकता था। टाइपिंगका जो थोड़ा-सा ज्ञान था सो मुझे ही था। इन चार नौजवानोंमें से दोको मैंने टाइपिंग सिखाया, किन्तु अंग्रेजीका ज्ञान कम होनेसे उनका टाइपिंग कभी अच्छा न हो सका। फिर, उन्हींमें से मुझे हिसाबनवीस भी तैयार करने थे। नेटालसे अपनी इच्छानुसार मैं किसीको बुला न सकता था, क्योंकि बिना परवानेके कोई हिन्दुस्तानी दाखिल नहीं हो पाता था। और अपनी सुविधाके लिए मैं अधिकारियोंसे मेहरबानीकी भीख माँगनेको तैयार न था।

मैं परेशानीमें पड़ गया। काम इतना बढ़ गया था कि कितनी ही मेहनत क्यों न की जाये, मेरे लिए यह सम्भव नहीं रहा कि वकालत और सार्वजनिक सेवा दोनोंको ठीकसे कर सकूँ।

मुहर्रिरीके लिए अंग्रेज स्त्री-पुरुषोंके मिलने पर मैं उन्हें न रखूँ, ऐसी कोई बात नहीं थी। पर मुझे यह डर था कि 'काले' आदमीके यहाँ क्या गोरे नौकरी करेंगे? लेकिन मैंने प्रयत्न करनेका निश्चय किया। टाइप राइटिंग एजेण्टसे मेरी थोड़ी पहचान थी। मैं उसके पास गया और उससे कहा कि जिसे काले आदमीके अधीन नौकरी करनेमें अड़चन न हो, ऐसे टाइप राइटिंग करनेवाले गोरे भाई या बहनको वह मेरे लिए खोज दे। दक्षिण अफ्रीकामें शॉर्टहैण्ड लिखने और टाइपका काम करनेवाली अधिकतर बहनें ही होती हैं। इस एजेण्टने मुझे वचन दिया कि ऐसा आदमी प्राप्त करनेका वह प्रयत्न करेगा। उसे मिस डिक नामक एक स्कॉच कुमारिका मिल गयी। यह महिला हाल ही स्कॉटलैण्डसे आयी थी। उसे प्रामाणिक नौकरी कहीं भी करनेमें कोई आपत्ति न थी। उसे तत्काल काम पर लगना था। उक्त एजेण्टने इस बहनको

मेरे पास भेज दिया। उसे देखते ही मेरी आँखें उस पर टिक गयीं।

मैंने उससे पूछा, "आपको हिन्दुस्तानी आदमीके अधीन काम करनेमें कोई अड़चन तो नहीं है?"

उसने दृढ़ता-पूर्वक उत्तर दिया: "बिलकुल नहीं।"

"आप वेतन कितना लेंगी?"

उसने जवाब दिया: "क्या साढ़े सतरह पौण्ड आपके खयालमें अधिक होंगे?"

"आपसे मैं जितने कामकी आशा रखता हूँ उतना काम आप करेंगी तब तो मैं इसे बिलकुल अधिक नहीं समझूँगा। आप काम पर कबसे आ सकेंगी?"

"आप चाहें तो इसी क्षणसे।"

मैं बहुत खुश हुआ और उस बहनको उसी समय अपने सामने बैठाकर मैंने पत्र लिखाना शुरू कर दिया।

उसने केवल मेरे कारकुनका ही नहीं, बल्कि मैं मानता हूँ कि सगी लड़की अथवा बहनका पद तुरन्त ही सहज भावसे ले लिया। मुझे उसे कभी ऊँची आवाजमें कुछ कहना न पड़ा। शायद ही कभी उसके काममें कोई गलती निकालनी पड़ी हो। एक समय ऐसा था जब हजारों पौण्डकी व्यवस्था उसके हाथमें थी और वह हिसाब किताब भी रखने लगी थी। उसने संपूर्ण रूपसे मेरा विश्वास संपादन कर लिया था। लेकिन मेरे मन बड़ी बात यह थी कि मैं उसकी गुह्यतम भावनाओंको जानने जितना उसका विश्वास संपादन कर सका था। अपना साथी पसन्द करनेमें उसने मेरी सलाह ली थी। कन्यादान देनेका सौभाग्य भी मुझे ही प्राप्त हुआ था। मिस डिक जब मिसेज मैकडॉनल्ड बन गयीं, तब उन्हें मुझसे अलग होना पड़ा, यद्यपि विवाहके बाद भी कामकी अधिकता होने पर मैं जब चाहता उनसे काम ले लेता था।

किन्तु आफिसमें एक स्थायी शॉर्टहैण्ड राइटरकी आवश्यकता तो थी ही। एक महिला इसके लिए भी मिल गयी। नाम था मिस श्लेशिन। उसे मेरे पास लानेवाले मि० कैलनबैक थे, जिनका परिचय पाठकोंको आगे चलकर होगा। इस समय यह महिला एक हाईस्कूलमें शिक्षिकाका काम कर रही है। जब वह मेरे पास आयी थी, उसकी उमर कोई सतरह सालकी रही होगी। उसकी कुछ विचित्रताओंसे मि० कैलनबैक और मैं हार जाते थे। वह नौकरी करनेके विचारसे नहीं आयी थी। उसे तो अनुभव कमाने थे। उसके स्वभावमें कहीं रंग-द्वेष तो था ही नहीं। उसे किसीकी परवाह भी नहीं थी। वह किसीका भी अपमान करनेसे डरती न थी और अपने मनमें

जिसके बारेमें जो विचार आते, सो कहनेमें संकोच न करती थी। अपने इस स्वभावके कारण वह कभी-कभी मुझे परेशानीमें डाल देती थी। लेकिन उसका सरल और शुद्ध स्वभाव सारी परेशानी दूर कर देता था। अंग्रेजीके उसके ज्ञानको मैंने हमेशा अपनेसे ऊँचा माना था। इस कारण और उसकी वफादारी पर पूरा विश्वास होनेके कारण उसके द्वारा टाइप किये गये बहुतसे पत्रों पर, उन्हें दुबारा जाँचे बिना ही, मैं हस्ताक्षर कर दिया करता था।

उसकी त्यागवृत्तिका पार न था। उसने एक लम्बे समय तक मुझसे प्रतिमास सिर्फ छह पौण्ड ही लिये और दस पौण्डसे अधिक वेतन लेनेसे तो उसने अन्त तक साफ इनकार किया। जब कभी मैं अधिक लेनेको कहता, वह मुझे धमकाती और कहती, "मैं वेतन लेनेके लिए यहाँ नहीं रही हूँ। मुझे आपके साथ यह काम करना अच्छा लगता है और आपके आदर्श मुझे पसन्द हैं, इसीलिए मैं यहाँ टिकी हूँ।"

एक बार आवश्यकता होनेसे उसने मुझसे चालीस पौण्ड लिये थे, पर कर्जके तौर पर। पिछले साल उसने वे सारे पैसे लौटा दिये।

जैसी उसकी त्यागवृत्ति तीव्र थी, वैसी ही उसकी हिम्मत भी थी। मुझे स्फटिक-मणि जैसी पवित्र और क्षत्रियको भी चौंधियानेवाली वीरतासे युक्त जिन महिलाओंके सम्पर्कमें आनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है, उनमें से एक इस बालाको मैं मानता हूँ। अब तो वह बड़ी उमरकी प्रौढ़ कुमारिका है। आजकी उसकी मानसिक स्थितिसे मैं पूरी तरह परिचित नहीं हूँ; पर मेरे अनुभवोंमें इस बालाका अनुभव मेरे लिए सदा पुण्य-स्मरण बना रहेगा। इसलिए मैं जो जानता हूँ वह न लिखूँ, तो सत्यका द्रोही बनूँ।

काम करनेमें उसने रात या दिनका कोई भेद कभी जाना ही नहीं। वह आधी रातको भी जहाँ जाना होता, अकेली चली जाती और अगर मैं किसीको उसके साथ भेजनेका विचार करता, तो मुझे लाल आँखें दिखाती। हजारों बड़ी उमरके हिन्दुस्तानी भी उसे आदरकी दृष्टिसे देखते थे और उसका कहा करते थे। जब हम सब जेलमें थे, शायद ही कोई जिम्मेदार आदमी बाहर रहा था, तब वह अकेली सत्याग्रहकी समूची लड़ाईको संभाले हुए थी। स्थिति यह थी कि लाखोंका हिसाब उसके हाथमें, सारा पत्र-व्यवहार उसके हाथमें और 'इण्डियन ओपीनियन' भी उसके हाथमें। फिर भी वह थकना तो जानती ही न थी।

मिस श्लेशिनके विषयमें लिखते हुए मैं थक नहीं सकता। पर गोखलेका प्रमाण-

पत्र देकर मैं यह प्रकरण समाप्त करूँगा। गोखलेने मेरे सब साथियोंका परिचय प्राप्त किया था। यह परिचय करके उन्हें बहुतोंके विषयमें बहुत संतोष हुआ था। उन्हें सबके चरित्रका मूल्यांकन करनेका शौक था। सारे हिन्दुस्तानी तथा यूरोपियन साथियोंमें उन्होंने मिस श्लेशिनको प्रधानता दी थी। उन्होंने कहा था, "इतना त्याग, इतनी निर्भयता और इतनी कुशलता मैंने बहुत थोड़ोंमें देखी है। मेरी दृष्टिमें तो मिस श्लेशिन तुम्हारे साथियोंमें प्रथम पदकी अधिकारिणी है।

१३. 'इण्डियन ओपीनियन'

कुछ और भी दूसरे यूरोपियनोंके गाढ़ परिचयकी चर्चा करनी रह जाती है। पर उससे पहले दो-तीन महत्त्वपूर्ण बातोंका उल्लेख करना आवश्यक है।

एक परिचय तो यहीं दे दूँ। मिस डिकको नियुक्त करके ही मैं अपना काम पूरा कर सकूँ ऐसी स्थिति न थी। मि० रीचके बारेमें मैं पहले लिख चुका हूँ। उनसे मेरा अच्छा परिचय था ही। वे एक व्यापारी फर्मके संचालक थे। मैंने उन्हें सुझाया कि वहाँसे मुक्त होकर वे मेरे साथ आर्टिकल क्लर्कका काम करें। मेरा सुझाव उन्हें पसन्द आया और वे आफिसमें दाखिल हो गये। कामका मेरा बोझ हलका हो गया।

इसी अरसेमें श्री मदनजीतने 'इण्डियन ओपीनियन' अखबार निकालनेका विचार किया। उन्होंने मेरी सलाह और सहायता माँगी। छापाखाना तो वे चला ही रहे थे। अखबार निकालनेके विचारसे मैं सहमत हुआ। सन् १९०४ में इस अखबारका जन्म हुआ। मनसुखलाल नाजर इसके संपादक बने। पर संपादनका सच्चा बोझ तो मुझ पर ही पड़ा। मेरे भाग्यमें प्रायः हमेशा दूरसे ही अखबारकी व्यवस्था संभालनेका योग रहा है।

मनसुखलाल नाजर संपादकका काम न कर सकें, ऐसी कोई बात नहीं थी। उन्होंने देशमें कई अखबारोंके लिए लेख लिखे थे, पर दक्षिण अफ्रीकाके अटपटे प्रश्नों पर मेरे रहते उन्होंने स्वतंत्र लेख लिखनेकी हिम्मत नहीं की। उन्हें मेरी विवेक-शक्ति पर अत्यधिक विश्वास था। अतएव जिन-जिन विषयों पर कुछ लिखना जरूरी होता, उन पर लिखकर भेजनेका बोझ वे मुझ पर डाल देते थे।

यह अखबार साप्ताहिक था, जैसा कि आज भी है। आरम्भमें तो वह गुजराती, हिन्दी, तामिल और अंग्रेजीमें निकलता था। पर मैंने देखा कि तामिल और हिन्दी

विभाग नाममात्रके थे। मुझे लगा कि उनके द्वारा समाजकी कोई सेवा नहीं होती। उन विभागोंको रखनेमें मुझे असत्यका आभास हुआ। अतएव उन्हें बन्द करके मैंने शान्ति प्राप्त की।

मैंने यह कल्पना नहीं की थी कि इस अखबारमें मुझे कुछ अपने पैसे लगाने पड़ेंगे। लेकिन कुछ ही समयमें मैंने देखा कि अगर मैं पैसे न दूँ, तो अखबार चल ही नहीं सकता। मैं अखबारका संपादक नहीं था। फिर भी हिन्दुस्तानी और गोरे दोनों यह जानने लग गये थे कि उसके लेखोंके लिए मैं ही जिम्मेदार था। अखबार न निकलता तो भी कोई हानि न होती। पर निकालनेके बाद उसके बन्द होनेसे हिन्दुस्तानियोंकी बदनामी होगी और समाजको हानि पहुँचेगी, ऐसा मुझे प्रतीत हुआ।

मैं उसमें पैसे उँड़ेलता गया और कहा जा सकता है कि आखिर ऐसा भी समय आया, जब मेरी पूरी बचत उसी पर खर्च हो जाती थी। मुझे ऐसे समयकी याद है, जब मुझे हर महीने ७५ पौण्ड भेजने पड़ते थे।

किन्तु इतने वर्षोंके बाद मुझे लगता है कि इस अखबारने हिन्दुस्तानी समाजकी अच्छी सेवा की है। इससे धन कमानेका विचार तो शुरूसे ही किसीका नहीं था।

जब तक वह मेरे अधीन था, उसमें किये गये परिवर्तन मेरे जीवनमें हुए परिवर्तनोंके द्योतक थे। जिस तरह आज 'यंग इंडिया' और 'नवजीवन' मेरे जीवनके कुछ अंशोंके निचोड़-रूप हैं, उसी तरह 'इण्डियन ओपीनियन' था। उसमें मैं प्रति सप्ताह अपनी आत्मा उँड़ेलता था और जिसे मैं सत्याग्रहके रूपमें पहचानता था, उसे समझानेका प्रयत्न करता था। जेलके समयोंको छोड़कर दस वर्षोंके अर्थात् सन् १९१४ तकके 'इण्डियन ओपीनियन' के शायद ही कोई अंक ऐसे होंगे, जिनमें मैंने कुछ लिखा न हो। इनमें मैंने एक भी शब्द बिना विचारे, बिना तौले लिखा हो या किसीको केवल खुश करनेके लिए लिखा हो अथवा जान-बूझकर अतिशयोक्ति की हो, ऐसा मुझे याद नहीं पड़ता। मेरे लिए यह अखबार संयमकी तालीम सिद्ध हुआ था। मित्रोंके लिए वह मेरे विचारोंको जाननेका माध्यम बन गया था। आलोचकोंको उसमें से आलोचनाके लिए बहुत कम सामग्री मिल पाती थी। मैं जानता हूँ। कि उसके लेख आलोचकोंको अपनी कलम पर अंकुश रखनेके लिए बाध्य करते थे। इस अखबारके बिना सत्याग्रहकी लड़ाई चल नहीं सकती थी। पाठक-समाज इस अखबारको अपना समझकर इसमें से लड़ाईका और दक्षिण अफ्रीकाके हिन्दुस्तानियोंकी दशाका सही हाल जानता था।

इस अखबारके द्वारा मुझे मनुष्यके रंग-बिरंगे स्वभावका बहुत ज्ञान मिला। संपादक और ग्राहकके बीच निकटका और स्वच्छ सम्बन्ध स्थापित करनेकी ही धारणा होनेसे मेरे पास हृदय खोलकर रख देनेवाले पत्रोंका ढेर लग जाता था। उसमें तीखे, कड़वे, मीठे यों भाँति-भाँतिके पत्र मेरे नाम आते थे। उन्हें पढ़ना, उन पर विचार करना, उनमें से विचारोंका सार लेकर उत्तर देना — यह सब मेरे लिए शिक्षाका उत्तम साधन बन गया था। मुझे ऐसा अनुभव हुआ मानो इसके द्वारा मैं समाजमें चल रही चर्चाओं और विचारोंको सुन रहा होऊँ। मैं संपादकके दायित्वको भलीभाँति समझने लगा और मुझे समाजके लोगों पर जो प्रभुत्व प्राप्त हुआ, उसके कारण भविष्यमें होनेवाली लड़ाई संभव हो सकी, वह सुशोभित हुई और उसे शक्ति प्राप्त हुई।

'इण्डियन ओपीनियन' के पहले महीनेके कामकाजसे ही मैं इस परिणाम पर पहुँच गया था कि समाचारपत्र सेवाभावसे ही चलाने चाहिये। समाचारपत्र एक जबरदस्त शक्ति है, किन्तु जिस प्रकार निरंकुश पानीका प्रवाह गाँवके गाँव डुबो देता है और फसलको नष्ट कर देता है, उसी प्रकार कलमका निरंकुश प्रवाह भी नाशकी सृष्टि करता है। यदि ऐसा अंकुश बाहरसे आता है, तो वह निरंकुशतासे भी अधिक विषैला सिद्ध होता है। अंकुश तो अंदरका ही लाभदायक हो सकता है।

यदि यह विचारधारा सच हो, तो दुनियाके कितने समाचारपत्र इस कसौटी पर खरे उतर सकते हैं? लेकिन निकम्मोंको बन्द कौन करे? कौन किसे निकम्मा समझे? उपयोगी और निकम्मे दोनों साथ-साथ ही चलते रहेंगे। उनमें से मनुष्यको अपना चुनाव करना होगा।

१४. 'कुली-लोकेशन' अर्थात् भंगी-बस्ती ?

हिन्दुस्तानमें हम अपनी बड़ीसे बड़ी सेवा करनेवाले ढेड़, भंगी इत्यादिको, जिन्हें हम अस्पृश्य मानते हैं, गाँवसे बाहर अलग रखते हैं। गुजरातीमें उनकी बस्तीको 'ढेड़वाडा' कहते हैं, और इस नामका उच्चारण करनेमें लोगोंको नफरत होती है। इसी प्रकार यूरोपके ईसाई समाजमें एक जमाना ऐसा था, जब यहूदी लोग अस्पृश्य माने जाते थे और उनके लिए जो ढेड़वाड़ा बसाया जाता था उसे 'घेटो' कहते थे। यह नाम असगुनिया माना जाता था। इसी तरह दक्षिण अफ्रीकामें हम हिन्दुस्तानी

लोग ढेढ़ बन गये हैं। एण्डूजके आत्म-बलिदानसे और शास्त्रीजीकी जादूकी छड़ीसे हमारी शुद्धि होगी और फलतः हम ढेड़ न रहकर सभ्य माने जायेंगे या नहीं, सो आगे देखना होगा।

हिन्दुओंकी भाँति यहूदियोंने अपनेको ईश्वरका प्रीतिपात्र और दूसरोंको अप्रीति-पात्र मानकर जो अपराध किया था, उसका दण्ड उन्हें विचित्र और अनुचित रीतिसे प्राप्त हुआ था। लगभग उसी प्रकार हिन्दुओंने भी अपनेको सुसंस्कृत अथवा आर्य मानकर अपने ही एक अंगको प्राकृत, अनार्य अथवा ढेड़ माना है। अपने इस पापका फल वे विचित्र रीतिसे और अनुचित ढंगसे दक्षिण अफ्रीका आदि उपनिवेशोंमें भोग रहे हैं और मेरी यह धारणा है कि उसमें उनके पड़ोसी मुसलमान और पारसी भी, जो उन्हींके रंगके और देशके हैं, फँस गये हैं।

जोहानिस्बर्गके कुली-लोकेशनको इस प्रकरणका विषय बनानेका हेतु अब पाठकोंकी समझमें कुछ-कुछ आ गया होगा। दक्षिण अफ्रीकामें हम हिन्दुस्तानी 'कुली' के नामसे मशहूर हो गये हैं। यहाँ तो हम 'कुली' शब्दका अर्थ केवल मजदूर करते हैं। लेकिन दक्षिण अफ्रीकामें इस शब्दका जो अर्थ होता था, उसे 'ढेड़', 'पंचम' आदि तिरस्कारवाचक शब्दों द्वारा ही सूचित किया जा सकता है। वहाँ 'कुलियों' के रहनेके लिए जो अलग जगह रखी जाती है, वह 'कुली-लोकेशन' कही जाती है। जोहानिस्बर्गमें ऐसा एक 'लोकेशन' था। दूसरी सब जगहोंमें जो 'लोकेशन' बसाये गये थे और जो आज भी मौजूद हैं, उनमें हिन्दुस्तानियोंको कोई मालिकी हक नहीं होता। पर इस जोहानिस्बर्गवाले लोकेशनमें जमीन ९९ वर्षके लिए पट्टे पर दी गयी थी। इसमें हिन्दुस्तानियोंकी आबादी अत्यन्त घनी थी। बस्ती बढ़ती थी, पर लोकेशन बढ़ नहीं सकता था। उसके पाखाने जैसे-तैसे साफ अवश्य होते थे, पर इसके सिवा म्युनिसिपैलिटीकी ओरसे और कोई विशेष देखरेख नहीं होती थी। वहाँ सड़क या रोशनीकी व्यवस्था तो होती ही कैसे? इस प्रकार जहाँ लोगोंके शौचादिसे सम्बन्ध रखनेवाली व्यवस्थाकी भी किसीको चिन्ता न थी, वहाँ सफाई भला कैसे होती? जो हिन्दुस्तानी वहाँ बसे हुए थे, वे शहरकी सफाई और आरोग्य इत्यादिके नियम जाननेवाले सुशिक्षित और आदर्श हिन्दुस्तानी नहीं थे कि उन्हें म्युनिसिपैलिटीकी मददकी अथवा उनकी रहन-सहन पर म्युनिसिपैलिटीकी देखरेखकी आवश्यकता न हो। यदि वहाँ जंगलमें मंगल कर सकनेवाले, धूलमें से धान पैदा करनेकी शक्तिवाले हिन्दुस्तानी जाकर बसे होते, तो उनका इतिहास सर्वथा भिन्न

होता। ऐसे लोग बड़ी संख्यामें दुनियाके किसी भी भागमें परदेश जाकर बसते पाये नहीं जाते। साधारणतः लोग धन और धन्धेके लिए परदेश जाते हैं। पर हिन्दुस्तानसे मुख्यतः बड़ी संख्यामें अपढ़, गरीब और दीन-दुःखी मजदूर ही गये थे। उन्हें तो पग-पग पर रक्षाकी आवश्यकता थी। उनके पीछे-पीछे व्यापारी और दूसरे स्वतंत्र हिन्दुस्तानी जो गये, वे तो मुट्ठीभर ही थे।

इस प्रकार सफाईकी रक्षा करनेवाले विभागकी अक्षम्य असावधानीके कारण और हिन्दुस्तानी बाशिन्दोंके अज्ञानके कारण आरोग्यकी दृष्टिसे लोकेशनकी स्थिति बेशक खराब थी। म्युनिसिपैलिटीने उसे सुधारनेकी थोड़ी भी उचित कोशिश नहीं की। परन्तु अपने ही दोषसे उत्पन्न हुई खराबीको निमित्त बनाकर सफाई-विभागने उक्त लोकेशनको नष्ट करनेका निश्चय किया और उस जमीन पर कब्जा करनेका अधिकार वहाँकी धारासभासे प्राप्त किया। जिस समय मैं जोहानिस्बर्गमें जाकर बसा था, उस समय वहाँकी हालत ऐसी थी।

वहाँ रहनेवाले अपनी जमीनके मालिक थे, इसलिए उनको कुछ-न-कुछ नुकसानी देना जरूरी था। नुकसानीकी रकम निश्चित करनेके लिए एक खास अदालत कायम हुई थी। म्युनिसिपैलिटी जो रकम देनेको तैयार हो उसे मकान-मालिक स्वीकार न करता, तो उक्त अदालत द्वारा ठहराई हुई रकम उसे मिलती थी। यदि म्युनिसिपैलिटी द्वारा सूचित रकमसे अधिक रकम देनेका निश्चय अदालत करती, तो मकान-मालिकके वकीलका खर्च नियमके अनुसार म्युनिसिपैलिटीको चुकाना होता था।

इनमें से अधिकांश दावोंमें मकान-मालिकोंने मुझे अपना वकील किया था। मुझे इस कामसे धन पैदा करनेकी इच्छा नहीं थी। मैंने उनसे कह दिया था : "अगर आप जीतेंगे तो म्युनिसिपैलिटीकी तरफसे जो भी खर्च मिलेगा, उससे मैं संतोष कर लूँगा। आप हारें चाहे जीतें, यदि हर पट्टेके पीछे दस पौण्ड आप मुझे देंगे तो काफी होगा।" मैंने उन्हें बताया कि इसमें से भी आधी रकम गरीबोंके लिए अस्पताल बनाने या ऐसे ही किसी सार्वजनिक काममें खर्च करनेके लिए अलग रखनेका मेरा इरादा है। स्वभावतः यह सुनकर सब बहुत खुश हुए।

लगभग सत्तर मामलोंमें से एकमें ही हार हुई। अतएव मेरी फीसकी रकम काफी बढ़ गयी। पर उसी समय 'इण्डियन ओपीनियन' की माँग मेरे सिर पर लटक रही थी। अतएव लगभग सोलह सौ पौण्डका चेक उसमें चला गया, ऐसा मेरा खयाल है।

इन दावोंमें मेरी मान्यताके अनुसार मैंने अच्छी मेहनत की थी। मुवक्किलोंकी तो मेरे पास भीड़ ही लगी रहती थी। इनमें से प्रायः सभी उत्तर हिन्दुस्तानके बिहार इत्यादि प्रदेशोंसे और दक्षिणके तामिल-तेलुगु प्रदेशसे पहले इकरारनामेके अनुसार आये थे और बादमें मुक्त होने पर स्वतंत्र धन्धा करने लगे थे।

इन लोगोंने अपने खास दुःखोंको मिटानेके लिए स्वतंत्र हिन्दुस्तानी व्यापारी-वर्गके मण्डलसे भिन्न एक मण्डलकी रचना की थी। उनमें कुछ बहुत शुद्ध हृदयके, उदार भावनावाले और चारित्र्यवान हिन्दुस्तानी भी थे। उनके मुखियाका नाम श्री जयरामसिंह था। और मुखिया न होते हुए भी मुखिया जैसे ही दूसरे भाईका नाम श्री बदरी था। दोनोंका देहान्त हो चुका है। दोनोंकी तरफसे मुझे बहुत अधिक सहायता मिली थी। श्री बदरीसे मेरा बहुत अधिक परिचय हो गया था और उन्होंने सत्याग्रहमें सबसे आगे रहकर हिस्सा लिया था। इन और ऐसे अन्य भाइयोंके द्वारा मैं उत्तर-दक्षिणके बहुसंख्यक हिन्दुस्तानियोंके निकट परिचयमें आया था और उनका वकील ही नहीं, बल्कि भाई बनकर रहा था तथा उनके तीनों प्रकारके दुःखोंमें उनका साझी बना था। सेठ अब्दुल्लाने मुझे 'गांधी' नामसे पहचाननेसे इनकार कर दिया। 'साहब' तो मुझे कहता और मानता ही कौन? उन्होंने एक अतिशय प्रिय नाम खोज लिया। वे मुझे 'भाई' कह कर पुकारने लगे। दक्षिण अफ्रीकामें अन्त तक मेरा यही नाम रहा। लेकिन जब ये गिरमिट-मुक्त हिन्दुस्तानी मुझे 'भाई' कहकर पुकारते थे, तब मुझे उसमें एक खास मिठासका अनुभव होता था।

१५. महामारी — १

म्युनिसिपैलिटीने इस लोकेशनका मालिकी पट्टा लेनेके बाद तुरन्त ही वहाँ रहनेवाले हिन्दुस्तानियोंको हटाया नहीं था। उन्हें दूसरी अनुकूल जगह देना तो जरूरी था ही। म्युनिसिपैलिटीने यह जगह निश्चित नहीं की थी। इसलिए हिन्दुस्तानी लोग उसी 'गन्दे' लोकेशनमें रहे। लेकिन दो परिवर्तन हुए। हिन्दुस्तानी लोग मालिक न रहकर म्युनिसिपल विभागके किरायेदार बने और लोकेशनकी गन्दगी बढ़ी। पहले जब हिन्दुस्तानियोंका मालिकी हक माना जाता था, उस समय वे इच्छासे नहीं तो डरके मारे ही कुछ-न-कुछ सफाई रखते थे। अब म्युनिसिपैलिटीको भला किसका डर था? मकानोंमें किरायेदार बढ़े और उसके साथ गन्दगी तथा अव्यवस्था भी बढ़ी।

इस तरह चल रहा था। हिन्दुस्तानियोंके दिलोंमें इसके कारण बेचैनी थी ही। इतनेमें अचानक भयंकर महामारी फूट निकली। यह महामारी प्राणघातक थी। यह फेफड़ोंकी महामारी थी। गाँठवाली महामारीकी तुलनामें यह अधिक भयंकर मानी जाती थी।

सौभाग्यसे महामारीका कारण यह लोकेशन नहीं था। उसका कारण जोहानिस्बर्गके आसपासकी अनेक सोनेकी खानोंमें से एक खान थी। वहाँ मुख्य रूपसे हब्शी काम करते थे। उनकी स्वच्छताकी जिम्मेदारी केवल गोरे मालिकोंके सिर थी। इस खानमें कुछ हिन्दुस्तानी भी काम करते थे। उनमें से तेईसको अचानक छूत लगी और एक दिन शामको भयंकर महामारीके शिकार बनकर वे लोकेशनवाले अपने घरोंमें आये।

उस समय भाई मदनजीत 'इण्डियन ओपीनियन'के ग्राहक बनाने और चन्दा वसूल करनेके लिए वहाँ आये थे। वे लोकेशनमें घूम-फिर रहे थे। उनमें निर्भयताका बढ़िया गुण था। ये बीमार उनके देखनेमें आये और उनका हृदय व्यथित हुआ। उन्होंने पेन्सिलसे लिखी एक पर्ची मुझे भेजी। उसका भावार्थ यह था :

"यहाँ अचानक भयंकर महामारी फूट पड़ी है। आपको तुरन्त आकर कुछ करना चाहिये, नहीं तो परिणाम भयंकर होगा। तुरन्त आइये।"

मदनजीतने एक खाली पड़े हुए मकानका ताला निडरता-पूर्वक तोड़कर उस पर कब्जा कर लिया और उसमें इन बीमारोंको रख दिया। मैं अपनी साइकल पर लोकेशन पहुँचा। वहाँसे टाउन-क्लर्कको सब जानकारी भेजी और यह सूचित किया कि किन परिस्थितियोंमें मकान पर कब्जा किया गया था।

डॉ० विलियम गॉडफ्रे जोहानिस्बर्गमें डॉक्टरी करते थे। समाचार मिलते ही वे दौड़े आये और बीमारोंके डॉक्टर तथा नर्सका काम करने लगे। पर हम तीन आदमी तेईस बीमारोंको संभाल नहीं सकते थे।

अनुभवके आधार पर मेरा यह विश्वास बना है कि भावना शुद्ध हो, तो संकटका सामना करनेके लिए सेवक और साधन मिल ही जाते हैं। मेरे आफिसमें कल्याणदास, माणेकलाल और दूसरे दो हिन्दुस्तानी थे। अन्तिम दोके नाम इस समय याद नहीं हैं। कल्याणदासको उनके पिताने मुझे सौंप दिया था। उनके जैसे परोपकारी और आज्ञा-पालनमें विश्वास रखनेवाले सेवक मैंने वहाँ थोड़े ही देखे होंगे। सौभाग्यसे कल्याणदास उस समय ब्रह्मचारी थे। इसलिए उन्हें चाहे जैसा

जोखिमका काम सौंपनेमें मैंने कभी संकोच नहीं किया। दूसरे माणिकलाल मुझे जोहानिस्बर्गमें मिल गये थे। मेरा खयाल है कि वे भी कुँवारे थे। मैंने अपने इन चारों मुहर्रिरों, साथियों अथवा पुत्रों — कुछ भी कह लीजिये — को होमनेका निश्चय किया। कल्याणदासको तो पूछना ही क्या था? दूसरे तीन भी पूछते ही तैयार हो गये। "जहाँ आप वहाँ हम" यह उनका छोटा और मीठा जवाब था।

मि० रिचका परिवार बड़ा था। वे स्वयं तो इस काममें कूद पड़नेको तैयार थे, पर मैंने उन्हें रोका। मैं उन्हें संकटमें डालनेके लिए बिलकुल तैयार न था। ऐसा करनेकी मुझमें हिम्मत न थी। पर उन्होंने बाहरका सब काम किया।

शुश्रूषाकी वह रात भयानक थी। मैंने बहुतसे बीमारोंकी सेवा-शुश्रूषा की थी, पर प्लेगके बीमारोंकी सेवा-शुश्रूषा करनेका अवसर मुझे कभी नहीं मिला था। डॉ० गॉडफ्रेकी हिम्मतने हमें निडर बना दिया था। बीमारोंकी विशेष सेवा-चाकरी कर सकने जैसी स्थिति नहीं थी। उन्हें दवा देना, ढाढ़स बँधाना, पानी पिलाना और उनका मल-मूत्र आदि साफ करना, इसके सिवा विशेष कुछ करनेको था ही नहीं।

चारों नौजवानोंकी तनतोड़ मेहनत और निडरता देखकर मेरे हर्षकी सीमा न रही।

डॉ० गॉडफ्रेकी हिम्मत समझमें आ सकती है। मदनजीतकी भी समझी जा सकती है। पर इन नौजवानोंकी हिम्मतका क्या? रात जैसे-तैसे बीती। जहाँ तक मुझे याद है उस रात हमने किसी बीमारको नहीं खोया।

पर यह प्रसंग जितना करुणाजनक है, उतना ही रसपूर्ण और मेरी दृष्टिसे धार्मिक भी है। अतएव इसके लिए अभी दूसरे दो प्रकरणोंकी जरूरत तो रहेगी ही।

१६. महामारी — २

इस प्रकार मकान और बीमारोंको अपने कब्जेमें लेनेके लिए टाउनक्लर्कने मेरा उपकार माना और प्रामाणिकतासे स्वीकार किया: "हमारे पास ऐसी परिस्थितिमें अपने-आप अचानक कुछ कर सकनेके लिए कोई साधन नहीं हैं। आपको जो मदद चाहिये, आप माँगिये। टाउन-कौंसिलसे जितनी मदद बन सकेगी उतनी वह करेगी।" पर उपयुक्त उपचारके प्रति सजग बनी हुई इस म्युनिसिपैलिटीने स्थितिका सामना करनेमें देर न की।

दूसरे दिन मुझे एक खाली पड़े हुए गोदामका कब्जा दिया और बीमारोंको वहाँ ले

जानेकी सूचना की। पर उसे साफ करनेका भार म्युनिसिपैलिटीने नहीं उठाया। मकान मैला और गन्दा था। मैंने खुद ही उसे साफ किया। खटिया वगैरा सामान उदार हृदयके हिन्दुस्तानियोंकी मददसे इकट्ठा किया और तत्काल एक कामचलाऊ अस्पताल खड़ा कर लिया। म्युनिसिपैलिटीने एक नर्स भेज दी और उसके साथ ब्राण्डीकी बोतल और बीमारोंके लिए अन्य आवश्यक वस्तुएँ भेजीं। डॉ० गोडफ्रेका चार्ज कायम रहा।

हम नर्सको क्वचित् ही बीमारोंको छूने देते थे। नर्स स्वयं छूनेको तैयार थी। वह भले स्वभावकी स्त्री थी। पर हमारा प्रयत्न यह था कि उसे संकटमें न पड़ने दिया जाय।

बीमारोंको समय-समय पर ब्राण्डी देनेकी सूचना थी। रोगकी छूतसे बचनेके लिए नर्स हमें भी थोड़ी ब्राण्डी लेनेको कहती और खुद भी लेती थी। हममें कोई ब्राण्डी लेनेवाला न था। मुझे तो बीमारोंको भी ब्राण्डी देनेमें श्रद्धा न थी। डॉ० गॉडफ्रेकी इजाजतसे तीन बीमारों पर, जो ब्राण्डीके बिना रहनेको तैयार थे और मिट्टीके प्रयोग करनेको राजी थे, मैंने मिट्टीका प्रयोग शुरू किया और उनके माथे और छातीमें जहाँ-जहाँ दर्द होता था वहाँ-वहाँ मिट्टीकी पट्टी रखी। इन तीन बीमारोंमें से दो बचे। बाकी सब बीमारोंका देहान्त हो गया। बीस बीमार तो इस गोदाममें ही चल बसे।

म्युनिसिपैलिटीकी दूसरी तैयारियाँ चल रही थीं। जोहानिस्बर्गसे सात मील दूर एक 'लेज़रेटो' अर्थात् संक्रामक रोगोंके लिए बीमारोंका अस्पताल था। वह तम्बू खड़े करके इन तीन बीमारोंको उनमें पहुँचाया गया। भविष्यमें महामारीके शिकार होनेवालोंको भी वहीं ले जानेकी व्यवस्था की गयी। हमें इस कामसे मुक्ति मिली। कुछ ही दिनों बाद हमें मालूम हुआ कि उक्त भली नर्सको महामारी हो गयी थी और उसीमें उसका देहान्त हुआ। वे बीमार कैसे बचे और हम महामारीसे किस कारण मुक्त रहे, सो कोई कह नहीं सकता। पर मिट्टीके पचारके प्रति मेरी श्रद्धा और दवाके रूपमें भी शराबके उपयोगके प्रति मेरी अश्रद्धा बढ़ गयी। मैं जानता हूँ कि यह श्रद्धा और अश्रद्धा दोनों निराधार मानी जायेंगी। पर उस समय मुझ पर जो छाप पड़ी थी और जो अभी तक बनी हुई है उसे मैं मिटा नहीं सकता। अतएव इस अवसर पर उसका उल्लेख करना आवश्यक समझता हूँ।

इस महामारीके शुरू होते ही मैंने तत्काल समाचारपत्रोंके लिए एक कड़ा पत्र लिखा था और उसमें लोकेशनको अपने हाथमें लेनेके बादसे बढ़ी हुई

म्युनिसिपैलिटीकी लापरवाहीकी और महामारीके लिए उसकी जवाबदारीकी चर्चा की थी। इस पत्रने मुझे मि० हेनरी पोलाकसे मिला दिया था और यही पत्र स्व० जोसेफ डोकके परिचयका एक कारण बन गया था।

पिछले प्रकरणोंमें मैं लिख चुका हूँ कि मैं एक निरामिष भोजनालयमें भोजन करने जाता था। वहाँ मि० आल्बर्ट वेस्टसे मेरी जान-पहचान हुई थी। हम प्रतिदिन शामको इस भोजनालयमें मिलते और भोजनके बाद साथमें घूमने जाया करते थे। वेस्ट एक छोटे-से छापाखानेके साझेदार थे। उन्होंने समाचारपत्रोंमें महामारी विषयक मेरा पत्र पढ़ा और भोजनके समय मुझे भोजनालयमें न देखकर वे घबरा गये।

मैंने और मेरे साथी सेवकोंने महामारीके दिनोंमें अपना आहार घटा लिया था। एक लम्बे समयसे मेरा अपना यह नियम था कि जब आसपास महामारीकी हवा हो तब पेट जितना हलका रहे उतना ही अच्छा। इसलिए मैंने शामका खाना बन्द कर दिया था और दोपहरको दूसरे भोजन करनेवालोंको सब प्रकारके भयसे दूर रखनेके लिए मैं ऐसे समय पहुँचकर खा आता था जब दूसरे कोई पहुँचे न होते थे। भोजनालयके मालिकसे मेरी गहरी जान-पहचान हो गयी थी। मैंने उससे कह रखा था कि चूँकि मैं महामारीके बीमारोंकी सेवामें लगा हूँ, इसलिए दूसरोंके सम्पर्कमें कम-से-कम आना चाहता हूँ।

यों मुझे भोजनालयमें न देखनेके कारण दूसरे या तीसरे ही दिन सबेरे-सबेरे जब मैं बाहर निकलनेकी तैयारीमें लगा था, वेस्टने मेरे कमरेका दरवाजा खटखटाया। दरवाजा खोलते ही वेस्ट बोले :

"आपको भोजनालयमें न देखकर मैं घबरा उठा था कि कहीं आपको तो कुछ नहीं हो गया। इसलिए यह सोचकर कि इस समय आप मिल ही जायेंगे, मैं यहाँ आया हूँ। मेरे कर सकने योग्य कोई मदद हो तो मुझसे कहिये। मैं बीमारोंकी सेवा-शुश्रूषाके लिए भी तैयार हूँ। आप जानते हैं कि मुझ पर अपना पेट भरनेके सिवा और कोई जवाबदारी नहीं है।"

मैंने वेस्टका आभार माना। मुझे याद नहीं पड़ता कि मैंने विचारके लिए एक मिनिट भी लगाया हो। तुरन्त कहा :

"आपको नर्सके रूपमें तो मैं कभी न लूँगा। अगर नये बीमार न निकले तो हमारा काम एक-दो दिनमें ही पूरा हो जायेगा। लेकिन एक काम अवश्य है।"

"कौनसा?"

"क्या डरबन पहुँचकर आप 'इण्डियन ओपीनियन' प्रेसका प्रबन्ध अपने हाथमें लेंगे? मदनजीत तो अभी यहाँके काममें व्यस्त हैं। परन्तु वहाँ किसीका जाना जरूरी है। आप चले जायें तो उस तरफकी मेरी चिन्ता बिलकुल कम हो जाय।"

वेस्टने जवाब दिया: "यह तो आप जानते हैं कि मेरा अपना छापाखाना है। बहुत संभव है कि मैं जानेको तैयार हो जाऊँ। आखिरी जवाब आज शाम तक दूँ तो चलेगा न? घूमने निकल सकें तो उस समय हम बात कर लेंगे।"

मैं प्रसन्न हुआ। उसी दिन शामको थोड़ी बातचीत की। वेस्टको हर महीने दस पौण्डका वेतन और छापाखानेमें कुछ मुनाफा हो तो उसका अमुक भाग देनेका निश्चय किया। वेस्ट वेतनके लिए तो जा नहीं रहे थे। इसलिए वेतनका सवाल उनके सामने नहीं था। दूसरे ही दिन रातकी मेलसे वे डरबनके लिए रवाना हुए और अपनी उगाहीका काम मुझे सौंपते गये। उस दिनसे लेकर मेरे दक्षिण अफ्रीका छोड़नेके दिन तक वे मेरे सुख-दुःखके साथी रहे। वेस्टका जन्म विलायतके एक परगनेके लाउथ नामक गाँवके एक किसान-परिवारमें हुआ था। उन्हें साधारण स्कूली शिक्षा प्राप्त हुई थी। वे अपने परिश्रमसे अनुभवकी पाठशालामें शिक्षा पाकर तैयार हुए शुद्ध, संयमी, ईश्वरसे डरनेवाले, साहसी और परोपकारी अंग्रेज थे। मैंने उन्हें हमेशा इसी रूपमें जाना है। उनका और उनके कुटुम्बका परिचय इन प्रकरणोंमें हमें आगे अधिक होनेवाला है।

१७. लोकेशनकी होली

यद्यपि बीमारोंकी सेवा-शुश्रूषासे मैं और मेरे साथी मुक्त हो चुके थे, फिर भी महामारीके कारण उत्पन्न दूसरे कामोंकी जवाबदारी तो सिर पर थी ही।

म्युनिसिपैलिटी लोकेशनकी स्थितिके बारेमें भले ही लापरवाह हो, पर गोरे नागरिकोंके आरोग्यके विषयमें तो वह चौबीसों घंटे जाग्रत रहती थी। उनके आरोग्यकी रक्षाके लिए पैसा खर्च करनेमें उसने कोई कसर न रखी। और इस मौके पर महामारीको आगे बढ़नेसे रोकनेके लिए तो उसने पानीकी तरह पैसे बहाये। मैंने हिन्दुस्तानियोंके प्रति म्युनिसिपैलिटीके व्यवहारमें बहुतसे दोष देखे थे। फिर भी गोरोंके लिए बरती गयी इस सावधानीके लिए मैं म्युनिसिपैलिटीका आदर किये बिना न रह सका, और उसके इस शुभ प्रयत्नमें मुझसे जितनी मदद बन पड़ी मैंने दी। मैं

मानता हूँ कि मैंने वैसी मदद न दी होती तो म्युनिसिपैलिटीके लिए काम मुश्किल हो जाता और कदाचित् वह बंदूकके बलका उपयोग करती — करनेमें हिचकिचाती नहीं — और अपना चाहा सिद्ध करती।

पर वैसा कुछ हो नहीं पाया। हिन्दुस्तानियोंके व्यवहारसे म्युनिसिपैलिटीके अधिकारी खुश हुए और बादका कितना ही काम सरल हो गया। म्युनिसिपैलिटीकी माँगोंके अनुकूल बरताव करानेमें मैंने हिन्दुस्तानियों पर अपने प्रभावका पूरा-पूरा उपयोग किया। हिन्दुस्तानियोंके लिए यह सब करना बहुत कठिन था, पर मुझे याद नहीं पड़ता कि उनमें से एकने भी मेरी बातको टाला हो।

लोकेशनके आसपास पहरा बैठ गया। बिना इजाजत न कोई लोकेशनके बाहर जा सकता था और न बिना इजाजत कोई अन्दर घुस सकता था। मुझे और मेरे साथियोंको स्वतंत्रता-पूर्वक अन्दर जानेके परवाने दिये गये थे। म्युनिसिपैलिटीका इरादा यह था कि लोकेशनमें रहनेवाले सब लोगोंको तीन हफ्तोंके लिए जोहानिस्बर्गसे तेरह मील दूर एक खुले मैदानमें तम्बू गाड़कर बसाया जाय और लोकेशनको जला दिया जाय। डेरे-तम्बूकी नई बस्ती बसानेमें और वहाँ रसद इत्यादि सामान पहुँचानेमें कुछ दिन तो लगते ही। इस बीचके समयके लिए उक्त पहरा बैठाया गया था।

लोग बहुत घबराये। लेकिन चूँकि मैं उनके साथ था, इसलिए उन्हें तसल्ली थी। उनमें से बहुतेरे गरीब अपने पैसे घरोंमें गाड़कर रखते थे। अब पैसे वहाँसे हटाना जरूरी हो गया। उनका कोई बैंक न था। बैंकका तो वे नाम भी न जानते थे। मैं उनका बैंक बना। मेरे यहाँ पैसोंका ढेर लग गया। ऐसे समय मैं कोई मेहनताना तो ले ही नहीं सकता था। जैसे-तैसे मैंने इस कामको पूरा किया। हमारे बैंकके मैनेजरसे मेरी अच्छी जान-पहचान थी। मैंने उनसे कहा कि मुझे उनके बैंकमें बहुत बड़ी रकम जमा करनी होगी। बैंक ताँबे और चाँदीके सिक्के बड़ी संख्यामें लेनेको तैयार नहीं होते। इसके सिवा, महामारीके क्षेत्रसे आनेवाले पैसोंको छूनेमें मुहर्रिर लोग आनाकानी करें, इसकी भी संभावना थी। मैनेजरने मेरे लिए सब प्रकारकी सुविधा कर दी। यह तय हुआ कि जंतु-नाशक पानीसे धो कर पैसे बैंकमें भेज दिये जायें। मुझे याद है कि इस तरह लगभग साठ हजार पौण्ड बैंकमें जमा किये गये थे। जिनके पास अधिक रकमें थीं उन मुवक्किलोंको एक निश्चित अवधिके लिए अपनी रकम ब्याज पर रखनेकी सलाह मैंने दी। इस प्रकार अलग-अलग मुवक्किलोंके नाम कुछ रकमें जमा की गयीं। इसका परिणाम यह हुआ कि उनमें से कुछ लोग बैंकमें पैसे

रखनेके आदी हो गये। लोकेशनमें रहनेवालोंको एक स्पेशल ट्रेनमें जोहानिस्बर्गके पास क्लिपस्प्रुट फार्म पर ले जाया गया। वहाँ उनके लिए खाने-पीनेकी व्यवस्था म्युनिसिपैलिटीने अपने खर्चसे की। तंबुओंमें बसे इस गाँवका दृश्य सिपाहियोंकी छावनी-जैसा था। लोगोंको इस तरह रहनेकी आदत नहीं थी। इससे उन्हें मानसिक दुःख हुआ, नया नया-सा लगा। किन्तु कोई खास तकलीफ नहीं उठानी पड़ी। मैं हर रोज एक बार साइकल पर वहाँ हो आता था। इस तरह तीन हफ्ते खुली हवामें रहनेसे लोगोंके स्वास्थ्यमें अवश्य ही सुधार हुआ और मानसिक दुःखको तो वे पहले चौबीस घंटोंके अंदर ही भूल गये। अतएव बादमें वे आनन्दसे रहने लगे। मैं जब भी वहाँ जाता, उन्हें भजन-कीर्तन और खेल-कूदमें ही लगा पाता।

जैसा कि मुझे याद है, जिस दिन लोकेशन खाली किया गया उसके दूसरे दिन उसकी होली की गयी। म्युनिसिपैलिटीने उसकी एक भी चीज बचानेका लोभ नहीं किया। इन्हीं दिनों और इसी निमित्तसे म्युनिसिपैलिटीने अपने मार्केटकी सारी इमारती लकड़ी भी जला डाली और लगभग दस हजार पौण्डका नुकसान सहन किया। मार्केटमें मरे हुए चूहे मिले थे, इस कारण यह कठोर कार्रवाई की गयी थी। खर्च तो बहुत हुआ, पर परिणाम यह हुआ कि महामारी आगे बिलकुल न बढ़ सकी। शहर निर्भय बना।

१८. एक पुस्तकका चमत्कारी प्रभाव

इस महामारीने गरीब हिन्दुस्तानियों पर मेरे प्रभावको, मेरे धन्धेको और मेरी जिम्मेदारीको बढ़ा दिया। साथ ही, यूरोपियनोंके बीच मेरी बढ़ती हुई कुछ जान पहचान भी इतनी निकटकी होती गयी कि उसके कारण भी मेरी जिम्मेदारी बढ़ने लगी।

जिस तरह वेस्टसे मेरी जान-पहचान निरामिषाहारी भोजन-गृहमें हुई, उसी तरह पोलाकके विषयमें हुआ। एक दिन जिस मेज पर मैं बैठा था, उससे दूरकी दूसरी मेज पर एक नौजवान भोजन कर रहे थे। उन्होंने मिलनेकी इच्छासे मुझे अपने नामका कार्ड भेजा। मैंने उन्हें अपनी मेज पर आनेके लिए निमंत्रित किया। वे आये।

''मैं 'क्रिटिक' का उप-संपादक हूँ। महामारी-विषयक आपका पत्र पढ़नेके बाद मुझे आपसे मिलनेकी बड़ी इच्छा हुई। आज मुझे यह अवसर मिल रहा है।''

मि० पोलाककी शुद्ध भावनासे मैं उनकी ओर आकर्षित हुआ। पहली ही रातमें हम एक-दूसरेको पहचानने लग गये और जीवन-विषयक अपने विचारोंमें हमें बहुत साम्य दिखायी पड़ा। उन्हें सादा जीवन पसंद था। एक बार जिस वस्तुको उनकी बुद्धि कबूल कर लेती, उस पर अमल करनेकी उनकी शक्ति मुझे आश्चर्यजनक मालूम हुई। उन्होंने अपने जीवनमें कई परिवर्तन तो एकदम कर लिये।

'इण्डियन ओपीनियन' का खर्च बढ़ता जाता था। वेस्टकी पहली ही रिपोर्ट मुझे चौंकानेवाली थी। उन्होंने लिखा: "आपने जैसा कहा था वैसा मुनाफा मैं इस काममें नहीं देखता। मुझे तो नुकसान ही नजर आता है। बहीखातोंकी अव्यवस्था है। उगाही बहुत है। पर वह बिना सिर-पैरकी है। बहुतसे फेरफार करने होंगे। पर इस रिपोर्टसे आप घबराइये नहीं। मैं सारी बातोंको व्यवस्थित बनानेकी भरसक कोशिश करूँगा। मुनाफा नहीं है, इसके लिए मैं इस कामको छोडूँगा नहीं।"

यदि वेस्ट चाहते तो मुनाफा न होता देखकर काम छोड़ सकते थे और मैं उन्हें किसी तरहका दोष न दे सकता था। यही नहीं, बल्कि बिना जाँच-पड़ताल किये इसे मुनाफेवाला काम बतानेका दोष मुझ पर लगानेका उन्हें अधिकार था। इतना सब होने पर भी उन्होंने मुझे कभी कड़वी बात तक नहीं सुनायी। पर मैं मानता हूँ कि इस नई जानकारीके कारण वेस्टकी दृष्टिमें मेरी गिनती उन लोगोंमें हुई होगी, जो जल्दीमें दूसरोंका विश्वास कर लेते हैं। मदनजीतकी धारणाके बारेमें पूछताछ किये बिना उनकी बात पर भरोसा करके मैंने वेस्टसे मुनाफेकी बात कही थी। मेरा खयाल है कि सार्वजनिक काम करनेवालेको ऐसा विश्वास न रखकर वही बात कहनी चाहिये जिसकी उसने स्वयं जाँच कर ली हो। सत्यके पुजारीको तो बहुत सावधानी रखनी चाहिये। पूरे विश्वासके बिना किसीके मन पर आवश्यकतासे अधिक प्रभाव डालना भी सत्यको लांछित करना है। मुझे यह कहते दुःख होता है कि इस वस्तुको जानते हुए भी जल्दीमें विश्वास करके काम हाथमें लेनेकी अपनी प्रकृतिको मैं पूरी तरह सुधार नहीं सका। इसमें मैं अपनी शक्तिसे अधिक काम करनेके लोभका दोष देखता हूँ। इस लोभके कारण मुझे जितना बेचैन होना पड़ा है, उसकी अपेक्षा मेरे साथियोंको कहीं अधिक बेचैन होना पड़ा है।

वेस्टका ऐसा पत्र आनेसे मैं नेटालके लिए रवाना हुआ। पोलाक तो मेरी सब बातें जानने लगे ही थे। वे मुझे छोड़ने स्टेशन तक आये और यह कहकर कि "यह पुस्तक रास्तेमें पढ़ने योग्य है; आप इसे पढ़ जाइये, आपको पसन्द आयेगी।"

उन्होंने रस्किनकी 'अण्टु धिस लास्ट' पुस्तक मेरे हाथमें रख दी।

इस पुस्तकको हाथमें लेनेके बाद मैं छोड़ ही न सका। इसने मुझे पकड़ लिया। जोहानिस्बर्गसे नेटालका रास्ता लगभग चौबीस घंटोंका था। ट्रेन शामको डरबन पहुँचती थी। पहुँचनेके बाद मुझे सारी रात नींद न आयी। मैंने पुस्तकमें सूचित विचारोंको अमलमें लानेका इरादा किया।

इससे पहले मैंने रस्किनकी एक भी पुस्तक नहीं पढ़ी थी। विद्याध्ययनके समयमें पाठ्यपुस्तकोंके बाहरकी मेरी पढ़ाई लगभग नहींके बराबर मानी जायगी। कर्मभूमिमें प्रवेश करनेके बाद समय बहुत कम बचता था। आज भी यही कहा जा सकता है। मेरा पुस्तकीय ज्ञान बहुत ही कम है। मैं मानता हूँ कि इस अनायास अथवा बरबस पाले गये संयमसे मुझे कोई हानि नहीं हुई। बल्कि जो थोड़ी पुस्तकें मैं पढ़ पाया हूँ, कहा जा सकता है कि उन्हें मैं ठीकसे हजम कर सका हूँ। इन पुस्तकोंमें से जिसने मेरे जीवनमें तत्काल महत्त्वके रचनात्मक परिवर्तन कराये, वह 'अण्टु धिस लास्ट' ही कही जा सकती है। बादमें मैंने उसका गुजराती अनुवाद किया और वह 'सर्वोदय' के नामसे छपा।

मेरा यह विश्वास है कि जो चीज मेरे अन्दर गहराईमें छिपी पड़ी थी, रस्किनके ग्रंथरत्नमें मैंने उसका स्पष्ट प्रतिबिम्ब देखा। और इस कारण उसने मुझ पर अपना साम्राज्य जमाया और मुझसे उसमें दिये गये विचारों पर अमल करवाया। जो मनुष्य हममें सोयी हुई उत्तम भावनाओंको जाग्रत करनेकी शक्ति रखता है, वह कवि है। सब कवियोंका सब लोगों पर समान प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि सबके अन्दर सारी सद्भावनायें समान मात्रामें नहीं होतीं।

मैं 'सर्वोदय' के सिद्धान्तोंको इस प्रकार समझा हूँ:

१. सबकी भलाईमें हमारी भलाई निहित है।

२. वकील और नाई दोनोंके कामकी कीमत एकसी होनी चाहिये, क्योंकि आजीविकाका अधिकार सबको एक समान है।

३. सादा मेहनत-मजदूरीका, किसानका जीवन ही सच्चा जीवन है।

पहली चीज मैं जानता था। दूसरीको मैं धुँधले रूपमें देखता था। तीसरीका मैंने कभी विचार ही नहीं किया था। 'सर्वोदय' ने मुझे दीयेकी तरह दिखा दिया कि पहली चीजमें दूसरी दोनों चीजें समायी हुई हैं। सवेरा हुआ और मैं इन सिद्धान्तों पर अमल करनेके प्रयत्नमें लगा।

१९. फीनिक्सकी स्थापना

सवेरे सबसे पहले तो मैंने वेस्टसे बात की। मुझ पर 'सर्वोदय' का जो प्रभाव पड़ा था, वह मैंने उन्हें सुनाया और सुझाया कि 'इण्डियन ओपीनियन' को एक खेत पर ले जाना चाहिये। वहाँ सब अपने खान-पानके लिए आवश्यक खर्च समान रूपसे लें। सब अपने-अपने हिस्सेकी खेती करें और बाकीके समयमें 'इण्डियन ओपीनियन' का काम करें। वेस्टने इस सुझावको स्वीकार किया। हरएकके भोजन आदिका खर्च कमसे कम तीन पौण्ड हो ऐसा हिसाब बैठाया। इसमें गोरे-कालेका भेद नहीं रखा गया था।

लेकिन प्रेसमें तो लगभग दस कार्यकर्ता थे। एक सवाल यह था कि सबके लिए जंगलमें बसना अनुकूल होगा या नहीं और दूसरा सवाल यह था कि ये सब खाने-पहननेकी आवश्यक सामग्री बराबरीसे लेनेके लिए तैयार होंगे या नहीं। हम दोनोंने तो यह निश्चय किया कि जो इस योजनामें सम्मिलित न हो सकें वे अपना वेतन लें और आदर्श यह रहे कि धीरे-धीरे सब संस्थामें रहनेवाले बन जायें।

इस दृष्टिसे मैंने कार्यकर्ताओंसे बातचीत शुरू की। मदनजीतके गले तो यह उतरी ही नहीं। उन्हें डर लगा कि जिस चीजमें उन्होंने अपनी आत्मा उँड़ेल दी थी, वह मेरी मूर्खतासे एक महीनेके अन्दर मिट्टीमें मिल जायेगी। 'इण्डियन ओपीनियन' नहीं चलेगा, प्रेस भी नहीं चलेगा और काम करनेवाले भाग जायेंगे।

मेरे भतीजे छगनलाल गांधी इस प्रेसमें काम करते थे। मैंने वेस्टके साथ ही उनसे भी बात की। उन पर कुटुम्बका बोझ था। किन्तु उन्होंने बचपनसे ही मेरे अधीन रहकर शिक्षा प्राप्त करना और काम करना पसन्द किया था। मुझ पर उनका बहुत विश्वास था। अतएव बिना किसी दलीलके वे इस योजनामें सम्मिलित हो गये और आज तक मेरे साथ ही हैं।

तीसरे गोविन्दस्वामी नामक एक मशीन चलानेवाले भाई थे। वे भी इसमें शरीक हुए। दूसरे यद्यपि संस्थावासी नहीं बने, तो भी उन्होंने यह स्वीकार किया कि मैं जहाँ भी प्रेस ले जाऊँगा वहाँ वे आयेंगे।

मुझे याद नहीं पड़ता कि इस तरह कार्यकर्ताओंसे बातचीत करनेमें दोसे अधिक दिन लगे होंगे। तुरन्त ही मैंने समाचारपत्रोंमें एक विज्ञापन छपवाया कि डरबनके पास किसी भी स्टेशनसे लगी हुई जमीनके एक टुकड़ेकी जरूरत है। जवाबमें फीनिक्सकी जमीनका संदेशा मिला। वेस्टके साथ मैं उसे देखने गया। सात दिनके

अंदर २० एकड़ जमीन ली। उसमें एक छोटा-सा पानीका नाला था। नारंगी और आमके कुछ पेड़ थे। पास ही ८० एकड़का दूसरा एक टुकड़ा था। उसमें विशेष रूपसे फलोंवाले पेड़ और एक झोंपड़ा था। थोड़े दिनों बाद उसे भी खरीद लिया। दोनोंके मिलाकर १,००० पौण्ड दिये।

सेठ पारसी रुस्तमजी मेरे ऐसे समस्त साहसोंमें साझेदार होते ही थे। उन्हें मेरी यह योजना पसन्द आयी। उनके पास एक बड़े गोदामकी चद्दरें आदि सामान पड़ा था, जो उन्होंने मुफ्त दे दिया। उसकी मददसे इमारती काम शुरू किया। कुछ हिन्दुस्तानी बढ़ई और सिलावट, जो मेरे साथ (बोअर) लड़ाईमें सम्मिलित हुए थे, इस कामके लिए मिल गये। उनकी मददसे कारखाना बनाना शुरू किया। एक महीनेमें मकान तैयार हो गया। वह ७५ फुट लंबा और ५० फुट चौड़ा था। वेस्ट आदि शरीरको संकटमें डालकर राज और बढ़ईके साथ रहने लगे।

फीनिक्समें घास खूब थी। बस्ती बिलकुल न थी। इससे साँपोंका खतरा था। आरंभमें तो तम्बू गाड़कर सब उन्हींमें रहे थे।

मुख्य घरके तैयार होने पर एक हफ्तेके अन्दर अधिकांश सामान बैलगाड़ियोंकी मददसे फीनिक्स लाया गया। डरबन और फीनिक्सके बीच तेरह मीलका फासला था। फीनिक्स स्टेशनसे ढाई मील दूर था।

सिर्फ एक ही हफ्ता 'इण्डियन ओपीनियन' को मर्क्युरी प्रेसमें छपाना पड़ा।

मेरे साथ जितने भी सगे-सम्बन्धी आदि आये थे और व्यापार-धंधेमें लग गये थे, उन्हें अपने मतका बनाने और फीनिक्समें भरती करनेका प्रयत्न मैंने शुरू किया। ये तो सब धन-संग्रह करनेका हौसला लेकर दक्षिण अफ्रीका आये थे। इन्हें समझानेका काम कठिन था। पर कुछ लोग समझे। उन सबमें से आज मैं मगनलाल गांधीका नाम अलगसे लेता हूँ; क्योंकि दूसरे जो समझे थे वे तो कम-ज्यादा समय फीनिक्समें रहनेके बाद फिर द्रव्य-संचयमें व्यस्त हो गये थे। मगनलाल गांधी अपना धंधा समेटकर मेरे साथ रहने आये, तबसे बराबर मेरे साथ ही रहे हैं। अपने बुद्धिबलसे, त्याग-शक्तिसे और अनन्य भक्तिसे वे मेरे आन्तरिक प्रयोगोंके आरंभके साथियोंमें आज मुख्य पदके अधिकारी हैं और स्वयं-शिक्षित कारीगरके नाते मेरे विचारमें वे उनके बीच अद्वितीय स्थान रखते हैं।

इस प्रकार सन् १९०४ में फीनिक्सकी स्थापना हुई और अनेक विडम्बनाओंके बीच भी फीनिक्स संस्था तथा 'इण्डियन ओपीनियन' दोनों अब तक टिके हुए हैं।

पर इस संस्थाकी आरंभिक कठिनाइयाँ और उसमें मिली सफलतायें-विफलतायें विचारणीय हैं। उनका विचार हम दूसरे प्रकरणमें करेंगे।

२०. पहली रात

फीनिक्समें 'इण्डियन ओपीनियन' का पहला अंक निकालना सरल सिद्ध न हुआ। यदि मुझे दो सावधानियाँ न सूझी होतीं, तो अंक एक सप्ताह बंद रहता अथवा देरसे निकलता। इस संस्थामें एंजिनसे चलनेवाली मशीनें लगानेका मेरा कम ही विचार था। भावना यह थी कि जहाँ खेती भी हाथसे करनी है वहाँ अखबार भी हाथसे चल सकनेवाले यंत्रोंकी मददसे निकले तो अच्छा हो। पर इस बार ऐसा प्रतीत हुआ कि यह हो न सकेगा। इसलिए वहाँ ऑइल एंजिन ले गये थे। किन्तु मैंने वेस्टको सुझाया था कि इस तैल-यंत्रके बिगड़ने पर दूसरी कोई भी कामचलाऊ शक्ति हमारे पास हो तो अच्छा रहे। अतएव उन्होंने हाथसे चलानेका एक चक्र तैयार रखा था और उसकी मददसे मुद्रण-यंत्रको चलानेकी व्यवस्था कर ली थी। इसके अलावा. हमारे अखबारका कद दैनिक पत्रके समान था। बड़ी मशीनके बिगड़ने पर उसे तुरन्त सुधार सकनेकी सुविधा यहाँ नहीं थी। इससे भी अखबारका काम रुक सकता था। इस कठिनाईसे बचनेके लिए उसका आकार बदलकर साधारण साप्ताहिकके बराबर कर दिया गया, जिससे अड़चनके समय ट्रेडल पर पैरोंकी मददसे कुछ पृष्ठ छापे जा सकें।

शुरूके दिनोंमें 'इण्डियन ओपीनियन' प्रकाशित होनेके दिनकी पहली रातको तो सबका थोड़ा-बहुत जागरण हो ही जाता था। कागज भाँजनेके काममें छोटे-बड़े सभी लग जाते थे और काम रातको दस-बारह बजे पूरा होता था। पर पहली रात तो ऐसी बीती कि वह कभी भूल नहीं सकती। फर्मा मशीन पर कस दिया गया, पर एंजिन चलनेसे इनकार करने लगा! एंजिनको बैठाने और चलानेके लिए एक इंजीनियर बुलाया गया था। उसने और वेस्टने बहुत मेहनत की, पर एंजिन चलता ही न था। सब चिन्तित हो गये। आखिर वेस्ट निराश होकर डबडबायी आँखोंसे मेरे पास आये और बोले: "अब आज एंजिन चलता नजर नहीं आता और इस सप्ताह हम लोग समय पर अखबार नहीं निकाल सकेंगे।"

"यदि यही बात है तो हम लाचार हैं। पर आँसू बहानेका कोई कारण नहीं। अब

भी कोई प्रयत्न हो सकता हो तो हम करके देखें। पर आपके उस हाथ-चक्रका क्या हुआ?'' यह कहकर मैंने उन्हें आश्वासन दिया।

वेस्ट बोले, ''उसे चलानेके लिए हमारे पास आदमी कहाँ हैं? हम जितने लोग यहाँ हैं उतनोंसे वह चल नहीं सकता। उसे चलानेके लिए बारीबारीसे चार-चार आदमियोंकी आवश्यकता है। हम सब तो थक चुके हैं।''

बढ़इयोंका काम अभी पूरा नहीं हुआ था। इससे बढ़ई अभी गये नहीं थे। छापाखानेमें ही सोये थे। उनकी ओर इशारा करके मैंने कहा: ''पर ये सब बढ़ई तो हैं न? इनका उपयोग क्यों न किया जाय? और आजकी रात हम सब अखण्ड जागरण करें। मेरे विचारमें इतना कर्तव्य बाकी रह जाता है।''

''बढ़इयोंको जगाने और उनकी मदद माँगनेकी मेरी हिम्मत नहीं होती; और हमारे थके हुए आदमियोंसे भी कैसे कहा जाय?''

मैंने कहा: ''यह मेरा काम है।''

''तो संभव है, हम अपना काम समय पर पूरा कर सकें।''

मैंने बढ़इयोंको जगाने और उनकी मदद माँगनेकी मेरी हिम्मत नहीं होती; और हमारे थके हुए आदमियोंसे भी कैसे कहा जाय?''

मैंने कहा: ''यह मेरा काम है।''

''तो संभव है, हम अपना काम समय पर पूरा कर सकें।''

मैंने बढ़इयोंको जगाया और उनकी मदद माँगी। मुझे उन्हें मनाना नहीं पड़ा। उन्होंने कहा, ''यदि ऐसे समय भी हम काम न आयें, तो हम मनुष्य कैसे? आप आराम कीजिये, हम चक्र चला लेंगे। हमें इसमें मेहनत नहीं मालूम होगी।''

छापाखानेके लोग तो तैयार थे ही।

वेस्टके हर्षका पार न रहा। उन्होंने काम करते हुए भजन गाना शुरू किया। चक्र चलानेमें बढ़इयोंकी बराबरीमें मैं खड़ा हुआ और दूसरे सब बारी-बारीसे खड़े हुए। काम निकलने लगा। सुबहके लगभग सात बजे होंगे। मैंने देखा कि काम अभी काफी बाकी है। मैंने वेस्टसे कहा: ''क्या अब इंजीनियरको जगाया नहीं जा सकता? दिनके उजेलेमें फिरसे मेहनत करें तो संभव है कि एंजिन चलने लगे और हमारा काम समय पर पूरा हो जाय।''

वेस्टने इंजीनियरको जगाया। वह तुरन्त उठ खड़ा हुआ और एंजिनघरमें घुस गया। छूते ही एंजिन चलने लगा! छापाखाना हर्षनादसे गूँज उठा। मैंने कहा,

"ऐसा क्यों होता है? रातमें इतनी मेहनत करने पर भी नहीं चला और अब मानो कोई दोष ही न हो इस तरह हाथ लगाते ही चलने लगा गया!"

वेस्टने अथवा इंजीनियरने जवाब दिया, "इसका उत्तर देना कठिन है। कभी-कभी यंत्र भी ऐसा बरताव करते पाये जाते हैं, मानो हमारी तरह उन्हें भी आरामकी आवश्यकता हो!"

मेरी तो यह धारणा रही कि एंजिनका न चलना हम सबकी एक कसौटी थी और ऐन मौके पर उसका चल पड़ना शुद्ध परिश्रमका शुद्ध फल था।

अखबार समयसे स्टेशन पर पहुँच गया और हम सब निश्चिन्त हुए।

इस प्रकारके आग्रहका परिणाम यह हुआ कि अखबारकी नियमितताकी धाक जम गयी और फीनिक्समें परिश्रमका वातावरण बना। इस संस्थामें एक ऐसा भी युग आया कि जब विचार-पूर्वक एंजिन चलाना बन्द किया गया और दृढ़ता-पूर्वक चक्रसे ही काम लिया गया। मेरे विचारमें फीनिक्सका यह ऊँचेसे ऊँचा नैतिक काल था।

२१. पोलाक कूद पड़े

मेरे लिए यह हमेशा दुःखकी बात रही है कि फीनिक्स-जैसी-संस्थाकी स्थापनाके बाद मैं स्वयं कुछ ही समय तक रह सका। उसकी स्थापनाके समय मेरी कल्पना यह थी कि मैं वहीं बस जाऊँगा, अपनी आजीविका उसमें से प्राप्त करूँगा, धीरे-धीरे वकालत छोड़ दूँगा, फीनिक्समें रहते हुए जो सेवा मुझसे हो सकेगी करूँगा और फीनिक्सकी सफलताको ही सेवा समझूँगा। पर इन विचारों पर सोचा हुआ अमल हुआ ही नहीं। अपने अनुभवके द्वारा मैंने अकसर यह देखा है कि हम चाहते कुछ हैं और हो कुछ और ही जाता है। पर इसके साथ ही मैंने यह भी अनुभव किया है कि जहाँ सत्यकी ही साधना और उपासना होती है, वहाँ भले परिणाम हमारी धारणाके अनुसार न निकले, फिर भी जो अनपेक्षित परिणाम निकलता है वह अकल्याणकारी नहीं होता और कई बार अपेक्षासे अधिक अच्छा होता है। फीनिक्समें जो अनसोचे परिणाम निकले और फीनिक्सने जो अनसोचा स्वरूप धारण किया, वह अकल्याणकारी न था इतना तो मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ। उन परिणामोंको अधिक अच्छा कहा जा सकता है या नहीं, इनके सम्बन्धमें निश्चय-पूर्वक कुछ कहा नहीं जा सकता।

हम सब अपनी मेहनतसे अपना निर्वाह करेंगे, इस खयालसे मुद्रणालयके आसपास प्रत्येक निवासीके लिए जमीनके तीन-तीन एकड़के टुकड़े कर लिये गये थे। इनमें एक टुकड़ा मेरे लिए भी मापा गया था। इन सब टुकड़ों पर हममें से हरएककी इच्छाके विरुद्ध हमने टीनकी चद्दरोंके घर बनाये। इच्छा तो किसानको शोभा देनेवाले घासफूस और मिट्टीके अथवा ईंटके घर बाँधनेकी थी, पर वह पूरी न हो सकी। उसमें पैसा अधिक खर्च होता था और समय अधिक लगता था। सब जल्दीसे घरबारवाले बनने और काममें जुट जानेके लिए उतावले हो गये थे।

पत्रके सम्पादक तो मनसुखलाल नाजर ही माने जाते थे। वे इस योजनामें सम्मिलित नहीं हुए थे। उनका घर डरबनमें ही था। डरबनमें 'इण्डियन ओपीनियन' की एक छोटी-सी शाखा भी थी।

यद्यपि कंपोज करनेके लिए वैतनिक कार्यकर्ता थे, फिर भी दृष्टि यह थी कि अखबार छापनेमें कंपोज करनेका काम, जो अधिकसे अधिक समय लेते हुए भी सरल था, संस्थामें रहनेवाले सब लोग सीख लें और करें। अतएव जो कंपोज करना नहीं जानते थे, वे उसे सीखनेके लिए तैयार हो गये। मैं इस काममें अंत तक सबसे अधिक मंद रहा और मगनलाल गांधी सबसे आगे बढ़ गये। मैंने हमेशा यह माना है कि स्वयं उन्हें भी अपनेमें विद्यमान शक्तिका पता नहीं था। उन्होंने छापाखानेका काम कभी किया नहीं था। फिर भी वे कुशल कंपोजिटर बन गये और कंपोज करनेकी गतिमें भी उन्होंने अच्छी प्रगति की। यही नहीं, बल्कि थोड़े समयमें छापाखानेकी सब क्रियाओं पर अच्छा प्रभुत्व प्राप्त करके उन्होंने मुझे आश्चर्यचकित कर दिया।

अभी यह काम व्यवस्थित नहीं हो पाया था, मकान भी तैयार न हुए थे, इतनेमें अपने इस नवरचित परिवारको छोड़कर मैं जोहानिस्बर्ग भाग गया। मेरी स्थिति ऐसी न थी कि मैं वहाँके कामको लम्बे समय तक छोड़ सकूँ।

जोहानिस्बर्ग पहुँचकर मैंने पोलाकसे इस महत्त्वपूर्ण परिवर्तनकी बात कही। अपनी दी हुई पुस्तकका यह परिणाम देखकर उनके आनन्दका पार न रहा। उन्होंने उमंगके साथ पूछा, "तो क्या मैं भी इसमें किसी तरह हाथ नहीं बँटा सकता?"

"आप अवश्य हाथ बँटा सकते हैं। चाहें तो आप इस योजनामें सम्मिलित भी हो सकते हैं।"

पोलाकने जवाब दिया, "मुझे सम्मिलित करें तो मैं तैयार हूँ।"

उनकी इस दृढ़तासे मैं मुग्ध हो गया। पोलाकने क्रिटिक से मुक्ति पानेके लिए अपने मालिकको एक महीनेकी नोटिस दी और अवधि समाप्त होने पर वे फीनिक्स पहुँच गये। वहाँ अपने मिलनसार स्वभावसे उन्होंने सबके दिल जीत लिये और घरके ही एक आदमीकी तरह रहने लगे। सादगी उनके स्वभावमें थी। इसलिए फीनिक्सका जीवन उन्हें जरा भी विचित्र या कठिन न लगकर स्वाभाविक और रुचिकर लगा।

पर मैं ही उन्हें लम्बे समय तक वहाँ रख नहीं सका। मि. रीचने विलायत जाकर कानूनकी पढ़ाई पूरी करनेका निश्चय किया। मेरे लिए अकेले हाथों समूचे दफ्तरका बोझ उठाना संभव न था। अतएव मैंने पोलाकको आफिसमें रहने और वकील बननेकी सलाह दी। मैंने सोचा यह था कि उनके वकील बन जानेके बाद आखिर हम दोनों फीनिक्स ही पहुँच जायेंगे।

ये सारी कल्पनायें मिथ्या सिद्ध हुईं। किन्तु पोलाकके स्वभावमें एक प्रकारकी ऐसी सरलता थी कि जिस आदमी पर उन्हें विश्वास हो जाता उससे बहस न करके वे उसके मतके अनुकूल बननेका प्रयत्न करते थे। पोलाकने मुझे लिखा : "मुझे तो यह जीवन ही अच्छा लगता है। मैं यहाँ सुखी हूँ यहाँ हम इस संस्थाका विकास कर सकेंगे। किन्तु यदि आप यह मानते हों कि मेरे वहाँ पहुँचनेसे हमारे आदर्श शीघ्र सफल होंगे, तो मैं आनेको तैयार हूँ।"

मैंने उनके इस पत्रका स्वागत किया। पोलाक फीनिक्स छोड़कर जोहानिस्बर्ग आये और मेरे दफ्तरमें वकीलके मुंशीकी तरह काम करने लगे।

इसी समय एक स्कॉच थियॉसॉफिस्टको भी मैंने पोलाकका अनुकरण करनेके लिए निमंत्रित किया और वे भी आश्रममें सम्मिलित हो गये। उन्हें मैं कानूनकी परीक्षाकी तैयारीमें मदद करता था। उनका नाम मेकिनटायर था।

यों फीनिक्सके आदर्शको शीघ्र ही सिद्ध करनेके शुभ विचारसे मैं उसके विरोधी जीवनमें अधिकाधिक गहरा उतरता दिखायी पड़ा और यदि ईश्वरीय संकेत कुछ और ही न होता, तो सादे जीवनके नाम पर बिछाये गये मोहजालमें मैं स्वयं ही फँस जाता।

मेरी और मेरे आदर्शकी रक्षा जिस रीतिसे हुई, उसकी हममें से किसीको कोई कल्पना नहीं थी। पर इस प्रसंगका वर्णन करनेसे पहले कुछ और प्रकरण लिखने होंगे।

२२. 'जाको राखे साइयाँ'

अब जल्दी ही हिन्दुस्तान जानेकी अथवा वहाँ जाकर स्थिर होनेकी आशा मैंने छोड़ दी थी। मैं तो पत्नीको एक सालका आश्वासन देकर वापस दक्षिण अफ्रीका आया था। साल तो बीत गया, पर मेरे वापस लौटनेकी संभावना दूर चली गई अतएव मैंने बच्चोंको बुला लेनेका निश्चय किया।

बच्चे आये। उनमें मेरा तीसरा लड़का रामदास भी था। रास्तेमें वह स्टीमरके कप्तानसे खूब हिल गया था और कप्तानके साथ खेलते-खेलते उसका हाथ टूट गया था। कप्तानने उसकी सार-संभाल की थी। डॉक्टरने हड्डी बैठा दी थी। जब वह जोहानिस्बर्ग पहुँचा तो उसका हाथ लकड़ीकी पट्टियोंके बीच बँधा हुआ और रूमालकी गलपट्टीमें लटका हुआ था। स्टीमरके डॉक्टरकी सलाह थी कि घावको किसी डॉक्टरसे साफ करा कर पट्टी बँधवा ली जाय।

पर मेरा यह समय तो धड़ल्लेके साथ मिट्टीके प्रयोग करनेका था। मेरे जिन मुवक्किलोंको मेरी नीमहकीमी पर भरोसा था, उनसे भी मैं मिट्टी और पानीके प्रयोग कराता था। तब रामदासके लिए और क्या होता? रामदासकी उमर आठ सालकी थी। मैंने उससे पूछा, ''तेरे घावकी मरहमपट्टी मैं स्वयं करूँ तो तू घबरायेगा तो नहीं?''

रामदास हँसा और उसने मुझे प्रयोग करनेकी अनुमति दी। यद्यपि उस उमरमें उसे सारासारका पता नहीं चल सकता था, फिर भी डॉक्टर और नीमहकीमके भेदको तो वह अच्छी तरह जानता था। लेकिन उसे मेरे प्रयोगोंकी जानकारी थी और मुझ पर विश्वास था, इसलिए वह निर्भय रहा।

काँपते-काँपते मैंने उसकी पट्टी खोली। घावको साफ किया और साफ मिट्टीकी पुलटिस रखकर पट्टीको पहलेकी तरह फिर बाँध दिया। इस प्रकार मैं खुद ही रोज घावको धोता और उस पर मिट्टी बाँधता था। कोई एक महीनेमें घाव बिलकुल भर गया। किसी दिन कोई विघ्न उत्पन्न न हुआ और घाव दिन-ब-दिन भरता गया स्टीमरके डॉक्टरने कहलवाया था कि डॉक्टरी मरहम-पट्टीसे भी घावको भरनेमें इतना समय तो लग ही जायेगा।

इस प्रकार इन घरेलू उपचारके प्रति मेरा विश्वास और इन पर अमल करनेकी मेरी हिम्मत बढ़ गई। घाव, बुखार, अजीर्ण, पीलिया इत्यादि रोगोंके लिए मिट्टी, पानी

और उपवासके प्रयोग मैंने छोटी-बड़ों और स्त्री-पुरुषों पर किये। उनमें से अधिकतर सफल हुए। इतना होने पर भी जो हिम्मत मुझमें दक्षिण अफ्रीकामें थी वह यहाँ नहीं रही और अनुभवसे यह भी प्रतीति हुई कि इन प्रयोगोंमें खतरा जरूर है।

इन प्रयोगोंके वर्णनका हेतु अपने प्रयोगोंकी सफलता सिद्ध करना नहीं है। एक भी प्रयोग सर्वांशमें सफल हुआ है, ऐसा दावा नहीं किया जा सकता। डॉक्टर भी ऐसा दावा नहीं कर सकते। पर कहनेका आशय इतना ही है कि जिसे नये अपरिचित प्रयोग करने हों उसे आरम्भ अपनेसे ही करना चाहिये। ऐसा होने पर सत्य जल्दी प्रकट होता है और इस प्रकारके प्रयोग करनेवालेको ईश्वर उबार लेता है।

जो खतरा मिट्टीके प्रयोगोंमें था, वही यूरोपियनोंके निकट सहवासमें था। भेद केवल प्रकारका था। पर स्वयं मुझे तो इन खतरोंका कोई खयाल तक न आया।

मैंने पोलाकको अपने साथ ही रहनेके लिए बुला लिया और हम सगे भाइयोंकी तरह रहने लगे। जिस महिलाके साथ पोलाकका विवाह हुआ, उसके साथ उनकी मित्रता तो कई वर्षोंसे थी। दोनोंने यथासमय विवाह करनेका निश्चय भी कर लिया था। पर मुझे याद पड़ता है कि पोलाक थोड़ा धन-संग्रह कर लेनेकी बाट जोह रहे थे। मेरी तुलनामें रस्किनका उनका अध्ययन कहीं अधिक और व्यापक था। पर पश्चिमके वातावरणमें रस्किनके विचारोंको पूरी तरह आचरणमें लानेकी बात उन्हें सूझ नहीं सकती थी। मैंने दलील देते हुए कहा, ''जिसके साथ हृदयकी गाँठ बंध गयी है, केवल धनकी कमीके कारण उसका वियोग सहना अनुचित कहा जायगा। आपके हिसाबसे तो कोई गरीब विवाह कर ही नहीं सकता। फिर अब तो आप मेरे साथ रहते हैं। इसलिए घरखर्चका सवाल ही नहीं उठता। मैं यही ठीक समझता हूँ कि आप जल्दी अपना विवाह कर लें।''

मुझे पोलाकके साथ कभी दूसरी बार दलील करनी ही न पड़ती थी। उन्होंने मेरी दलील तुरन्त मान ली। भावी मिसेज पोलाक विलायतमें थीं। उनके साथ पत्र-व्यवहार शुरू किया। वे सहमत हुईं और कुछ ही महीनोंमें विवाहके लिए जोहानिस्बर्ग आ पहुँचीं।

विवाहमें खर्च बिलकुल नहीं किया था। विवाहकी कोई खास पोशाक भी नहीं बनवायी थी। उन्हें धार्मिक विधिकी आवश्यकता न थी। मिसेज पोलाक जन्मसे ईसाई और मि० पोलाक यहूदी थे। दोनोंके बीच सामान्य धर्म तो नीतिधर्म ही था।

पर इस विवाहका एक रोचक प्रसंग यहाँ लिख हूँ। ट्रान्सवालमें गोरोंके विवाहकी रजिस्ट्री करनेवाला अधिकारी काले आदमीके विवाहकी रजिस्ट्री नहीं करता था। इस विवाहका शहबाला* मैं था। खोजने पर हमें कोई गोरा मित्र मिल सकता था। पर पोलाकके लिए वह सह्य न था। अतएव हम तीन व्यक्ति अधिकारीके सामने उपस्थित हुए। जिस विवाहमें मैं शहबाला होऊँ उसमें वर-वधू दोनों गोरे ही होंगे, अधिकारीको इसका भरोसा कैसे हो? उसने जाँच होने तक रजिस्ट्री मुलतवी रखनी चाही। अगले रोज रविवार था। उसके बादका दिन नये सालका होनेसे सार्वजनिक छुट्टीका दिन था। ब्याहके पवित्र निश्चयसे निकले हुए स्त्री-पुरुषके विवाहकी रजिस्ट्रीका दिन इस तरह बदला जाय, यह सबको असह्य प्रतीत हुआ। मैं मुख्य न्यायाधीशको पहचानता था। वे इस विभागके उच्चाधिकारी थे। मैं इस जोड़ेको लेकर उनके सामने उपस्थित हुआ। वे हँसे और उन्होंने मुझे चिट्ठी लिख दी। इस तरह विवाहकी रजिस्ट्री हो गयी।

आज तक न्यूनाधिक ही सही, परन्तु जाने-पहचाने गोरे पुरुष मेरे साथ रहे थे। अब एक अपरिचित अंग्रेज महिलाने कुटुम्बमें प्रवेश किया। स्वयं मुझे तो याद नहीं पड़ता कि इस कारण परिवारमें कभी कोई कलह हुआ हो। किन्तु जहाँ अनेक जातियोंके और अनेक स्वभावोंके हिन्दुस्तानी आते-जाते रहते थे और जहाँ मेरी पत्नीका अभी तक ऐसे अनुभव कम ही हुए थे, वहाँ उन दोनोंके बीच कभी उद्वेगके अवसर आये भी होंगे। पर एक ही जातिके परिवारमें ऐसे अवसर जितने आते हैं, उनसे अधिक अवसर तो इस विजातीय परिवारमें नहीं ही आये। बल्कि, जिनका मुझे स्मरण है वे अवसर भी नगण्य ही कहे जायेंगे। सजातीय और विजातीयकी भावनायें हमारे मनकी तरंगे हैं। वास्तवमें हम सब एक परिवार ही हैं!

वेस्टका ब्याह भी यहीं सम्पन्न कर लूँ। जीवनके इस काल तक ब्रह्मचर्य-विषयक मेरे विचार परिपक्व नहीं हुए थे। इसलिए कुँवारे मित्रोंका विवाह करा देना मेरा एक धंधा बन गया था। जब वेस्टके लिए अपने माता-पिताके पास जानेका समय आया, तो मैंने उन्हें सलाह दी कि जहाँ तक बन सके वे अपना ब्याह करके ही लौटें। फीनिक्स हम सबका घर बन गया था और हम सब अपनेको किसान मान बैठे थे, इस कारण विवाह अथवा वंशवृद्धि हमारे लिए भयका विषय न था।

---

* विवाहकी सब रस्मोंमें वरके साथ रहनेवाला व्यक्ति।

वेस्ट लेस्टरकी एक सुन्दर कुमारिकाको ब्याह लाये। इस बहनका परिवार लेस्टरमें जूतोंका जो बड़ा व्यवसाय चलता है उसमें काम करता था। मिसेज वेस्टने भी थोड़ा समय जूतोंके कारखानेमें बिताया था। उसे मैंने 'सुन्दर' कहा है, क्योंकि मैं उसके गुणोंका पुजारी हूँ और सच्चा सौन्दर्य तो गुणमें ही होता है। वेस्ट अपनी सासको भी अपने साथ लाये थे। वह भली बुढ़िया अभी जीवित है। अपने उद्यम और हँसमुख स्वभावसे वह हम सबको सदा शरमिन्दा किया करती थी।

जिस तरह मैंने इन गोरे मित्रोंके ब्याह करवाये, उसी तरह मैंने हिन्दुस्तानी मित्रोंको प्रोत्साहित किया कि वे अपने परिवारोंको बुला लें। इसके कारण फीनिक्स एक छोटा-सा गाँव बन गया और वहाँ पाँच-सात भारतीय परिवार बसकर बढ़ने लगे।

२३. घरमें परिवर्तन और बालशिक्षा

डरबनमें मैंने जो घर बसाया था, उसमें परिवर्तन तो किये ही थे। खर्च अधिक रखा था, फिर भी झुकाव सादगीकी ओर ही था। किन्तु जोहानिस्बर्गमें 'सर्वोदय' के विचारोंने अधिक परिवर्तन करवाये।

बारिस्टरके घरमें जितनी सादगी रखी जा सकती थी, उतनी तो रखनी शुरू कर ही दी। फिर भी कुछ साज-सामानके बिना काम चलाना मुश्किल था। सच्ची सादगी तो मनकी बढ़ी। हरएक काम अपने हाथों करनेका शौक बढ़ा और बालकोंको भी उसमें शरीफ करके कुशल बनाना शुरू किया।

बाजारकी रोटी खरीदनेके बदले कूनेकी सुझाई हुई बिना खमीरकी रोटी हाथसे बनानी शुरू की। इसमें मिलका आटा काम नहीं देता था। साथ ही मेरा यह भी खयाल रहा कि मिलमें पिसे आटेका उपयोग करनेकी अपेक्षा हाथसे पिसे आटेका उपयोग करनेमें सादगी, आरोग्य और पैसा तीनोंकी अधिक रक्षा होती है। अतएव सात पौण्ड खर्च करके हाथसे चलानेकी एक चक्की खरीद ली। उसका पाट वजनदार था। दो आदमी उसे सरलतासे चला सकते थे; अकेलेको तकलीफ होती थी। इस चक्कीको चलानेमें पोलाक, मैं और बालक मुख्य भाग लेते थे। कभी-कभी कस्तूरबाई भी आ जाती थी, यद्यपि उस समय वह रसोई बनानेमें लगी रहती थी। मिसेज पोलाकके आने पर वे भी इसमें सम्मिलित हो गयीं। बालकोंके लिए यह

कसरत बहुत अच्छी सिद्ध हुई। उनसे मैंने चक्की चलानेका या दूसरा कोई काम कभी जबरदस्ती नहीं करवाया। वे सहज ही खेल समझकर चक्की चलाने आते थे। थकने पर छोड़ देनेकी उन्हें स्वतंत्रता थी। पर न जाने क्या कारण था कि इन बालकोंने अथवा दूसरे बालकोंने, जिनकी पहचान हमें आगे चलकर करनी है, मुझे तो हमेशा बहुत ही काम दिया है। मेरे भाग्यमें टेढ़े स्वभावके बालक भी थे, पर अधिकतर बालक सौंपा हुआ काम उमंगके साथ करते थे। 'थक गये' कहनेवाले उस युगके थोड़े ही बालक मुझे याद हैं।

घर साफ रखनेके लिए एक नौकर था। वह घरके आदमीकी तरह रहता था और उसके काममें बालक पूरा हाथ बँटाते थे। पाखाना साफ करनेके लिए म्युनिसिपैलिटीका नौकर आता था, पर पाखानेके कमरेको साफ करने और बैठक आदि धोनेका काम नौकरको नहीं सौंपा जाता था। उससे वैसी आशा भी नहीं रखी जाती थी। यह काम हम स्वयं करते थे और इससे भी बालकोंको तालीम मिली। परिणाम यह हुआ कि शुरूसे ही मेरे एक भी लड़केको पाखाना साफ करनेकी घिन न रही और आरोग्यके साधारण नियम भी वे स्वाभाविक रूपमें सीख गये। जोहानिस्बर्गमें कोई बीमार तो शायद ही कभी पड़ता था। पर बीमारीका प्रसंग आने पर सेवाके काममें बालक अवश्य रहते थे और इस कामको वे खुशीसे करते थे।

मैं यह तो नहीं कहूँगा कि बालकोंके अक्षर-ज्ञानके प्रति मैं लापरवाह रहा। पर यह ठीक है कि मैंने उसकी कुरबानी करनेमें संकोच नहीं किया। और इस कमीके लिए मेरे लड़कोंको मेरे विरुद्ध शिकायत करनेका कारण रह गया है। उन्होंने कभी-कभी अपना असंतोष भी प्रकट किया है। मैं मानता हूँ कि इसमें किसी हद तक मुझे अपना दोष स्वीकार करना चाहिये। उन्हें अक्षर-ज्ञान करानेकी मेरी इच्छा बहुत थी, मैं प्रयत्न भी करता था, किन्तु इस काममें हमेशा कोई न कोई विघ्न आ जाता था। उनके लिए घर पर दूसरी शिक्षाकी सुविधा नहीं की गई थी, इसलिए मैं उन्हें अपने साथ पैदल दफ्तर तक ले जाता था। दफ्तर ढाई मील दूर था, इससे सुबह-शाम मिलाकर कम-से-कम पाँच मीलकी कसरत उन्हें और मुझे हो जाती थी। रास्ता चलते हुए मैं उन्हें कुछ-न-कुछ सिखानेका प्रयत्न करता था, पर यह भी तभी होता था जब मेरे साथ दूसरा कोई चलनेवाला न होता। दफ्तरमें वे मुवक्किलों व मुहर्रिरोंके संपर्कमें आते थे। कुछ पढ़नेको देता तो वे पढ़ते थे। इधर-उधर घूम-फिर लेते थे और बाजारसे मामूली सामान खरीदना हो तो खरीद लाते थे। सबसे बड़े हरिलालको

छोड़कर बाकी सब बालकोंकी परवरिश इसी प्रकार हुई। हरिलाल देशमें रह गया था। यदि मैं उन्हें अक्षर-ज्ञान करानेके लिए एक घण्टा भी नियमित रूपसे बचा सका होता, तो मैं मानता कि उन्हें आदर्श शिक्षा प्राप्त हुई है। मैंने ऐसा आग्रह नहीं रखा, इसका दुःख मुझे और उन्हें दोनोंको रह गया है। सबसे बड़े लड़केने अपना संताप कई बार मेरे सामने और सार्वजनिक रूपसे भी प्रकट किया है। दूसरोंने हृदयकी उदारता दिखाकर इस दोषको अनिवार्य समझकर दरगुजर कर दिया है। इस कमीके लिए मुझे पश्चात्ताप नहीं है; अथवा है तो इतना ही कि मैं आदर्श पिता न बन सका। किन्तु मेरी यह राय है कि उनके अक्षर-ज्ञानकी कुरबानी भी मैंने अज्ञानसे ही क्यों न हो, फिर भी सद्भाव-पूर्वक मानी हुई सेवाके लिए ही की है। मैं यह कह सकता हूँ कि उनके चरित्र-निर्माणके लिए जितना कुछ आवश्यक रूपसे करना चाहिए था, वह करनेमें मैंने कहीं भी त्रुटि नहीं रखी है। और मैं मानता हूँ कि हर माता-पिताका यह अनिवार्य कर्तव्य है। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि अपने इस परिश्रमके बाद भी मेरे बालकोंके चरित्रमें जहाँ त्रुटि पायी जाती है, वहाँ वह पति-पत्नीके नाते हमारी त्रुटियोंका ही प्रतिबिम्ब है।

जिस प्रकार बच्चोंको माता-पिताकी सूरत-शकल विरासतमें मिलती है, उसी प्रकार उनके गुण-दोष भी उन्हें विरासतमें मिलते हैं। अवश्य ही आसपासके वातावरणके कारण इसमें अनेक प्रकारकी घट-बढ़ होती है, पर मूल पूँजी तो वही होती है, जो बाप-दादा आदिसे मिलती है। मैंने देखा है कि कुछ बालक अपनेको ऐसे दोषोंकी विरासतसे बचा लेते हैं। यह आत्माका मूल स्वभाव है, उसकी बलिहारी है।

इन बालकोंकी अंग्रेजी शिक्षाके विषयमें मेरे और पोलाकके बीच कितनी ही बार गरमागरम बहस हुई है। मैंने शुरूसे ही यह माना है कि जो हिन्दुस्तानी माता-पिता अपने बालकोंको बचपनसे ही अंग्रेजी बोलनेवाले बना देते हैं, वे उनके और देशके साथ द्रोह करते हैं। मैंने यह भी माना है कि इससे बालक अपने देशकी धार्मिक और सामाजिक विरासतसे वंचित रहता है और उस हद तक वह देशकी तथा संसारकी सेवाके लिए कम योग्य बनता है। अपने इस विश्वासके कारण मैं हमेशा जान-बूझ कर बच्चोंके साथ गुजरातीमें ही बातचीत करता था। पोलाकको यह अच्छा नहीं लगता था। उनकी दलील यह थी कि मैं बच्चोंके भविष्यको बिगाड़ रहा हूँ। वे मुझे आग्रह-पूर्वक और प्रेमपूर्वक समझाया करते थे कि यदि बालक अंग्रेजोंके समान

व्यापक भाषाको सीख लें, तो संसारमें चल रही जीवनकी होड़में वे एक बड़ी मंजिलको सहज ही पार कर सकते हैं। उनकी यह दलील मेरे गले न उतरती थी। अब मुझे यह याद नहीं है कि अन्तमें मेरे उत्तरसे उन्हें संतोष हुआ था या मेरा हठ देखकर उन्होंने शान्ति धारण कर ली थी। इस संवादको लगभग बीस वर्ष हो चुके हैं; फिर भी उस समयके मेरे ये विचार आज अनुभवसे अधिक दृढ हुए हैं, और यद्यपि मेरे पुत्र अक्षर-ज्ञानमें कच्चे रह गये हैं, फिर भी मातृभाषाका जो साधारण ज्ञान उन्हें आसानीसे मिला है, उससे उन्हें और देशको लाभ ही हुआ है और इस समय वे देशमें परदेशी जैसे नहीं बन गये हैं। वे द्विभाषी तो सहज ही हो गये, क्योंकि विशाल अंग्रेज मित्र-मंडलीके सम्पर्कमें आनेसे और जहाँ विशेष रूपसे अंग्रेजी बोली जाती है ऐसे देशमें रहनेसे वे अंग्रेजी भाषा बोलने और उसे साधारणतः लिखने लग गये।

२४ 'जुलू-विद्रोह'

घर बसाकर बैठनेके बाद कहीं स्थिर होकर रहना मेरे नसीबमें बदा ही न था। जोहानिस्बर्गमें मैं कुछ स्थिर-सा होने लगा था कि इसी बीच एक अनसोची घटना घटी। अखबारोंमें यह खबर पढ़नेको मिली कि नेटालमें जुलू 'विद्रोह' हुआ है। जुलू लोगोंसे मेरी कोई दुश्मनी न थी। उन्होंने एक भी हिन्दुस्तानीका नुकसान नहीं किया था। 'विद्रोह' शब्दके औचित्यके विषयमें भी मुझे शंका थी। किन्तु उन दिनों मैं अंग्रेजी सल्तनतको संसारका कल्याण करनेवाली सल्तनत मानता था। मेरी वफादारी हार्दिक थी। मैं उस सल्तनतका क्षय नहीं चाहता था। अतएव बल-प्रयोग-सम्बन्धी नीति-अनीतिका विचार मुझे इस कार्यको करनेसे रोक नहीं सकता था। नेटाल पर संकट आने पर उसके पास रक्षाके लिए स्वयंसवेकोंकी सेना थी और संकटके समय उसमें कामके लायक सैनिक भरती भी हो जाते थे। मैंने पढ़ा कि स्वयंसेवकोंकी सेना इस विद्रोहको दबानेके लिए रवाना हो चुकी है।

मैं अपनेको नेटालवासी मानता था और नेटालके साथ मेरा निकट सम्बन्ध तो था ही। अतएव मैंने गवर्नरको पत्र लिखा कि यदि आवश्यकता हो तो घायलोंकी सेवा-शुश्रूषा करनेवाले हिन्दुस्तानियोंकी एक टुकड़ी लेकर मैं सेवाके लिए जानेको तैयार हूँ। तुरन्त ही गवर्नरका स्वीकृति-सूचक उत्तर मिला। मैंने अनुकूल उत्तरकी अथवा इतनी जल्दी उत्तर पानेकी आशा नहीं रखी थी। फिर भी उक्त पत्र लिखनेके पहले

मैंने अपना प्रबन्ध तो कर ही लिया था कि यदि मेरी प्रार्थना स्वीकृत हो जाय, तो जोहानिस्बर्गका घर उठा देंगे, मि० पोलाक अलग घर लेकर रहेंगे और कस्तूरबाई फीनिक्स जाकर रहेंगी। इस योजनाको कस्तूरबाईकी पूर्ण सम्मति प्राप्त हुई। मुझे स्मरण नहीं है कि मेरे ऐसे कार्योंमें उसकी तरफसे किसी भी दिन कोई बाधा डाली गयी हो। गवर्नरका उत्तर मिलते ही मैंने मकान-मालिकको मकान खाली करनेके सम्बन्धमें विधिवत् एक महीनेकी नोटिस दे दी। कुछ सामान फीनिक्स गया, कुछ मि० पोलाकके पास रहा।

डरबन पहुँचने पर मैंने आदमियोंकी माँग की। बड़ी टुकड़ीकी आवश्यकता नहीं थी। हम चौबीस आदमी तैयार हुए। उनमें मेरे सिवा चार गुजराती थे, बाकी मद्रास प्रांतके गिरमिट-मुक्त हिन्दुस्तानी थे और अेक पठान था।

स्वाभिमानकी रक्षाके लिए और अधिक सुविधाके साथ काम कर सकनेके लिए तथा वैसी प्रथा होनेके कारण चिकित्सा-विभागके मुख्य पदाधिकारीने मुझे 'सार्जण्ट मेजर' का मुद्दती पद दिया और मेरी पसन्दके अन्य तीन साथियोंको 'सार्जण्टका और एकको 'कोर्पोरल' का पद दिया। वरदी भी सरकारकी ओर से ही मिली। मैं यह कह सकता हूँ कि इस टुकड़ीने छह सप्ताह तक सतत सेवा की।

'विद्रोह'के स्थान पर पहुँचकर मैंने देखा कि वहाँ विद्रोह-जैसी कोई चीज नहीं थी। कोई विरोध करता हुआ भी नजर नहीं आता था। विद्रोह माननेका कारण यह था कि एक जुलू सरदारने जुलू लोगों पर लगाया गया नया कर न देनेकी उन्हें सलाह दी थी और करकी वसूलीके लिए गये हुए एक सार्जण्टको उसने कत्ल कर डाला था। सो जो भी हो, मेरा हृदय तो जुलू लोगोंकी तरफ था और केन्द्र पर पहुँचनेके बाद जब हमारे हिस्से मुख्यतः जुलू घायलोंकी शुश्रूषा करनेका काम आया, तो मैं बहुत खुश हुआ। वहाँके डॉक्टर अधिकारीने हमारा स्वागत किया। उसने कहा, "गोरोंमें से कोई इन घायलोंकी सेवा-शुश्रूषा करनेके लिए तैयार नहीं होता। मैं अकेला किस-किसकी सेवा करूँ? इनके घाव सड़ रहे हैं। अब आप आये हैं, इसे मैं इन निर्दोष लोगों पर ईश्वरकी कृपा ही समझता हूँ।" यों कहकर उसने मुझे पट्टियाँ, जंतु-नाशक पानी आदि सामान दिया और उन बीमारोंके पास ले गया। बीमार हमें देखकर खुश हो गये। गोरे सिपाही जालियोंमें से झाँक-झाँककर हमें घाव साफ करनेसे रोकनेका प्रयत्न करते, हमारे न मानने पर खीझते और जुलूओंके बारेमें जिन गन्दे शब्दोंका उपयोग करते उनसे तो कानके कीड़े झड़ जाते थे।

धीरे-धीरे गोरे सिपाहियोंके साथ भी मेरा परिचय हो गया और उन्होंने मुझे रोकना बन्द कर दिया। इस सेनामें सन् १८९६में मेरा घोर विरोध करनेवाले कर्नल स्पार्क्स और कर्नल वायली थे। वे मेरे इस कार्यसे आश्चर्यचकित हो गये। मुझे खास तौरसे बुलाकर उन्होंने मेरा उपकार माना। वे मुझे मेकेन्जीके पास भी ले गये और उनसे मेरा परिचय कराया।

पाठक यह न समझें कि इनमें से कोई पेशेवर सिपाही था। कर्नल वायली प्रसिद्ध वकील थे। कर्नल स्पार्क्स कसाईखानेके मशहूर मालिक थे। जनरल मेकेन्जी नेटालके प्रसिद्ध किसान थे। वे सब स्वयंसेवक थे, और स्वयंसेवकके नाते ही उन्होंने सैनिक शिक्षा और अनुभव प्राप्त किया था।

कोई यह न माने कि जिन बीमारोंकी सेवा-शुश्रूषाका काम हमें सौंपा गया था, वे किसी लड़ाईमें घायल हुए थे। उनमेंसे एक हिस्सा उन कैदियोंका था, जो शकमें पकड़े गये थे। जनरलने उन्हें कोड़ोंकी सजा दी थी। इन कोड़ोंकी मारसे जो घाव पैदा हुए थे, वे सार-संभालके अभावमें पक गये थे। दूसरा हिस्सा उन जुलूओंका था, जो मित्र माने जाते थे। इन मित्रोंको सिपाहियोंने घायल किया था, यद्यपि उन्होंने मित्रतासूचक चिह्न धारण कर रखे थे।

इसके अतिरिक्त स्वयं मुझे गोरे सिपाहियोंके लिए भी दवा लाने और उन्हें दवा देनेका काम सौंपा गया था। डॉ. बूथके छोटे-से अस्पतालमें मैंने एक साल तक इस कामकी तालीम ली थी, इससे यह काम मेरे लिए सरल हो गया था। इस कामके कारण बहुतसे गोरोंके साथ मेरा अच्छा परिचय हो गया था।

पर लड़ाईमें व्यस्त सेना किसी एक जगह पर तो बैठी रह ही नहीं सकती थी। जहाँसे संकटके समाचार आते वहीं दौड़ जाती थी। उसमें बहुतसे तो घुड़सवार ही थे। केन्द्रस्थानसे हमारी छावनी उठती कि हमें उसके पीछे पीछे अपनी डोलियाँ कन्धे पर उठाकर चलना पड़ता था। दो-तीन मौकों पर तो एक ही दिनमें चालीस मीलकी मंजिल तय करनी पड़ी। यहाँ भी हमें तो केवल प्रभुका ही काम मिला। जो जुलू मित्र भूलसे घायल हुए थे उन्हें डोलियोंमे उठाकर छावनी तक पहुँचाना था और वहाँ उनकी सेवा-शुश्रूषा करनी थी।

'जुलू-विद्रोह'में मुझे बहुतसे अनुभव हुए और बहुत-कुछ सोचनेको मिला। बोअर-युद्धमें मुझे लड़ाईकी भयंकरता उतनी प्रतीत नहीं हुई थी जितनी यहाँ हुई। यहाँ लड़ाई नहीं, बल्कि मनुष्यका शिकार हो रहा था। यह केवल मेरा ही नहीं, बल्कि उन कई अंग्रेजोंका भी अनुभव था, जिनके साथ मेरी चर्चा होती रहती थी। सबेरे-सबेरे सेना गाँवमें जाकर मानो पटाखे छोड़ती हो, इस प्रकार उसकी बन्दूकोंकी आवाज दूर रहनेवाले हम लोगोंके कानों पर पड़ती थी। इन आवाजोंको सुनना और इस वातावरणमें रहना मुझे बहुत मुश्किल मालूम पड़ा। लेकिन मैं सब-कुछ कड़वे घूँटकी तरह पी गया और मेरे हिस्से जो काम आया सो तो केवल जुलू लोगोंकी सेवाका ही आया। मैं ये समझ गया कि अगर हम स्वयंसेवक-दलमें सम्मिलित न हुए होते, तो दूसरा कोई यह सेवा न करता। इस विचारसे मैंने अपनी अन्तरात्माको शान्त किया।

यहाँ बस्ती बहुत कम थी। पहाड़ों और खाइयोंमें भले, सादे और जंगली माने जानेवाले जुलू लोगोंके घास-फूसके झोंपड़ोंको छोड़कर और कुछ न था। इस कारण दृश्य भव्य मालूम होता था। जब इस निर्जन प्रदेशमें हम किसी घायलको लेकर अथवा यों ही मीलों पैदल जाते थे, तब मैं सोचमें डूब जाता था।

यहाँ ब्रह्मचर्यके बारेमें मेरे विचार परिपक्व हुए। मैंने अपने साथियोंसे भी इसकी थोड़ी चर्चा की। मुझे अभी इस बातका साक्षात्कार तो नहीं हुआ था कि ईश्वर-दर्शनके लिए ब्रह्मचर्य अनिवार्य वस्तु है। किन्तु मैं यह स्पष्ट देख सका था कि सेवाके लिए ब्रह्मचर्य आवश्यक है। मुझे लगा कि इस प्रकारकी सेवा को मेरे हिस्से अधिकाधिक आती ही रहेगी और यदि मैं भोग-विलासमें, संतानोत्पत्तिमें और संततिके पालन-पोषणमें लगा रहा, तो मुझसे सम्पूर्ण सेवा नहीं हो सकेगी; मैं दो घोड़ों पर सवारी नहीं कर सकता। यदि पत्नी सगर्भा हो तो मैं निश्चिंत भावसे इस सेवामें प्रवृत्त हो ही नहीं सकता। ब्रह्मचर्यका पालन किये बिना परिवारकी वृद्धि करते रहना समाजके अभ्युदयके लिए किये जानेवाले मनुष्यके प्रयत्नका विरोध करनेवाली वस्तु बन जाती है। विवाहित होते हुए भी ब्रह्मचर्यका पालन किया जाय, तो परिवारकी सेवा समाज-सेवाकी विरोधी न बने। मैं इस प्रकारके विचारचक्रमें फँस गया और ब्रह्मचर्यका व्रत लेनेके लिए थोड़ा अधीर भी हो उठा। इन विचारोंसे मुझे

एक प्रकारका आनन्द हुआ और मेरा उत्साह बढ़ा। कल्पनाने सेवाके क्षेत्रको बहुत विशाल बना दिया।

मैं मन-ही-मन इस विचारोंको पक्का कर रहा था और शरीरको कस रहा था कि इतनेमें कोई यह अफवाह लाया कि विद्रोह शान्त होने जा रहा है और अब हमें छुट्टी मिल जायेगी। दूसरे दिन हमें घर जानेकी इजाजत मिली और बादमें कुछ ही दिनोंके अंदर सब अपने-अपने घर पहुँच गये। इसके कुछ ही दिनों बाद गवर्नरने उक्त सेवाके लिए मेरे नाम आभार-प्रदर्शनका एक विशेष पत्र भेजा।

फीनिक्स पहुँचकर मैंने ब्रह्मचर्यकी बात बहुत रस-पूर्वक छगनलाल, मगनलाल, वेस्ट इत्यादिके सामने रखी। सबको बात पसन्द आयी। सबने उसकी आवश्यकता स्वीकार की। सबने यह भी अनुभव किया कि ब्रह्मचर्यका पालन बहुत ही कठिन है। कइयोंने प्रयत्न करनेका साहस भी किया और मेरा खयाल है कि कुछको उसमें सफलता भी मिली।

मैंने व्रत ले लिया कि अबसे आगे जीवन-भर ब्रह्मचर्यका पालन करूँगा। उस समय मैं इस व्रतके महत्त्व और इसकी कठिनाइयोंको पूरी तरह समझ न सका था। इसकी कठिनाइयोंका अनुभव तो मैं आज भी करता रहता हूँ। इसके महत्त्वको मैं दिन-दिन अधिकाधिक समझता जाता हूँ। ब्रह्मचर्य-रहित जीवन मुझे शुष्क और पशुओं-जैसा प्रतीत होता है। पशु स्वभावसे निरंकुश है। मनुष्यका मनुष्यत्व स्वेच्छासे अंकुशमें रहनेमें है। धर्मग्रंथोंमें पायी जानेवाली ब्रह्मचर्यकी प्रशंसामें पहले मुझे अतिशयोक्ति मालूम होती थी; उसके बदले अब दिन-दिन यह अधिक स्पष्ट होता जाता है कि वह उचित है और अनुभव-पूर्वक लिखी गयी है।

जिस ब्रह्मचर्यके ऐसे परिणाम आ सकते हैं, वह सरल नहीं हो सकता, वह केवल शारीरिक भी नहीं हो सकता। शारीरिक अंकुशसे ब्रह्मचर्यका आरंभ होता है। परन्तु शुद्ध ब्रह्मचर्यमें विचारकी मलिनता भी न होनी चाहिये। संपूर्ण ब्रह्मचारीको तो स्वप्नमें भी विकारी विचार नहीं आते। और, जब तक विकारयुक्त स्वप्न आते रहते हैं, तब तक यह समझना चाहिये कि ब्रह्मचर्य बहुत अपूर्ण है।

मुझे कायिक ब्रह्मचर्यके पालनमें भी महान कष्ट उठाना पड़ा है। आज यह कहा जा सकता है कि मैं इसके विषयमें निर्भय बना हूँ। लेकिन अपने विचारों पर मुझे जो जय प्राप्त करनी चाहिये, वह प्राप्त नहीं हो सकी है। मुझे नहीं लगता कि मेरे प्रयत्नमें न्यूनता रहती है। लेकिन मैं अभी तक यह समझ नहीं सका हूँ कि हम जिन

विचारोंको नहीं चाहते, वे हम पर कहाँसे और किस प्रकार हमला करते हैं। मुझे इस विषयमें सन्देह नहीं है कि मनुष्यके पास विचारोंको भी रोकनेकी चाबी है। लेकिन अभी तो मैं इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि यह चाबी भी हरएकको अपने लिए खुद खोज लेनी है। महापुरुष हमारे लिए अपने जो अनुभव छोड़ गये हैं, वे मार्गदर्शक हैं। वे सम्पूर्ण नहीं हैं। संपूर्णता तो केवल प्रभु-प्रसादी है। और इसी हेतुसे भक्तजन अपनी तपश्चर्या द्वारा पुनीत किये हुए और हमें पावन करनेवाले रामनामादि मंत्र छोड़ गये हैं। संपूर्ण ईश्वरार्पणके बिना विचारों पर संपूर्ण विजय प्राप्त हो ही नहीं सकती। यह वचन मैंने सब धर्मग्रंथोंमें पढ़ा है और इसकी सचाईका अनुभव मैं ब्रह्मचर्यके सूक्ष्मतम पालनके अपने इस प्रयत्नके विषयमें कर रहा हूँ।

पर मेरे महान प्रयत्न और संघर्षका थोड़ा-बहुत इतिहास अगले प्रकरणोंमें आने ही वाला है। इस प्रकरणके अन्तमें तो मैं यही कह दूँ कि अपने उत्साहके कारण मुझे आरंभमें तो व्रतका पालन सरल प्रतीत हुआ। व्रत लेते ही मैंने एक परिवर्तन कर डाला। पत्नीके साथ एक शय्याका अथवा एकान्तका मैंने त्याग किया। इस प्रकार जिस ब्रह्मचर्यका पालन मैं इच्छा या अनिच्छासे सन् १९०० से करता आ रहा था, व्रतके रूपमें उसका आरंभ १९०६ के मध्यसे हुआ।

२६. सत्याग्रहकी उत्पत्ति

यों एक प्रकारकी जो आत्मशुद्धि मैंने की वह मानो सत्याग्रहके लिए ही हुई हो, ऐसी एक घटना जोहानिस्बर्गमें मेरे लिए तैयार हो रही थी। आज मैं देख रहा हूँ कि ब्रह्मचर्यका व्रत लेने तककी मेरे जीवनकी सभी मुख्य घटनायें मुझे छिपे तौर पर उसके लिए तैयार कर रही थीं।

'सत्याग्रह' शब्दकी उत्पत्तिके पहले उस वस्तुकी उत्पत्ति हुई। उत्पत्तिके समय तो मैं स्वयं भी उसके स्वरूपको पहचान न सका था। सब कोई उसे गुजरातीमें 'पैसिव रेजिस्टेन्स' के अंग्रेजी नामसे पहचानने लगे। जब गोरोंकी एक सभामें मैंने देखा कि ''पैसिव रेजिस्टेन्स'का संकुचित अर्थ किया जाता है, उसे कमजोरोंका ही हथियार माना जाता है, उसमें द्वेष हो सकता है और उसका अन्तिम स्वरूप हिंसामें प्रकट हो सकता है, तब मुझे उसका विरोध करना पड़ा और हिन्दुस्तानियोंकी लड़ाईका सच्चा स्वरूप समझाना पड़ा। और तब हिन्दुस्तानियोंके लिए अपनी लड़ाईका सच्चा

परिचय देनेके लिये नये शब्दकी योजना करना आवश्यक हो गया।

पर मुझे वैसा स्वतंत्र शब्द किसी तरह सूझ नहीं रहा था। अतएव उसके लिए नाममात्रका इनाम रखकर मैंने 'इन्डियन ओपीनियन' के पाठकोंमें प्रतियोगिता करवायी। इस प्रतियोगिताके परिणामस्वरूप मगनलाल गांधीने सत् + आग्रहकी संधि करके 'सदाग्रह' शब्द बनाकर भेजा। इनाम उन्हें मिला। पर 'सदाग्रह' शब्दको अधिक स्पष्ट करनेके विचारसे मैंने बीचमें 'य' अक्षर और बढ़ाकर 'सत्याग्रह' शब्द बनाया और गुजरातीमें यह लड़ाई इस नामसे पहचानी जाने लगी।

कहा जा सकता है कि इस लड़ाईका इतिहास दक्षिण अफ्रीकाके मेरे जीवनका और विशेषकर मेरे सत्यके प्रयोगोंका इतिहास है। इस इतिहासका अधिकांश मैंने यरवडा जेलमें लिख डाला था और बाकी बाहर आनेके बाद पूरा किया। वह सब 'नवजीवन' में छप चुका है और बादमें 'दक्षिण अफ्रीकाके सत्याग्रहका इतिहास'* के नामसे पुस्तक रूपमें भी प्रकाशित हो चुका है। उसका अंग्रेजी अनुवाद श्री वालजी गोविन्दजी देसाई 'करण्ट थॉट' के लिए कर रहे हैं। पर अब मैं उसे शीघ्र ही अंग्रेजीमें पुस्तकाकार प्रकाशित करनेकी व्यवस्था कर रहा हूँ, जिससे दक्षिण अफ्रीकाके मेरे बड़े-से-बड़े प्रयोगोंको जाननेके इच्छुक सब लोग उन्हें जान-समझ सकें। जिन गुजराती पाठकोंने 'दक्षिण अफ्रीकाके सत्याग्रहका इतिहास' न पढ़ा हो, उन्हें मेरी सलाह है कि वे उसे पढ़ लें। मैं चाहता हूँ कि अबसे आगेके कुछ प्रकरणोंमें उक्त इतिहासमें दिये गये मुख्य कथाभागको छोड़कर दक्षिण अफ्रीकाके मेरे जीवनके जो थोड़े व्यक्तिगत प्रसंग उसमें देने रह गये हैं उन्हींकी चर्चा करूँ। और इनके समाप्त होने पर मैं तुरन्त ही पाठकोंको हिन्दुस्तानके प्रयोगोंका परिचय देना चाहता हूँ। अतएव जो पाठक इन प्रयोगोंके प्रसंगोंके क्रमको अविच्छिन्न रखना चाहते हैं, उनके लिए 'दक्षिण अफ्रीकाके सत्याग्रहका इतिहास'के उक्त प्रकरण अब अपने सामने रखना जरूरी है।

---

* 'दक्षिण अफ्रीकाके सत्याग्रहका इतिहास' का हिन्दी अनुवाद नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद - १४ द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

२७. आहारके अधिक प्रयोग

मन-वचन-कायासे ब्रह्मचर्यका पालन किस प्रकार हो, यह मेरी एक चिन्ता थी; और सत्याग्रहके युद्धके लिए अधिकसे अधिक समय किस तरह बच सके और अधिक शुद्धि किस प्रकार हो, यह दूसरी चिन्ता थी। इन चिन्ताओंने मुझे आहारमें अधिक संयम और अधिक परिवर्तनके लिए प्रेरित किया और पहेले जो परिवर्तन मैं मुख्यतः आरोग्यकी दृष्टिसे करता था, वे अब धार्मिक दृष्टिसे होने लगे।

इसमें उपवास और अल्पाहारने अधिक स्थान लिया। जिस मनुष्यमें विषय-वासना रहती है, उसमें जीभके स्वाद भी अच्छी मात्रामें होते हैं। मेरी भी यही स्थिति थी। जननेन्द्रिय और स्वादेन्द्रिय पर काबू पानेकी कोशिशमें मुझे अनेक कठिनाइयोंका सामना करना पड़ा है और आज भी मैं यह दावा नहीं कर सकता कि मैंने दोनों पर पूरी जय प्राप्त कर ली है। मैंने अपने आपको अत्याहारी माना है। मित्रोंने जिसे मेरा संयम माना है, उसे मैंने स्वयं कभी संयम माना ही नहीं। मैं जितना अंकुश रखना सीखा हूँ उतना भी यदि न रख सका होता, तो मैं पशुसे भी नीचे गिर जाता और कभीका नष्ट हो जाता। कहा जा सकता है कि अपनी त्रुटियोंका मुझे ठीक दर्शन होनेसे मैंने उन्हें दूर करनेके लिए घोर प्रयत्न किये हैं और फलतः मैं इतने वर्षों तक इस शरीरको टिका सका हूँ और इससे कुछ काम ले सका हूँ।

मुझे इसका ज्ञान था और ऐसा संग अनायास ही प्राप्त हो गया था, इसलिए मैंने एकादशीका फलाहार अथवा उपवास शुरू किया। जन्माष्टमी आदि दूसरी तिथियाँ भी पालना शुरू किया, किन्तु संयमकी दृष्टिसे मैं फलाहार और अन्नाहारके बीच बहुत भेद न देख सका। जिसे हम अनाजके रूपमें पहचानते हैं उसमें जो रस हम प्राप्त करते हैं, वे रस हमें फलाहारमें से भी मिल जाते हैं; और मैंने देखा कि आदत पड़ने पर तो उसमें से अधिक रस प्राप्त होते हैं। अतएव इन तिथियोंके दिन मैं निराहार उपवासको अथवा एकाशनको अधिक महत्त्व देने लगा। इसके सिवा, प्रायश्चित्त आदिका कोई निमित्त मिल जाता, तो मैं उस निमित्तसे भी एक बारका उपवास कर डालता था।

इसमें से मैंने यह भी अनुभव किया कि शरीरके अधिक निर्मल होनेसे स्वाद बढ़ गया, भूख अधिक खूल गयी और मैंने देखा कि उपवास आदि जिस हद तक संयमके साधन हैं, उस हद तक वे भोगके साधन भी बन सकते हैं। इस ज्ञानके बाद

इसके समर्थनमें इसी प्रकारके कितने ही अनुभव मुझे और दूसरोंको हुए हैं। यद्यपि मुझे शरीरको अधिक अच्छा और कसा हुआ बनाना था, तथापि अब मुख्य हेतु तो संयम सिद्ध करना - स्वाद जीतना ही था। अतएव मैं आहारकी वस्तुओंमें और उनके परिमाणमें फेरबदल करने लगा। किन्तु रस तो पीछा पकड़े हुए थे ही। मैं जिस वस्तुको छोड़ता और उसके बदलमें जिसे लेता, उसमें से बिलकुल ही नये और अधिक रसोंका निर्माण हो जाता।

इन प्रयोगोंमें मेरे कुछ साथी भी थे। उनमें हरमान केलनबैक मुख्य थे। चूँकि उनका परिचय मैं 'दक्षिण अफ्रिकाके सत्याग्रहका इतिहास' में दे चुका हूँ, इसलिए पुनः इस प्रकरणोंमे देनेका विचार मैंने छोड़ दिया है। उन्होंने मेरे प्रत्येक उपवासमें, एकाशनमें और दूसरे परिवर्तनोंमें मेरा साथ दिया था। जिन दिनों लड़ाई खूब जोरसे चल रही थी, उन दिनों तो मैं उन्हींके घरमें रहता था। हम दोनों अपने परिवर्तनोंकी चर्चा करते और नये परिवर्तनोंमें से पुराने स्वादोंसे अधिक स्वाद ग्रहण करते थे। उस समय तो ये संवाद मीठे भी मालूम होते थे। उनमें कोई अनौचित्य नहीं जान पड़ता था। किन्तु अनुभवने सिखाया कि ऐसे स्वादोंका आनन्द लेना भी अनुचित था। मतलब यह कि मनुष्यको स्वादके लिए नहीं, बल्कि शरीरके निर्वाहके लिए ही खाना चाहिये। जब प्रत्येक इन्द्रिय केवल शरीरके लिए और शरीरके द्वारा आत्माके दर्शनके लिए ही कार्य करती है, तब उसके रस शून्यवत् हो जाते हैं और तभी कहा जा सकता है कि वह स्वाभाविक रूपसे बरतती है।

ऐसी स्वाभाविकता प्राप्त करनेके लिए जितने प्रयोग किये जायँ उतने कम ही हैं और ऐसा करते हुए अनेक शरीरोंकी आहुति देनी पड़े, तो उसे भी हमें तुच्छ समझना चाहिये। आज तो उलटी धारा बह रही है। नश्वर शरीरको सजानेके लिए, उसकी उमर बढ़ानेके लिए, हम अनेक प्राणियोंकी बलि देते हैं, फिर भी उससे शरीर और आत्मा दोनोंका हनन होता है। एक रोगको मिटानेकी कोशिशमें, इन्द्रियोंके भोग भोगनेका यत्न करनेमें हम अनेक नये रोग उत्पन्न कर लेते हैं और अन्तमें भोग भोगनेकी शक्ति भी खो बैठते हैं। और अपनी आँखोंके सामने हो रही इस क्रियाको देखनेसे हम इनकार करते हैं।

आहारके जिन प्रयोगोंका वर्णन करनेमें मैं कुछ समय लेना चाहता हूँ उन्हें पाठक समझ सकें, इसलिए उनके उद्देश्यकी और उनके मूलमें काम कर रही विचारधाराकी जानकारी देना आवश्यक था।

२८. पत्नीकी दृढ़ता

कस्तूरबाई पर रोगके तीन घातक हमले हुए और तीनोंमें वह केवल घरेलू उपचारोंसे बच गई। उनमें पहली घटना उस समय घटी जब सत्याग्रहका युद्ध चल रहा था। उसे बार-बार रक्तस्राव हुआ करता था। एक डॉक्टर मित्रने शस्त्रक्रिया करा लेनेकी सलाह दी थी। थोडी आनाकानीके बाद पत्नीने शस्त्रक्रिया कराना स्वीकार कर लिया। उसका शरीर बहुत ही क्षीण हो गया था। डॉक्टरने बिना क्लोरोफार्मके शस्त्रक्रिया की। शस्त्रक्रियाके समय पीड़ा बहुत हो रही थी, पर जिस धीरजसे कस्तूरबाईने उसे सहन किया उससे मैं आश्चर्यचकित हो गया। शस्त्रक्रिया निर्विघ्न पूरी हो गयी। डॉक्टरने और उनकी पत्नीने कस्तूरबाईकी अच्छी सार-संभाल की।

यह घटना डरबनमें हुई थी। दो या तीन दिनके बाद डॉक्टरने मुझे निश्चिन्त होकर जोहानिस्बर्ग जानेकी अनुमति दे दी। मैं चला गया। कुछ ही दिन बाद खबर मिली कि कस्तूरबाईका शरीर बिलकुल सुधर नहीं रहा है और वह बिछौना छोड़कर उठ-बैठ भी नहीं सकती। एक बार बेहोश भी हो चुकी थी। डॉक्टर जानते थे कि मुझसे पूछे बिना औषधि या अन्नके रूपमें कस्तूरबाईको शराब अथवा मांस नहीं दिया जा सकता। डॉक्टरने मुझे जोहानिस्बर्गमें टेलीफोन किया: "मैं आपकी पत्नीको मांसका शोरवा अथवा 'बीफ-टी' देनेकी जरूरत समझता हूँ। मुझे इजाजत मिलनी चाहिये।"

मैंने उत्तर दिया, "मैं यह इजाजत नहीं दे सकता। किन्तु कस्तूरबाई स्वतंत्र है। उससे पूछने-जैसी स्थिति हो तो पूछिये और वह लेना चाहे तो जरूर दीजिये।"

"ऐसे मामलोंमें मैं बीमारसे कुछ पूछना पसंद नहीं करता। स्वयं आपका यहाँ आना जरूरी है। यदि आप मैं जो चाहूँ सो खिलानेकी छूट मुझे न दें, तो मैं आपकी स्त्रीके लिए जिम्मेदार नहीं।"

मैंने उसी दिन डरबनकी ट्रेन पकड़ी। डरबन पहुँचा। डाक्टरने मुझसे कहा, "मैंने तो शोरवा पिलानेके बाद ही आपको टेलीफोन किया था!"

मैंने कहा, "डॉक्टर, मैं इसे दगा समझता हूँ।"

डॉक्टरने दृढ़ता-पूर्वक उत्तर दिया, "दवा करते समय मैं दगा-वगा नहीं समझता। हम डॉक्टर लोग ऐसे समय रोगीको अथवा उसके संबंधियोंको धोखा देनेमें पुण्य समझते हैं। हमारा धर्म तो किसी भी तरह रोगीको बचाना है!"

मुझे बहुत दुःख हुआ। पर मैं शान्त रहा। डॉक्टर मित्र थे, सज्जन थे। उन्होंने और उनकी पत्नीने मुझ पर उपकार किया था। पर मैं उक्त व्यवहार सहन करनेके लिए तैयार न था।

"डॉक्टर साहब, अब स्थिति स्पष्ट कर लीजिये। कहिये, आप क्या करना चाहते हैं? मैं अपनी पत्नीको उसकी इच्छाके बिना मांस नहीं खिलाने दूँगा। मांस न लेनेके कारण उनकी मृत्यु हो जाय, तो मैं उसे सहनेके लिए तैयार हूँ।"

डॉक्टर बोले, "आपकी फिलासफी मेरे घरमें तो हरगिज नहीं चलेगी। मैं आपसे कहता हूँ कि जब तक अपनी पत्नीको आप मेरे घरमें रहने देंगे, तब तक मैं उसे अवश्य ही मांस अथवा जो कुछ भी देना उचित होगा, दूँगा। यदि यह स्वीकार न हो तो आप अपनी पत्नीको ले जाइये। मैं अपने ही घरमें जान-बूझकर उसकी मृत्यु नहीं होने दूँगा।"

"तो क्या आप यह कहते हैं कि मैं अपनी पत्नीको इसी समय ले जाऊँ?"

"मैं कब कहता हूँ कि ले जाइये? मैं तो यह कहता हूँ कि मुझ पर किसी प्रकारका अंकुश न रखिये। उस दशामें हम दोनों उसकी जितनी हो सकेगी उतनी सार-संभाल करेंगे और आप निश्चिन्त होकर जा सकेंगे। यदि यह सीधी-सी बात आप न समझ सकें, तो मुझे विवश होकर कहना होगा कि आप अपनी पत्नीको मेरे घरसे ले जाइये।"

मेरा खयाल है कि उस समय मेरा एक लड़का मेरे साथ था। मैंने उससे पूछा। उसने कहा, "आपकी बात मुझे मंजूर है। बाको मांस तो दिया ही नहीं जा सकता।"

फिर मैं कस्तूरबाईके पास गया। वह बहुत अशक्त थी। उससे कुछ भी पूछना मेरे लिए दुःखदायी था, किन्तु धर्म समझकर मैंने उसे थोड़ेमें उपरकी बात कह सुनाई। उसने दृढ़ता-पूर्वक उत्तर दिया: "मैं मांसका शोरवा नहीं लूँगी। मनुष्यकी देह बार-बार नहीं मिलती। चाहे आपकी गोदमें मैं मर जाऊँ, पर अपनी इस देहको भ्रष्ट तो नहीं होने दूँगी।"

जितना मैं समझा सकता था, मैंने समझाया और कहा, "तुम मेरे विचारोंका अनुसरण करनेके लिए बँधी हुई नहीं हो।"

हमारी जान-पहचानके कई हिन्दू दवाके लिए मांस और मद्य लेते थे, इसकी भी मैंने बात की। पर वह टस-से-मस न हुई और बोली: "मुझे यहाँसे ले चलिये।"

मैं बहुत प्रसन्न हुआ। ले जानेके विचारसे घबरा गया। पर मैंने निश्चय कर लिया। डॉक्टरको पत्नीका निश्चय सुना दिया। डॉक्टर गुस्सा हुए और बोले:

"आप तो बड़े निर्दय पति मालूम पड़ते हैं। ऐसी बीमारीमें उस बेचारीसे इस तरहकी बातें करनेमें आपको शरम भी नहीं आयी? मैं आपसे कहता हूँ कि आपकी स्त्री यहाँसे ले जाने लायक नहीं है। उसका शरीर इस योग्य नहीं है कि वह थोड़ा भी धक्का सहन करे। रास्तेमें ही उसकी जान निकल जाय, तो मुझे आश्चर्य न होगा। फिर भी आप अपने हठके कारण बिलकुल न मानें, तो आप ले जानेके लिए स्वतंत्र हैं। यदि मैं उसे शोरवा न दे सकूँ, तो अपने घरमें एक रात रखनेका भी खतरा मैं नहीं उठा सकता।"

रिमझिम-रिमझिम मेह बरस रहा था। स्टेशन दूर था। डरबनसे फीनिक्स तक रेलका और फीनिक्ससे लगभग ढाई मीलका पैदल रास्ता था। खतरा काफी था, पर मैंने माना कि भगवान मदद करेगा। एक आदमीको पहलेसे फीनिक्स भेज दिया। फीनिक्समें हमारे पास 'हैमक' था। जालीदार कपड़ेकी झोली या पालनेको हैमक कहते हैं। उसके सिरे बाँससे बाँध दिये जायें, तो बीमार उसमें आरामसे झूलता रह सकता है। मैंने वेस्टको खबर भेजी थी कि वे हैमक, एक बोतल गरम दूध, एक बोतल गरम पानी और छह आदमियोंका साथ लेकर स्टेशन पर आ जायें।

दूसरी ट्रेनके छूटनेका समय होने पर मैंने रिक्शा मँगवाया और उसमें, इस खतरनाक हालतमें, पत्नीको बैठाकर मैं रवाना हो गया।

मुझे पत्नीको हिम्मत नहीं बँधानी पड़ी; उलटे उसीने मुझे हिम्मत बँधाते हुए कहा, "मुझे कुछ नहीं होगा, आप चिन्ता न कीजिये।"

हड्डियोंके इस ढाँचेमें वजन तो कुछ रह ही नहीं गया था। खाया बिलकुल नहीं जाता था। ट्रेनके डिब्बे तक पहुँचनेमें स्टेशनके लंबे-चौड़े प्लेटफार्म पर दूर तक चलकर जाना पड़ता था। वहाँ तक रिक्शा नहीं जा सकता था। मैं उसे उठाकर डिब्बे तक ले गया। फीनिक्स पहुँचने पर तो वह झोली आ गयी थी। उसमें बीमारको आरामसे ले गये। वहाँ केवल पानीके उपचारसे धीरे-धीरे कस्तूरबाईका शरीर पुष्ट होने लगा।

फीनिक्स पहुँचनेके बाद दो-तीन दिनके अंदर एक स्वामी पधारे। हमारे 'हठ' की बात सुनकर उनके मनमें दया उपजी और वे हम दोनोंको समझाने आये। जैसा कि मुझे याद है, स्वामीजीके आगमनके समय मणिलाल और रामदास भी वहाँ

मौजूद थे। स्वामीजीने मांसाहारकी निर्दोषता पर व्याख्यान देना शुरू किया। मनुस्मृतिके श्लोकोंका प्रमाण दिया। पत्नीके सामने इस तरहकी चर्चा मुझे अच्छी नहीं लगी। पर शिष्टताके विचारसे मैंने उसे चलने दिया। मांसाहारके समर्थनमें मुझे मनुस्मृतिके प्रमाणकी आवश्यकता नहीं थी। मैं उसके श्लोकोंको जानता था। मैं जानता था कि उन्हें प्रक्षिप्त माननेवाला भी एक पक्ष है। पर वे प्रक्षिप्त न होते तो भी अन्नाहारके विषयमें मेरे विचार तो स्वतंत्र रीतिसे पक्के हो चुके थे। कस्तूरबाईकी श्रद्धा काम कर रही थी। वह बेचारी शास्त्रके प्रमाणको क्या जाने? उसके लिए तो बाप-दादोंकी रूढ़ि ही धर्म थी। लड़कोंको अपने पिताके धर्म पर विश्वास था। इसलिए वे स्वामीजीसे मजाक कर रहे थे। अन्तमें कस्तूरबाईने इस संवादको यह कहकर बन्द किया:

"स्वामीजी, आप कुछ भी क्यों न कहें, पर मुझे मांसका शोरवा खाकर स्वस्थ नहीं होना है। अब आप मेरा सिर न पचायें, तो आपका मुझ पर बड़ा उपकार होगा। बाकी बातें आपको लड़कोंके पिताजीसे करनी हों, तो कर लीजियेगा। मैंने अपना निश्चय आपको बतला दिया।"

२९. घरमें सत्याग्रह

मुझे जेलका पहला अनुभव सन् १९०८में हुआ। उस समय मैंने देखा कि जेलमें कैदियोंसे जो कुछ नियम पलवाये जाते हैं, संयमी अथवा ब्रह्मचारीको उनका पालन स्वेच्छापूर्वक करना चाहिये।[१] जैसे, कैदियोंको सूर्यास्तसे पहले पाँच बजे तक खा लेना होता है। उन्हें - हिन्दुस्तानी और हब्शी कैदियोंको - चाय या कॉफी नहीं दी जाती। नमक खाना हो तो अलगसे लेना होता है। स्वादके लिए तो कुछ खाया ही नहीं जा सकता।

जब मैंने जेलके डॉक्टरसे हिन्दुस्तानियोंके लिए 'करी पाउडर'[२] माँगा और नमक

---

१ जेलके मेरे अनुभव भी पुस्तकाकार प्रकाशित हो चुके हैं। मूलतः वे गुजरातीमें लिखे गये थे और वे ही अंग्रेजीमें प्रकाशित हुए हैं। जहाँ तक मैं जानता हूँ, दोनों पुस्तकें मिल सकती हैं। - मो. क. गांधी

२ पिसा हुआ मसाला।

बनती हुई रसोईमें ही डालनेकी बात कही, तो वे बोले, "यहाँ आप लोग स्वादका आनन्द लूटनेके लिए नहीं आये हैं। आरोग्यकी दृष्टिसे 'करी पाउडर' की कोई आवश्यकता नहीं है। आरोग्यके विचारसे नमक ऊपरसे लें या पकाते समय रसोईमें डालें, दोनों एक ही बात है।"

वहाँ तो बड़ी मेहनतके बाद हम आखिर जरूरी परिवर्तन करा सके थे। पर केवल संयमकी दृष्टिसे देखें, तो दोनों प्रतिबंध अच्छे ही थे। ऐसा प्रतिबन्ध जब जबरदस्ती लगाया जाता है, तो वह सफल नहीं होता। पर स्वेच्छासे पालन करने पर ऐसा प्रतिबन्ध बहुत उपयोगी सिद्ध होता है। अतएव जेलसे छूटनेके बाद मैंने ये परिवर्तन भोजनमें तुरन्त किये। भरसक चाय पीना बन्द किया और शामको जल्दी खानेकी आदत डाली, जो आज स्वाभाविक हो गयी है।

किन्तु एक ऐसी घटना घटी, जिसके कारण मैंने नमकका त्याग किया, जो लगभग दस वर्ष तक अखण्ड रूपसे कायम रहा। अन्नाहार-संबंधी कुछ पुस्तकोंमें मैंने पढ़ा था कि मनुष्यके लिए नमक खाना आवश्यक नहीं है और न खानेवालेको आरोग्यकी दृष्टिसे लाभ ही होता है। यह तो मुझे सूझा ही था कि नमक न खानेसे ब्रह्मचारीको लाभ होता है। मैंने यह भी पढ़ा और अनुभव किया था कि कमजोर शरीरवालेको दाल न खानी चाहिये। किन्तु मैं उन्हें तुरन्त छोड़ न सका था। दोनों चीजें मुझे प्रिय थीं।

यद्यपि उक्त शस्त्रक्रियाके बाद कस्तूरबाईका रक्तस्राव थोड़े समयके लिए बन्द हो गया था, पर अब वह फिर शुरू हो गया और किसी प्रकार बन्द ही न होता था। अकेले पानीके उपचार व्यर्थ सिद्ध हुए। यद्यपि पत्नीको मेरे उपचारों पर विशेष श्रद्धा नहीं थी, तथापि उनके लिए तिरस्कार भी नहीं था। दूसरी दवा करनेका आग्रह न था। मैंने उसे नमक और दाल छोड़नेके लिए मनाना शुरू किया। बहुत मनाने पर भी, अपने कथनके समर्थनमें कुछ-न-कुछ पढ़कर सुनाने पर भी, वह मानी नहीं। आखिर उसने कहा: "दाल और नमक छोड़नेको तो कोई आपसे कहे, तो आप भी न छोड़ेंगे।" मुझे दुःख हुआ और हर्ष भी हुआ। मुझे अपना प्रेम उँड़ेलनेका अवसर मिला। उसके हर्षमें मैंने तुरन्त ही कहा, "तुम्हारा यह खयाल गलत है। मुझे बीमारी हो और वैद्य इस चीजको या दूसरी किसी चीजको छोड़नेके लिए कहे, तो मैं अवश्य छोड़ दूँ। लेकिन जाओ, मैंने तो एक सालके लिए दाल और नमक दोनों छोड़े। तुम छोड़ो या न छोड़ो, यह अलग बात है।"

पत्नीको बहुत पश्चात्ताप हुआ। वह कह उठी, "मुझे माफ कीजिये। आपका स्वभाव जानते हुए भी मैं कहते कह गयी। अब मैं दाल और नमक नहीं खाऊँगी, लेकिन आप अपनी बात लौटा लें। यह तो मेरे लिए बहुत बड़ी सजा हो जायेगी।"

मैंने कहा, "अगर तुम दाल और नमक छोड़ोगी, तो अच्छा ही होगा। मुझे विश्वास है कि उससे तुम्हें लाभ होगा। पर मैं ली हुई प्रतिज्ञा वापस नहीं ले सकूँगा। मुझे तो इससे लाभ ही है। मनुष्य किसी भी निमित्तसे संयम क्यों न पाले, उसमें उसे लाभ ही है। अतएव तुम मुझसे आग्रह न करो। फिर मेरे लिए भी यह एक परीक्षा हो जायेगी और इन दो पदार्थोंको छोड़नेका जो निश्चय तुमने किया है, उस पर दृढ़ रहनेमें तुम्हें मदद मिलेगी।" इसके बाद मुझे उसे मनानेकी जरूरत तो रही ही नहीं। "आप बहुत हठीले हैं। किसीकी बात मानते ही नहीं।" कहकर और अंजलि-भर आँसू बहाकर वह शान्त हो गयी।

मैं इसे सत्याग्रहका नाम देना चाहता हूँ और इसको अपने जीवनकी मधुर स्मृतियोंमें से एक मानता हूँ।

इसके बाद कस्तूरबाईकी तबीयत खूब संभली। इसमें नमक और दालका त्याग कारणरूप था या वह किस हद तक कारणरूप था, अथवा उस त्यागसे उत्पन्न आहार-संबंधी अन्य छोटे-बड़े परिवर्तन कारणभूत थे, या इसके बाद दूसरे नियमोंका पालन करानेमें मेरी पहरेदारी निमित्तरूप थी, अथवा उपर्युक्त प्रसंगसे उत्पन्न मानसिक उल्लास निमित्तरूप था -- सो मैं कह नहीं सकता। पर कस्तूरबाईका क्षीण शरीर फिर पनपने लगा, रक्तस्राव बन्द हुआ और 'वैद्यराज' के रूपमें मेरी साख कुछ बढ़ी।

स्वयं मुझ पर तो इन दोनोंके त्यागका प्रभाव अच्छा ही पड़ा। त्यागके बाद नमक अथवा दालकी इच्छा तक न रही। एक सालका समय तो तेजीसे बीत गया। मैं इन्द्रियोंकी शान्तिका अधिक अनुभव करने लगा और मन संयमको बढ़ानेकी तरफ़ अधिक दौड़ने लगा। कहना होगा कि वर्षकी समाप्तिके बाद भी दाल और नमकका मेरा त्याग ठेठ देश लौटने तक चालू रहा। केवल एक बार सन् १९१४ में विलायतमें नमक और दाल खायी थी। पर इसकी बात और देश वापस आने पर ये दोनों चीजें फिर किस तरह लेनी शुरू कीं इसकी कहानी आगे कहूँगा।

नमक और दाल छुड़ानेके प्रयोग मैंने दूसरे साथियों पर भी काफी किये हैं और दक्षिण अफ्रिकामें तो उनके परिणाम अच्छे ही आये हैं। वैद्यक दृष्टिसे दोनों चीजोंके

त्यागके विषयमें दो मत हो सकते हैं, पर इसमें मुझे कोई शंका ही नहीं कि संयमकी दृष्टिसे तो इन दोनों चीजोंके त्यागमें लाभ ही है। भोगी और संयमीके आहार भिन्न होने चाहिये, उनके मार्ग भिन्न होने चाहिये। ब्रह्मचर्यका पालन करनेकी इच्छा रखनेवाले लोग भोगीका जीवन् बिताकर ब्रह्मचर्यको कठिन और कभी-कभी लगभग असंभव बना डालते हैं।

३०. संयमकी ओर

मैं पिछले प्रकरणमें लिख चुका हूँ कि आहार-संबंधी कुछ परिवर्तन कस्तूरबाईकी बीमारीके निमित्तसे हुए थे। पर अब तो दिन-प्रतिदिन ब्रह्मचर्यकी दृष्टिसे आहारमें परिवर्तन होने लगे।

इनमें पहला परिवर्तन दूध छोड़नेका हुआ। मुझे पहले-पहल रायन्दभाईसे मालूम हुआ था कि दूध इन्द्रिय-विकार पैदा करनेवाली वस्तु है। अन्नाहार-विषयक अंग्रेजी पुस्तकोंके वाचनसे इस विचारमें वृद्धि हुई। लेकिन जब तक ब्रह्मचर्यका व्रत नहीं लिया था, तब तक मैं दूध छोड़नेका कोई खास इरादा नहीं कर सका था। यह चीज तो मैं बहुत पहलेसे समझने लगा था कि शरीरके निर्वाहके लिए दूध आवश्यक नहीं है। लेकिन वह झट छूटनेवाली चीज न थी। मैं यह अधिकाधिक समझने लगा था कि इन्द्रियदमनके लिए दूध छोड़ना चाहिये। इन्हीं दिनों मेरे पास कलकत्तेसे कुछ साहित्य आया, जिसमें गाय-भैंस पर ग्वालों द्वारा किये जानेवाले क्रूर अत्याचारोंकी कथा थी। इस साहित्यका मुझ पर चमत्कारी प्रभाव पड़ा। मैंने इस सम्बन्धमें मि० केलनबैकसे चर्चा की।

यद्यपि मि० केलनबैकका परिचय मैं सत्याग्रहके इतिहासमें दे चुका हूँ, और पिछले एक प्रकरणमें भी उनका थोड़ा उल्लेख कर चुका हूँ, तो भी यहाँ दो शब्द अधिक कहनेकी आवश्यकता है। उनसे मेरी भेंट अनायास ही हुई थी। वे मि० खानके मित्र थे। मि० खानने उनके अन्तरकी गहराईमें वैराग्य-वृत्तिका दर्शन किया था और मेरा खयाल है कि इसी कारण उन्होंने मेरी पहचान उनसे करायी थी। जिस समय पहचान हुई उस समय उनके तरह-तरहके शौकोंसे और खर्चीलेपनसे मैं चौंक उठा था। पर पहले ही परिचयमें उन्होंने मुझसे धर्म-विषयक प्रश्न किये। इस चर्चामें अनायास ही बुद्ध भगवानके त्यागकी बात निकली। इस प्रसंगके बाद हमारा संपर्क

बढ़ता चला गया। वह इस हद तक बढ़ा कि उन्होंने अपने मनमें यह निश्चय कर लिया कि जो काम मैं करूँ वह उन्हें भी करना चाहिये। वे बिलकुल अकेले थे। मकान-किरायेके अलावा हर महीने लगभग बारह सौ रुपये वे अपने-आप पर खर्च कर डालते थे। आखिर इसमें से इतनी सादगी पर पहुँच गये कि एक समय उनका मासिक खर्च घटकर १२० रुपये पर जा टिका। मेरे अपनी घर-गृहस्थीको तोड़ देनेके बाद और पहली जेलयात्राके पश्चात् हम दोनों साथ रहने लगे थे। उस समय हम दोनोंका जीवन अपेक्षाकृत अधिक कठोर था।

जिन दिनों हम साथ रहते थे, उन्हीं दिनों दूध-संबंधी उक्त चर्चा हुई थी। मि० केलनबैकने सलाह दी: "दूधके दोषोंकी चर्चा तो हम प्रायः करते ही हैं। तो फिर हम दूध छोड़ क्यों न दें? उसकी आवश्यकता तो है ही नहीं।" उनकी इस रायसे मुझे सानन्द आश्चर्य हुआ। मैंने इस सलाहका स्वागत किया और हम दोनोंने उसी क्षण टॉल्स्टॉय फार्म पर दूधका त्याग किया। यह घटना सन् १९१२ में घटी।

इतने त्यागसे मुझे शान्ति न हुई। दूध छोड़नेके कुछ ही समय बाद केवल फलाहारके प्रयोगका भी हमने निश्चय किया। फलाहारमें भी जो सस्तेसे सस्ते फल मिलें, उनसे ही अपना निर्वाह करनेका हमारा निश्चय था। गरीबसे गरीब आदमी जैसा जीवन बिताता है, वैसा ही जीवन बितानेकी उमंग हम दोनोंको थी। हमने फलाहारकी सुविधाका भी खूब अनुभव किया। फलाहारमें अधिकतर चूल्हा जलानेकी आवश्यकता ही न होती थी। बिना सिंकी मूँगफली, केले, खजूर, नीबू और जैतूनका तेल -- यह हमारा साधारण आहार बन गया।

ब्रह्मचर्यका पालन करनेकी इच्छा रखनेवालोंको यहाँ एक चेतावनी देनेकी आवश्यकता है। यद्यपि मैंने ब्रह्मचर्यके साथ आहार और उपवासका निकट संबंध सूचित किया है, तो भी यह निश्चित है कि उसका मुख्य आधार मन पर है। मैला मन उपवाससे शुद्ध नहीं होता। आहारका उस पर प्रभाव नहीं पड़ता। मनका मैल तो विचारसे, ईश्वरके ध्यानसे और आखिर ईश्वरी प्रसादसे ही छूटता है। किन्तु मनका शरीरके साथ निकट संबंध है और विकारयुक्त मन विकारयुक्त आहारकी खोजमें रहता है। विकारी मन अनेक प्रकारके स्वादों और भोगोंकी तलाशमें रहता है और बादमें उन आहारों तथा भोगोंका प्रभाव मन पर पड़ता है। अतएव उस हद तक आहार पर अंकुश रखनेकी और निराहार रहनेकी आवश्यकता अवश्य उत्पन्न होती है। विकारग्रस्त मन शरीर और इन्द्रियोंको अंकुशमें रखनेके बदले शरीरके और

इन्द्रियोंके अधीन होकर चलता है, इस कारण भी शरीरके लिए शुद्ध और कम-से-कम विकारी आहारकी मर्यादाकी और प्रसंगोपात्त निराहारकी -- उपवासकी -- आवश्यकता रहती है। अतएव जो लोग यह कहते हैं कि संयमीके लिए आहारकी मर्यादाकी अथवा उपवासकी आवश्यकता नहीं है, वे उतने ही गलती पर हैं जितने आहार तथा उपवासको सर्वस्व माननेवाले। मेरा अनुभव तो मुझे यह सिखाता है कि जिसका मन संयमकी ओर बढ़ रहा है, उसके लिए आहारकी मर्यादा और उपवास बहुत मदद करनेवाले हैं। इनकी सहायताके बिना मनकी निर्विकारता असम्भव प्रतीत होती है।

३१. उपवास

जिन दिनों मैंने दूध और अनाज छोड़कर फलाहारका प्रयोग शुरू किया, उन्हीं दिनों संयमके हेतुसे उपवास भी शुरू किये। मि० केलनबैक इसमें भी मेरे साथ हो गये। पहले मैं उपवास केवल आरोग्यकी दृष्टिसे करता था। एक मित्रकी प्रेरणासे मैंने यह समझा कि देह-दमनके लिए उपवासकी आवश्यकता है। चूँकि मैं वैष्णव कुटुम्बमें पैदा हुआ था और चूँकि माताजी कठिन व्रतोंका पालन करनेवाली थीं, इसलिए देशमें एकादशी आदि व्रत मैंने किये थे। किन्तु वे देखा-देखी अथवा माता-पिताको प्रसन्न करनेके विचारसे किये थे। ऐसे व्रतोंसे कोई लाभ होता है, इसे न तो मैं उस समय समझा था, न मानता ही था। किन्तु उक्त मित्रको उपवास करते देखकर और अपने ब्रह्मचर्य-व्रतको सहारा पहुँचानेके विचारसे मैंने उनका अनुकरण करना शुरू किया और एकादशीके दिन उपवास रखनेका निश्चय किया। साधारणतः लोग एकादशीके दिन दूध और फल खाकर समझते हैं कि उन्होंने एकादशी की है। पर फलाहारी उपवास तो अब मैं रोज ही करने लग गया था। इसलिए मैंने पानी पीनेकी छूट रखकर पूरे उपवास शुरू किये।

उपवासके प्रयोगोंके आरम्भिक दिनोंमें श्रावणका महीना पड़ता था। उस साल रमजान और श्रावण दोनों एकसाथ पड़े थे। गांधी-कुटुम्बमें वैष्णव व्रतोंके साथ शैव व्रत भी पाले जाते थे। कुटुम्बके लोग वैष्णव देवालयोंकी भाँति ही शिवालयोंमें भी जाते थे। श्रावण महीनेका प्रदोष-व्रत कुटुम्बमें कोई न कोई प्रतिवर्ष करता ही था। इसलिए इस श्रावण मासका व्रत मैंने रखना चाहा।

इस महत्त्वपूर्ण प्रयोगका प्रारम्भ टॉल्स्टॉय आश्रममें हुआ था। वहाँ सत्याग्रही कैदियोंके कुटुम्बोंकी देखरेख करते हुए केलनबैक और मैं दोनों रहते थे। उनमें बालक और नौजवान भी थे। उनके लिए स्कूल चलता था। इन नौजवानोंमें चार-पाँच मुसलमान थे। इस्लामके नियमोंका पालन करनेमें मैं उनकी मदद करता था और उन्हें बढ़ावा देता था। नमाज वगैराकी सहूलियत कर देता था। आश्रममें पारसी और ईसाई भी थे। इन सबको अपने-अपने धर्मके अनुसार चलनेके लिए प्रोत्साहित करनेका आश्रममें नियम था। अतएव मुसलमान नौजवानोंको मैंने रोजे रखनेके लिए उत्साहित किया। मुझे तो प्रदोष-व्रत करना ही था। किन्तु मैंने हिन्दुओं, पारसियों और ईसाइयोंको भी मुसलमान नौजवानोंका साथ देनेकी सलाह दी। मैंने उन्हें समझाया कि संयममें सबके साथ सहयोग करना स्तुत्य है। बहुतेरे आश्रमवासियोंने मेरी बात मान ली। हिन्दू और पारसी मुसलमान साथियोंका पूरा-पूरा अनुकरण नहीं करते थे, करना आवश्यक भी न था। मुसलमान सूरज डूबनेकी राह देखते थे, जब कि दूसरे उससे पहले खा लिया करते थे, जिससे वे मुसलमानोंको परोस सकें और उनके लिए विशेष वस्तुएँ तैयार कर सकें। इसके सिवा, मुसलमान जो सहरी* खाते थे, उसमें दूसरोंके सम्मिलित होनेकी आवश्यकता न थी। और मुसलमान दिनमें पानी भी न पीते थे, जब कि दूसरे लोग छूटसे पानी पीते थे।

इस प्रयोगका एक परिणाम यह हुआ कि उपवास और एकाशनका महत्त्व सब समझने लगे। एक-दूसरेके प्रति उदारता और प्रेमभावमें वृद्धि हुई। आश्रममें अन्नाहारका नियम था। यह नियम मेरी भावनाके कारण स्वीकार किया गया था, यह बात मुझे यहाँ आभारपूर्वक स्वीकार करनी चाहिये। रोजेके दिनोंमें मुसलमानोंको मांसका त्याग कठिन प्रतीत हुआ होगा, पर नवयुवकोंमें से किसीने मुझे उसका पता नहीं चलने दिया। वे आनन्द और रस-पूर्वक अन्नाहार करते थे। हिन्दू बालक आश्रममें अशोभनीय न लगनेवाला स्वादिष्ट भोजन भी उनके लिए तैयार करते थे।

अपने उपवासका वर्णन करते हुए यह विषयान्तर मैंने जान-बूझकर किया है, क्योंकि इस मधुर प्रसंगका वर्णन मैं दूसरी जगह नहीं कर सकता था। और, इस विषयान्तरके साथ मैंने अपनी एक आदतकी भी चर्चा कर ली है। अपने विचारमें मैं

---

* वह हलका भोजन जो रमजानके दिनोंमें रोजा रखनेवाले मुसलमान कुछ रात रहते कर लेते हैं।

जो अच्छा काम करता हूँ, उसमें अपने साथ रहनेवालोंको सम्मिलित करनेका प्रयत्न मैं हमेशा करता हूँ। उपवास और एकाशनके प्रयोग नये थे, पर प्रदोष और रमजानके बहाने मैंने सबको इसमें फाँद लिया।

इस प्रकार सहज ही आश्रममें संयमका वातावरण बढ़ा। दूसरे उपवासों और एकाशनोंमें भी आश्रमवासी सम्मिलित होने लगे। और, मैं मानता हूँ कि इसका परिणाम शुभ निकला। सबके हृदयों पर संयमका कितना प्रभाव पड़ा, सबके विषयोंको संयत करनेमें उपवास आदिने कितना हाथ बँटाया, यह मैं निश्चय-पूर्वक नहीं कह सकता। पर मेरा अनुभव यह है कि उपवास आदिसे मुझ पर तो आरोग्य और विषय-नियमनकी दृष्टिसे बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। फिर भी मैं यह जानता हूँ कि उपवास आदिसे सब पर इस तरहका प्रभाव पड़ेगा ही, ऐसा कोई अनिवार्य नियम नहीं है। इन्द्रियदमनके हेतुसे किये गये उपवाससे ही विषयोंको संयत करनेका परिणाम निकल सकता है। कुछ मित्रोंका यह अनुभव भी है कि उपवासकी समाप्ति पर विषयेच्छा और स्वाद तीव्र हो जाते हैं। मतलब यह कि उपवासके दिनोंमें विषयको संयत करने और स्वादको जीतनेकी सतत भावना बनी रहने पर ही उसका शुभ परिणाम निकल सकता है। यह मानना निरा भ्रम है कि बिना किसी हेतुके और बेमन किये जानेवाले शारीरिक उपवासका स्वतंत्र परिणाम विषय-वासनाको संयत करनेमें आयेगा। गीताजीके दूसरे अध्यायका यह श्लोक यहाँ बहुत विचारणीय है:

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।।

उपवासीके विषय (उपवासके दिनोंमें) शान्त होते हैं; पर उसका रस नहीं जाता। रस तो ईश्वर-दर्शनसे ही — ईश्वर-प्रसादसे ही शांन्त होता है।

तात्पर्य यह कि संयमीके मार्गमें उपवास आदि एक साधनके रूपमें हैं, किन्तु ये ही सब कुछ नहीं हैं। और यदि शरीरके उपवासके साथ मनका उपवास न हो, तो उसकी परिणति दंभमें होती है और वह हानिकारक सिद्ध होता है।

३२. शिक्षकके रूपमें

यदि पाठक यह याद रखें कि जो बात 'दक्षिण अफ्रीकाके सत्याग्रहका इतिहास' में नहीं आ सकी है अथवा थोड़े ही अंशोंमें आयी है वही इन प्रकरणोंमें आ रही है, तो वे इन प्रकरणोंके आसपासके संबंधको समझ सकेंगे।

टॉल्स्टॉय आश्रममें बालकों और बालिकाओंके लिए कुछ-न-कुछ शिक्षाका प्रबंध करना आवश्यक था। मेरे साथ हिन्दू, मुसलमान, पारसी और ईसाई नवयुवक थे और कुछ बालिकायें भी थीं। खास इस कामके लिए शिक्षक रखना असंभव था और मुझे अनावश्यक प्रतीत हुआ। असंभव इस लिए था कि योग्य हिन्दुस्तानी शिक्षकोंकी कमी थी और मिलने पर भी बड़ी तनख्वाहके बिना डरबन* से इक्कीस मील दूर आता कौन? मेरे पास पैसोंकी विपुलता नहीं थी। बाहरसे शिक्षक लाना मैंने अनावश्यक माना, क्योंकि शिक्षाकी प्रचलित पद्धति मुझे पसन्द न थी। सच्ची पद्धति क्या हो सकती है, इसका अनुभव मैं ले नहीं पाया था। इतना समझता था कि आदर्श स्थितिमें सच्ची शिक्षा तो माँ-बापकी निगरानीमें ही हो सकती है। आदर्श स्थितिमें बाहरी मदद कम-से-कम होनी चाहिये। सोचा यह था कि टॉलस्टॉय आश्रम एक परिवार है और मैं उसमें एक पिताकी जगह हूँ, इसलिए इन नवयुवकोंके निर्माणकी जिम्मेदारी मुझे यथाशक्ति उठानी चाहिये।

इस कल्पनामें बहुतसे दोष तो थे ही। नवयुवक मेरे पास जन्मसे नहीं रहे थे। सब अलग-अलग वातावरणमें पले थे। सब एक धर्मके भी नहीं थे। ऐसी स्थितिमें रहे हुए बालकों और बालिकाओंका पिता बनकर भी मैं उनके साथ न्याय कैसे कर सकता था?

किन्तु मैंने हृदयकी शिक्षाको अर्थात् चरित्रके विकासको हमेशा पहला स्थान दिया है। और, यह सोचकर कि उसका परिचय तो किसी भी उमरमें और कितने ही प्रकारके वातावरणमें पले हुए बालकों और बालिकाओंको न्यूनाधिक प्रमाणमें कराया जा सकता है, इन बालकों और बालिकाओंके साथ मैं रात-दिन पिताकी तरह रहता था। मैंने चरित्रको उनकी शिक्षाकी बुनियाद माना था। यदि बुनियाद पक्की हो, तो अवसर मिलने पर दूसरी बातें बालक मदद लेकर या अपनी ताकतसे खुद जान-समझ सकते हैं।

---

* यहाँ 'डरबन' के बदले 'जोहानिस्बर्ग' होना चाहिये। प्रकाशक

फिर भी मैं समझता था कि थोड़ा-बहुत अक्षर-ज्ञान तो कराना ही चाहिये, इसलिए कक्षायें शुरू कीं और इस कार्यमें मैंने मि० केलनबैककी और प्रागजी देसाईकी सहायता ली।

शारीरिक शिक्षाकी आवश्यकताको मैं समझता था। यह शिक्षा उन्हें सहज ही मिल रही थी।

आश्रममें नौकर तो थे ही नहीं। पाखाना-सफाईसे लेकर रसोई बनाने तकके सारे काम आश्रमवासियोंको ही करने होते थे। वहाँ फलोंके पेड़ बहुत थे। नयी फसलें भी बोनी थीं। मि० केलनबैकको खेतीका शौक था। वे स्वयं सरकारके आदर्श बगीचोंमें जाकर थोड़े समय तक तालीम ले आये थे। ऐसे छोटे-बड़े सबको, जो रसोईके काममें लगे न होते थे, रोज अमुक समयके लिए बगीचेमें काम करना ही पड़ता था। इसमें बड़ा हिस्सा बालकोंका था। बड़े-बड़े गड्ढे खोदना, पेड़ काटना, बोझ उठाकर ले जाना आदि कामोंमें उनके शरीर अच्छी तरह कसे जाते थे। इसमें उन्हें आनन्द आता था और इसलिए दूसरी कसरत या खेल-कूदकी उन्हें जरूरत न रहती थी। काम करनेमें कुछ विद्यार्थी अथवा कभी-कभी सब विद्यार्थी नखरे करते थे, आलस्य करते थे। अकसर इन बातोंकी ओरसे मैं आँख मीच लेता था। कभी-कभी उनसे सख्तीसे काम लेता था। मैं यह भी देखता था कि जब मैं सख्ती करता था, तब उनका जी कामसे ऊब जाता था। फिर भी मुझे याद नहीं पड़ता कि बालकोंने सख्तीका कभी विरोध किया हो। जब-जब मैं सख्ती करता तब-तब उन्हें समझाता और उन्हींसे कबूल कराता था कि कामके समय खेलनेकी आदत अच्छी नहीं मानी जा सकती। वे तत्काल तो समझ जाते, पर दूसरे ही क्षण भूल भी जाते। इस तरह हमारी गाड़ी चलती थी। किन्तु उनके शरीर मजबूत बनते जा रहे थे।

आश्रममें बीमारी मुश्किलसे ही आती थी। कहना चाहिये कि इसमें जलवायुका और अच्छे तथा नियमित आहारका भी बड़ा हाथ था। शारीरिक शिक्षाके सिलसिलेमें ही शारीरिक धंधेकी शिक्षाका भी मैं उल्लेख कर दूँ। इरादा यह था कि सबको कोई-न-कोई उपयोगी धंधा सिखाया जाय। इसके लिए मि० केलनबैक ट्रैपिस्ट मठमें चप्पल बनाना सीख आये। उनसे मैंने सीखा और जो बालक इस धंधेको सीखनेके लिए तैयार हुए उन्हें मैंने सिखाया। मि० केलनबैकको बढ़ई-कामका थोड़ा अनुभव था और आश्रममें बढ़ईका काम जाननेवाला एक साथी था, इसलिए यह काम भी

कुछ हद तक बालकोंको सिखाया जाता था। रसोईका काम तो लगभग सभी बालक सीख गये थे।

बालकोंके लिए ये सारे काम नये थे। इन कामोंको सीखनेकी बात तो उन्होंने स्वप्नमें भी सोची न होगी। हिन्दुस्तानी बालक दक्षिण अफ्रीकामें जो कुछ भी शिक्षा पाते थे, वह केवल प्राथमिक अक्षर-ज्ञानकी ही होती थी। टॉल्स्टॉय आश्रममें शुरूसे ही यह रिवाज डाला गया था कि जिस कामको हम शिक्षक न करें, वह बालकोंसे न कराया जाय; और बालक जिस काममें लगे हों, उसमें उनके साथ उसी कामको करनेवाला एक शिक्षक हमेशा रहे। इसलिए बालकोंने जो कुछ सीखा, उमंगके साथ सीखा।

चरित्र और अक्षर-ज्ञानके विषयमें मैं आगे लिखूँगा।

३३. अक्षर-ज्ञान

पिछले प्रकरणमें शारीरिक शिक्षा और उसके सिलसिलेमें थोड़ी दस्तकारी सिखानेका काम टॉल्स्टॉय आश्रममें किस प्रकार शुरू किया गया, इसे हम कुछ हद तक देख चुके हैं। यद्यपि यह काम मैं ऐसे ढंगसे तो कर ही न सका जिससे मुझे संतोष हो, फिर भी उसमें थोड़ी-बहुत सफलता मिली थी। पर अक्षर-ज्ञान देना कठिन मालूम हुआ। मेरे पास उसके लिए आवश्यक सामग्री न थी। स्वयं मुझे जितना मैं चाहता था उतना समय न था, न मुझमें उतनी योग्यता थी। दिनभर शारीरिक काम करते-करते मैं थक जाता था और जिस समय थोड़ा आराम करनेकी जरूरत होती उसी समय पढ़ाईके वर्ग लेने होते थे। अतएव मैं ताजा रहनेके बदले जबरदस्तीसे जाग्रत रह पाता था। सुबहका समय खेतीमें और घर-काममें जाता था। इसलिए दुपरहको भोजनके बाद तुरन्त ही शालाका काम शुरू होता था। इसके सिवा दूसरा कोई भी समय अनुकूल न था।

अक्षर-ज्ञानके लिए अधिक-से-अधिक तीन घण्टे रखे गये थे। कक्षामें हिन्दी, तामिल, गुजराती और उर्दू भाषायें सिखायी जाती थीं। प्रत्येक बालकको उसकी मातृभाषाके द्वारा ही शिक्षा देनेका आग्रह था। अंग्रेजी भी सबको सिखायी जाती थी। इसके अतिरिक्त गुजरातके हिन्दू बालकोंको थोड़ा संस्कृतका और सब बालकोंको थोड़ा हिन्दीका परिचय कराया जाता था। इतिहास, भूगोल और

अंकगणित सभीको सिखाना था। यही पाठ्यक्रम था। तामिल और उर्दू सिखानेका काम मेरे जिम्मे था।

तामिलका ज्ञान मैंने स्टीमरोंमें और जेलमें प्राप्त किया था। इसमें भी पोप-कृत उत्तम 'तामिल-स्वयं-शिक्षक' से आगे मैं बढ़ नहीं सका था। उर्दू लिपिका ज्ञान भी उतना ही था जितना स्टीमरमें हो पाया था। और, फारसी-अरबीके खास शब्दोंका ज्ञान उतना ही था, जितना मुसलमान मित्रोंके परिचयसे प्राप्त कर सका था! संस्कृत जितनी हाईस्कूलमें सीखा था उतनी ही जानता था। गुजरातीका ज्ञान भी उतना ही था जितना शालामें मिला था।

इतनी पूँजीसे मुझे अपना काम चलाना था और इसमें मेरे जो सहायक थे वे मुझसे भी कम जाननेवाले थे। परन्तु देशी भाषाओंके प्रति मेरे प्रेमने, अपनी शिक्षण-शक्तिके विषयमें मेरी श्रद्धाने, विद्यार्थियोंके अज्ञानने और उससे भी अधिक उनकी उदारताने इस काममें मेरी सहायता की।

तामिल विद्यार्थियोंका जन्म दक्षिण अफ्रीकामें ही हुआ था, इसलिए वे तामिल बहुत कम जानते थे। लिपि तो उन्हें बिलकुल नहीं आती थी। इसलिए मैं उन्हें लिपि तथा व्याकरणके मूल तत्त्व सिखाता था। यह सरल काम था। विद्यार्थी जानते थे कि तामिल बातचीतमें तो वे मुझे आसानीसे हरा सकते थे; और जब केवल तामिल जाननेवाले ही मुझसे मिलने आते, तब वे मेरे दुभाषियेका काम करते थे। मेरी गाड़ी चली, क्योंकि मैंने विद्यार्थियोंके सामने अपने अज्ञानको छिपानेका कभी प्रयत्न ही नहीं किया। हर बातमें जैसा मैं था वैसा ही वे मुझे जानने लगे थे। इस कारण अक्षर-ज्ञानकी भारी कमी रहते हुए भी मैं उनके प्रेम और आदरसे कभी वंचित न रहा।

मुसलमान बालकोंको उर्दू सिखाना अपेक्षाकृत अधिक सरल था। वे लिपि जानते थे। मेरा काम उनमें वाचनकी रुचि बढ़ाने और उनके अक्षर सुधारनेका ही था।

मुख्यतः आश्रमके ये सब बालक निरक्षर थे और पाठशालामें कहीं पढ़े हुए न थे। मैंने सिखाते-सिखाते देखा कि मुझे उन्हें सिखाना तो कम ही है। ज्यादा काम तो उनका आलस्य छुड़ानेका, उनमें स्वयं पढ़नेकी रुचि जगानेका और उनकी पढ़ाई पर निगरानी रखनेका ही था। मुझे इतने कामसे संतोष रहता था। यही कारण है कि अलग-अलग उमरके और अलग-अलग विषयोंवाले विद्यार्थियोंको एक ही कमरेमें बैठाकर मैं उनसे काम ले सकता था।

पाठ्यपुस्तकोंकी जो पुकार जब-तब सुनायी पड़ती है, उसकी आवश्यकता मुझे

कभी मालूम नहीं हुई। मुझे याद नहीं पड़ता कि जो पुस्तकें हमारे पास थीं उनका भी बहुत उपयोग किया गया हो। हरएक बालकको बहुतसी पुस्तकें दिलानेकी मैंने जरूरत नहीं देखी। मेरा खयाल है कि शिक्षक ही विद्यार्थियोंकी पाठ्यपुस्तक है। मेरे शिक्षकोंने पुस्तकोंकी मददसे मुझे जो सिखाया था, वह मुझे बहुत ही कम याद रहा है। पर उन्होंने अपने मुँहसे जो सिखाया था, उसका स्मरण आज भी बना हुआ है। बालक आँखोंसे जितना ग्रहण करते हैं, उसकी अपेक्षा कानोंसे सुनी हुई बातको वे थोड़े परिश्रमसे और बहुत अधिक मात्रामें ग्रहण कर सकते हैं। मुझे याद नहीं पड़ता कि मैं बालकोंको एक भी पुस्तक पूरी पढ़ा पाया था।

पर अनेकानेक पुस्तकोंमें से जितना कुछ मैं पचा पाया था, उसे मैंने अपनी भाषामें उनके सामने रखा था। मैं मानता हूँ कि वह उन्हें आज भी याद होगा। पढ़ाया हुआ याद रखनेमें उन्हें कष्ट होता था, जब कि मेरी कही हुई बातको वे उसी समय मुझे फिर सुना देते थे। पढ़नेमें उनका जी ऊबता था। जब मैं थकावटके कारण या अन्य किसी कारणसे मन्द और नीरस न होता, तब वे मेरी बात रस-पूर्वक और ध्यान-पूर्वक सुनते थे। उनके पूछे हुए प्रश्नोंका उत्तर देनेमें मुझे उनकी ग्रहण-शक्तिका अन्दाजा हो जाता था।

३४. आत्मिक शिक्षा

विद्यार्थियोंके शरीर और मनको शिक्षित करनेकी अपेक्षा आत्माको शिक्षित करनेमें मुझे बहुत परिश्रम करना पड़ा। आत्माके विकासके लिए मैंने धर्मग्रंथों पर कम आधार रखा था। मैं मानता था कि विद्यार्थियोंको अपने-अपने धर्मके मूल तत्त्व जानने चाहिये, अपने-अपने धर्मग्रंथोंका साधारण ज्ञान होना चाहिये। इसलिए मैंने यथाशक्ति इस बातकी व्यवस्था की थी कि उन्हें यह ज्ञान मिल सके। किन्तु उसे मैं बुद्धिकी शिक्षाका अंग मानता हूँ। आत्माकी शिक्षा एक बिलकुल भिन्न विभाग है। इसे मैं टॉल्स्टॉय आश्रमके बालकोंको सिखाने लगा उसके पहले ही जान चुका था। आत्माका विकास करनेका अर्थ है चरित्रका निर्माण करना, ईश्वरका ज्ञान पाना, आत्मज्ञान प्राप्त करना। इस ज्ञानको प्राप्त करनेमें बालकोंको बहुत ज्यादा मददकी जरूरत होती है और इसके बिना दूसरा ज्ञान व्यर्थ है, हानिकारक भी हो सकता है, ऐसा मेरा विश्वास था।

मैंने सुना है कि लोगोंमें यह भ्रम फैला हुआ है कि आत्मज्ञान चौथे आश्रममें प्राप्त होता है। लेकिन जो लोग इस अमूल्य वस्तुको चौथे आश्रम तक मुलतवी रखते हैं, वे आत्मज्ञान प्राप्त नहीं करते, बल्कि बुढ़ापा और दूसरा परन्तु दयाजनक बचपन पाकर पृथ्वी पर भाररूप बनकर जीते हैं। इस प्रकारका सार्वत्रिक अनुभव पाया जाता है। संभव है कि सन् १९११-१२ में मैं इन विचारोंको इस भाषामें न रखता, पर मुझे यह अच्छी तरह याद है कि उस समय मेरे विचार इसी प्रकारके थे।

आत्मिक शिक्षा किस प्रकार दी जाय? मैं बालकोंसे भजन गवाता, उन्हें नीतिकी पुस्तकें पढ़कर सुनाता, किन्तु इससे मुझे संतोष न होता था। जैसे-जैसे मैं उनके संपर्कमें आता गया, मैंने यह अनुभव किया कि यह ज्ञान पुस्तकों द्वारा तो दिया ही नहीं जा सकता। शरीरकी शिक्षा जिस प्रकार शारीरिक कसरत द्वारा दी जाती है और बुद्धिकी बौद्धिक कसरत द्वारा, उसी प्रकार आत्माकी शिक्षा आत्मिक कसरत द्वारा ही दी जा सकती है। आत्माकी कसरत शिक्षकके आचरण द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। अतएव युवक हाजिर हों चाहे न हों, शिक्षकको सावधान रहना चाहिये। लंकामें बैठा हुआ शिक्षक भी अपने आचरण द्वारा अपने शिष्योंकी आत्माको हिला सकता है। मैं स्वयं झूठ बोलूँ और अपने शिष्योंको सच्चा बनानेका प्रयत्न करूँ, तो वह व्यर्थ ही होगा। डरपोक शिक्षक शिष्योंको वीरता नहीं सिखा सकता। व्यभिचारी शिक्षक शिष्योंको संयम किस प्रकार सिखायेगा? मैंने देखा कि मुझे अपने पास रहनेवाले युवकों और युवतियोंके सम्मुख पदार्थपाठ-सा बनकर रहना चाहिये। इस कारण मेरे शिष्य मेरे शिक्षक बने। मैं यह समझा कि मुझे अपने लिए नहीं, बल्कि उनके लिए अच्छा बनना और रहना चाहिये। अतएव कहा जा सकता है कि टॉल्स्टॉय आश्रमका मेरा अधिकतर संयम इन युवकों और युवतियोंकी बदौलत था।

आश्रममें एक युवक बहुत ऊधम मचाता था, झूठ बोलता था, किसीसे दबता नहीं था और दूसरोंके साथ लड़ता-झगड़ता रहता था। एक दिन उसने बहुत ही ऊधम मचाया। मैं घबरा उठा। मैं विद्यार्थियोंको कभी सजा न देता था। इस बार मुझे बहुत क्रोध हो आया। मैं उसके पास पहुँचा। समझाने पर वह किसी प्रकार समझता ही न था। उसने मुझे धोखा देनेका भी प्रयत्न किया। मैंने अपने पास पड़ा हुआ रूल उठाकर उसकी बाँह पर दे मारा। मारते समय मैं काँप रहा था। इसे उसने देख लिया होगा। मेरी ओरसे ऐसा अनुभव किसी विद्यार्थीको इससे पहले नहीं हुआ था। विद्यार्थी रो पड़ा। उसने मुझसे माफी माँगी। उसे डंडा लगा और चोट पहुँची, इससे

वह नहीं रोया था। अगर वह मेरा मुकाबला करना चाहता, तो मुझसे निबट सकनेकी शक्ति उसमें थी। उसकी उमर कोई सतरह सालकी रही होगी। उसका शरीर सुगठित था। पर मेरे रूलमें से मेरे दुःखका दर्शन हो गया। इस घटनाके बाद उसने फिर कभी मेरा सामना नहीं किया। लेकिन उसे रूल मारनेका पछतावा मेरे दिलमें आज तक बना हुआ है। मुझे भय है कि उसे मारकर मैंने अपनी आत्माका नहीं, बल्कि अपनी पशुताका ही दर्शन कराया था।

बालकोंको मारपीट कर पढ़ानेका मैं हमेशा विरोधी रहा हूँ। मुझे ऐसी एक ही घटना याद है कि जब मैंने अपने लड़कोंमें से एकको पीटा था। रूलसे पीटनेमें मैंने उचित कार्य किया या नहीं, इसका निर्णय मैं आज तक कर नहीं सका हूँ। इस दण्डके औचित्यके विषयमें मुझे शंका है, क्योंकि इसमें क्रोध भरा था और दण्ड देनेकी भावना थी। यदि उसमें केवल मेरे दुःखका ही प्रदर्शन होता, तो मैं उस दण्डको उचित समझता। पर उसमें विद्यमान भावना मिश्र थी। इस घटनाके बाद तो मैं विद्यार्थियोंको सुधारनेकी अधिक अच्छी रीति सीखा। यदि इस कलाका उपयोग मैंने उक्त अवसर पर किया होता, तो उसका कैसा परिणाम होता यह मैं कह नहीं सकता। वह युवक तो इस घटनाको तुरन्त भूल गया। मैं यह नहीं कह सकता कि उसमें बहुत सुधार हो गया, पर उस घटनाने मुझे इस बातको अधिक सोचनेके लिए विवश किया कि विद्यार्थीके प्रति शिक्षकका धर्म क्या है। उसके बाद युवकों द्वारा ऐसे ही दोष हुए, लेकिन मैंने फिर कभी दण्डनीतिका उपयोग नहीं किया। इस प्रकार आत्मिक ज्ञान देनेके प्रयत्नमें मैं स्वयं आत्माके गुणको अधिक समझने लगा।

३५. भले-बुरेका मिश्रण

टॉल्स्टॉय आश्रममें मि० केलनबैकने मेरे सामने एक प्रश्न खड़ा किया। उनके उठानेसे पहले मैंने उस प्रश्न पर विचार नहीं किया था। आश्रममें कुछ लड़के बहुत ऊधमी और दुष्ट स्वभावके थे। कुछ आवारा थे। उन्हींके साथ मेरे तीन लड़के थे। उस तरह पले हुए दूसरे भी बालक थे। लेकिन मि० केलनबैकका ध्यान तो इस ओर ही था कि वे आवारा युवक और मेरे लड़के एकसाथ कैसे रह सकते हैं। एक दिन वे बोल उठे: "आपका यह तरीका मुझे जरा भी नहीं जँचता। इन लड़कोंके साथ आप अपने लड़कोंको रखें, तो उसका एक ही परिणाम आ सकता है। उन्हें इन आवारा

लड़कोंकी छूत लगेगी। इससे वे बिगड़ेंगे नहीं तो और क्या होगा ?

मुझे इस समय तो याद नहीं है कि मैं क्षणभर सोचमें पड़ा था या नहीं, पर अपना जवाब मुझे याद है। मैंने कहा था: "अपने लड़कों और इन आवारा लड़कोंके बीच मैं भेद कैसे कर सकता हूँ? इस समय तो मैं दोनोंके लिए समान रूपसे जिम्मेदार हूँ। ये नौजवान मेरे बुलाये यहाँ आये हैं। यदि मैं इन्हें पैसे दे दूँ, तो आज ही ये जोहानिस्बर्ग जाकर वहाँ पहलेकी तरह फिर रहने लग जायें। यदि ये और इनके माता-पिता यह मानते हों कि यहाँ आकर इन्होंने मुझ पर मेहरबानी की है, तो इसमें आश्चर्य नहीं। यहाँ आनेसे इन्हें कष्ट उठाना पड़ रहा है, यह तो आप और मैं दोनों देख रहे हैं। पर मेरा धर्म स्पष्ट है। मुझे इन्हें यहीं रखना चाहिये। अतएव मेरे लड़के भी इनके साथ रहेंगे इसके सिवा, क्या मैं आजसे अपने लड़कोंको यह भेदभाव सिखाऊँ कि वे दूसरे कुछ लड़कोंकी अपेक्षा ऊँचे हैं? उनके दिमागमें इस प्रकारके विचारको ठूँसना ही उन्हें गलत रास्ते ले जाने जैसा है। आजकी स्थितिमें रहनेसे वे गढ़े जायेंगे, अपने-आप सारासारकी परीक्षा करने लगेंगे। हम यह क्यों न मानें कि यदि मेरे लड़कोंमें सचमुच कोई गुण है, तो उलटे उन्हींकी छूत उनके साथियोंको लगेगी? सो कुछ भी हो, पर मुझे तो उन्हें यहीं रखना होगा। और यदि ऐसा करनेमें कोई खतरा भी हो, तो उसे उठाना होगा।"

मि० केलनबैकने सिर हिलाया।

यह नहीं कहा जा सकता कि इस प्रयोगका परिणाम बुरा निकला। मैं नहीं मानता कि उसमें मेरे लड़कोंका कोई नुकसान हुआ। उलटे, मैं यह देख सका कि उन्हें लाभ हुआ है। उनमें बड़प्पनका कोई अंश रहा हो, तो वह पूरी तरह निकल गया। वे सबके साथ घुलना-मिलना सीखे। उनकी कसौटी हुई।

इस और ऐसे दूसरे अनुभवों परसे मेरा यह विचार बना है कि माता-पिताकी उचित देखरेख हो, तो भले और बुरे लड़कोंके साथ रहने और पढ़नेसे भलोंकी कोई हानि नहीं होती। ऐसा कोई नियम तो है ही नहीं कि अपने लड़कोंको तिजोरीमें बन्द रखनेसे वे शुद्ध रहते हैं और बाहर निकालनेसे भ्रष्ट हो जाते हैं। हाँ, यह सच है कि जहाँ अनेक प्रकारके बालक और बालिकायें एकसाथ रहती और पढ़ती हैं, वहाँ माता-पिताकी और शिक्षकोंकी कसौटी होती है, उन्हें सावधान रहना पड़ता है।

३६. प्रायश्चित्त-रूप उपवास

प्रामाणिकता-पूर्वक बालकों और बालिकाओंके पालन-पोषण और शिक्षणमें कितनी और कैसी कठिनाइयाँ आती हैं, इसका अनुभव दिन-दिन बढ़ता गया। शिक्षक और अभिभावकके नाते मुझे उनके हृदयमें प्रवेश करना था, उनके सुख-दुःखमें हाथ बँटाना था, उनके जीवनकी गुत्थियाँ सुलझानी थीं और उनकी उछलती जवानीकी तरंगोंको सीधे मार्ग पर ले जाना था।

कुछ जेलवासियोंके रिहा होने पर टॉल्स्टॉय आश्रममें थोड़े ही लोग रह गये। इनमें मुख्यतः फीनिक्सवासी थे। इसलिए मैं आश्रमको फीनिक्स ले गया। फीनिक्समें मेरी कड़ी परीक्षा हुई। टॉल्स्टॉय आश्रममें बचे हुए आश्रमवासियोंको फीनिक्स छोड़कर मैं जोहानिस्बर्ग गया। वहाँ कुछ ही दिन रहा था कि मेरे पास दो व्यक्तियोंके भयंकर पतनके समाचार पहुँचे। सत्याग्रहकी महान लड़ाईमें कहीं भी निष्फलता-जैसी दिखायी पड़ती, तो उससे मुझे कोई आघात न पहुँचता था। पर इस घटनाने मुझ पर वज्र-सा प्रहार किया। मैं तिलमिला उठा। मैंने उसी दिन फीनिक्सकी गाड़ी पकड़ी। मि० केलनबैकने मेरे साथ चलनेका आग्रह किया। वे मेरी दयाजनक स्थितिको समझ चुके थे। मुझे अकेले जाने देनेकी उन्होंने साफ मनाही कर दी। पतनके समाचार मुझे उन्हींके द्वारा मिले थे।

रास्तेमें मैंने अपना धर्म समझ लिया, अथवा यों कहिये कि समझ लिया ऐसा मानकर मैंने अनुभव किया कि अपनी निगरानीमें रहनेवालोंके पतनके लिए अभिभावक अथवा शिक्षक न्यूनाधिक अंशमें जरूर जिम्मेदार है। इस घटनामें मुझे अपनी जिम्मेदारी स्पष्ट जान पड़ी। मेरी पत्नीने मुझे सावधान तो कर ही दिया था, किन्तु स्वभावसे विश्वासी होनेके कारण मैंने पत्नीकी चेतावनी पर ध्यान नहीं दिया था। साथ ही, मुझे यह भी लगा कि इस पतनके लिए मैं प्रायश्चित्त करूँगा तो ही ये पतित मेरा दुःख समझ सकेंगे और उससे उन्हें अपने दोषका भान होगा तथा उसकी गंभीरताका कुछ अंदाज बैठेगा। अतएव मैंने सात दिनके उपवास और साढ़े चार महीनोंके एकाशनका व्रत लिया। मि० केलनबैकने मुझे रोकनेका प्रयत्न किया, पर वह निष्फल रहा। आखिर उन्होंने प्रायश्चित्तके औचित्यको माना और खुदने भी मेरे साथ व्रत रखनेका आग्रह किया। मैं उनके निर्मल प्रेमको रोक न सका। इस निश्चयके बाद मैं तुरन्त ही हलका हो गया, शान्त हुआ, दोषियोंके प्रति मेरे मनमें

क्रोध न रहा, उनके लिए मनमें दया ही रही।

यों ट्रेनमें ही मनको हलका करके मैं फीनिक्स पहुँचा। पूछताछ करके जो अधिक जानकारी लेनी थी सो ले ली। यद्यपि मेरे उपवाससे सबको कष्ट तो हुआ, लेकिन उसके कारण वातावरण शुद्ध बना। सबको पाप करनेकी भयंकरताका बोध हुआ और विद्यार्थियों तथा विद्यार्थिनियोंके और मेरे बीचका सम्बन्ध अधिक दृढ़ और सरल बन गया।

इस घटनाके फलस्वरूप ही कुछ समय बाद मुझे चौदह उपवास करनेका अवसर मिला था। मेरा यह विश्वास है कि उसका परिणाम अपेक्षासे अधिक अच्छा निकला था।

इस घटना परसे मैं यह सिद्ध नहीं करना चाहता कि शिष्योंके प्रत्येक दोषके लिए शिक्षकोंको सदा उपवासादि करने ही चाहिये। पर मैं जानता हूँ कि कुछ परिस्थितियोंमें इस प्रकारके प्रायश्चित्त-रूप उपवासकी गुंजाइश जरूर है। किन्तु उसके लिए विवेक और अधिकार चाहिये। जहाँ शिक्षक और शिष्यके बीच शुद्ध प्रेम-बन्धन नहीं है, जहाँ शिक्षकको अपने शिष्यके दोषसे सच्चा आघात नहीं पहुँचता, जहाँ शिष्योंके मनमें शिक्षकके प्रति आदर नहीं है, वहाँ उपवास निरर्थक है और कदाचित् हानिकारक भी हो सकता है। ऐसे उपवास या एकाशनके विषयमें शंका चाहे हो, परन्तु इस विषयमें मुझे लेशमात्र भी शंका नहीं कि शिक्षक शिष्यके दोषोंके लिए कुछ अंशमें जरूर जिम्मेदार है।

सात उपवास और एकाशन हम दोनोंमें से किसीके लिए कष्टकर नहीं हुए। इस बीच मेरा कोई भी काम बन्द या मन्द नहीं रहा। इस समयमें मैं केवल फलाहारी ही रहा था। चौदह उपवासोंका अन्तिम भाग मुझे काफी कष्टकर प्रतीत हुआ था। उस समय मैं रामनामके चमत्कारको पूरी तरह समझा न था। इस कारण दुःख सहन करनेकी शक्ति मुझमें कम थी। उपवासके दिनोंमें कैसा भी प्रयत्न करके पानी खूब पीना चाहिये, इस बाह्य कलाकी मुझे जानकारी नहीं थी। इस कारण भी ये उपवास कष्टप्रद सिद्ध हुए। इसके अतिरिक्त, पहले उपवास सुख-शांतिपूर्वक हो गये थे, अतएव चौदह दिनके उपवासोंके समय मैं असावधान बन गया था। पहले उपवासोंके समय मैं रोज कूनेका कटिस्नान करता था। चौदह दिनोंके उपवासमें दो या तीन दिनके बाद मैंने कटिस्नान बन्द कर दिया। पानीका स्वाद अच्छा नहीं लगता था और पानी पीने पर जी मचलता था, इससे पानी बहुत ही कम पीता था। फलतः मेरा गला

सूखने लगा, मैं क्षीण होने लगा और अंतिम दिनोंमें तो मैं बहुत धीमी आवाजमें बोल पाता था। इतना होने पर भी लिखानेका आवश्यक काम मैं अन्तिम दिन तक कर पाया था और रामायण इत्यादि अंत तक सुनता रहा था। कुछ प्रश्नोंके विषयमें सम्मति देनेका आवश्यक कार्य भी मैं कर सकता था।

३७. गोखलेसे मिलने

दक्षिण अफ्रीकाके बहुतसे स्मरण अब मुझे छोड़ने पड़ रहे हैं। जब सन् १९१४ में सत्याग्रहकी लड़ाई समाप्त हुई, तो गोखलेकी इच्छानुसार मुझे इंग्लैंड होते हुए हिन्दुस्तान पहुँचना था। इसलिए जुलाई महीनेमें कस्तूरबाई, केलनबैक और मैं - तीन व्यक्ति विलायतके लिए रवाना हुए। सत्याग्रहकी लड़ाईके दिनोंमें मैंने तीसरे दर्जेमें सफर करना शुरू किया था। अतएव समुद्री यात्राके लिए भी तीसरे दर्जेका टिकट कटाया। पर इस तीसरे दर्जेमें और हमारे यहाँके तीसरे दर्जेमें बहुत अन्तर है। हमारे यहाँ सोने-बैठनेकी जगह भी मुश्किलसे मिलती है। स्वच्छता रह ही कैसे सकती है? जब की वहाँके तीसरे दर्जेमें स्थान काफी था और स्वच्छताकी भी अच्छी चिन्ता रखी जाती थी। कंपनीने हमारे लिए अधिक सुविधा भी कर दी थी। कोई हमें परेशान न करे, इस हेतुसे एक पाखानेमें खास ताला डालकर उसकी कुंजी हमें सौंप दी गयी थी; और चूँकि हम तीनों फलाहारी थे, इसलिए स्टीमरके खजानचीको आज्ञा दी गयी थी कि वह हमारे लिए सुखे और ताज़े फलोंका प्रबन्ध करे। साधारणतः तीसरे दर्जेके यात्रियोंको फल कम ही दिये जाते हैं; सूखा मेवा बिलकुल नहीं दिया जाता। इन सुविधाओंके कारण समुद्री यात्राके हमारे अठारह दिन बड़ी शांतिसे बीते।

इस यात्राके कई संस्मरण काफी जानने योग्य हैं। मि० केलनबैकको दूरबीनोंका अच्छा शौक था। दो-एक कीमती दूरबीनें उन्होंने अपने साथ रखी थीं। इस सम्बन्धमें हमारे बीच रोज चर्चा होती थी। मैं उन्हें यह समझानेका प्रयत्न करता कि यह हमारे आदर्शके और जिस सादगी तक हम पहुँचना चाहते हैं उसके अनुकूल नहीं है। एक दिन इसको लेकर हमारे बीच तीखी कहा-सुनी हो गयी। हम दोनों अपने केबिनकी खिड़कीके पास खड़े थे।

मैंने कहा, "हमारे बीच इस प्रकारके झगड़े हों, इससे अच्छा क्या यह न होगा कि हम इस दूरबीनको ही समुद्रमें फेंक दें और फिर इसकी कोई चर्चा ही न करें?"

मि० केलनबैकने तुरन्त ही जवाब दिया, "हाँ, इस मनहूस चीजको जरूर फेंक दो।"

मैंने कहा, "तो मैं फेंकता हूँ।"

उन्होंने उतनी ही तत्परतासे उत्तर दिया, "मैं सचमुच ही कहता हूँ, जरूर फेंक दो।"

मैंने दूरबीन फेंक दी। वह कोई सात पौण्डकी थी। लेकिन उसकी कीमत जितनी दामोंमें थी उससे अधिक उसके प्रति रहे मि० केलनबैकके मोहमें थी। फिर भी उन्होंने इस सम्बन्धमें कभी दुःखका अनुभव नहीं किया। उनके और मेरे बीच ऐसे कई अनुभव होते रहते थे। उनमें से एक यह मैंने बानगीके रूपमें यहाँ दिया है।

हम दोनोंके आपसी सम्बन्धसे हमें प्रतिदिन नया सीखनेको मिलता था, क्योंकि दोनों सत्यका ही अनुसरण करके चलनेका प्रयत्न करते थे। सत्यका अनुसरण करनेसे क्रोध, स्वार्थ, द्वेष इत्यादि सहज ही शान्त हो जाते थे; शान्त न होते तो सत्य मिलता न था। राग-द्वेषादिसे भरा मनुष्य सरल चाहे हो ले, वाचिक सत्यका पालन चाहे वह कर ले, किन्तु शुद्ध सत्य तो उसे मिल ही नहीं सकता। शुद्ध सत्यकी शोध करनेका अर्थ है, राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे सर्वथा मुक्ति प्राप्त करना।

जब हमने यात्रा शुरू की थी, तब मुझे उपवास समाप्त किये बहुत समय नहीं बीता था। मुझमें पूरी शक्ति नहीं आयी थी। स्टीमरमें रोज डेक पर चलनेकी कसरत करके मैं काफी खाने और खाये हुएको हजम करनेका प्रयत्न करता था। लेकिन इसके साथ ही मेरे पैरोंकी पिंडलियोंमें ज्यादा दर्द रहने लगा। विलायत पहुँचनेके बाद मेरी पीड़ा कम न हुई, बल्कि बढ़ गयी। विलायतमें डॉ० जीवराज मेहतासे पहचान हुई थी। उन्हें अपने उपवास और पिंडलियोंकी पीड़ाका इतिहास सुनाने पर उन्होंने कहा, "यदि आप कुछ दिनके लिए पूरा आराम न करेंगे, तो सदाके लिए पैरोंके बेकार हो जानेका डर है।" इसी समय मुझे पता चला कि लम्बे उपवास करनेवालेको खोयी हुई ताकत झट प्राप्त करनेका या बहुत खानेका लोभ कभी न करना चाहिए। उपवास करनेकी अपेक्षा उपवास छोड़नेमें अधिक सावधान रहना पड़ता है और शायद उसमें संयम भी अधिक रखना पड़ता है।

मदीरामें हमें समाचार मिले कि महायुद्धके छिड़नेमें कुछ घड़ियोंकी ही देर है। इंग्लैंडकी खाड़ीमें पहुँचते ही हमें लड़ाई छिड़ जानेके समाचार मिले और हमें रोक दिया गया। समुद्रमें जगह-जगह सुरंगें बिछा दी गयी थीं। उनसे बचाकर हमें

साउदेम्पटन पहुँचानेमें एक-दो दिनकी देर हो गयी। ४ अगस्तको युद्ध घोषित किया गया। ६ अगस्तको हम विलायत पहुँचे।

३८. लड़ाईमें हिस्सा

विलायत पहुँचने पर पता चला कि गोखले तो पेरिसमें अटक गये हैं, पेरिसके साथ यातायातका सम्बन्ध टूट गया है और कहना मुश्किल है कि वे कब तक आयेंगे। गोखले अपने स्वास्थ्यके कारण फ्रांस गये थे, परन्तु लड़ाईकी वजहसे वहाँ फँस गये। उनसे मिले बिना मुझे देश जाना न था और कोई कह नहीं सकता था कि वे कब आ सकेंगे।

इस बीच क्या किया जाय? लड़ाईके बारेमें मेरा धर्म क्या है? जेलके मेरे साथी और सत्याग्रही सोराबजी अडाजणिया विलायतमें ही बारिस्टरीका अभ्यास करते थे। अच्छे-से-अच्छे सत्याग्रहीके नाते सोराबजीको बारिस्टरीकी शिक्षा प्राप्त करनेके लिए इंग्लैंड भेजा गया था। खयाल यह था कि वहाँसे लौटने पर वे दक्षिण अफ्रीकामें मेरी जगह काम करेंगे। उनका खर्च डॉ. प्राणजीवनदास मेहता देते थे। उनसे और उनके द्वारा डॉ. जीवराज मेहता इत्यादि जो लोग विलायतमें पढ़ रहे थे उनसे मैंने विचार-विमर्श किया। विलायतमें रहनेवाले हिन्दुस्तानियोंकी एक सभा बुलायी और उनके सामने मैंने अपने विचार रखे। मुझे लगा कि विलायतमें रहनेवाले हिन्दुस्तानियोंको लड़ाईमें अपना हिस्सा अदा करना चाहिये। अंग्रेज विद्यार्थियोंने लड़ाईमें सेवा करनेका अपना निश्चय घोषित किया था। हिन्दुस्तानी इससे कम नहीं कर सकते थे। इन दलीलोंके विरोधमें इस सभामें बहुत दलीलें दी गयीं। यह कहा गया कि हमारी और अंग्रेजोंकी स्थितिके बीच हाथी-घोड़ेका अन्तर है। एक गुलाम है, दूसरा सरदार है। ऐसी स्थितिमें सरदारके संकटमें गुलाम स्वेच्छासे सरदारकी सहायता किस प्रकार कर सकता है? क्या गुलामीसे छुटकारा चाहनेवाले गुलामका धर्म यह नहीं है कि वह सरदारके संकटका उपयोग अपनी मुक्तिके लिए करे? पर उस समय यह दलील मेरे गले कैसे उतरती? यद्यपि मैं दोनोंकी स्थितिके भेदको समझ सका था, फिर भी मुझे हमारी स्थिति बिलकुल गुलामीकी नहीं लगती थी। मेरा तो यह खयाल था कि अंग्रेजोंकी शासन-पद्धतिमें जो दोष है, उससे अधिक दोष अनेक अंग्रेज अधिकारियोंमें हैं। उस दोषको हम प्रेमसे दूर कर सकते हैं। यदि हम अंग्रेजोंके द्वारा

और उनकी सहायतासे अपनी स्थिति सुधारना चाहते हैं, तो उनके संकटके समय उनकी सहायता करके हमें अपनी स्थिति सुधारनी चाहिये। उनकी शासन-पद्धति दोषपूर्ण होते हुए भी मुझे उस समय उतनी असह्य नहीं मालूम होती थी जितनी आज मालूम होती है। किन्तु जिस प्रकार आज उस पद्धति परसे मेरा विश्वास उठ गया है और इस कारण मैं आज अंग्रेजी राज्यकी मदद नहीं करता, उसी प्रकार जिनका विश्वास उस शासन-पद्धति परसे ही नहीं, बल्कि अंग्रेज अधिकारियों परसे भी उठ चुका था, वे क्योंकर मदद करनेको तैयार होते?

उन्हें लगा कि यही अवसर है, जब जनताकी माँगको दृढ़ता-पूर्वक प्रकट करना चाहिये और शासन-पद्धतिमें सुधार करा लेनेका आग्रह रखना चाहिये। मैंने अंग्रेजोंकी इस आपत्तिके समय अपनी माँगें पेश करना ठीक न समझा और लड़ाईके समय अधिकारोंकी माँगको मुलतवी रखनेके संयममें सभ्यता और दूरदृष्टिका दर्शन किया। इसलिए मैं अपनी सलाह पर दृढ़ रहा और मैंने लोगोंसे कहा कि जिन्हें स्वयंसेवकोंकी भरतीमें नाम लिखाने हों वे लिखावें। काफी संख्यामें नाम लिखाये गये। उनमें लगभग सभी प्रान्तों और सभी धर्मोंके लोगोंके नाम थे।

मैंने इस विषयमें लार्ड क्रूको पत्र लिखा और हिन्दुस्तानियोंकी माँगको स्वीकार करनेके लिए घायल सैनिकोंकी सेवाकी तालीम लेना आवश्यक माना जाय, तो वैसी तालीम लेनेकी इच्छा और तैयारी प्रकट की। थोड़े विचार-विमर्शके बाद लार्ड क्रूने हिन्दुस्तानियोंकी माँग स्वीकार कर ली और संकटके समयमें साम्राज्यकी सहायता करनेकी तैयारी दिखानेके लिए आभार प्रदर्शित किया।

नाम देनेवालोंने प्रसिद्ध डॉ. केण्टलीके अधीन घायलोंकी सेवा-शुश्रूषा करनेकी प्राथमिक तालीमका श्रीगणेश किया। छह हफ्तोंका छोटा-सा शिक्षाक्रम था, पर उसमें घायलोंको प्राथमिक सहायता देनेकी सब क्रियाएँ सिखायी जाती थीं। हम लगभग ८० व्यक्ति इस विशेष वर्गमें भरती हुए। छह हफ्ते बाद परीक्षा ली गयी, जिसमें एक ही व्यक्ति नापास हुआ। जो पास हो गये उनके लिए अब सरकारकी ओरसे कवायद वगैरा सिखानेका प्रबन्ध किया गया। कवायद सिखानेका काम कर्नल बेकरको सौंपा गया और वे इस टुकड़ीके सरदार नियुक्त किये गये।

इस समय विलायतका दृश्य देखने योग्य था। लोग घबराते नहीं थे, बल्कि सब लड़ाईमें यथाशक्ति सहायता करनेमें जुट गये थे। शक्तिशाली नवयुवक तो लड़ाईकी ट्रेनिंग लेने लगे। पर कमजोर, बूढ़े और स्त्रियाँ आदि क्या करें? चाहने पर उनके

लिए भी काम तो था ही। वे लड़ाईमें घायल हुए लोगोंके लिए कपड़े वगैरा सीने-काटनेमें जुट गये। वहाँ स्त्रियोंका 'लाइसियम' नामक एक क्लब है। इस क्लबकी सदस्याओंने युद्ध-विभागके लिए आवश्यक कपड़ोंमें से जितने कपड़े बनाये जा सकें उतने बनानेका बोझ अपने ऊपर लिया। सरोजिनी देवी उसकी सदस्या थीं। उन्होंने इस काममें पूरा हिस्सा लिया। मेरे साथ उनका यह पहला ही परिचय था। उन्होंने मेरे सामने ब्योंते हुए कपड़ोंका ढेर लगा दिया और जितने सिल सकें उतने सी-सिलाकर उनके हवाले कर देनेको कहा। मैंने उनकी इच्छाका स्वागत किया और घायलोंकी सेवाके शिक्षाकालमें जितने कपड़े तैयार हो सके उतने तैयार करवाकर उन्हें दे दिये।

३९. धर्मकी समस्या

ज्यों ही यह खबर दक्षिण अफ्रीका पहुँची कि हममें से कुछने इकट्ठा होकर युद्धमें काम करनेके लिए अपने नाम सरकारके पास भेजे हैं, त्यों ही मेरे नाम वहाँसे दो तार आये। उनमें एक पोलाकका था। उसमें पूछा गया था: "क्या आपका यह कार्य अहिंसाके आपके सिद्धान्तके विरुद्ध नहीं है?"

ऐसे तारकी मुझे कुछ आशा तो थी ही। क्योंकि 'हिन्द स्वराज' में मैंने इस विषयकी चर्चा की थी और दक्षिण अफ्रीकामें मित्रोंके साथ तो इसकी चर्चा निरन्तर होती ही रहती थी। युद्धकी अनीतिको हम सब स्वीकार करते थे। जब मैं अपने ऊपर हमला करनेवाले पर मुकदमा चलानेको तैयार न था, तो दो राज्योंके बीच छिड़ी हुई लड़ाईमें, जिसके गुण-दोषका मुझे पता न था, मैं किस प्रकार सम्मिलित हो सकता था? यद्यपि मित्र जानते थे कि मैंने बोअर-युद्धमें हाथ बँटाया था, फिर भी उन्होंने ऐसा मान लिया था कि उसके बाद मेरे विचारोंमें परिवर्तन हुआ होगा।

असलमें जिस विचारधाराके वश होकर मैं बोअर-युद्धमें सम्मिलित हुआ था, उसीका उपयोग मैंने इस बार भी किया था। मैं इस बातको भलीभाँति समझता था कि युद्धमें सम्मिलित होनेका अहिंसाके साथ कोई मेल नहीं बैठ सकता। किन्तु कर्तव्यका बोध हमें दीपककी भाँति स्पष्ट नहीं होता। सत्यके पुजारीको बहुत ठोकरें खानी पड़ती हैं।

अहिंसा व्यापक वस्तु है। हम हिंसाकी होलीके बीच घिरे हुए पामर प्राणी हैं। यह

वाक्य गलत नहीं है कि 'जीव जीव पर जीता है। मनुष्य एक क्षणके लिए भी बाह्य हिंसाके बिना जी नहीं सकता। खाते-पीते, उठते-बैठते, सभी क्रियाओंमें इच्छा-अनिच्छासे वह कुछ-न-कुछ हिंसा तो करता ही रहता है। यदि इस हिंसासे छूटनेके लिए वह महाप्रयत्न करता है, उसकी भावनामें केवल अनुकम्पा होती है, वह सूक्ष्म-से-सूक्ष्म जंतुका भी नाश नहीं चाहता और यथाशक्ति उसे बचानेका प्रयत्न करता है, तो वह अहिंसाका पुजारी है। उसके कार्योंमें निरन्तर संयमकी वृद्धि होगी; उसमें निरन्तर करुणा बढ़ती रहेगी। किन्तु कोई देहधारी बाह्य हिंसासे सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता।

फिर, अहिंसाकी तहमें ही अद्वैत-भावना निहित है। और, यदि प्राणीमात्रमें अभेद है, तो एकके पापका प्रभाव दूसरे पर पड़ता है, इस कारण भी मनुष्य हिंसासे बिलकुल अछूता नहीं रह सकता। समाजमें रहनेवाला मनुष्य समाजकी हिंसामें, अनिच्छासे ही क्यों न हो, साझेदार बनता है। दो राष्ट्रोंके बीच युद्ध छिड़ने पर अहिंसामें विश्वास रखनेवाले व्यक्तिका धर्म है कि वह उस युद्धको रोके। जो इस धर्मका पालन न कर सके, जिसमें विरोध करनेकी शक्ति न हो, जिसे विरोध करनेका अधिकार प्राप्त न हुआ हो, वह युद्धकार्यमें सम्मिलित हो; और सम्मिलित होते हुए भी उसमें से अपनेको, अपने देशको और सारे संसारको उबारनेका हार्दिक प्रयत्न करे।

मुझे अंग्रेजी राज्यके द्वारा अपनी अर्थात् अपने राष्ट्रकी स्थिति सुधारनी थी। मैं विलायतमें बैठा हुआ अंग्रेजोंके जंगी बेड़ेसे सुरक्षित था। उस बलका इस प्रकार उपयोग करके मैं उसमें विद्यमान हिंसामें सीधी तरह साझेदार बनता था। अतएव यदि आखिरकार मुझे उस राज्यके साथ व्यवहार बनाये रखना हो, उस राज्यके झंडेके नीचे रहना हो, तो या तो मुझे प्रकट रूपसे युद्धका विरोध करके उसका सत्याग्रहके शास्त्रके अनुसार उस समय तक बहिष्कार करना चाहिये, जब तक उस राज्यकी युद्धनीतिमें परिवर्तन न हो, अथवा उसके जो कानून भंग करने योग्य हों उनका सविनय भंग करके जेलकी राह पकड़नी चाहिये, अथवा उसके युद्धकार्यमें सम्मिलित होकर उसका मुक़ाबला करनेकी शक्ति और अधिकार प्राप्त करना चाहिये। मुझमें ऐसी शक्ति नहीं थी। इसलिए मैंने माना कि मेरे पास युद्धमें सम्मिलित होनेका ही मार्ग बचा था।

मैंने बन्दूकधारीमें और उसकी मदद करनेवालेमें अहिंसाकी दृष्टिसे कोई भेद नहीं

माना। जो मनुष्य लुटेरोंकी टोलीमें उनकी आवश्यक सेवा करने, उनका बोझ ढोने, लूटके समय पहरा देने तथा घायल होने पर उनकी सेवा करनेमें सम्मिलित होता है, वह लूटके संबंधमें लुटेरों जितना ही जिम्मेदार है। इस तरह सोचने पर फौजमें केवल घायलोंकी ही सार-सँभाल करनेके काममें लगा हुआ व्यक्ति भी युद्धके दोषोंसे मुक्त नहीं हो सकता।

पोलाकका तार मिलनेसे पहले ही मैंने यह सब सोच लिया था। उनका तार मिलने पर मैंने कुछ मित्रोंसे उसकी चर्चा की। युद्धमें सम्मिलित होनेमें मैंने धर्म माना; और आज भी इस प्रश्न पर सोचता हूँ, तो मुझे उपर्युक्त विचारधारामें कोई दोष नजर नहीं आता। ब्रिटिश साम्राज्यके विषयमें उस समय मेरे जो विचार थे, उनके अनुसार मैंने युद्ध-कार्यमें हिस्सा लिया था। अतएव मुझे उसका पश्चात्ताप भी नहीं है।

मैं जानता हूँ कि अपने उपर्युक्त विचारोंका औचित्य मैं उस समय भी सब मित्रोंके सामने सिद्ध नहीं कर सका था। प्रश्न सूक्ष्म है। उसमें मतभेदके लिए अवकाश है। इसीलिए अहिंसा-धर्मके माननेवालों और सूक्ष्म रीतिसे उसका पालन करनेवालोंके सम्मुख यथासंभव स्पष्टतासे मैंने अपनी राय प्रकट की है। सत्यका आग्रही रूढ़िसे चिपटकर ही कोई काम न करे। वह अपने विचारों पर हठ-पूर्वक डटा न रहे, हमेशा यह मानकर चले कि उनमें दोष हो सकता है और जब दोषका ज्ञान हो जाय तब भारी-से-भारी जोखिमोंको उठकर भी उसे स्वीकार करे और प्रायश्चित्त भी करे।

४०. छोटा-सा सत्याग्रह

इस प्रकार धर्म समझकर मैं युद्धमें सम्मिलित तो हुआ, पर मेरे नसीबमें न सिर्फ उसमें सीधे हाथ बँटाना नहीं आया, बल्कि ऐसे नाजुक समयमें सत्याग्रह करनेकी भी नौबत आ गयी।

मैं लिख चुका हूँ कि जब हमारे नाम मंजूर हुए और रजिस्टरमें दर्ज किये गये, तो हमें पूरी कवायद सिखानेके लिए एक अधिकारी नियुक्त किया गया। हम सबका खयाल यह था कि यह अधिकारी युद्धकी तालीम देनेभरके लिए हमारे मुखिया थे, बाकी सब मामलोंमें दलका मुखिया मैं था। मैं अपने साथियोंके प्रति जिम्मेदार था और साथी मेरे प्रति; अर्थात् हमारा खयाल यह था कि अधिकारीको सारा काम मेरे

द्वारा लेना चाहिये। पर जैसे पूतके पाँव पालनेमें नजर आते हैं, वैसे ही उस अधिकारीकी दृष्टि पहले ही दिनसे हमें कुछ और ही मालूम हुई। सोराबजी बड़े होशियार थे। उन्होंने मुझे सावधान किया : "भाई, ध्यान रखिये। ऐसा प्रतीत होता है कि ये सज्जन यहाँ अपनी जहाँगीरी चलाना चाहते हैं। हमें उनके हुक्मकी जरूरत नहीं। हम उन्हें शिक्षक मानते हैं। पर मैं तो देखता हूँ कि ये जो नौजवान आये हैं, वे भी मानो हम पर हुक्म चलाने आये हैं।" ये नौजवान ऑक्सफर्डके विद्यार्थी थे और हमें सिखानेके लिए आये थे। बड़े अधिकारीने उन्हें हमारे नायब-अधिकारियोंके रूपमें नियुक्त कर दिया था। मैं भी सोराबजीकी कही बातको देख चुका था। मैंने सोराबजीको सान्त्वना दी और निश्चिन्त रहनेको कहा। पर सोराबजी झट माननेवाले आदमी नहीं थे।

उन्होंने हँसते-हँसते कहा, "आप भोले हैं। ये लोग मीठी-मीठी बातें करके आपको ठगेंगे और फिर जब आपकी आँख खुलेगी तब आप कहेंगे : "चलो, सत्याग्रह करें। फिर आप हमें मुसीबतमें डालेंगे।"

मैंने जवाब दिया, "मेरा साथ करके सिवा मुसीबतके आपने किसी दिन और कुछ भी अनुभव किया है? और, सत्याग्रही तो ठगे जानेको ही जन्म लेता है न? अतएव भले ही साहब मुझे ठगें। क्या मैंने आपसे हजारों बार यह नहीं कहा है कि अन्तमें तो ठगनेवाला ही ठगा जाता है?"

सोराबजी खिलखिलाकर हँस पड़े : "अच्छी बात है, तो ठगाते रहिये। किसी दिन सत्याग्रहमें आप भी मरेंगे और अपने पीछे हम जैसोंको भी ले डूबेंगे।"

इन शब्दोंका स्मरण करते हुए मुझे स्व० मिस हॉब्हाउसके वे शब्द याद आ रहे हैं, जो असहयोग आन्दोलनके अवसर पर उन्होंने मुझे लिखे थे : "सत्यके लिए किसी दिन आपको फाँसी पर चढ़ना पड़े, तो मुझे आश्चर्य न होगा। ईश्वर आपको सीधे ही रास्ते ले जाय और आपकी रक्षा करे!"

सोराबजीके साथ ऊपरकी यह चर्चा तो उक्त अधिकारीके पदारूढ़ होनेके बादके आरंभिक समयमें हुई थी। आरंभ और अन्तके बीचका अन्तर कुछ ही दिनोंका था। किन्तु इसी अर्सेमें मेरी पसलियोंमे सख्त सूजन आ गयी। चौदह दिनके उपवासके बाद मेरा शरीर ठीक तौरसे सँभल नहीं पाया था, पर कवायदमें मैं पूरी तरह हिस्सा लेने लगा था और प्रायः घरसे कवायदकी जगह तक पैदल जाता था। यह फासला दो मीलका तो जरूर था। इस कारणसे आखिर मुझे खटियाका सेवन करना पड़ा।

अपनी इस स्थितिमें मुझे कैम्पमें जाना होता था। दूसरे लोग वहाँ रह जाते थे और मैं शामको वापस घर लौट आता था। यहाँ सत्याग्रहका प्रसंग खड़ा हो गया।

अधिकारीने अपना अधिकार चलाना शुरू किया। उन्होंने स्पष्ट कह दिया कि वे सब मामलोंमें हमारे मुखिया हैं। अपनी मुख्तारीके दो-चार पदार्थ-पाठ भी उन्होंने हमें पढ़ा दिये। सोराबजी मेरे पास पहुँचे। वे इस जहाँगीरीको बरदाश्त करनेके लिए तैयार न थे। उन्होंने कहा : "हमें सब हुक्म आपके द्वारा ही मिलने चाहिये। अभी तो हम लोग शिक्षण-शिविरमें ही हैं और हर मामलेमें बेहूदे हुक्म निकलते रहते हैं। उन नौजवानोंमें और हममें अनेक बातोंमें भेद बरता जा रहा है। यह सब सह्य नहीं है। इसकी सफाई तुरन्त होनी ही चाहिये, नहीं तो हमारा काम चौपट हो जायगा। ये सब विद्यार्थी और दूसरे लोग, जो इस काममें सम्मिलित हुए हैं, एक भी बेहूदा हुक्म बरदाश्त करनेके लिए तैयार नहीं हैं। आत्म-सम्मानकी वृद्धिके लिए उठाये हुए काममें अपमान ही सहन करना पड़े यह नहीं हो सकता।"

मैं अधिकारीके पास गया। अपने पास आयी हुई सब शिकायतें मैंने उन्हें सुनायीं। उन्होंने सब शिकायतें एक पत्र द्वारा लिखित रूपमें देनेको कहा और साथ ही अपने अधिकारकी बात कही। उन्होंने कहा, "शिकायत आपके द्वारा नहीं होनी चाहिये। शिकायत तो नायब-अधिकारियों द्वारा सीधी मेरे पास आनी चाहिये।"

मैंने जवाबमें कहा, "मुझे अधिकार भोगनेकी लालसा नहीं है। सैनिक दृष्टिसे तो मैं साधारण सिपाही कहा जाऊँगा, पर हमारी टुकड़ीके मुखियाके नाते आपको मुझे उसका प्रतिनिधि मानना चाहिये।" मैंने अपने पास आयी हुई शिकायतें भी बतायीं : "नायब-अधिकारी हमारी टुकड़ीसे पूछे बिना नियुक्त किये गये हैं और उनके विषयमें बड़ा असंतोष फैला हुआ है। अतएव वे हटा दिये जायें और टुकडीको अपने नायब-अधिकारी चुननेका अधिकार दिया जाये।"

यह बात उनके गले नहीं उतरी। उन्होंने मुझे बताया कि इन नायब-अधिकारियोंको टुकड़ी चुने, यह बात ही सैनिक नियमके विरुद्ध है; और यदि वे हटा दिये जायें, तो आज्ञा-पालनका नाम-निशान भी न रह जाये।

हमने सभा की। सत्याग्रहके गंभीर परिणाम कह सुनाये। लगभग सभीने सत्याग्रहकी शपथ ली। हमारी सभाने यह प्रस्ताव पास किया कि यदि वर्तमान नायब-अधिकारी हटाये न जायें और दलको नये अधिकारी पसन्द न करने दिये जायें, तो हमारी टुकड़ी कवायदमें जाना और कैम्पमें जाना बन्द कर देगी।

मैंने अधिकारीको एक पत्र लिखकर अपना तीव्र असंतोष व्यक्त किया और बताया कि मुझे अधिकार नहीं भोगना है, मुझे तो सेवा करनी है और यह काम सांगोपांग पूरा करना है। मैंने उन्हें यह भी बतलाया कि बोअर-युद्धमें मैंने कोई अधिकार नहीं लिया था फिर भी कर्नल गेलवे और हमारी टुकड़ीके बीच कभी किसी तकरारकी नौबत नहीं आयी थी; और वे अधिकारी मेरी टुकड़ीकी इच्छा मेरे द्वारा जानकर ही सारी बातें करते थे। अपने पत्रके साथ मैंने हमारी टुकड़ी द्वारा स्वीकृत प्रस्तावकी एक नकल भेजी।

अधिकारी पर इसका कोई प्रभाव न पड़ा। उन्हें तो लगा कि हमारी टुकड़ीने सभा करके प्रस्ताव पास किया, यही सैनिक नियमका गंभीर भंग था।

इसके बाद मैंने भारत-मंत्रीको एक पत्र लिखकर सारी वस्तुस्थिति बतायी और साथमें हमारी सभाका प्रस्ताव भेजा।

'भारत-मंत्रीने मुझे जवाबमें सूचित किया कि दक्षिण अफ्रीकाकी स्थिति भिन्न थी। यहाँ तो टुकड़ीके बड़े अधिकारीको नायब-अधिकारी चुननेका हक है, फिर भी भविष्यमें वह अधिकारी आपकी सिफारिशोंका ध्यान रखेगा।

इसके बाद तो हमारे बीच बहुत पत्र-व्यवहार हुआ, पर वे सारे कटु अनुभव देकर मैं इस प्रकरणको बढ़ाना नहीं चाहता।

पर इतना कहे बिना तो रहा ही नहीं जा सकता कि ये अनुभव वैसे ही थे जैसे हमें रोज हिन्दुस्तानमें होते रहते हैं। अधिकारीने धमकीसे, युक्तिसे, हममें फूट डाली। कुछ लोग शपथ ले चुकने पर भी कल अथवा बलके वश हो गये। इतनेमें नेटली अस्पतालमें अनसोची संख्यामें घायल सिपाही आ पहुँचे और उनकी सेवा-शुश्रूषाके लिए हमारी समूची टुकड़ीकी आवश्यकता आ पड़ी। अधिकारी जिन्हें खींच पाये थे, वे तो नेटली पहुँच गये। पर दूसरे नहीं गये, यह इन्डिया आफिसको अच्छा न लगा। मैं तो बिछौने पर पड़ा था। पर टुकड़ीके लोगोंसे मिलता रहता था। मि० रॉबर्ट्ससे मेरी अच्छी जान-पहचान हो गयी थी। वे मुझसे मिलने आये और बाकीके लोगोंको भी भेजनेका आग्रह किया। उनका सुझाव था कि वे अलग टुकड़ीके रूपमें जायें। नेटली अस्पतालमें तो टुकड़ीको वहाँके मुखियाके अधीन रहना होगा, इसलिए उसकी मानहानि नहीं होगी। सरकारको उनके जानेसे संतोष होगा और भारी संख्यामें आये हुए घायलोंकी सेवा-शुश्रूषा होगी। मेरे साथियोंको और मुझे यह

सलाह पसन्द आयी और बचे हुए विद्यार्थी भी नेटली गये। अकेला मैं ही हाथ मलता हुआ बिछौने पर पड़ा रहा।

४१. गोखलेकी उदारता

विलायतमें मुझे पसलीकी सूजनकी जो शिकायत हुई थी, उसकी बात मैं कर चुका हूँ। इस बीमारीके समय गोखले विलायत आ चुके थे। उनके पास मैं और कैलनबैक हमेशा जाया करते थे। अधिकतर लड़ाईकी ही चर्चा होती थी। केलनबैकको जर्मनीका भूगोल कण्ठाग्र था और उन्होंने यूरोपकी यात्रा भी खूब की थी। इससे वे गोखलेको नकशा खींचकर लड़ाईके मुख्य स्थान बताया करते थे।

जब मैं बीमार पड़ा तो मेरी बीमारी भी चर्चाका एक विषय बन गयी। आहारके मेरे प्रयोग तो चल ही रहे थे। उस समयका मेरा आहार मूँगफली, कच्चे और पके केले, नीबू, जैतूनका तेल, टमाटर और अंगूर आदिका था। दूध, अनाज, दाल आदि मैं बिलकुल न लेता था। डॉ. जीवराज मेहता मेरी सार-संभाल करते थे। उन्होंने दूध और अन्न लेनेका बहुत आग्रह किया। शिकायत गोखले तक पहुँची। फलाहारकी मेरी दलीलके बारेमें उन्हें बहुत आदर न था; उनका आग्रह यह था कि आरोग्यकी रक्षाके लिए डॉक्टर जो कहें सो लेना चाहिये।

गोखले के आग्रहको ठुकराना मेरे लिए बहुत ही कठिन था। जब उन्होंने खूब आग्रह किया, तो मैंने विचारके लिए चौबीस घण्टोंका समय माँगा। केलनबैक और मैं दोनों घर आये। मार्गमें अपने धर्मके विषयमें मैंने उनसे चर्चा की। मेरे प्रयोगमें वे साथ थे। उन्हें प्रयोग अच्छा लगता था। पर अपनी तबीयतके लिए मैं उसे छोड़ूँ तो ठीक हो, ऐसी उनकी भी भावना मुझे मालूम हुई। इसलिए मुझे स्वयं ही अन्तर्नादका पता लगाना था।

सारी रात मैंने सोच-विचारमें बितायी। यदि समूचे प्रयोगको छोड़ देता, तो मेरे किये हुए समस्त विचार मिट्टीमें मिल जाते। उन विचारोंमें मुझे कहीं भी भूल नहीं दिखायी देती थी। प्रश्न यह था कि कहाँ तक गोखलेके प्रेमके वश होना मेरा धर्म था, अथवा शरीर-रक्षाके लिए ऐसे प्रयोगोंको किस हद तक छोड़ना ठीक था। इसलिए मैंने निश्चय किया कि इन प्रयोगोंमें से जो प्रयोग केवल धर्मकी दृष्टिसे चल रहा है, उस पर दृढ़ रहकर दूसरे सब मामलोंमें डॉक्टरके कहे अनुसार चलना चाहिये।

दूधके त्यागमें धर्म-भावनाका स्थान मुख्य था। कलकत्तेमें गाय-भैंस पर होनेवाली दुष्ट क्रियाएँ मेरे सामने मूर्तिमंत थीं। मांसकी तरह पशुका दूध भी मनुष्यका आहार नहीं है, यह बात भी मेरे सामने थी। इसलिए दूधके त्याग पर डटे रहनेका निश्चय करके मैं सबेरे उठा। इतने निश्चयसे मेरा मन बहुत हलका हो गया। गोखलेका डर था, पर मुझे यह विश्वास था कि वे मेरे निश्चयका आदर करेंगे।

शामको नेशनल लिबरल क्लबमें हम उनसे मिलने गये। उन्होंने तुरन्त ही प्रश्न किया: ''क्यों डॉक्टरका कहना माननेका निश्चय कर लिया न?''

मैंने धीरेसे जवाब दिया: ''मैं सब कुछ करूँगा, किन्तु आप एक चीजका आग्रह न कीजिये। मैं दूध और दूधके पदार्थ अथवा मांसाहार नहीं लूँगा। उन्हें न लेनेसे देहपात होता हो, तो वैसा होने देनेमें मुझे धर्म मालूम होता है।''

गोखलेने पूछा, ''यह आपका अंतिम निर्णय है?''

मैंने जवाब दिया, ''मेरा खयाल है कि मैं दूसरा जवाब नहीं दे सकता। मैं जानता हूँ कि इससे आपको दुःख होगा, पर मुझे क्षमा कीजिये।''

गोखलेने कुछ दुःखसे परन्तु अत्यन्त प्रेमसे कहा: ''आपका निश्चय मुझे पसन्द नहीं है। इसमें मैं धर्म नहीं देखता। पर अब मैं आग्रह नहीं करूँगा।'' यह कहकर वे डॉ. जीवराज मेहताकी ओर मुड़े और उनसे बोले, ''अब गांधीको तंग मत कीजिये। उनकी बतायी हुई मर्यादामें उन्हें जो दिया जा सके, दीजिये।''

डॉक्टरने अप्रसन्नता प्रकट की, लेकिन वे लाचार हो गये। उन्होंने मुझे मूँगका पानी लेनेकी सलाह दी और उसमें हींगका बघार देनेको कहा। मैंने इसे स्वीकार कर लिया। एक-दो दिन वह खुराक ली। उससे मेरी तकलीफ बढ़ गयी। मुझे वह मुआफिक नहीं आयी। अतएव मैं फिर फलाहार पर आ गया। डॉक्टरने बाहरी उपचार तो किये ही। उससे थोड़ा आराम मिलता था। पर मेरी मर्यादाओंसे वे बहुत ही परेशान थे। इस बीच लंदनका अक्तूबर-नवम्बरका कुहरा सहन न कर सकनेके कारण गोखले हिन्दुस्तान जानेको रवाना हो गये।

४२. दर्दके लिए क्या किया?

पसलीका दर्द मिट नहीं रहा था, इससे मैं घबराया। मैं इतना जानता था कि औषधोपचारसे नहीं, बल्कि आहारके परिवर्तनसे और थोड़े बाहरी उपचारसे दर्द जाना ही चाहिये।

सन् १८९० में मैं डॉक्टर एलिन्सनसे मिला था। वे अन्नाहारी थे और आहारके परिवर्तन द्वारा बीमारियोंका इलाज करते थे। मैंने उन्हें बुलाया। वे आये। उन्हें शरीर दिखाया और दूधके बारेमें अपनी आपत्तिकी बात उनसे कही। उन्होंने मुझे तुरन्त आश्वस्त किया और कहा: "दूधकी कोई आवश्यकता नहीं है। और मुझे तो तुम्हें कुछ दिनों बिना किसी चिकनाईके ही रखना है।" यों कहकर पहले तो मुझे सिर्फ रूखी रोटी और कच्चे साग तथा फल खानेकी सलाह दी। कच्ची तरकारियोंमें मूली, प्याज और किसी तरहके दूसरे कंद तथा हरी तरकारियाँ और फलोंमें मुख्यत: नारंगी लेनेको कहा। इन तरकारियोंको कद्दूकश पर कसकर या चटनीकी शकलमें पीसकर खाना था। मैंने इस तरह तीन दिन तक काम चलाया। पर कच्चे साग मुझे बहुत अनुकूल नहीं आये। मेरा शरीर इस योग्य नहीं था कि इस प्रयोगकी पूरी परीक्षा कर सकूँ और न मुझमें वैसी श्रद्धा थी। इसके अतिरिक्त, उन्होंने चौबीसों घंटे खिड़कियाँ खुली रखने, रोज कुनकुने पानीसे नहाने, दर्दवाले हिस्से पर तेलकी मालिश करने और पावसे लेकर आधे घंटे तक खुली हवामें घूमनेकी सलाह दी। यह सब मुझे अच्छा लगा। घरमें फ्रान्सीसी ढंगकी खिड़कियाँ थीं; उन्हें पूरा खोल देने पर बरसातका पानी अन्दर आता था। ऊपरका रोशनदान खुलने लायक नहीं था। अतएव उसका पूरा शीशा तुड़वाकर उससे चौबीसों घंटे हवा आनेका सुभीता कर लिया। फ्रांसीसी खिड़कियाँ मैं इतनी खुली रखता था कि पानीकी बौछार अन्दर न आये।

यह सब करनेसे तबीयत कुछ सुधरी। बिलकुल अच्छी तो हुई ही नहीं। कभी-कभी लेडी सिसिलिया रॉबर्ट्स मुझे देखने आती थीं। उनसे अच्छी जान-पहचान थी। उनकी मुझे दूध पिलानेकी प्रबल इच्छा थी। दूध मैं लेता न था। इसलिए उन्होंने दूधके गुणवाले पदार्थोंकी खोज शुरू की। उनके किसी मित्रने उन्हें 'माल्टेड मिल्क' बताया और अनजानमें कह दिया कि इसमें दूधका स्पर्श तक नहीं होता, यह तो रासायनिक प्रयोगसे तैयार किया हुआ दूधके गुणवाला चूर्ण है। मैं जान चुका था कि लेडी रॉबर्ट्सको मेरी धर्म-भावनाके प्रति बड़ा आदर था। अतएव मैंने उस चूर्णको

पानीमें मिलाकर पिया। मुझे उसमें दूधके समान ही स्वाद आया। मैंने 'पानी पीकर घर पूछने' जैसा काम किया। बोतल पर लगे परचेको पढ़नेसे पता चला कि यह तो दूधका ही पदार्थ है। अतएव एक ही बार पीनेके बाद उसे छोड़ देना पड़ा। लेडी रॉबर्ट्सको खबर भेजी और लिखा कि वे तनिक भी चिन्ता न करें। वे तुरन्त मेरे घर आयीं। उन्होंने खेद प्रकट किया। उनके मित्रने बोतल पर चिपका कागज पढ़ा नहीं था। मैंने इस भली बहनको आश्वासन दिया और इस बातके लिए उनसे माफी माँगी कि उनके द्वारा कष्ट-पूर्वक प्राप्त की हुई वस्तुका मैं उपयोग न कर सका। मैंने उन्हें यह भी जता दिया कि जो चूर्ण अनजानमें ले लिया है उसका मुझे कोई पछतावा नहीं है, न उसके लिए प्रायश्चित्तकी ही आवश्यकता है।

लेडी रॉबर्ट्सके साथके जो दूसरे मधुर स्मरण हैं उन्हें मैं छोड़ देना चाहता हूँ। ऐसे कई मित्रोंका मुझे स्मरण है, जिनका महान आश्रय अनेक विपत्तियों और विरोधोंमें मुझे मिल सका है। श्रद्धालु मनुष्य ऐसे मीठे स्मरणों द्वारा यह अनुभव करता है कि ईश्वर दुःखरूपी कड़वी दवायें देता है, तो उसके साथ ही मैत्रीके मीठे·अनुपान भी अवश्य ही देता है।

डॉ० एलिन्सन जब दूसरी बार मुझे देखने आये, तो उन्होंने अधिक स्वतंत्रता दी और चिकनाईके लिए सूखे मेवेका अर्थात् मूँगफली आदिकी गिरीका मक्खन अथवा जैतूनका तेल लेनेको कहा। कच्चे साग अच्छे न लगें, तो उन्हें पकाकर भातके साथ खानेको कहा। यह सुधार मुझे अधिक अनुकूल पड़ा।

पर पीड़ा पूरी तरह नष्ट न हुई। सावधानीकी आवश्यकता तो थी ही। मैं खटिया न छोड़ सका। डॉ० मेहता समय-समय पर आकर मुझे देख तो जाते ही थे। "मेरा इलाज करें, तो अभी अच्छा कर दूँ।" यह वाक्य तो हमेशा उनकी जबान पर रहता ही था।

इस तरह दिन बीत रहे थे कि इतनेमें एक दिन मि० रॉबर्ट्स आ पहुँचे और उन्होंने मुझसे देश जानेका आग्रह किया: "इस हालतमें आप नेटली कभी न जा सकेंगे। कड़ी सरदी तो अभी आगे पड़ेगी। मेरा आपसे विशेष आग्रह है कि अब आप देश जाइये और वहाँ स्वास्थ्य-लाभ कीजिये। तब तक लड़ाई चलती रही, तो सहायता करनेके बहुतेरे अवसर आपको मिलेंगे ही। वर्ना आपने यहाँ जो कुछ किया है, उसे मैं कम नहीं मानता।"

मैंने यह सलाह मान ली और देश जानेकी तैयारी की।

४३. रवानगी

मि० केलनबैक हिन्दुस्तान जानेके निश्चयसे हमारे साथ निकले थे। विलायतमें हम साथ ही रहते थे। पर लड़ाईके कारण जर्मनों पर कड़ी नजर रखी जाती थी, इससे केलनबैकके साथ आ सकनेके विषयमें हम सबको सन्देह था। उनके लिए पासपोर्ट प्राप्त करनेका मैंने बहुत प्रयत्न किया। मि० रॉबर्ट्स स्वयं उनके लिए पासपोर्ट प्राप्त करा देनेके लिए तैयार थे। उन्होंने सारी हकीकतका तार वाइसरॉयके नाम भेजा, पर लार्ड हार्डिंगका सीधा और दो टूक उत्तर मिला: 'हमें खेद है। लेकिन इस समय ऐसा कोई खतरा उठानेके लिए हम तैयार नहीं हैं।'' हम सब इस उत्तरके औचित्यको समझ गये। केलनबैकके वियोगका दुःख मुझे तो हुआ ही, पर मैंने देखा कि मुझसे अधिक दुःख उन्हें हुआ। वे हिन्दुस्तान आ सके होते, तो आज एक सुन्दर किसान और बुनकरका सादा जीवन बिताते होते। अब वे दक्षिण अफ्रीकामें अपना पहलेका जीवन बिता रहे हैं और गृह-निर्माण कलाका अपना धंधा धड़ल्लेसे चला रहे हैं।

हमने तीसरे दर्जेके टिकिट लेनेका प्रयत्न किया, पर पी० एण्ड ओ० के जहाजोंमें तीसरे दर्जेके टिकिट नहीं मिलते। अतएव दूसरे दर्जेके लेने पड़े। दक्षिण अफ्रीकासे साथ बाँधकर लाया हुआ कुछ फलाहार, जो जहाजोंमें मिल ही नहीं सकता था, साथ ले लिया था। दूसरी चीजें तो जहाज़में मिल सकती थीं।

डॉ० मेहताने मेरे शरीरको मीड्ज़ प्लास्टरकी पट्टीसे बाँध दिया था, और सलाह दी थी कि मैं यह पट्टी बँधी रहने दूँ। दो दिन तक तो मैंने उसे सहन किया, लेकिन बादमें सहन न कर सका। अतएव थोड़ी मेहनतसे पट्टी उतार डाली और नहाने-धोनेकी आजादी हासिल की। खानेमें मुख्यतः सूखे और गीले मेवेको ही स्थान दिया। मेरी तबीयत दिन-प्रतिदिन सुधरती गयी और स्वेजकी खाड़ीमें पहुँचते-पहुँचते तो बहुत अच्छी हो गयी। शरीर दुर्बल था, फिर भी मेरा डर चला गया और मैं धीरे-धीरे रोज थोड़ी कसरत बढ़ाता गया। मैंने माना कि यह शुभ परिवर्तन केवल शुद्ध समशीतोष्ण हवाके कारण ही हुआ था।

पुराने अनुभवोंके कारण हो या अन्य किसी कारणसे हो, पर बात यह थी कि अंग्रेज यात्रियों और हम लोगोंके बीच मैंने जो अन्तर यहाँ देखा, वह दक्षिण अफ्रीकासे आते हुए भी नहीं देखा था। अन्तर तो वहाँ भी था, पर यहाँ उससे कुछ

भिन्न प्रकारका मालूम हुआ। किसी-किसी अंग्रेजके साथ मेरी बातें होती थीं, किन्तु वे 'साहब सलाम' तक ही सीमित रहती थीं। हृदयकी भेंट किसीसे नहीं हुई। दक्षिण अफ्रीकाके जहाजोंमें और दक्षिण अफ्रीकामें हृदयकी भेंटें हो सकी थीं। इस भेदका कारण मैंने तो यही समझा कि इन जहाजों पर अंग्रेजके मनमें जाने-अनजाने यह ज्ञान काम कर रहा था कि 'मैं शासक हूँ' और हिन्दुस्तानीके मनमें यह ज्ञान काम कर रहा था कि 'मैं विदेशी शासनके अधीन हूँ'।

मैं ऐसे वातावरणसे जल्दी छूटने और स्वदेश पहुँचनेके लिए आतुर हो रहा था। अदन पहुँचने पर कुछ हद तक घर पहुँच जाने-जैसा लगा। अदनवालोंके साथ हमारा खासा सम्बन्ध दक्षिण अफ्रीकामें ही हो गया था; क्योंकि भाई कैकोबाद कावसजी दीनशा डरबन आ चुके थे और उनसे तथा उनकी पत्नीसे मेरा अच्छा परिचय हो चुका था।

कुछ ही दिनोंमें हम बम्बई पहुँचे। जिस देशमें मैं सन् १९०५ में वापस आनेकी आशा रखता था, उसमें दस बरस बाद तो वापस आ सका, यह सोचकर मुझे बहुत आनन्द हुआ। बम्बईमें गोखलेने स्वागत-सम्मेलन आदिकी व्यवस्था कर ही रखी थी। उनका स्वास्थ्य नाजुक था; फिर भी वे बम्बई आ पहुँचे थे। मैं इस उमंगके साथ बम्बई पहुँचा था कि उनसे मिलकर और अपनेको उनके जीवनमें समाकर मैं अपना भार उतार डालूँगा। किन्तु विधाताने कुछ दूसरी ही रचना कर रखी थी।

४४. वकालतके कुछ संस्मरण

हिन्दुस्तान आनेके बाद मेरे जीवनकी धारा किस तरह प्रवाहित हुई, इसका वर्णन करनेसे पहले मैंने दक्षिण अफ्रीकाके अपने जीवनके जिस भागको जान-बूझकर छोड़ दिया था, उसमें से कुछ यहाँ देना आवश्यक मालूम होता है। कुछ वकील मित्रोंने वकालतके समयके और वकीलके नाते मेरे संस्मरणोंकी माँग की है। ये संस्मरण इतने अधिक हैं कि उन्हें लिखने बैठूँ, तो उन्हींकी एक पुस्तक तैयार हो जाय। ऐसे वर्णन मेरी अंकित मर्यादाके बाहर जाते हैं। किन्तु उनमें से कुछ, जो सत्यसे संबंध रखनेवाले हैं, यहाँ देना शायद अनुचित नहीं माना जायगा।

जैसा कि मुझे याद है, मैं यह तो बता चुका हूँ कि वकालतके धंधेमें मैंने कभी असत्यका प्रयोग नहीं किया और मेरी वकालतका बड़ा भाग केवल सेवाके लिए ही

अर्पित था और उसके लिए जेबखर्चके अतिरिक्त मैं कुछ नहीं लेता था। कभी-कभी जेबखर्च भी छोड़ देता था। मैंने माना था कि इतना बताना इस विभागके लिए पर्याप्त होगा। पर मित्रोंकी माँग उससे आगे जाती है। वे मानते हैं कि यदि मैं सत्यरक्षाके प्रसंगोंका थोड़ा भी वर्णन दे दूँ, तो वकीलोंको उसमें से कुछ जाननेको मिल जायेगा।

विद्यार्थी-अवस्थामें भी मैं यह सुना करता था कि वकालतका धंधा झूठ बोले बिना चल ही नहीं सकता। जूठ बोलकर में न तो कोई पद लेना चाहता था और न पैसा कमाना चाहता था। इसलिए इन बातोंका मुझ पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता था।

दक्षिण अफ्रीकामें इसकी परीक्षा तो बहुत बार हो चुकी थी। मैं जानता था कि प्रतिपक्षके साक्षियोंको सिखाया-पढ़ाया गया है और यदि मैं मुवक्किलोंको अथवा साक्षीको तनिक भी झूठ बोलनेके लिए प्रोत्साहित कर दूँ, तो मुवक्किलके केसमें कामयाबी मिल सकती है। किन्तु मैंने हमेशा इस लालचको छोड़ा है। मुझे ऐसी एक ही घटना याद है कि जब मुवक्किलका मुकदमा जीतनेके बाद मुझे यह शक हुआ कि मुवक्किलने मुझे धोखा दिया है। मेरे दिलमें भी हमेशा यही खयाल बना रहता था कि अगर मुवक्किलका केस सच्चा हो तो उसमें जीत मिले और झूठ हो तो उसकी हार हो। मुझे याद नहीं पड़ता कि फीस लेते समय मैंने कभी हार-जीतके आधार पर फीसकी दरें तय की हों। मुवक्किल हारे या जीते, मैं तो हमेशा अपना मेहनताना ही माँगता था और जीतने पर भी उसीकी आशा रखता था। मुवक्किलको मैं शुरूसे ही कह देता था: "मामला झूठा हो तो मेरे पास मत आना। साक्षीको सिखाने-पढ़ानेका काम करनेकी मुझसे कोई आशा न रखना।" आखिर मेरी साख तो यही कायम हुई थी कि झूठे मुकदमे मेरे पास आते ही नहीं। मेरे कुछ ऐसे मुवक्किल भी थे, जो अपने सच्चे मामले तो मेरे पास लाते थे और जिनमें थोड़ी भी खोट-खराबी होती, उन्हें दूसरे वकीलोंके पास ले जाते थे।

एक अवसर ऐसा भी आया, जब मेरी बहुत बड़ी परीक्षा हुई। मेरे अच्छे-से-अच्छे मुवक्किलोंमें से एकका यह मामला था। उसमें वहीखातेकी भारी उलझनें थीं। मुकदमा बहुत लम्बे समय तक चला था। उसके कुछ हिस्से कई अदालतोंमें गये थे। अन्तमें अदालत द्वारा नियुक्त हिसाब जाननेवाले पंचको उसका हिसाबी हिस्सा सौंपा गया था। पंचके फैसलेमें मेरे मुवक्किलकी पूरी जीत थी। किन्तु उसके हिसाबमें एक छोटी परन्तु गंभीर भूल रह गयी थी। जमा-खर्चकी रकम पंचके दृष्टिदोषसे इधरकी

उधर ले ली गयी थी। प्रतिपक्षीने पंचके इस फैसलेको रद करनेकी अपील की थी। मुवक्किलकी ओरसे मैं छोटा वकील था। बड़े वकीलने पंचकी भूल देखी थी, पर उनकी राय थी कि पंचकी भूल कबूल करना मुवक्किलके लिए बंधनरूप नहीं है। उनका यह स्पष्ट मत था कि ऐसी किसी बातको स्वीकार करनेके लिए कोई वकील बँधा हुआ नहीं है, जो उसके मुवक्किलके हितके विरुद्ध जाय। मैंने कहा, "इस मुकदमेमें रही हुई भूल स्वीकार की ही जानी चाहिये।"

बड़े वकीलने कहा, "ऐसा होने पर इस बातका पूरा डर है कि अदालत सारे फैसलेको ही रद कर दे; और कोई होशियार वकील मुवक्किलको ऐसी जोखिममें नहीं डालेगा। मैं तो यह जोखिम उठानेको कभी तैयार न होऊँगा। मुकदमा फिरसे चलाना पड़े, तो मुवक्किलको कितने खर्चमें उतरना होगा? और कौन कह सकता है कि अंतिम परिणाम क्या होगा?"

इस बातचीतके समय मुवक्किल उपस्थित थे।

मैंने कहा, "मेरा तो खयाल है कि मुवक्किलको और हम दोनोंको ऐसी जोखिमें उठानी ही चाहिये। हमारे स्वीकार न करने पर भी अदालत भूलभरे फैसलेको भूल मालूम हो जाने पर बहाल रखेगी, इसका क्या भरोसा है? और भूल सुधारनेकी कोशिशमें मुवक्किलको नुकसान उठाना पड़े, तो क्या हर्ज होगा?

बड़े वकीलने कहा, "लेकिन हम भूल कबूल करें तब न?"

मैंने जवाब दिया, "हमारे भूल न स्वीकार करने पर भी अदालत उस भूलको नहीं पकड़ेगी अथवा विरोधी पक्ष उसका पता नहीं लगायेगा, इसका भी क्या भरोसा है?"

बड़े वकीलने दृढ़ता-पूर्वक कहा, "तो इस मुकदमेमें आप बहस करेंगे? भूल कबूल करनेकी शर्त पर मैं उसमें हाजिर रहनेको तैयार नहीं हूँ।"

मैंने नम्रता-पूर्वक कहा, "यदि आप न खड़े हों और मुवक्किल चाहें, तो मैं खड़ा होनेको तैयार हूँ। यदि भूल कबूल न की जाय, तो मैं मानता हूँ कि मुकदमेमें काम करना मेरे लिए असंभव होगा।"

इतना कहकर मैंने मुवक्किलकी तरफ देखा। मुवक्किल थोड़े परेशान हुए। मैं तो मुकदमेमें शुरूसे ही था। मुवक्किलका मुझ पर पूरा विश्वास था। वे मेरे स्वभावसे भी पूरी तरह परिचित थे। उन्होंने कहा: "ठीक है, तो आप ही अदालतमें पैरवी कीजिये। भूल कबूल कर लीजिये। भाग्यमें हारना होगा तो हार जायँगे। सच्चेका

रखवाला राम तो है ही न?''

मुझे खुशी हुई। मैंने दूसरे जवाबकी आशा ही न रखी थी। बड़े वकीलने मुझे फिर चेताया। उन्हें मेरे 'हठ' के लिए मुझ पर तरस आया, लेकिन उन्होंने मुझे धन्यवाद भी दिया।

अदालतमें क्या हुआ इसकी चर्चा आगे होगी।

४५. चालाकी?

अपनी सलाहके औचित्यके विषयमें मुझे लेशमात्र भी शंका न थी, पर उस मुकदमेकी पूरी पैरवी करनेकी अपनी योग्यताके संबंधमें काफी शंका थी। ऐसी जोखिमवाले मामलेमें बड़ी अदालतमें मेरा बहस करना मुझे बहुत जोखिमभरा जान पड़ा। अतएव मनमें काँपते-काँपते मैं न्यायाधीशोंके सामने उपस्थित हुआ। ज्यों ही उक्त भूलकी बात निकली कि एक न्यायाधीश बोल उठे:

''यह चालाकी नहीं कहलायेगी?''

मुझे बड़ा गुस्सा आया। चालाकीकी गंध तक नहीं थी, वहाँ चालाकीका शक होना मुझे असह्य प्रतीत हुआ। मैंने मनमें सोचा, 'जहाँ पहलेसे ही जजका खयाल बिगड़ा हुआ है, वहाँ इस मुश्किल मुकदमेको कैसे जीता जा सकता है?'

मैंने अपने गुस्सेको दबाया और शांत भावसे जवाब दिया:

''मुझे आश्चर्य होता है कि आप पूरी बात सुननेके पहले ही चालाकीका आरोप लगाते हैं।''

जज बोले, ''में आरोप नहीं लगाता, केवल शंका प्रकट करता हूँ।''

मैंने उत्तर दिया, ''आपकी शंका ही मुझे आरोप-जैसी लगती है। मैं आपको वस्तुस्थिति समझा दूँ और फिर शंकाके लिए अवकाश हो, तो आप अवश्य शंका करें।''

जजने शांत होकर कहा, ''मुझे खेद है कि मैंने आपको बीचमें ही रोका। आप अपनी बात समझा कर कहिये।''

मेरे पास सफाईके लिए पूरा-पूरा मसाला था। शुरूमें ही शंका पैदा हुई और जजका ध्यान मैं अपनी दलीलकी तरफ खींच सका, इससे मुझमें हिम्मत आ गयी और मैंने विस्तारसे सारी जानकारी दी। न्यायाधीशोंने मेरी बातोंको धैर्य-पूर्वक सुना

और वे समझ गये कि भूल असावधानीके कारण ही हुई है। अतः बहुत परिश्रमसे तैयार किया हुआ हिसाब रद करना उन्हें उचित नहीं मालूम हुआ।

प्रतिपक्षीके वकीलको तो यह विश्वास ही था कि भूल स्वीकार कर लेनेके बाद उनके लिए अधिक बहस करनेकी आवश्यकता न रहेगी। पर न्यायाधीश ऐसी स्पष्ट और सुधर सकनेवाली भूलको लेकर पंच-फैसला रद करनेके लिए बिलकुल तैयार न थे। प्रतिपक्षीके वकीलने बहुत माथापच्ची की, पर जिन न्यायाधीशके मनमें शंका पैदा हुई थी, वे ही मेरे हिमायती बन गये। वे बोले, "मि० गांधीने गलती कबूल न की होती, तो आप क्या करते?"

"जिस हिसाब-विशेषज्ञको हमने नियुक्त किया था, उससे अधिक होशियार अथवा ईमानदार विशेषज्ञ हम कहाँसे लायें?"

"हमें मानना चाहिये कि आप अपने मुकदमेको भलीभाँति समझते हैं। हिसाबका हर कोई जानकार जिस तरहकी भूल कर सकता है वैसी भूलके अतिरिक्त दूसरी कोई भूल आप न बता सकें, तो कायदेकी एक मामूली-सी त्रुटिके लिए दोनों पक्षोंको नये सिरसे खर्चमें डालनेके लिए अदालत तैयार नहीं हो सकती। और यदि आप यह कहें कि इसी अदालतको यह केस नये सिरेसे सुनना चाहिये, तो यह संभव न होगा।"

इस और ऐसी अनेक दलीलोंसे प्रतिपक्षीके वकीलको शांत करके तथा फैसलेमें रही भूलको सुधार कर अथवा इतनी भूल सुधार कर पुनः फैसला भेजनेका हुक्म पंचको देकर अदालतने उस सुधरे हुए फैसलेको बहाल रखा।

मेरे हर्षकी सीमा न रही। मुवक्किल और बड़े वकील प्रसन्न हुए और मेरी यह धारणा दृढ़ हो गयी कि वकालतके धन्धेमें भी सत्यकी रक्षा करते हुए काम हो सकता है।

पर पाठकोंको यह बात याद रखनी चाहिये कि धंधेके लिए की हुई प्रत्येक वकालतके मूलमें जो दोष विद्यमान है, उसे यह सत्यकी रक्षा ढाँक नहीं सकती।

४६. मुवक्किल साथी बन गये

नेटाल और ट्रान्सवालकी वकालतमें यह भेद था कि नेटालमें एडवोकेट और एटर्नीका भेद होने पर भी दोनों सब अदालतोंमें समान रूपसे वकालत कर सकते थे, जब कि ट्रान्सवालमें बम्बईके जैसा भेद था। वहाँ एडवोकेट मुवक्किलके साथका सारा व्यवहार एटर्नीकी मारफत ही कर सकता है। बारिस्टर बननेके बाद आप एडवोकेट अथवा एटर्नीमें से किसी एककी सनद ले सकते हैं और फिर वही धंधा कर सकते हैं। नेटालमें मैंने एडवोकेटकी सनद ली थी, ट्रान्सवालमें एटर्नीकी। एडवोकेटके नाते मैं हिन्दुस्तानियोंके सीधे संपर्कमें नहीं आ सकता था और दक्षिण अफ्रीकामें वातावरण ऐसा नहीं था कि गोरे एटर्नी मुझे मुकदमे दें।

यों ट्रान्सवालमें वकालत करते हुए मजिस्ट्रेटके इजलास पर तो मैं बहुत बार जा सकता था। ऐसा करते हुए एक प्रसंग इस प्रकारका आया, जब चलते मुकदमेके दौरानमें मैंने देखा कि मेरे मुवक्किलने मुझे ठग लिया है। उसका मुकदमा झूठा था। वह कठहरेमें खड़ा इस तरह काँप रहा था, मानो अभी गिर पड़ेगा। अतएव मैंने मजिस्ट्रेटको मुवक्किलके विरुद्ध फैसला देनेको कहा और मुवक्किल बैठ गया। प्रतिपक्षीका वकील आश्चर्यचकित हो गया। मजिस्ट्रेट खुश हुआ। मुवक्किलको मैंने उलाहना दिया। वह जानता था कि मैं झूठे मुकदमे नहीं लेता था। उसने यह बात स्वीकार की और मैं मानता हूँ कि मैंने उसके खिलाफ फैसला माँगा, इसके लिए वह गुस्सा न हुआ। जो भी हो, पर मेरे इस बरतावका कोई बुरा प्रभाव मेरे धंधे पर नहीं पड़ा, और अदालतमें मेरा काम सरल हो गया। मैंने यह भी देखा कि सत्यकी मेरी इस पूजासे वकील-बंधुओंमें भी मेरी प्रतिष्ठा बढ़ गयी थी और विचित्र परिस्थितियोंके रहते हुए भी उनमें से कुछकी प्रीति मैं प्राप्त कर सका था।

वकालत करते हुए मैंने एक ऐसी आदत भी डाली थी कि अपना अज्ञान न मैं मुवक्किलोंसे छिपाता था और न वकीलोंसे। जहाँ-जहाँ मुझे कुछ सूझ न पड़ता वहाँ-वहाँ मैं मुवक्किलसे दूसरे वकीलके पास जानेको कहता अथवा मुझे वकील करता तो मैं उससे कहता कि अपनेसे अधिक अनुभवी वकीलकी सलाह लेकर मैं उसका काम करूँगा। अपने इस शुद्ध व्यवहारके कारण मैं मुवक्किलोंका अटूट प्रेम और विश्वास संपादन कर सका था। बड़े वकीलके पास जानेकी जो फीस देनी पड़ती, उसके पैसे भी वे प्रसन्नता-पूर्वक देते थे।

इस विश्वास और प्रेमका पूरा-पूरा लाभ मुझे अपने सार्वजनिक काममें मिला।

पिछले प्रकरणमें मैं बता चुका हूँ कि दक्षिण अफ्रीकामें वकालत करनेका मेरा हेतु केवल लोकसेवा करना था। इस सेवाके लिए भी मुझे लोगोंका विश्वास संपादन करनेकी आवश्यकता थी। उदार दिलके हिन्दुस्तानियोंने पैसे लेकर की गयी वकालतको भी मेरी सेवा माना; और जब मैंने उन्हें अपने हकोंके लिए जेलके दुःख सहनेकी सलाह दी, तब उनमें से बहुतोंने उस सलाहको ज्ञान-पूर्वक स्वीकार करनेकी अपेक्षा मेरे प्रति अपनी श्रद्धा और प्रेमके कारण ही स्वीकार किया था।

यह लिखते हुए वकालतके ऐसे कई मीठे संस्मरण मेरी कलम पर आ रहे हैं। सैकड़ों आदमी मुवक्किल न रहकर मेरे मित्र बन गये थे। वे सार्वजनिक सेवामें मेरे सच्चे साथी बन गये थे और मेरे कठोर जीवनको उन्होंने रसमय बना दिया था।

४७. मुवक्किल जेलसे कैसे बचा?

इन प्रकरणोंके पाठक पारसी रुस्तमजीके नामसे भलीभाँति परिचित हैं। पारसी रुस्तमजी एक ही समयमें मेरे मुवक्किल और सार्वजनिक कामके साथी बने, अथवा उनके विषयमें तो यह भी कहा जा सकता है कि पहले वे मेरे साथी बने और बादमें मुवक्किल। मैंने उनका विश्वास इस हद तक प्राप्त कर लिया था कि अपनी निजी और घरेलू बातोंमें भी वे मेरी सलाह लेते थे और तदनुसार व्यवहार करते थे। बीमार पड़ने पर भी वे मेरी सलाहकी आवश्यकता अनुभव करते थे और हमारी रहन-सहनमें बहुत फरक होने पर भी वे अपने ऊपर मेरे बताये उपचारोंका प्रयोग करते थे।

इन साथी पर एक बार बड़ी विपत्ति आ पड़ी। अपने व्यापारकी भी बहुतसी बातें वे मुझसे किया करते थे। लेकिन एक बात उन्होंने मुझसे छिपा रखी थी। पारसी रुस्तमजी चुंगीकी चोरी किया करते थे। वे बम्बई-कलकत्तेसे जो माल मँगाते थे, उसीके सिलसिलेमें यह चोरी चलती थी। सब अधिकारियोंसे उनका अच्छा मेलजोल था, इस कारण कोई उन पर शक करता ही न था। वे जो बीजक पेश करते, उसी पर चुंगी ले ली जाती थी। ऐसे भी अधिकारी रहे होंगे, जो उनकी चोरीकी ओरसे आँखें मूँद लेते होंगे।

पर अखा भगतकी वाणी कभी मिथ्या हो सकती है? —

'काचो पारो खावो अन्न, तेवुं छे चोरीनुं धन.'*

पारसी रुस्तमजीकी चोरी पकड़ी गयी। वे दौड़े-दौड़े मेरे पास आये। आँखोंसे आँसू बह रहे थे और वे कह रहे थे: "भाई, मैंने आपसे कपट किया है। मेरा पाप आज प्रकट हो गया है। मैंने चुंगीकी चोरी की है। अब मेरे भाग्यमें तो जेल ही हो सकती है। मैं बरबाद होनेवाला हूँ। इस आफतसे आप ही मुझे बचा सकते हैं। मैंने आपसे कुछ छिपाया नहीं। पर यह सोचकर कि व्यापारकी चोरीकी बात आपसे क्या कहूँ, मैंने यह चोरी छिपायी। अब मैं पछता रहा हूँ।"

मैंने धीरज देकर कहा: "मेरी रीतिसे तो आप परिचित ही हैं। छुड़ाना न छुड़ाना खुदाके हाथ है। अपराध स्वीकार करके छुड़ाया जा सके, तो ही मैं छुड़ा सकता हूँ।"

इन भले पारसीका चेहरा उत्तर गया।

रुस्तमजी सेठ बोले: "लेकिन आपके सामने मेरा अपराध स्वीकार कर लेना क्या काफी नहीं है?"

मैंने धीरेसे जवाब दिया: "आपने अपराध तो सरकारका किया है और स्वीकार मेरे सामने करते हैं। इससे क्या होता है?"

पारसी रुस्तमजीने कहा: "अन्तमें मुझे करना तो वही है, जो आप कहेंगे। पर... मेरे पुराने वकील हैं। उनकी सलाह तो आप लेंगे न? वे मेरे मित्र भी हैं।"

जाँचसे पता चला कि चोरी लंबे समयसे चल रही थी। जो चोरी पकड़ी गयी वह तो थोड़ी ही थी। हम लोग पुराने वकीलके पास गये। उन्होंने केसकी जाँच की और कहा: "यह मामला जूरीके सामने जायगा। यहाँके जूरी हिन्दुस्तानीको क्यों छोड़ने लगे? पर मैं आशा कभी न छोड़ूँगा।"

इन वकीलसे मेरा गाढ़ परिचय नहीं था। पारसी रुस्तमजीने ही जवाब दिया: "मैं आपका आभार मानता हूँ, किन्तु इस मामलेमें मुझे मि० गांधीकी सलाहके अनुसार चलना है। वे मुझे अधिक पहचानते हैं। आप उन्हें जो सलाह देना उचित समझें, देते रहियेगा।"

इस प्रश्नको यों निबटा कर हम रुस्तमजी सेठकी दुकान पर पहुँचे।

मैंने उन्हें समझाया: "मैं इस मामलेको अदालतमें जाने लायक नहीं मानता। मुकदमा चलाना न चलाना चुंगी-अधिकारीके हाथमें है। उसे भी सरकारके मुख्य

---

* कच्चा पारा खाना और चोरीका धन खाना समान ही है।

वकीलकी सलाहके अनुसार चलना पड़ेगा। मैं दोनोंसे मिलनेको तैयार हूँ, पर मुझे तो उनके सामने उस चोरीको भी स्वीकार करना पड़ेगा, जिसे वे नहीं जानते। मैं सोचता हूँ कि जो दण्ड वे ठहरायें उसे स्वीकार कर लेना चाहिये। बहुत करके तो वे मान जायेंगे। पर कदाचित् न मानें तो आपको जेलके लिए तैयार रहना होगा। मेरा तो यह मत है कि लज्जा जेल जानेमें नहीं, बल्कि चोरी करनेमें है। लज्जाका काम तो हो चुका है। जेल जाना पड़े तो उसे प्रायश्चित्त समझिये। सच्चा प्रायश्चित्त तो भविष्यमें फिर कभी चुंगीकी चोरी न करनेकी प्रतिज्ञामें है।''

मैं नहीं कह सकता कि रुस्तमजी सेठ इन सारी बातोंको भलीभाँति समझ गये थे। वे बहादुर आदमी थे। पर इस बार हिम्मत हार गये थे। उनकी प्रतिष्ठा नष्ट होनेका समय आ गया था। और प्रश्न यह था कि कहीं उनकी अपनी मेहनतसे बनायी हुई इमारत ढह न जाये।

वे बोले, ''मैं आपसे कह चुका हूँ कि मेरा सिर आपकी गोदमें है। आपको जैसा करना हो वैसा कीजिये।''

मैंने इस मामलेमें विनयकी अपनी सारी शक्ति लगा दी। मैं अधिकारीसे मिला और सारी चोरीकी बात उससे निर्भयता-पूर्वक कह दी। सब बहीखाते दिखा देनेको कहा और पारसी रुस्तमजीके पश्चात्तापकी बात भी कही।

अधिकारीने कहा: ''मैं इस बूढ़े पारसीको चाहता हूँ। उसने मूर्खता की है। पर मेरा धर्म तो आप जानते हैं। बड़े वकील जैसा कहेंगे वैसा मुझे करना होगा। अतएव अपनी समझानेकी शक्तिका उपयोग आपको उनके सामने करना होगा।''

मैंने कहा: ''पारसी रुस्तमजीको अदालतमें घसीटने पर जोर न दिया जाये, तो मुझे संतोष हो जायेगा।''

इस अधिकारीसे अभय-दान प्राप्त करके मैंने सरकारी वकीलसे पत्रव्यवहार शुरू किया। उनसे मिला। मुझे कहना चाहिये कि मेरी सत्यप्रियता उनके ध्यानमें आ गयी। मैं उनके सामने यह सिद्ध कर सका कि मैं उनसे कुछ छिपा नहीं रहा हूँ।

इस मामलेमें या दूसरे किसी मामलेमें उनके संपर्कमें आने पर उन्होंने मुझे प्रमाण-पत्र दिया था: ''मैं देखता हूँ कि आप 'ना' में तो जवाब लेनेवाले ही नहीं हैं।''

रुस्तमजी पर मुकदमा नहीं चला। उनके द्वारा कबूल की गयी चुँगीकी चोरीके दूने रुपये लेकर मुकदमा उठा लेनेका हुक्म जारी हुआ।

रुस्तमजीने अपनी चुंगी-चोरीकी कहानी लिखकर शीशेमें मढ़वा ली और उसे अपने दफ्तरमें टाँगकर अपने वारिसों और साथी व्यापारियोंको चेतावनी दी।

रुस्तमजी सेठके व्यापारी मित्रोंने मुझे चेताया: ''यह सच्चा वैराग्य नहीं है, श्मशान-वैराग्य है।''

मैं नहीं जानता कि इसमें कितनी सचाई थी।

मैंने यह बात भी रुस्तमजी सेठसे कही थी। उनका जवाब यह था: ''आपको धोखा देकर मैं कहाँ जाऊँगा?''

१. पहला अनुभव

मेरे स्वदेश आनेके पहले जो लोग फीनिक्ससे वापस लौटनेवाले थे, वे यहाँ आ पहुँचे थे। अनुमान यह था कि मैं उनसे पहले पहुँचूँगा, लेकिन लड़ाईके कारण मुझे लंदनमें रुकना पड़ा। अतएव मेरे सामने प्रश्न यह था कि फीनिक्सवासियोंको कहाँ रखा जाय? मेरी अभिलाषा यह थी कि सब एकसाथ ही रह सकें और फीनिक्स आश्रमका जीवन बिता सकें तो अच्छा हो। मैं किसी आश्रम-संचालकसे परिचित नहीं था, जिससे साथियोंको उनके यहाँ जानेके लिए लिख सकूँ। अतएव मैंने उन्हें लिखा कि वे एण्ड्रूजसे मिलें और वे जैसी सलाह दें वैसा करें।

पहले उन्हें काँगड़ी गुरुकुलमें रखा गया, जहाँ स्वामी श्रद्धानन्दजीने उनको अपने ही बच्चोंकी तरह रखा। इसके बाद उन्हें शांतिनिकेतनमें रखा गया। वहाँ कविवरने और उनके समाजने उन्हें वैसे ही प्रेमसे नहलाया। इन दो स्थानोंमें उन्हें जो अनुभव प्राप्त हुआ, वह उनके और मेरे लिए भी बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ।

कविवर, श्रद्धानन्दजी और श्री सुशील रुद्रको मैं एण्ड्रूजकी 'त्रिमूर्ति' मानता था। दक्षिण अफ्रीकामें वे इन तीनोंकी प्रशंसा करते कभी थकते ही न थे। दक्षिण अफ्रीकाके हमारे स्नेह-सम्मेलनके अनेकानेक स्मरणोंमें यह तो मेरी आँखोंके सामने तैरा ही करता है कि इन तीन महापुरुषोंके नाम उनके हृदयमें और ओठों पर सदा बने ही रहते थे। एण्ड्रूजने मेरे फीनिक्स कुटुम्बको सुशील रुद्रके पास ही रख दिया था। रुद्रका अपना कोई आश्रम न था, केवल घर ही था। पर उस घरका कब्जा उन्होंने मेरे कुटुम्बको सौंप दिया था। उनके लड़के-लड़की एक ही दिनमें इनके साथ ऐसे घुलमिल गये थे कि ये लोग फीनिक्सकी याद बिलकुल भूल गये।

मैं बम्बईके बन्दरगाह पर उतरा तभी मुझे पता चला कि उस समय यह परिवार शान्तिनिकेतनमें था। इसलिए गोखलेसे मिलनेके बाद मैं वहाँ जानेको अधीर हो गया।

बम्बईमें सम्मान स्वीकार करते समय ही मुझे एक छोटा-सा सत्याग्रह करना पड़ा था। मेरे सम्मानमें मि० पिटीटके यहाँ एक सभा रखी गयी थी। उसमें तो मैं

गुजरातीमें जवाब देनेकी हिम्मत न कर सका। उस महलमें और आँखोंको चौंधिया देनेवाले उस ठाठबाटके बीच गिरमिटियोंकी सोहबतमें रहा हुआ मैं अपने-आपको देहाती-जैसा लगा। आजकी मेरी पोशाककी तुलनामें उस समय पहना हुआ अंगरखा, साफा आदि अपेक्षाकृत सभ्य पोशाक कही जा सकती है। फिर भी मैं उस अलंकृत समाजमें अलग ही छिटका पड़ता था। लेकिन वहाँ तो जैसे-तैसे मैंने अपना काम निबाहा और सर फीरोजशाह मेहताकी गोदमें आसरा लिया।

गुजरातियोंकी सभा तो थी ही। स्व० उत्तमलाल त्रिवेदीने इस सभाका आयोजन किया था। मैंने इस सभाके बारेमें पहलेसे कुछ बातें जान ली थीं। मि० जिन्ना भी गुजरातीके नाते इस सभामें हाजिर थे। वे सभापति थे या मुख्य वक्ता, यह मैं भूल गया हूँ। पर उन्होंने अपना छोटा और मीठा भाषण अंग्रेजीमें किया। मुझे धुँधला-सा स्मरण है कि दूसरे भाषण भी अधिकतर अंग्रेजीमें ही हुए। जब मेरे बोलनेका समय आया, तो मैंने उत्तर गुजरातीमें दिया। और गुजराती तथा हिन्दुस्तानीके प्रति अपना पक्षपात कुछ ही शब्दोंमें व्यक्त करके मैंने गुजरातियोंकी सभामें अंग्रेजीके उपयोगके विरुद्ध अपना नम्र विरोध प्रदर्शित किया। मेरे मनमें अपने इस कार्यके लिए संकोच तो था ही। मेरे मनमें यह शंका बनी रही कि लम्बी अवधिकी अनुपस्थितिके बाद विदेशसे वापस आया हुआ अनुभवहीन मनुष्य प्रचलित प्रवाहके विरुद्ध चले, इसमें अविवेक तो नहीं माना जायगा? पर मैंने गुजरातीमें उत्तर देनेकी जो हिम्मत की, उसका किसीने उलटा अर्थ नहीं लगाया और सबने मेरा विरोध सहन कर लिया। यह देखकर मुझे खुशी हुई और इस सभाके अनुभवसे मैं इस परिणाम पर पहुँचा कि अपने नये जान पड़नेवाले दूसरे विचारोंको जनताके सम्मुख रखनेमें मुझे कठिनाई नहीं पड़ेगी।

यों बम्बईमें दो-एक दिन रहकर और आरम्भिक अनुभव लेकर मैं गोखलेकी आज्ञासे पूना गया।

२. गोखलेके साथ पूनामें

मेरे बम्बई पहुँचते ही गोखलेने मुझे खबर दी थी: "गवर्नर आपसे मिलना चाहते हैं। अतएव पूना आनेके पहले उनसे मिल आना उचित होगा।" इसलिए मैं उनसे मिलने गया। साधारण बातचीतके बाद उन्होंने कहा:

"मैं आपसे एक वचन माँगता हूँ। मैं चाहता हूँ कि सरकारके बारेमें आप कोई भी कदम उठायें, उसके पहले मुझसे मिलकर बात कर लिया करें।"

मैंने जवाब दिया: "यह वचन देना मेरे लिए बहुत सरल है। क्योंकि सत्याग्रहीके नाते मेरा यह नियम ही है कि किसीके विरुद्ध कोई कदम उठाना हो, तो पहले उसका दृष्टिकोण उसीसे समझ लूँ और जिस हद तक उसके अनुकूल होना संभव हो उस हद तक अनुकूल हो जाऊँ। दक्षिण अफ्रीकामें मैंने सदा इस नियमका पालन किया है और यहाँ भी वैसा ही करनेवाला हूँ।"

लार्ड विलिंग्डनने आभार माना और कहा: "आप जब मिलना चाहेंगे, मुझसे तुरन्त मिल सकेंगे और आप देखेंगे कि सरकार जान-बूझकर कोई बुरा काम नहीं करना चाहती।"

मैंने जवाब दिया: "यह विश्वास ही तो मेरा सहारा है।"

मैं पूना पहुँचा। वहाँके सब संस्मरण देनेमें मैं असमर्थ हूँ। गोखलेने और सोसायटी (भारत-सेवक-समाज) के सदस्योंने मुझे अपने प्रेमसे नहला दिया। जहाँ तक मुझे याद है, उन्होंने सब सदस्योंको पूना बुलाया था। सबके साथ कई विषयों पर मैंने दिल खोलकर बातचीत की। गोखलेकी तीव्र इच्छा थी कि मैं भी सोसायटीमें सम्मिलित हो जाऊँ। मेरी इच्छा तो थी ही। किन्तु सोसायटीके सदस्योंको ऐसा लगा कि सोसायटीके आदर्श और काम करनेकी रीति मुझसे भिन्न हैं, इसलिए मुझे सदस्य बनना चाहिये या नहीं इस बारेमें उनके मनमें शंका थी। गोखलेका विश्वास था कि मुझमें अपने आदर्शों पर दृढ़ रहनेका जितना आग्रह है उतना ही दूसरोंके आदर्शोंको निबाह लेनेका और उनके साथ घुलमिल जानेका भी मेरा स्वभाव है। उन्होंने कहा: "हमारे सदस्य अभी आपके इस निबाह लेनेवाले स्वभावको पहचान नहीं पाये हैं। वे अपने आदर्शों पर दृढ़ रहनेवाले स्वतंत्र और दृढ़ विचारके लोग हैं। मैं आशा तो करता हूँ कि वे आपको स्वीकार कर लेंगे। पर स्वीकार न करें, तो आप कभी यह न समझना कि उन्हें आपके प्रति कम आदर या कम प्रेम है। इस प्रेमको अखंडित रखनेके लिए ही वे कोई जोखिम उठाते हुए डरते हैं। पर आप सोसायटीके विधिवत् सदस्य बनें या न बनें, मैं तो आपको सदस्य ही मानूँगा।"

मैंने अपने विचार गोखलेको बता दिये थे: "मैं सोसायटीका सदस्य बनूँ चाहे न बनूँ, तो भी मुझे एक आश्रम खोलकर उसमें फीनिक्सके साथियोंको रखना और खुद वहाँ बैठ जाना है। इस विश्वासके कारण कि गुजराती होनेसे मेरे पास गुजरातकी

सेवाके जरिये देशकी सेवा करनेकी पूँजी अधिक होनी चाहिये, मैं गुजरातमें ही कहीं स्थिर होना चाहता हूँ।'' गोखलेको ये विचार पसन्द पड़े थे, इसलिए उन्होंने कहा : ''आप अवश्य ऐसा करें। सदस्योंके साथकी बातचीतका जो भी परिणाम आये, पर यह निश्चित है कि आपको आश्रमके लिए पैसा मुझीसे लेना है। उसे मैं अपना ही आश्रम समझूँगा।''

मेरा हृदय फूल उठा। मैं यह सोचकर बहुत खुश हुआ कि मुझे पैसा उगाहनेके धन्धेसे मुक्ति मिल गयी और यह कि अब मुझे अपनी जवाबदारी पर नहीं चलना पड़ेगा, बल्कि हर परेशानीके समय मुझे रास्ता दिखानेवाला कोई होगा। इस विश्वासके कारण मुझे ऐसा लगा, मानो मेरे सिरका बड़ा बोझ उतर गया हो।

गोखलेने स्व० डॉक्टर देवको बुलाकर कह दिया : ''गांधीका खाता अपने यहाँ खोल लीजिये और इन्हें आश्रमके लिए तथा अपने सार्वजनिक कार्योंके लिए जितनी रकमकी जरूरत हो, आप देते रहिये।''

अब मैं पूना छोड़कर शान्तिनिकेतन जानेकी तैयारी कर रहा था। अंतिम रातको गोखलेने मुझे रुचनेवाली एक दावत दी और उसमें खास-खास मित्रोंको न्योता। उसमें उन्होंने जो चीजें मैं खाता था उन्हींका अर्थात् सूखे और ताजे फलोंके आहारका ही प्रबन्ध किया था। दावतकी जगह उनके कमरेसे कुछ ही कदम दूर थी, पर उसमें भी सम्मिलित होनेकी उनकी हालत न थी। लेकिन उनका प्रेम उन्हें दूर कैसे रहने देता? उन्होंने आनेका आग्रह किया। वे आये भी, पर उन्हें मूर्छा आ गयी और वापस जाना पड़ा। उनकी ऐसी हालत जब-तब हो जाया करती थी। अतएव उन्होंने सन्देशा भेजा कि दावत जारी ही रखनी है। दावतका मतलब था, सोसायटीके आश्रममें मेहमान-घरके पासवाले आँगनमें जाजम बिछाकर बैठना, मूँगफली, खजूर आदि खाना, प्रेमपूर्ण चर्चायें करना और एक-दूसरेके दिलोंको अधिक जानना।

पर गोखलेकी यह मूर्छा मेरे जीवनके लिए साधारण अनुभव बनकर रहनेवाली न थी।

“मैं आपसे एक वचन मांगता हूं। मैं चाहता हूं कि सरकारके बारेमें आप कोई भी कदम उठायें, उसके पहले मुझसे मिलकर बात कर लिया करें।”

मैंने जवाब दिया: “यह वचन देना मेरे लिए बहुत सरल है। क्योंकि सत्याग्रहीके नाते मेरा यह नियम ही है कि किसीके विरुद्ध कोई कदम उठाना हो, तो पहले उसका दृष्टिकोण उसीसे समझ लूँ और जिस हद तक उसके अनुकूल होना संभव हो उस हद तक अनुकूल हो जाऊँ। दक्षिण अफ्रीकामें मैंने सदा इस नियमका पालन किया है और यहाँ भी वैसा ही करनेवाला हूँ।”

लार्ड विलिंग्डनने आभार माना और कहा: “आप जब मिलना चाहेंगे, मुझसे तुरन्त मिल सकेंगे और आप देखेंगे कि सरकार जान-बूझकर कोई बुरा काम नहीं करना चाहती।”

मैंने जवाब दिया: “यह विश्वास ही तो मेरा सहारा है।”

मैं पूना पहुँचा। वहाँके सब संस्मरण देनेमें मैं असमर्थ हूँ। गोखलेने और सोसायटी (भारत-सेवक-समाज) के सदस्योंने मुझे अपने प्रेमसे नहला दिया। जहाँ तक मुझे याद है, उन्होंने सब सदस्योंको पूना बुलाया था। सबके साथ कई विषयों पर मैंने दिल खोलकर बातचीत की। गोखलेकी तीव्र इच्छा थी कि मैं भी सोसायटीमें सम्मिलित हो जाऊँ। मेरी इच्छा तो थी ही। किन्तु सोसायटीके सदस्योंको ऐसा लगा कि सोसायटीके आदर्श और काम करनेकी रीति मुझसे भिन्न है, इसलिए मुझे सदस्य बनना चाहिये या नहीं इस बारेमें उनके मनमें शंका थी। गोखलेका विश्वास था कि मुझमें अपने आदर्शों पर दृढ़ रहनेका जितना आग्रह है उतना ही दूसरोंके आदर्शोंको निबाह लेनेका और उनके साथ घुलमिल जानेका भी मेरा स्वभाव है। उन्होंने कहा: “हमारे सदस्य अभी आपके इस निबाह लेनेवाले स्वभावको पहचान नहीं पाये हैं। वे अपने आदर्शों पर दृढ़ रहनेवाले स्वतंत्र और दृढ़ विचारके लोग हैं। मैं आशा तो करता हूँ कि वे आपको स्वीकार कर लेंगे। पर स्वीकार न करें, तो आप कभी यह न समझना कि उन्हें आपके प्रति कम आदर या कम प्रेम है। इस प्रेमको अखंडित रखनेके लिए ही वे कोई जोखिम उठाते हुए डरते हैं। पर आप सोसायटीके विधिवत् सदस्य बनें या न बनें, मैं तो आपको सदस्य ही मानूँगा।”

मैंने अपने विचार गोखलेको बता दिये थे: “मैं सोसायटीका सदस्य बनूँ चाहे न बनूँ, तो भी मुझे एक आश्रम खोलकर उसमें फीनिक्सके साथियोंको रखना और खुद वहाँ बैठ जाना है। इस विश्वासके कारण कि गुजराती होनेसे मेरे पास गुजरातकी

सेवाके जरिये देशकी सेवा करनेकी पूँजी अधिक होनी चाहिये, मैं गुजरातमें ही कहीं स्थिर होना चाहता हूँ।'' गोखलेको ये विचार पसन्द पड़े थे, इसलिए उन्होंने कहा: ''आप अवश्य ऐसा करें। सदस्योंके साथकी बातचीतका जो भी परिणाम आये, पर यह निश्चित है कि आपको आश्रमके लिए पैसा मुझीसे लेना है। उसे मैं अपना ही आश्रम समझूँगा।''

मेरा हृदय फूल उठा। मैं यह सोचकर बहुत खुश हुआ कि मुझे पैसा उगाहनेके धन्धेसे मुक्ति मिल गयी और यह कि अब मुझे अपनी जवाबदारी पर नहीं चलना पड़ेगा, बल्कि हर परेशानीके समय मुझे रास्ता दिखानेवाला कोई होगा। इस विश्वासके कारण मुझे ऐसा लगा, मानो मेरे सिरका बड़ा बोझ उतर गया हो।

गोखलेने स्व० डॉक्टर देवको बुलाकर कह दिया: ''गांधीका खाता अपने यहाँ खोल लीजिये और इन्हें आश्रमके लिए तथा अपने सार्वजनिक कार्योंके लिए जितनी रकमकी जरूरत हो, आप देते रहिये।''

अब मैं पूना छोड़कर शान्तिनिकेतन जानेकी तैयारी कर रहा था। अंतिम रातको गोखलेने मुझे रुचनेवाली एक दावत दी और उसमें खास-खास मित्रोंको न्योता। उसमें उन्होंने जो चीजें मैं खाता था उन्हींका अर्थात् सूखे और ताजे फलोंके आहारका ही प्रबन्ध किया था। दावतकी जगह उनके कमरेसे कुछ ही कदम दूर थी, पर उसमें भी सम्मिलित होनेकी उनकी हालत न थी। लेकिन उनका प्रेम उन्हें दूर कैसे रहने देता? उन्होंने आनेका आग्रह किया। वे आये भी, पर उन्हें मूर्छा आ गयी और वापस जाना पड़ा। उनकी ऐसी हालत जब-तब हो जाया करती थी। अतएव उन्होंने सन्देशा भेजा कि दावत जारी ही रखनी है। दावतका मतलब था, सोसायटीके आश्रममें मेहमान-घरके पासवाले आँगनमें जाजम बिछाकर बैठना, मूँगफली, खजूर आदि खाना, प्रेमपूर्ण चर्चायें करना और एक-दूसरेके दिलोंको अधिक जानना।

पर गोखलेकी यह मूर्छा मेरे जीवनके लिए साधारण अनुभव बनकर रहनेवाली न थी।

३. क्या वह धमकी थी?

अपने बड़े भाईकी विधवा पत्नी और दूसरे कुटुम्बियोंसे मिलनेके लिए मुझे बम्बईसे राजकोट और पोरबन्दर जाना था। इसलिए मैं उधर गया। दक्षिण अफ्रीकामें सत्याग्रहकी लड़ाईके सिलसिलेमें मैंने अपनी पोशाक जिस हद तक गिरमिटिया मजदूरोंसे मिलती-जुलती की जा सकती थी, कर ली थी। विलायतमें भी घरमें मैं यही पोशाक पहनता था। हिन्दुस्तान आकर मुझे काठियावाड़ी पोशाक पहननी थी। दक्षिण अफ्रीकामें मैंने उसे अपने साथ रखा था। अतएव बम्बईमें मैं उसी पोशाकमें उतर सका था। इस पोशाकमें कुर्ता, अंगरखा, धोती और सफेद साफेका समावेश होता था। ये सब देशी मिलके ही कपड़ेके बने हुए थे। बम्बईसे काठियावाड़ मुझे तीसरे दर्जेमें ही जाना था। उसमें साफा और अंगरखा मुझे झंझट मालूम हुए। अतएव मैंने केवल कुर्ता, धोती और आठ-दस आनेकी काश्मीरी टोपीका उपयोग किया। ऐसी पोशाक पहननेवालेकी गिनती गरीब आदमीमें होती थी। उस समय वीरमगाम अथवा वढ़वाणमें प्लेगके कारण तीसरे दर्जेके यात्रियोंकी जाँच होती थी। मुझे थोड़ा बुखार था। जाँच करनेवाले अधिकारीने हाथ देखा, तो उसे वह गरम लगा। इसलिए उसने मुझे राजकोटमें डॉक्टरसे मिलनेका हुक्म दिया और मेरा नाम लिख लिया।

बम्बईसे किसीने तार या पत्र भेजा होगा। इसलिए वढ़वाण स्टेशन पर वहाँके प्रसिद्ध प्रजा-सेवक दर्जी मोतीलाल मुझसे मिले। उन्होंने मुझसे वीरमगामकी चुंगी-सम्बन्धी जाँच-पड़तालकी और उसके कारण होनेवाली परेशानियोंकी चर्चा की। मैं ज्वरसे पीड़ित था, इसलिए बातें करनेकी बहुत इच्छा न थी। मैंने उन्हें थोड़ेमें ही जवाब दिया:

"आप जेल जानेको तैयार हैं?"

मैंने माना था कि बिना विचारे उत्साहमें जवाब देनेवाले बहुतेरे युवकोंकी भाँति ही मोतीलाल भी होंगे। पर उन्होंने बहुत दृढ़ता-पूर्वक उत्तर दिया:

"हम जरूर जेल जायेंगे। पर आपको हमें रास्ता दिखाना होगा। काठियावाड़ीके नाते आप पर हमारा पहला अधिकार है।। इस समय तो हम आपको रोक नहीं सकते, पर लौटते समय आपको वढ़वाण उतरना होगा। यहाँके युवकोंका काम और उत्साह देखकर आप खुश होंगे। आप अपनी सेनामें जब चाहेंगे तब हमें भरती कर सकेंगे।"

मोतीलाल पर मेरी आँख टिक गयी। उनके दूसरे साथियोंने उनकी स्तुति करते हुए कहा :

"ये भाई दरजी हैं। अपने धन्धेमें कुशल हैं, इसलिए रोज एक घंटा काम करके हर महीने लगभग पन्द्रह रुपये अपने खर्चके लिए कमा लेते हैं और बाकीका सारा समय सार्वजनिक सेवामें बिताते हैं। ये हम सब पढ़ेलिखोंका मार्गदर्शन करते हैं और हमें लज्जित करते हैं।"

बादमें मैं भाई मोतीलालके सम्पर्कमें काफी आया था और मैंने अनुभव किया था कि उनकी उपर्युक्त स्तुतिमें लेशमात्र भी अतिशयोक्ति नहीं थी। जब सत्याग्रहाश्रम स्थापित हुआ, तो वे हर महीने वहाँ कुछ दिन अपनी हाजिरी दर्ज करा ही जाते थे। बालकोंको सीना सिखाते और आश्रमका सिलाईकाम भी कर जाते थे। वीरमगामकी बात तो वे मुझे रोज सुनाते रहते थे। वहाँ यात्रियोंको जिन मुसीबतोंका सामना करना पड़ता था, वे उनके लिए असह्य थीं। इन मोतीलालको भर जवानीमें बीमारी उठा ले गयी और वढ़वाण उनके बिना सूना हो गया।

राजकोट पहुँचने पर दूसरे दिन सबेरे मैं उपर्युक्त आज्ञाके अनुसार अस्पतालमें हाजिर हुआ। वहाँ तो मैं अपरिचित नहीं था। डॉक्टर शरमाये और उक्त जाँच करनेवाले अधिकारी पर गुस्सा होने लगे। मुझे गुस्सेका कोई कारण न दिखाई पड़ा। अधिकारीने अपने धर्मका पालन ही किया था। वह मुझे पहचानता नहीं था और पहचानता होता तो भी उसने जो हुक्म दिया वह देना उसका धर्म था। पर चूंकि मैं सुपरिचित था, इसलिए राजकोटमें मैं जाँच कराने जाऊँ उसके बदले लोग घर आकर मेरी जाँच करने लगे।

ऐसे मामलोंमें तीसरे दर्जेके यात्रियोंकी जाँच करना आवश्यक है। बड़े माने जानेवाले लोग भी तीसरे दर्जेमें यात्रा करें, तो उन्हें गरीबों पर लागू होनेवाले नियमोंका स्वेच्छासे पालन करना चाहिये और अधिकारियोंको पक्षपात न करना चाहिये। पर मेरा अनुभव यह है कि अधिकारी तीसरे दर्जेके यात्रियोंको आदमी समझनेके बदले जानवर-जैसा समझते हैं। 'तू' के सिवा उनके लिए दूसरा कोई संबोधन ही नहीं होता। तीसरे दर्जेका यात्री न तो सामने जवाब दे सकता है, न बहस कर सकता है। उसे इस तरह व्यवहार करना पड़ता है, मानो वह अधिकारीका नौकर हो। अधिकारी उसे मारते-पीटते हैं, उसे लूटते हैं, उसकी ट्रेन छुड़वा देते हैं, उसे टिकट देनेमें हैरान करते हैं। यह सब मैंने स्वयं अनुभव किया है। इस

वस्तुस्थितिमें सुधार तभी हो सकता है जब कुछ पढ़े-लिखे और धनिक लोग गरीबों-जैसे बनें, तीसरे दर्जेमें यात्रा करके गरीब यात्रियोंको न मिलनेवाली एक भी सुविधाका उपयोग न करें और अड़चनों, अशिष्टताओं, अन्यायों तथा बीभत्सताको चुपचाप न सहकर उनका सामना करें और उन्हें दूर करायें। काठियावाड़में मैं जहाँ-जहाँ भी घूमा वहाँ-वहाँ मैंने वीरमगामकी चुंगी-सम्बन्धी जाँचकी शिकायतें सुनीं।

अतएव मैंने लार्ड विलिंग्डनके दिये हुए निमंत्रणका तुरन्त उपयोग किया। इस सम्बन्धमें जो भी कागज-पत्र मिले, उन सबको मैं पढ़ गया। मैंने देखा कि शिकायतोंमें बहुत सचाई है। इस विषयमें मैंने बम्बई सरकारसे पत्र-व्यवहार शुरू किया। सेक्रेटरीसे मिला। लार्ड विलिंग्डनसे भी मिला। उन्होंने सहानुभूति प्रकट की, किन्तु दिल्लीकी ढीलकी शिकायत की।

सेक्रेटरीने कहा: "हमारे ही हाथकी बात होती, तो हमने यह चुंगी कभीकी उठा दी होती। आप केन्द्रीय सरकारके पास जाइये।"

मैंने केन्द्रीय सरकारसे पत्र-व्यवहार शुरू किया, पर पत्रोंकी पहुँचके अतिरिक्त कोई उत्तर न पा सका। जब मुझे लार्ड चेम्सफर्डसे मिलनेका मौका मिला तब अर्थात् लगभग दो बरसके पत्र-व्यवहारके बाद मामलेकी सुनवाई हुई। लार्ड चेम्सफर्डसे बात करने पर उन्होंने आश्चर्य प्रकट किया। उन्हें वीरमगामकी कोई जानकारी नहीं थी। उन्होंने मेरी बात ध्यान-पूर्वक सुनी और उसी समय टेलीफोन करके वीरमगामके कागज-पत्र मँगवाये और मुझे वचन दिया कि यदि आपके कथनके विरुद्ध अधिकारियोंको कोई आपत्ति नहीं हुई, तो चुंगी रद कर दी जायगी। इस मुलाकातके बाद कुछ ही दिनोंमें चुंगी उठ जानेकी खबर मैंने अखबारोंमें पढ़ी।

मैंने इस जीतको सत्याग्रहकी नींव माना, क्योंकि वीरमगामके सम्बन्धमें बातें करते हुए बम्बई सरकारके सेक्रेटरीने मुझसे कहा था कि मैंने इस विषयमें बगसरामें जो भाषण किया था, उसकी नकल उनके पास है। उसमें सत्याग्रहका जो उल्लेख किया गया था, उस पर उन्होंने अपनी अप्रसन्नता भी प्रकट की थी। उन्होंने पूछा था:

"क्या आप इसे धमकी नहीं मानते? और इस तरह कोई शक्तिशाली सरकार धमकियोंकी परवाह करती है?"

मैंने जवाब दिया:

"यह धमकी नहीं है। यह लोकशिक्षा है। लोगोंको अपने दुःख दूर करनेके सब

वास्तविक उपाय बताना मुझ-जैसोंका धर्म है। जो जनता स्वतंत्रता चाहती है, उसके पास अपनी रक्षाका अन्तिम उपाय होना चाहिये। साधारणत: ऐसे उपाय हिंसात्मक होते हैं। पर सत्याग्रह शुद्ध अहिंसक शस्त्र है। उसका उपयोग और उसकी मर्यादा बताना मैं अपना धर्म समझता हूँ। मुझे इस विषयमें सन्देह नहीं है कि अंग्रेज सरकार शक्तिशाली है। पर इस विषयमें भी मुझे कोई सन्देह नहीं कि सत्याग्रह सर्वोपरि शस्त्र है।''

चतुर सेक्रेटरीने अपना सिर हिलाया और कहा, ''ठीक है, हम देखेंगे।''

४. शांतिनिकेतन

राजकोटसे मैं शांतिनिकेतन गया। वहाँ शांतिनिकेतनके अध्यापकों और विद्यार्थियोंने मुझ पर अपना प्रेम बरसाया। स्वागतकी विधिमें सादगी, कला और प्रेमका सुन्दर मिश्रण था। वहाँ मैं काकासाहब कालेलकरसे पहले-पहल मिला।

कालेलकर 'काकासाहब' क्यों कहलाते थे, यह मैं उस समय नहीं जानता था। लेकन बादमें मालूम हुआ कि केशवराव देशपांडे, जो विलायतमें मेरे समकालीन थे और जिनके साथ विलायतमें मेरा अच्छा परिचय हो गया था, बड़ौदा राज्यमें 'गंगनाथ विद्यालय' चला रहे हैं। उनकी अनेक भावनाओंमें से एक यह भी थी कि विद्यालयमें पारिवारिक भावना होनी चाहिये। इस विचारसे वहाँ सब अध्यापकोंके नाम रखे गये थे। उनमें कालेलकरको 'काका' नाम मिला। फड़के 'मामा' बने। हरिहर शर्मा 'अण्णा' कहलाये। दूसरोंके भी यथायोग्य नाम रखे गये। काकाके साथीके रूपमें आनन्दानन्द (स्वामी) और मामाके मित्रके नाते पटवर्धन (अप्पा) आगे चलकर इस कुटुम्बमें सम्मिलित हुए। इस कुटुम्बके उपर्युक्त पाँचों सदस्य एकके बाद एक मेरे साथी बने। देशपांडे 'साहब' के नामसे पुकारे जाने लगे। साहबका विद्यालय बन्द होने पर यह कुटुम्ब बिखर गया। पर इन लोगोंने अपना आध्यात्मिक सम्बन्ध न छोड़ा। काकासाहब भिन्न-भिन्न अनुभव प्राप्त करनेमें लग गये। इसी सिलसिलेमें वे इस समय शांतिनिकेतनमें रहते थे। इसी मंडलके एक और सदस्य चिंतामण शास्त्री भी वहाँ रहते थे। ये दोनों संस्कृत सिखानेमें हिस्सा लेते थे।

शांतिनिकेतनमें मेरे मण्डलको अलगसे ठहराया था। यहाँ मगनलाल गांधी उस मंडलको संभाल रहे थे और फीनिक्स आश्रमके सब नियमोंका पालन सूक्ष्मतासे

करते-कराते थे। मैंने देखा कि उन्होंने अपने प्रेम, ज्ञान और उद्योगके कारण शांतिनिकेतनमें अपनी सुगन्ध फैला दी थी। एण्ड्रूझ तो यहाँ थे ही। पियर्सन थे। जगदानन्दबाबू, नेपालबाबू, संतोषबाबू, क्षितिमोहनबाबू, नगेनबाबू, शरदबाबू और कालीबाबूके साथ हमारा खासा सम्पर्क रहा। अपने स्वभावके अनुसार मैं विद्यार्थियों और शिक्षकोंमें घुलमिल गया, और स्वपरिश्रमके विषयमें चर्चा करने लगा। मैंने वहाँके शिक्षकोंके सामने यह बात रखी कि वैतनिक रसोइयोंके बदले शिक्षक और विद्यार्थी अपनी रसोई स्वयं बना लें तो अच्छा हो। ऐसा करनेसे आरोग्य और नीतिकी दृष्टिसे रसोईघर पर शिक्षक-समाजका प्रभुत्व स्थापित होगा और विद्यार्थी स्वावलम्बन तथा स्वयंपाकका पदार्थ-पाठ सीखेंगे। एक-दो शिक्षकोंने सिर हिलाकर असहमति प्रकट की। कुछ लोगोंको यह प्रयोग बहुत अच्छा लगा। नई चीज, फिर वह कैसी भी क्यों न हो, बालकोंको तो अच्छी लगती ही है। इस न्यायसे यह चीज भी उन्हें अच्छी लगी और प्रयोग शुरू हुआ। जब कविश्रीके सामने यह चीज रखी गयी, तो उन्होंने अपनी यह सम्मति दी कि यदि शिक्षक अनुकूल हों, तो स्वयं उन्हें यह प्रयोग अवश्य पसंद होगा। उन्होंने विद्यार्थियोंसे कहा, ''इसमें स्वराज्यकी चाबी मौजूद है।''

पियर्सनने प्रयोगको सफल बनानेमें अपने-आपको खपा दिया। उन्हें यह बहुत अच्छा लगा। एक मण्डली साग काटनेवालोंकी बनी, दूसरी अनाज साफ करनेवालोंकी। रसोईघरके आसपास शास्त्रीय ढंगसे सफाई रखनेके काममें नगेनबाबू आदि जुट गये। उन लोगोंको कुदालीसे काम करते देखकर मेरा हृदय नाच उठा।

लेकिन मेहनतके इस कामको सवा सौ विद्यार्थी और शिक्षक भी एकाएक नहीं अपना सकते थे। अतएव रोज चर्चायें चलती थीं। कुछ लोग थक जाते थे। परन्तु पियर्सन क्यों थकने लगे? वे हँसते चेहरेसे रसोईघरके किसी-न-किसी काममें जुटे ही रहते थे। बड़े-बड़े बरतन माँजना उन्हींका काम था। बरतन माँजनेवाली टुकड़ीकी थकान उतारनेके लिए कुछ विद्यार्थी वहाँ सितार बजाते थे। विद्यार्थियोंने प्रत्येक कामको पर्याप्त उत्साहसे अपना लिया और समूचा शांतिनिकेतन मधुमक्खियोंके छत्तेकी भाँति गूँजने लगा।

इस प्रकारके फेरफार जब एक बार शुरू हो जाते हैं, तो फिर वे रुक नहीं पाते। फीनिक्सका रसोईघर स्वावलम्बी बन गया था, यही नहीं बल्कि उसमें रसोई भी बहुत सादी बनती थी। मसालोंका त्याग किया गया था। अतएव भात, दाल, साग तथा

गेहूँके पदार्थ भी भापके द्वारा पका लिये जाते थे। बंगाली खुराकमें सुधार करनेके विचारसे उस प्रकारका एक रसोईघर शुरू किया था। उसमें एक-दो अध्यापक और कुछ विद्यार्थी सम्मिलित हुए थे। ऐसे ही प्रयोगोंमें से सर्वसाधारण रसोईघरको स्वावलम्बी बनानेका प्रयोग शुरू किया जा सका था।

पर आखिर कुछ कारणोंसे यह प्रयोग बन्द हो गया। मेरा विश्वास यह है कि इस जगद्-विख्यात संस्थाने थोड़े समयके लिए भी इस प्रयोगको अपनाकर कुछ खोया नहीं और उससे प्राप्त अनेक अनुभव उसके लिए उपयोगी सिद्ध हुए थे।

मेरा विचार शांतिनिकेतनमें कुछ समय रहनेका था। किन्तु विधाता मुझे जबरदस्ती घसीटकर ले गया। मैं मुश्किलसे वहाँ एक हफ्ता रहा होऊँगा कि इतनेमें गोखलेके अवसानका तार मिला। शांतिनिकेतन शोकमें डूब गया। सब मेरे पास समवेदना प्रकट करने आये। मन्दिरमें विशेष सभा की गयी। यह गंभीर दृश्य अपूर्व था। मैं उसी दिन पूनाके लिए रवाना हुआ। पत्नी और मगनलाल गांधीको मैंने अपने साथ लिया, बाकी सब शांतिनिकेतनमें रहे।

बर्दवान तक एण्डूझ मेरे साथ आये थे। उन्होंने मुझसे पूछा, "क्या आपको ऐसा लगता है कि हिन्दुस्तानमें आपके लिए सत्याग्रह करनेका अवसर आयेगा? और अगर ऐसा लगता हो तो कब आयेगा, इसकी कोई कल्पना आपको है?"

मैंने जवाब दिया, "इसका उत्तर देना कठिन है। अभी एक वर्ष तक तो मुझे कुछ करना ही नहीं है। गोखलेने मुझसे प्रतिज्ञा करवायी है कि मुझे एक वर्ष तक देशमें भ्रमण करना है, किसी सार्वजनिक प्रश्न पर अपना विचार न तो बनाना है, न प्रकट करना है। मैं इस प्रतिज्ञाका अक्षरशः पालन करूँगा। बादमें भी मुझे किसी प्रश्न पर कुछ कहनेकी जरूरत होगी तभी मैं कहूँगा। इसलिए मैं नहीं समझता कि पाँच वर्ष तक सत्याग्रह करनेका कोई अवसर आयेगा।"

यहाँ यह कहना अप्रस्तुत न होगा कि 'हिन्द स्वराज' में मैंने जो विचार व्यक्त किये हैं, गोखले उनका मजाक उड़ाते थे और कहते थे, "आप एक वर्ष हिन्दुस्तानमें रहकर देखेंगे, तो आपके विचार अपने-आप ठिकाने आ जायेंगे।"

९. तीसरे दर्जेकी विडम्बना

बर्दवान पहुँचकर हमें तीसरे दर्जेका टिकट लेना था। उसे लेनेमें परेशानी हुई। जवाब मिला : "तीसरे दर्जेके यात्रीको टिकट पहलेसे नहीं दिया जाता।" मैं स्टेशन-मास्टरसे मिलने गया। उनके पास मुझे कौन जाने देता? किसीने दया करके स्टेशन-मास्टरको दिखा दिया। मैं वहाँ पहुँचा। उनसे भी उपर्युक्त उत्तर ही मिला। खिड़की खुलने पर टिकट लेने गया। पर टिकट आसानीसे मिलनेवाला न था। बलवान यात्री एकके बाद एक घुसते जाते और मुझ-जैसोंको पीछे हटाते जाते। आखिर टिकट मिला।

गाड़ी आयी। उसमें भी जो बलवान थे वे घुस गये। बैठे हुओं और चढ़नेवालोंके बीच गाली-गलौज और धक्का-मुक्की शुरू हुई। इसमें हिस्सा लेना मेरे लिए संभव न था। हम तीनों इधरसे उधर चक्कर काटते रहे। सब ओरसे एक ही जवाब मिलता था : "यहाँ जगह नहीं है।" मैं गार्डके पास गया। उसने कहा, "जगह मिले तो बैठो, नहीं तो दूसरी ट्रेनमें जाना।"

मैंने नम्रता-पूर्वक कहा, "लेकिन मुझे जरूरी काम है।" यह सुननेके लिए गार्डके पास समय नहीं था। मैं हारा। मगनलालसे कहा, "जहाँ जगह मिले, बैठ जाओ।" पत्नीको लेकर मैं तीसरे दर्जेके टिकटसे ड्योढे दर्जेमें घुसा। गार्डने मुझे उसमें जाते देख लिया था।

आसनसोल स्टेशन पर गार्ड ज्यादा किरायेके पैसे लेने आया। मैंने कहा, "मुझे जगह बताना आपका धर्म था। जगह न मिलनेके कारण मैं इसमें बैठा हूँ। आप मुझे तीसरे दर्जेमें जगह दिलाइये। मैं उसमें जानेको तैयार हूँ।"

गार्डसाहब बोले, "मुझसे बहस मत कीजिये। मेरे पास जगह नहीं है। पैसै न देने हों, तो गाड़ीसे उतरना पड़ेगा।"

मुझे तो किसी भी तरह पूना पहुँचना था। गार्डसे लड़नेकी मेरी हिम्मत नहीं थी। मैंने पैसे चुका दिये। उसने ठेठ पूना तकका ड्योढ़ा भाड़ा लिया। यह अन्याय मुझे अखर गया।

सबेरे मुगलसराय स्टेशन आया। मगनलालने तीसरे दर्जेमें जगह कर ली थी। मुगलसरायमें मैं तीसरे दर्जेमें गया। टिकट कलेक्टरको मैंने वस्तुस्थितिकी जानकारी दी और उससे इस बातका प्रमाण-पत्र माँगा कि मैं तीसरे दर्जेमें चला आया हूँ।

उसने देनेसे इनकार किया। मैंने अधिक किराया वापस प्राप्त करनेके लिए रेलवेके उच्च अधिकारीको पत्र लिखा।

उनकी ओरसे इस आशयका उत्तर मिला : "प्रमाण-पत्रके बिना अति किराया लौटानेका हमारे यहाँ रिवाज नहीं है। पर आपके मामलेमें हम लौटाये दे रहे हैं। बर्दवानसे मुगलसराय तकका ड्योढ़ा किराया वापस नहीं किया जा सकता।"

इसके बाद तीसरे दर्जेकी यात्राके मेरे अनुभव तो इतने हैं कि उनकी एक पुस्तक बन जाय। पर उनमें से कुछकी प्रासंगिक चर्चा करनेके सिवा इन प्रकरणोंमें उनका समावेश नहीं हो सकता। शारीरिक असमर्थताके कारण तीसरे दर्जेकी मेरी यात्रा बन्द हो गयी। यह बात मुझे सदा खटकी है और आगे भी खटकती रहेगी। तीसरे दर्जेकी यात्रामें अधिकारियोंकी मनमानीसे उत्पन्न होनेवाली विडम्बना तो रहती ही है। पर तीसरे दर्जेमें बैठनेवाले कई यात्रियोंका उजड्डपन, उनकी गंदगी, उनकी स्वार्थबुद्धि और उनका अज्ञान भी कुछ कम नहीं होता। दुःख तो यह है कि अकसर यात्री यह जानते ही नहीं है कि वे अशिष्टता कर रहे हैं। वे जो करते हैं, वह उन्हें स्वाभाविक मालूम होता है। हम सभ्य और पढ़े-लिखे लोगोंने उनकी कभी चिन्ता ही नहीं की।

थके-माँदे हम कल्याण जंकशन पहुँचे। नहानेकी तैयारी की। मगनलालने और मैंने स्टेशनके नलसे पानी लेकर स्नान किया। पत्नीके लिए कुछ तजवीज कर रहा था कि इतनेमें भारत-सेवक-समाजके भाई कौलने हमें पहचान लिया। वे भी पूना जा रहे थे। उन्होंने पत्नीको दूसरे दर्जेके स्नानघरमें स्नान करानेके लिए ले जानेकी बात कही। इस सौजन्यको स्वीकार करनेमें मुझे संकोच हुआ। पत्नीको दूसरे दर्जेके स्नानघरका उपयोग करनेका अधिकार नहीं था, इसे मैं जानता था। पर मैंने उसे इस स्नानघरमें नहाने देनेके अनौचित्यके प्रति आँखें मूँद लीं। सत्यके पुजारीको यह भी शोभा नहीं देता। पत्नीका वहाँ जानेका कोई आग्रह नहीं था, पर पतिके मोहरूपी सुवर्णपात्रने सत्यको ढाँक लिया।

६. मेरा प्रयत्न

पूना पहुँचने पर गोखलेकी उत्तरक्रिया आदि सम्पन्न करके हम सब इस प्रश्नकी चर्चामें लग गये कि अब सोसायटी किस तरह चलायी जाय और मुझे उसमें सम्मिलित होना चाहिये या नहीं। मुझ पर भारी बोझ आ पड़ा। गोखलेके जीते-जी मेरे लिए सोसायटीमें दाखिल होनेका प्रयत्न करना आवश्यक न था। मुझे केवल गोखलेकी आज्ञा और इच्छाके वश होना था। यह स्थिति मुझे पसन्द थी। भारतवर्षके तूफानी समुद्रमें कूदते समय मुझे एक कर्णधारकी आवश्यकता थी और गोखलेके समान कर्णधारकी छायामें मैं सुरक्षित था।

अब मैंने अनुभव किया कि मुझे सोसायटीमें भरती होनेके लिए सतत प्रयत्न करना चाहिये। मुझे यह लगा कि गोखलेकी आत्मा यही चाहेगी। मैंने बिना संकोचके और दृढ़ता-पूर्वक यह प्रयत्न शुरू किया। इस समय सोसायटीके लगभग सभी सदस्य पूनामें उपस्थित थे। मैंने उन्हें मनाना और मेरे विषयमें उन्हें जो डर था उसे दूर करना शुरू किया। किन्तु मैंने देखा कि सदस्योंमें मतभेद था। एक राय मुझे दाखिल करनेके पक्षमें थी, दूसरी दृढ़ता-पूर्वक मेरे प्रवेशका विरोध करती थी। मैं अपने प्रति दोनों पक्षोंके प्रेमको देख सकता था। पर मेरे प्रति प्रेमकी अपेक्षा सोसायटीके प्रति उनकी वफादारी कदाचित् अधिक थी; प्रेमसे कम तो थी ही नहीं।

इस कारण हमारी चर्चा मीठी थी और केवल सिद्धांतका अनुसरण करनेवाली थी। विरुद्ध पक्षवालोंको यही लगा कि अनके विषयोंमें मेरे और उनके विचारोंके बीच उत्तर-दक्षिणका अन्तर था। इससे भी अधिक उन्हें यह लगा कि जिन ध्येयोंको ध्यानमें रखकर गोखलेने सोसायटीकी रचना की थी, मेरे सोसायटीमें रहनेसे उन ध्येयोंके ही खतरेमें पड़ जानेकी पूरी संभावना थी। स्वभावतः यह उन्हें असह्य प्रतीत हुआ।

लम्बी चर्चाके बाद हम एक-दूसरेसे अलग हुए। सदस्योंने अंतिम निर्णयकी बात दूसरी सभा तक उठा रखी।

घर लौटते हुए मैं विचारोंके भँवरमें पड़ गया। बहुमतसे दाखिल होनेका प्रसंग आने पर क्या वैसा करना मेरे लिए इष्ट होगा। क्या वह गोखलेके प्रति मेरी वफादारी मानी जायगी? अगर मेरे विरुद्ध मत प्रकट हो, तो क्या उस दशामें मैं सोसायटीकी स्थितिको नाजुक बनानेका निमित्त न बनूँगा? मैंने स्पष्ट देखा कि जब तक सोसायटीके सदस्योंमें मुझे दाखिल करनेके बारेमें मतभेद रहे, तब तक स्वयं मुझीको

दाखिल होनेका आग्रह छोड़ देना चाहिये और इस प्रकार विरोधी पक्षको नाजुक स्थितिमें पड़नेसे बचा लेना चाहिये। उसीमें सोसायटी और गोखलेके प्रति मेरी वफ़ादारी थी। ज्यों ही मेरी अन्तरात्मामें इस निर्णयका उदय हुआ, त्यों ही मैंने श्री शास्त्रीको पत्र लिखा कि वे मेरे प्रवेशके विषयमें सभा बुलायें ही नहीं। विरोध करनेवालोंको मेरा यह निश्चय बहुत पसन्द आया। वे धर्म-संकटसे बच गये। उनके और मेरे बीचकी स्नेहगाँठ अधिक दृढ़ हो गयी और सोसायटीमें प्रवेश पानेकी अपनी अर्जीको वापस लेकर मैं सोसायटीका सच्चा सदस्य बना।

अनुभवसे मैं देखता हूँ कि मेरा प्रथाके अनुसार सोसायटीका सदस्य न बनना ही उचित था; और जिन सदस्योंने मेरे प्रवेशका विरोध किया था, उनका विरोध वास्तविक था। अनुभवने यह सिद्ध कर दिया है कि उनके और मेरे सिद्धान्तोंके बीच भेद था। किन्तु मतभेदको जान चुकने पर भी हमारे बीच आत्माका अन्तर कभी नहीं पड़ा, खटाई कभी पैदा न हुई। मतभेदके रहते भी हम परस्पर बंधु और मित्र रहे हैं। सोसायटीका स्थान मेरे लिए यात्राका धाम रहा है। लौकिक दृष्टिसे मैं भले ही उसका सदस्य नहीं बना, पर आध्यात्मिक दृष्टिसे तो मैं उसका सदस्य रहा ही हूँ। लौकिक संबंधकी अपेक्षा आध्यात्मिक संबंध अधिक मूल्यवान है। आध्यात्मिक संबंधसे रहित लौकिक संबंध प्राणहीन देहके समान है।

७. कुम्भमेला

मुझे डॉ॰ प्राणजीवनदास मेहतासे मिलने रंगून जाना था। वहाँ जाते हुए श्री भूपेन्द्रनाथ बसुका निमंत्रण पाकर मैं कलकत्तामें उनके घर ठहरा था। यहां बंगाली शिष्टाचारकी पराकाष्ठा हो गयी थी। उन दिनों मैं फलाहार ही करता था। मेरे साथ मेरा लड़का रामदास था। कलकत्तेमें जितने प्रकारका सूखा और हरा मेवा मिला, उतना सब इकट्ठा किया गया था। स्त्रियोंने रातभर जागकर पिस्तों वगैराको भिगोकर उनके छिलके उतारे थे। ताजे फल भी जितनी सुघड़तासे सजाये जा सकते हैं; सजाये गये थे। मेरे साथियोंके लिए अनेक प्रकारके पकवान तैयार किये गये थे। मैं इस प्रेम और शिष्टाचारको तो समझा, लेकिन एक-दो मेहमानोंके लिए समूचे परिवारका सारे दिन व्यस्त रहना मुझे असह्य प्रतीत हुआ। परन्तु इस मुसीबतसे बचनेका मेरे पास कोई इलाज न था।

रंगून जाते समय स्टीमरमें मैं डेकका यात्री था। यदि श्री बसुके यहाँ प्रेमकी मुसीबत थी, तो स्टीमरमें अप्रेमकी मुसीबत थी। डेकके यात्रीके कष्टोंका मैंने बुरी तरह अनुभव किया। नहानेकी जगह तो इतनी गंदी थी कि वहाँ खड़ा रहना भी कठिन था। पाखाने नरकके कुण्ड बने हुए थे। मल-मूत्रादिमें से चलकर या उन्हें लाँघकर पाखानेमें जाना होता था! मेरे लिए ये असुविधायें भयंकर थीं। मैं जहाजके अधिकारीके पास पहुँचा, पर कौन सुनता है? यात्रियोंने अपनी गंदगीसे डेकको गंदा कर डाला था। वे जहाँ बैठे होते वहीं थूँक देते, वहीं सुरतीके पीककी पिचकारियाँ चलाते और वहीं खाने-पीनेके बाद बचा हुआ कचरा डालते थे। बातचीतसे होनेवाले कोलाहलकी कोई सीमा न थी। सब कोई अपने लिए अधिक-से-अधिक जगह घेरनेकी कोशिश करते थे। कोई किसीकी सुविधाका विचार तक न करता था। वे स्वयं जितनी जगह घेरते थे, सामान उससे अधिक जगह घेर लेता था। ये दो दिन बड़ी घबराहटमें बीते।

रंगून पहुँचने पर मैंने एजेण्टको सारा हाल लिख भेजा। लौटते समय भी मैं डेक पर ही आया। पर इस पत्रके और डॉ० मेहताके प्रबंधके फलस्वरूप अपेक्षाकृत अधिक सुविधासे आया।

मेरे फलाहारकी झंझट तो यहाँ भी अपेक्षाकृत अधिक ही रहती थी। डॉ० मेहताके साथ ऐसा संबंध था कि उनके घरको मैं अपना ही घर समझ सकता था। इससे मैंने पदार्थों पर तो अंकुश रख लिया था, लेकिन उनकी कोई मर्यादा निश्चित नहीं की थी। इस कारण तरह-तरहका जो मेवा आता, उसका मैं विरोध न करता था। नाना प्रकारकी वस्तुएँ आँखों और जीभको रुचिकर लगती थीं। खानेका कोई निश्चित समय नहीं था। मैं स्वयं जल्दी खा लेना पसन्द करता था, इसलिए बहुत देर तो नहीं होती थी। फिर भी रातके आठ-नौ तो सहज ही बज जाते थे।

सन् १९१५में हरद्वारमें कुम्भका मेला था। उसमें जानेकी मेरी कोई खास इच्छा नहीं थी। लेकिन मुझे महात्मा मुंशीरामजीके दर्शनोंके लिए जरूर जाना था। कुम्भके अवसर पर गोखलेके भारत-सेवक-समाजने एक बड़ी टुकड़ी भेजी थी। उसका प्रबंध श्री हृदयनाथ कुंजरूके जिम्मे था। स्व० डॉक्टर देव भी उसमें थे। उनका यह प्रस्ताव था कि इस काममें मदद करनेके लिए मैं अपनी टुकड़ी भी ले जाऊँ। शांतिनिकेतनवाली टुकड़ीको लेकर मगनलाल गांधी मुझसे पहले हरद्वार पहुँच गये थे। रंगूनसे लौटकर मैं भी उनसे जा मिला।

कलकत्तेसे हरद्वार पहुँचनेमें खूब परेशानी उठानी पड़ी। गाड़ीके डिब्बोंमें कभी कभी रोशनी तक नहीं होती थी। सहारनपुरसे तो यात्रिकोंको मालके या जानवरोंके डिब्बोंमे ही ठूँस दिया गया था। खुले, बिना छतवाले डिब्बों पर दोपहरका सूरज तपता था। नीचे निरे लोहका फर्श था। फिर घबराहटका क्या पूछना। इतने पर भी श्रद्धालु हिन्दू अत्यन्त प्यासे होने पर भी 'मुसलमान-पानी' के आने पर उसे कभी न पीते थे। 'हिन्दू-पानी' की आवाज आती तभी वे पानी पीते। इन्हीं श्रद्धालु हिन्दुओंको डॉक्टर दवामें शराब दे, मांसका सत दे अथवा मुसलमान या ईसाई कम्पाउन्डर पानी दे, तो उसे लेनेमें इन्हें संकोच नहीं होता और न पूछताछ करनेकी जरूरत होती है।

हमने शांतिनिकेतनमें ही देख लिया था कि भंगीका काम करना हिन्दुस्तानमें हमारा खास धंधा ही बन जायेगा। स्वयंसेवकोंके लिए किसी धर्मशालामें तम्बू लगाये गये थे। पाखानेके लिए डॉ॰ देवने गड्ढे खुदवाये थे। पर उन गड्ढोंकी सफाईका प्रबंध तो ऐसे अवसर पर जो थोड़ेसे वैतनिक भंगी मिल सकते थे उन्हींके द्वारा वे करा सकते थे न? इन गड्ढोंमें जमा होनेवाले पाखानेको समय-समय पर ढँकने और दूसरी तरहसे उन्हें साफ रखनेका काम फीनिक्सकी टुकड़ी कर देनेकी मेरी माँगको डॉ. देवने खुशी-खुशी स्वीकार कर लिया। इस सेवाकी माँग तो मैंने की, लेकिन इसे करनेका बोझ मगनलाल गांधीने उठाया। मेरा धंधा अधिकतर डेरेके अन्दर बैठकर लोगोंको 'दर्शन' देनेका और आनेवाले अनेक यात्रियोंके साथ धर्मकी या ऐसी ही दूसरी चर्चायें करनेका बन गया। मैं दर्शन देते-देते अकुला उठा। मुझे उससे एक मिनटकी भी फुरसत न मिलती थी। नहाने जाते समय भी दर्शनाभिलाषी मुझे अकेला न छोड़ते थे। फलाहारके समय तो एकान्त होता ही कैसे। अपने तम्बूके किसी भी हिस्सेमें मैं एक क्षणके लिए भी अकेला बैठ नहीं पाया। दक्षिण अफ्रीकामें जो थोड़ी-बहुत सेवा मुझसे बन पड़ी थी, उसका कितना गहरा प्रभाव सारे भरतखण्ड पर पड़ा है, इसका अनुभव मैंने हरद्वारमें किया।

मैं तो चक्कीके पाटोंके बीच पिसने लगा। जहाँ प्रकट न होता वहाँ तीसरे दर्जेके यात्रीके नाते कष्ट उठाता और जहाँ ठहरता वहाँ दर्शनार्थियोंके प्रेमसे अकुला उठता। मेरे लिए यह कहना प्रायः कठिन हो गया है कि इन दोमें से कौनसी स्थिति अधिक दयाजनक थी। दर्शनार्थियोंके प्रेम-प्रदर्शनसे मुझे बहुत बार गुस्सा आया है, और मनमें तो उससे भी अधिक बार मैं दुःखी हुआ हूँ, इतना मैं जानता हूँ। तीसरे दर्जेकी

कठिनाइयोंसे मुझे असुविधा हुई है, पर क्रोध शायद ही कभी आया है, और उससे मेरी उन्नति ही हुई है।

उन दिनों मुझमें घूमने-फिरनेकी काफी शक्ति थी। इससे मैं काफी भ्रमण कर सका था। उस समय मैं इतना प्रसिद्ध नहीं हुआ था कि रास्तों पर चलना भी मुश्किलसे संभव हो। इस भ्रमणमें मैंने लोगोंकी धर्म-भावनाकी अपेक्षा उनका पागलपन, उनकी चंचलता, उनका पाखण्ड और उनकी अव्यवस्था ही अधिक देखी। साधुओंका तो जमघट ही इकट्ठा हो गया था। ऐसा प्रतीत हुआ मानो वे सिर्फ मालपुए और खीर खानेके लिए ही जन्मे हों। यहाँ मैंने पाँच पैरोंवाली एक गाय देखी। मुझे तो आश्चर्य हुआ, किन्तु अनुभवी लोगोंने मेरा अज्ञान तुरन्त दूर कर दिया। पाँच पैरोंवाली गाय दुष्ट और लोभी लोगोंके लोभकी बलिरूप थी। गायके कंधेको चीरकर उसमें जिन्दे बछड़ेका काटा हुआ पैर फँसाकर कंधेको सी दिया जाता था और इस दोहरे कसाईपनका उपयोग अज्ञानी लोगोंको ठगनेमें किया जाता था। पाँच पैरोंवाली गायके दर्शनके लिए कौन हिन्दू न ललचायेगा? उस दर्शनके लिए वह जितना दान दे उतना कम है।

कुम्भका दिन आया। मेरे लिए वह धन्य घड़ी थी। मैं यात्राकी भावनासे हरद्वार नहीं गया था। तीर्थक्षेत्रमें पवित्रताकी शोधमें भटकनेका मोह मुझे कभी नहीं रहा। किन्तु १७ लाख लोग पाखण्डी नहीं हो सकते थे। कहा गया था कि मेलेमें १७ लाख लोग आये होंगे। इनमें असंख्य लोग पुण्य कमानेके लिए, शुद्धि प्राप्त करनेके लिए आये थे, इसमें मुझे कोई शंका न थी। यह कहना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है कि इस प्रकारकी श्रद्धा आत्माको किस हद तक ऊपर उठाती होगी।

मैं बिछौने पर पड़ा-पड़ा विचार-सागरमें डूब गया। चारों ओर फैले हुए पाखण्डके बीच ये पवित्र आत्मायें भी हैं। ये ईश्वरके दरबारमें दण्डनीय नहीं मानी जायेंगी। यदि ऐसे अवसर पर हरद्वारमें आना ही पाप हो, तो मुझे सार्वजनिक रूपसे उसका विरोध करके कुम्भके दिन तो हरद्वारका त्याग ही करना चाहिये। यदि यहाँ आनेमें और कुम्भके दिन रहनेमें पाप न हों, तो मुझे कोई-न-कोई कठोर व्रत लेकर प्रचलित पापका प्रायश्चित्त करना चाहिये, आत्मशुद्धि करनी चाहिये। मेरा जीवन व्रतोंकी नींव पर रचा हुआ है। इसलिए मैंने कोई कठिन व्रत लेनेका निश्चय किया। मुझे उस अनावश्यक परिश्रमकी याद आयी, जो कलकत्ते और रंगूनमें यजमानोंको मेरे लिए उठाना पड़ा था। इसलिए मैंने आहारकी वस्तुओंकी मर्यादा बाँधने और अंधेरेसे पहले

भोजन करनेका व्रत लेनेका निश्चय किया। मैंने देखा कि यदि मैं मर्यादाकी रक्षा नहीं करता हूँ, तो यजमानोंके लिए मैं भारी असुविधाका कारण बन जाऊँगा और सेवा करनेके बदले हर जगह लोगोंको मेरी सेवामें ही उलझाये रहूँगा। अतएव चौबीस घंटोंमें पाँच चीजोंसे अधिक कुछ न खानेका और रात्रि-भोजनके त्यागका व्रत तो मैंने ले ही लिया। दोनोंकी कठिनाईका पूरा विचार कर लिया। मैंने इन व्रतोंमें एक भी गली न रखनेका निश्चय किया। बीमारीमें दवाके रूपमें बहुतसी चीजें लेना या न लेना, दवाकी गिनती खानेकी वस्तुओंमे करना या न करना, इन सब बातोंको सोच लिया और निश्चय किया कि खानेके कोई भी पदार्थ मैं पाँचसे अधिक न लूँगा। इन दो व्रतोंको लिये अब तेरह वर्ष हो चुके हैं। इन्होंने मेरी काफी परीक्षा की है। किन्तु जिस प्रकार परीक्षा की है, उसी प्रकार ये व्रत मेरे लिए काफी ढालरूप भी सिद्ध हुए हैं। मेरा यह मत है कि इन व्रतोंके कारण मेरा जीवन बढ़ा है; और मैं मानता हूँ कि इनकी वजहसे मैं अनेक बार बीमारियोंसे बच गया हूँ।

८. लछमन झूला

जब मैं पहाड़-से दीखनेवाले महात्मा मुंशीरामजीके दर्शन करने और उनका गुरुकुल देखने गया, तो मुझे वहाँ बड़ी शान्ति मिली। हरद्वारके कोलाहल और गुरुगुलकी शान्तिके बीचका भेद स्पष्ट दिखायी देता था। महात्माने मुझे अपने प्रेमसे नहला दिया। ब्रह्मचारी मेरे पाससे हटते ही न थे। रामदेवजीसे भी उसी मुलाकात हुई और उनकी शक्तिका परिचय मैं तुरन्त पा गया। यद्यपि हमें अपने बीच कुछ मतभेदका अनुभव हुआ, फिर भी हम परस्पर स्नेहकी गाँठसे बँध गये। गुरुकुलमें औद्योगिक शिक्षा शुरू करनेकी आवश्यकताके बारेमें रामदेवजी और दूसरे शिक्षकोंके साथ मैंने काफी चर्चा की। मुझे गुरुकुल छोड़ते हुए दुःख हुआ।

मैंने लछमन झूलेकी तारीफ बहुत सुनी थी। बहुतोंने मुझे सलाह दी थी कि हृषीकेश गये बिना मैं हरद्वार न छोड़ूँ। मुझे वहाँ पैदल जाना था। इसलिए एक मंजिल हृषीकेशकी और दूसरी लछमन झूलेकी थी।

हृषीकेशमें अनेक संन्यासी मुझसे मिलने आये थे। उनमें से एकको मेरे जीवनमें बड़ी दिलचस्पी पैदा हुई। फीनिक्स-मण्डल मेरे साथ था। उन सबको देखकर उन्होंने अनेक प्रश्न पूछे। हमारे बीच धर्मकी चर्चा हुई। उन्होंने देखा कि मुझमें धर्मकी तीव्र

भावना है। मैं गंगा-स्नान करके आया था, इसलिए शरीर खुला था। मेरे सिर पर शिखा और जनेऊ न देखकर उन्हें दुःख हुआ और उन्होंने मुझसे कहा :

''आप आस्तिक होते हुए भी जनेऊ और शिखा नहीं रखते हैं, इससे हमारे समान लोगोंको दुःख होता है। ये दो हिन्दू धर्मकी बाह्य संज्ञायें हैं और प्रत्येक हिन्दूको इन्हें धारण करना चाहिये।''

लगभग दस सालकी उमरमें पोरबन्दरमें ब्राह्मणोंके जनेऊमें बँधी हुई चाबियोंकी झंकार सुनकर मुझे उनसे ईर्ष्या होती थी। मैं सोचा करता था कि झंकार करनेवाली कुंजियाँ जनेऊमें बाँधकर मैं भी घूमूँ तो कितना अच्छा हो! उन दिनों काठियावाड़के वैश्य परिवारोंमें जनेऊ पहननेका रिवाज नहीं था। पर पहले तीन वर्णोंको जनेऊ पहनना चाहियें, इस आशयका नया प्रचार चल रहा था। उसके फलस्वरूप गांधी-कुटुम्बके कुछ व्यक्ति जनेऊ पहनने लगे थे। जो ब्राह्मण हम दो-तीन भाइयोंको रामरक्षाका पाठ सिखाते थे, उन्होंने हमें जनेऊ पहनाया और अपने पास कुंजी रखनेका कोई कारण न होते हुए भी मैंने दो-तीन कुंजियाँ उसमें लटका लीं। जनेऊके टूट जाने पर उसका मोह उतर गया था या नहीं, सो तो याद नहीं है। पर मैंने नया जनेऊ नहीं पहना।

बड़ी उमर होने पर हिन्दुस्तान और दक्षिण अफ्रीकामें भी दूसरोंने मुझे जनेऊ पहनानेका प्रयत्न किया था, पर मेरे ऊपर उनकी दलीलोंका कोई असर न हुआ था। यदि शूद्र जनेऊ न पहन सकें, तो दूसरे वर्ण क्यों पहनें? जिस बाह्य वस्तुकी प्रथा हमारे कुटुम्बमें नहीं थी, उसे आरंभ करनेका मुझे एक भी सबल कारण नहीं मिला था। मेरा जनेऊ पहननेसे कोई विरोध नहीं था, परन्तु उसे पहननेका कोई कारण नहीं दिखाई देता था। वैष्णव होनेके कारण मैं कंठी पहनता था। शिखा तो गुरुजन हम भाइयोंके सिर पर रखवाते ही थे। पर विलायत जानेके समय मैंने इस शरमके मारे शिखा कटा दी थी कि वहाँ सिर खुला रखना होगा, गोरे शिखाको देखकर हँसेंगे और मुझे जंगली समझेंगे। मेरे साथ रहनेवाले मेरे भतीजे छगनलाल गांधी दक्षिण अफ्रीकामें बड़ी श्रद्धासे शिखा रखते थे। यह शिखा उनके सार्वजनिक काममें बाधक होगी, इस भ्रमके कारण मैंने उनका मन दुखाकर भी उसे कटवा दिया था। यों शिखा रखनेमें मुझे शरम लगती थी।

मैंने स्वामीजीको उपर्युक्त बातें कह सुनायीं और कहा :

''मैं जनेऊ तो धारण नहीं करूँगा। जिसे न पहनते हुए भी असंख्य हिन्दू हिन्दू

माने जाते हैं, उसे पहननेकी मैं अपने लिए कोई जरूरत नहीं देखता। फिर, जनेऊ धारण करनेका अर्थ है दूसरा जन्म लेना, अर्थात् स्वयं संकल्प-पूर्वक शुद्ध बनना, ऊर्ध्वगामी बनना। आजकल हिन्दू समाज और हिन्दुस्तान दोनों गिरी हालतमें हैं। उसमें जनेऊ धारण करनेका हमें अधिकार ही कहाँ है? हिन्दू समाजको जनेऊका अधिकार तभी हो सकता है, जब वह अस्पृश्यताका मैल धो डाले, ऊँच-नीचकी बात भूल जाय, जड़ जमाये हुए दूसरे दोषोंको दूर करे और चारों ओर फैले हुए अधर्म तथा पाखण्डका अन्त कर दे। इसलिए जनेऊ धारण करनेकी आपकी बातें मेरे गले नहीं उतरतीं। किन्तु शिखाके संबंधमें आपकी बात मुझे अवश्य सोचनी होगी। शिखा तो मैं रखता था। लेकिन उसे मैंने शरम और डरके मारे ही कटा डाला है। मुझे लगता है कि शिखा धारण करनी चाहिये। मैं इस सम्बन्धमें अपने साथियोंसे चर्चा करूँगा।''

स्वामीजीको जनेऊके बारेमें मेरी दलील अच्छी नहीं लगी। जो कारण मैंने न पहननेके लिए दिये, वे उन्हें पहननेके पक्षमें दिखायी पड़े। जनेऊके विषयमें हृषीकेशमें मैंने जो विचार प्रकट किये थे, वे आज भी लगभग उसी रूपमें कायम हैं। जब तक अलग-अलग धर्म मौजूद हैं, तब तक प्रत्येक धर्मको किसी विशेष बाह्य चिह्नकी आवश्यकता हो सकती है। लेकिन जब बाह्य संज्ञा केवल आडम्बर बन जाती है अथवा अपने धर्मको दूसरे धर्मसे अलग बतानेके काम आती है, तब वह त्याज्य हो जाती है। मैं नहीं मानता कि आजकल जनेऊ हिन्दू धर्मको ऊपर उठानेका साधन है। इसलिए उसके विषयमें मैं तटस्थ हूँ।

शिखाका त्याग स्वयं मेरे लिए लज्जाका कारण था। इसलिए साथियोंसे चर्चा करके मैंने उसे धारण करनेका निश्चय किया। पर अब हमें लछमन झूलेकी ओर चलना चाहिये।

हृषीकेश और लछमन झूलेके प्राकृतिक दृश्य मुझे बहुत भले लगे। प्राकृतिक कलाको पहचाननेकी पूर्वजोंकी शक्तिके विषयमें और कलाको धार्मिक स्वरूप देनेकी उनकी दीर्घदृष्टिके विषयमें मैंने मन-ही-मन अत्यन्त आदरका अनुभव किया।

किन्तु मनुष्यकी कृतिसे चित्तको शांति नहीं मिली। हरद्वारकी तरह हृषीकेशमें भी लोग रास्तोंको और गंगाके सुन्दर किनारोंको गन्दा कर देते थे। गंगाके पवित्र जलको दूषित करनेमें भी उन्हें किसी प्रकारका संकोच न होता था। पाखाने जानेवाले दूर जानेके बदले जहाँ लोगोंकी आमद-रफ्त होती, वहीं हाजत रफा करने बैठ जाते थे।

यह देखकर हृदयको बहुत आघात पहुँचा।

लछमन झूला जाते हुए लोहेका झूलता पुल देखा। लोगोंसे सुना कि यह पुल पहले रस्सियोंका था और बहुत मजबूत था। उसे तोड़कर एक उदार-हृदय मारवाड़ी सज्जनने बड़ा दान देकर लोहेका पुल बनवा दिया और उसकी चाबी सरकारको सौंप दी।

रस्सियोंके पुलकी मुझे कोई कल्पना नहीं है, पर लोहेका पुल प्राकृतिक वातावरणको कलुषित कर रहा था और बहुत अप्रिय मालूम होता था। यात्रियोंके इस रास्तेकी चाबी सरकारको सौंप दी गयी, यह चीज मेरी उस समयकी वफादारीको भी असह्य लगी।

वहाँसे भी अधिक दुःखद दृश्य स्वर्गाश्रमका था। टीनकी चादरोंकी तबेले-जैसी कोठरियोंको स्वर्गाश्रमका नाम दिया गया था। मुझे बतलाया गया कि ये साधकोंके लिए बनवायी गयी थीं। उस समय उनमें शायद ही कोई साधक रहता था। उनके पास बने हुए मुख्य भवनमें रहनेवालोंने भी मुझ पर अच्छा असर न डाला।

पर हरद्वारके अनुभव मेरे लिए अमूल्य सिद्ध हुए। मुझे कहाँ बसना और क्या करना चाहिये, इसका निश्चय करनेमें हरद्वारके अनुभवोंने मेरी बड़ी मदद की।

९. आश्रमकी स्थापना

कुम्भकी यात्रा मेरी हरद्वारकी दूसरी यात्रा थी। सन् १९१५ के मई महीनेकी २५ तारीखके दिन सत्याग्रह-आश्रमकी स्थापना हुई। श्रद्धानन्दजीकी इच्छा थी कि मैं हरद्वारमें बसूँ। कलकत्तेके कुछ मित्रोंकी सलाह वैद्यनाथधाममें बसानेकी थी। कुछ मित्रोंका प्रबल आग्रह राजकोटमें बसनेका था।

किन्तु जब मैं अहमदाबादसे गुजरा, तो बहुतसे मित्रोंने अहमदाबाद पसन्द करनेको कहा और आश्रमका खर्च खुद ही उठानेका जिम्मा लिया। उन्होंने मकान खोज देना भी कबूल किया।

अहमदाबाद पर मेरी नजर टिकी थी। गुजराती होनेके कारण मैं मानता था कि गुजराती भाषा द्वारा मैं देशकी अधिक-से-अधिक सेवा कर सकूँगा। यह भी धारणा थी कि चूँकि अहमदाबाद पहले हाथकी बुनाईका केन्द्र था, इसलिए चरखेका काम यहीं अधिक अच्छी तरह हो सकेगा। साथ ही, यह आशा भी थी कि गुजरातका मुख्य नगर होनेके कारण यहाँके धनी लोग धनकी अधिक मदद कर सकेंगे।

अहमदाबादके मित्रोंके साथ मैंने जो चर्चायें कीं, उनमें अस्पृश्योंका प्रश्न भी चर्चाका विषय बना था। मैंने स्पष्ट शब्दोंमें कहा था कि यदि कोई योग्य अंत्यज भाई आश्रममें भरती होना चाहेगा, तो मैं उसे अवश्य भरती करूँगा।

"आपकी शर्तोंका पालन कर सकनेवाले अंत्यज कौन रास्तेमें पड़े हैं?" यों कहकर एक वैष्णव मित्रने अपने मनका समाधान कर लिया और आखिर अहमदाबादमें बसनेका निश्चय हुआ।

मकानोंकी तलाश करते हुए कोचरबमें श्री जीवणलाल बारिस्टरका मकान किराये पर लेनेका निश्चय हुआ। श्री जीवणलाल मुझे अहमदाबादमें बसानेवालोंमें अग्रगण्य थे।

तुरन्त ही प्रश्न उठा कि आश्रमका नाम क्या रखा जाय? मैंने मित्रोंसे सलाह की। कई नाम सामने आये। सेवाश्रम, तपोवन आदि नाम सुझाये गये थे। सेवाश्रम नाम मुझे पसन्द था, पर उससे सेवाकी रीतिका बोध नहीं होता था। तपोवन नाम पसंद किया ही नहीं जा सकता था; क्योंकि यद्यपि मुझे तपश्चर्या प्रिय थी, फिर भी यह नाम बहुत भारी प्रतीत हुआ। हमें तो सत्यकी पूजा, सत्यकी शोध करनी थी, उसीका आग्रह रखना था; और दक्षिण अफ्रीकामें मैंने जिस पद्धतिका उपयोग किया था, उसका परिचय भारतवर्षको कराना था तथा यह देखना था कि उसकी शक्ति कहाँ तक व्यापक हो सकती है। इसलिए मैंने और साथियोंने सत्याग्रह-आश्रम नाम पसन्द किया। इस नामसे सेवाका और सेवाकी पद्धतिका भाव सहज ही प्रकट होता था।

आश्रम चलानेके लिए नियमावलिकी आवश्यकता थी। अतएव मैंने नियमावलिका मसविदा तैयार करके उस पर मित्रोंकी राय माँगी। बहुतसी सम्मतियोंमें से सर गुरुदास बैनर्जीकी सम्मति मुझे याद रह गयी है। उन्हें नियमावलि तो पसन्द आयी, पर उन्होंने सुझाया कि व्रतोंमें नम्रताके व्रतको स्थान देना चाहिये। उनके पत्रकी ध्वनि यह थी कि हमारे युवकवर्गमें नम्रताकी कमी है। यद्यपि नम्रताके अभावका अनुभव मैं जगह-जगह करता था, फिर भी नम्रताको व्रतोंमें स्थान देनेसे नम्रताके नम्रता न रह जानेका भय लगता था। नम्रताका संपूर्ण अर्थ तो शून्यता है। शून्यताकी प्राप्तिके लिए दूसरे व्रत हो सकते हैं। शून्यता मोक्षकी स्थिति है। मुमुक्षु अथवा सेवकके प्रत्येक कार्यमें नम्रता - अथवा निरभिमानता - न हो, तो वह मुमुक्षु नहीं है, सेवक नहीं है। वह स्वार्थी है, अहंकारी है।

आश्रममें इस समय लगभग तेरह तामिल भाई थे। दक्षिण अफ्रीकासे मेरे साथ पाँच तामिल बालक आये थे और दूसरे यहींके थे। लगभग पचीस स्त्री-पुरुषोंसे आश्रमका आरंभ हुआ था। सब एक रसोईमें भोजन करते थे और इस तरह रहनेकी कोशिश करते थे मानो एक ही कुटुम्बके हों।

१०. कसौटी पर चढ़े

आश्रमको कायम हुए अभी कुछ ही महीने बीते थे कि इतनेमें जैसी कसौटीकी मुझे आशा नहीं थी वैसी कसौटी हमारी हुई। भाई अमृतलाल ठक्करका पत्र मिला: "एक गरीब और प्रामाणिक अन्त्यज परिवार है। वह आपके आश्रममें रहना चाहता है। क्या उसे भरती करेंगे?"

मैं चौंका। ठक्करबापा जैसे पुरुषकी सिफारिश लेकर कोई अन्त्यज परिवार इतनी जल्दी आयेगा, इसकी मुझे जरा भी आशा न थी। मैंने साथियोंको वह पत्र पढ़नेके लिए दिया। उन्होंने उसका स्वागत किया। भाई अमृतलाल ठक्करको लिखा गया कि यदि वह परिवार आश्रमके नियमोंका पालन करनेको तैयार हो, तो हम उसे भरती करनेके लिए तैयार हैं।

दूदाभाई, उनकी पत्नी दानीबहन और दूध-पीती तथा घुटनों चलती बच्ची लक्ष्मी तीनों आये। दूदाभाई बंबईमें शिक्षकका काम करते थे। नियमोंका पालन करनेको वे तैयार थे। उन्हें आश्रममें रख लिया।

सहायक मित्र-मंडलमें खलबली मच गयी। जिस कुएँमें बंगलेके मालिकका हिस्सा था, उस कुएँसे पानी भरनेमें हमें अड़चन होने लगी। चरसवाले पर हमारे पानीके छींटे पड़ जाते, तो वह भ्रष्ट हो जाता। उसने गालियाँ देना और दूदाभाईको सताना शुरू किया। मैंने सबसे कह दिया कि गालियाँ सहते जाओ और दृढ़ता-पूर्वक पानी भरते रहो। हमें चुपचाप गालियाँ सुनते देखकर चरसवाला शरमिन्दा हुआ और उसने गालियाँ देना बन्द कर दिया। पर पैसेकी मदद बन्द हो गयी। जिन भाईने आश्रमके नियमोंका पालन करनेवाले अन्त्यजोंके प्रवेशके बारेमें पहलेसे ही शंका की थी, उन्हें तो आश्रममें अन्त्यजके भरती होनेकी आशा ही न थी। पैसेकी मदद बन्द होनेके साथ बहिष्कारकी अफवाहें मेरे कानों तक आने लगीं। मैंने साथियोंसे चर्चा करके तय कर रखा था: "यदि हमारा बहिष्कार किया जाय और हमें कहींसे कोई मदद न

मिले, तो भी अब हम अहमदाबाद नहीं छोड़ेंगे। अन्त्यजोंकी बस्तीमें जाकर उनके साथ रहेंगे और जो कुछ मिलेगा उससे अथवा मजदूरी करके आपना निर्वाह करेंगे।''

आखिर मगनलालने मुझे नोटिस दी: ''अगले महीने आश्रमका खर्च चलानेके लिए हमारे पास पैसे नहीं हैं।'' मैंने धीरजसे जवाब दिया: ''तो हम अन्त्यजोंकी बस्तीमें रहने जायेंगे।''

मुझ पर ऐसा संकट पहली ही बार नहीं आया था। हर बार अंतिम घड़ीमें प्रभुने मदद भेजी है।

मगनलालके नोटिस देनेके बाद तुरन्त ही एक दिन सबेरे किसी लड़केने आकर खबर दी: ''बाहर मोटर खड़ी है और एक सेठ आपको बुला रहे हैं।'' मैं मोटरके पास गया। सेठने मुझसे पूछा: ''मेरी इच्छा आश्रमको कुछ मदद देनेकी है, आप लेंगे?''

मैंने जवाब दिया: ''अगर आप कुछ देंगे, तो मैं जरूर लूँगा। मुझे कबूल करना चाहिये कि इस समय मैं आर्थिक संकटमें भी हूँ।''

''मैं कल इसी समय आऊँगा। तब आप आश्रममें होंगे?''

मैंने 'हाँ' कहा और सेठ चले गये। दूसरे दिन नियत समय पर मोटरका भोंपू बोला। लड़कोंने खबर दी। सेठ अन्दर नहीं आये। मैं उनसे मिलने गया। वे मेरे हाथ पर तेरह हजारके नोट रखकर बिदा हो गये।

मैंने इस मददकी कभी आशा नहीं रखी थी। मदद देनेकी यह रीति भी नई देखी। उन्होंने आश्रममें पहले कभी कदम नहीं रखा था। मुझे याद आता है कि मैं उनसे एक ही बार मिला था। न आश्रममें आना, न कुछ पूछना, बाहर ही बाहर पैसे देकर लौट जाना। ऐसा यह मेरा पहला ही अनुभव था। इस सहायताके कारण अन्त्यजोंकी बस्तीमें जाना रुक गया। मुझे लगभग एक सालका खर्च मिल गया।

पर जिस तरह बाहर खलबली मची, उसी तरह आश्रममें भी मची। यद्यपि दक्षिण अफ्रीकामें मेरे यहाँ अन्त्यज आदि आते, रहते और भोजन करते थे, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि यहाँ अन्त्यज कुटुम्बका आना मेरी पत्नीको और आश्रमकी दूसरी स्त्रियोंको पसन्द आया। दानीबहनके प्रति घृणा नहीं तो उनकी उदासीनता ऐसी थी, जिसे मेरी अत्यन्त सूक्ष्म आँखें देख लेती थीं और तेज कान सुन लेते थे। आर्थिक सहायताके अभावके डरने मुझे जरा भी चिन्तित नहीं किया था। पर यह आन्तरिक क्षोभ कठिन सिद्ध हुआ। दानीबहन साधारण स्त्री थी। दूदाभाईकी शिक्षा

भी साधारण थीं, पर उनकी बुद्धि अच्छी थी। उनका धीरज मुझे पसन्द आया था। उन्हें कभी-कभी गुस्सा आता था, पर कुल मिलाकर उनकी सहन-शक्तिकी मुझ पर अच्छी छाप पड़ी थी। मैं दूदाभाईको समझाता था कि वे छोटे-मोटे अपमान पी लिया करें। वे समझ जाते थे और दानीबहनसे भी सहन करवाते थे।

इस परिवारको आश्रममें रखकर आश्रमने बहुतेरे पाठ सीखे हैं और प्रारंभिक कालमें ही इस बातके बिलकुल स्पष्ट हो जानेसे कि आश्रममें अस्पृश्यताके लिए कोई स्थान नहीं है, आश्रमकी मर्यादा निश्चित हो गयी और इस दिशामें उसका काम बहुत सरल हो गया। इसके बावजूद, आश्रमका खर्च, बराबर बढ़ता रहने पर भी, मुख्यतः कट्टर माने जानेवाले हिन्दुओंकी तरफसे ही मिलता रहा है। कदाचित् यह इस बातका स्पष्ट सूचक है कि अस्पृश्यताकी जड़ें अच्छी तरह हिल गयी हैं। इसके दूसरे प्रमाण तो अनेकों हैं। परन्तु जहाँ अन्त्यजके साथ रोटी तकका व्यवहार रखा जाता हो, वहाँ भी अपनेको सनातनी माननेवाले हिन्दू मदद दें, यह कोई नगण्य प्रमाण नहीं माना जायगा।

इसी प्रश्नको लेकर आश्रममें हुई एक और स्पष्टता, उसके सिलसिलेमें उत्पन्न हुए नाजुक प्रश्नोंका समाधान, कुछ अनसोची अड़चनोंका स्वागत -- इत्यादि सत्यकी खोजके सिलसिलेमें हुए प्रयोगोंका वर्णन प्रस्तुत होते हुए भी मुझे छोड़ देना पड़ रहा है। इसका मुझे दुःख है। किन्तु अब आगेके प्रकरणोंमें यह दोष रहने ही वाला है। मुझे महत्त्वके तथ्य छोड़ देने पड़ेंगे, क्योंकि उनमें हिस्सा लेनेवाले पात्रोंमें से बहुतेरे अभी जीवित हैं और उनकी सम्मतिके बिना उनके नामोंका और उनसे सम्बन्ध रखनेवाले प्रसंगोंका स्वतंत्रता-पूर्वक उपयोग करना अनुचित मालूम होता है। समय-समय पर सबकी सम्मति मँगवाना अथवा उनसे सम्बन्ध रखनेवाले तथ्योंको उनके पास भेजकर सुधरवाना संभव नहीं है और यह आत्मकथाकी मर्यादाके बाहरकी बात है। अतएव इसके आगेकी कथा यद्यपि मेरी दृष्टिमें सत्यके शोधकके लिए जानने योग्य है, तथापि मुझे डर है कि वह अधूरी ही दी जा सकेगी। तिस पर भी मेरी इच्छा और आशा यह है कि भगवान पहुँचने दे, तो असहयोगके युग तक मैं पहुँच जाऊँ।

११. गिरमिटकी प्रथा

अब नये बसे हुए और भीतरी तथा बाहरी तूफानोंमें से उबरे हुए आश्रमको छोड़कर यहाँ गिरमिट-प्रथा पर थोड़ा विचार कर लेनेका समय आ गया है। 'गिरमिटिया' यानी वे मजदूर जो पाँच बरस या इससे कमकी मजदूरीके इकरारनामे पर सही करके हिन्दुस्तानके बाहर मजदूरी करने गये हों। नेटालके ऐसे गिरमिटियों पर लगा तीन पौण्डका वार्षिक कर सन् १९१४ में उठा दिया गया था, पर गिरमिटकी प्रथा अभी तक बन्द नहीं हुई थी। सन् १९१६ में भारत-भूषण पंडित मालवीयजीने यह प्रश्न धारासभामें उठाया था और लार्ड हार्डिंगने उनका प्रस्ताव स्वीकार करके घोषित किया था कि 'समय आने पर' इस प्रथाको नष्ट करनेका वचन मुझे सम्राट्की ओरसे मिला है। लेकिन मुझे तो स्पष्ट लगा कि इस प्रथाको तत्काल ही बन्द करनेका निर्णय हो जाना चाहिये। हिन्दुस्तानने अपनी लापरवाहीसे बरसों तक इस प्रथाको चलने दिया था। मैंने माना कि अब इस प्रथाको बन्द कराने जितनी जागृति लोगोंमें आ गयी है। मैं कुछ नेताओंसे मिला, कुछ समाचारपत्रोंमें इस विषयमें लिखा और मैंने देखा कि लोकमत इस प्रथाको मिटा देनेके पक्षमें है। क्या इसमें सत्याग्रहका उपयोग हो सकता है? मुझे इस विषयमें कोई शंका नहीं थी। पर उसका उपयोग कैसे किया जाय, सो मैं नहीं जानता था।

इस बीच वाइसरॉयने 'समय आने पर' शब्दोंका अर्थ समझानेका अवसर खोज लिया। उन्होंने घोषित किया कि "दूसरी व्यवस्था करनेमें जितना समय लगेगा उतने समयमें" यह प्रथा उठा दी जायगी। अतएव जब सन् १९१७ के फरवरी महीनेमें भारत-भूषण पंडित मालवीयजीने गिरमिटप्रथा सदाके लिए समाप्त कर देनेका कानून बड़ी धारासभामें पेश करनेकी इजाजत माँगी, तो वाइसरॉयने वैसा करनेसे इनकार कर दिया। अतएव इस प्रश्नके सम्बन्धमें मैंने हिन्दुस्तानमें घूमना शुरू किया।

भ्रमण आरंभ करनेसे पहले मुझे वाइसरॉयसे मिल लेना उचित मालूम हुआ। उन्होंने तुरन्त ही मुझे मिलनेकी तारीख भेजी। उस समयके मि० मेफी, अब सर जॉन मेफी, उनके मंत्री थे। मि० मेफीके साथ मेरा अच्छा सम्बन्ध स्थापित हो गया। लार्ड चेम्सफर्डके साथ संतोषजनक बातचीत हुई। उन्होंने निश्चय-पूर्वक तो कुछ न कहा, पर मुझे उनकी मददकी आशा बँधी।

भ्रमणका आरम्भ मैंने बम्बईसे किया। बम्बईमें सभा करनेका जिम्मा मि० जहाँगीर

पिटीटने अपने सिर लिया। इम्पीरियल सिटिजनशिप एसोसियेशनके नामसे सभा हुई। उसमें पेश किये जानेवाले प्रस्तावोंको तैयार करनेके लिए समितिकी बैठक हुई। उसमें डॉ० रीड, सर लल्लूभाई शामलदास, मि० नटराजन् आदि थे। मि० पिटीट तो थे ही। प्रस्तावमें गिरमिट-प्रथा बन्द करनेकी बिनती करनी थी। प्रश्न यह था कि वह कब बन्द की जाय? तीन सुझाव थे: 'जितनी जल्दी हो सके', 'इकतीसवीं जुलाई तक' और 'तुरन्त'। 'इकतीसवीं जुलाई' का मेरा सुझाव था। मुझे तो निश्चित तारीखकी जरूरत थी, ताकि उस अवधिमें कुछ न हो तो यह सोचा जा सके कि आगे क्या करना है या क्या हो सकता है। सर लल्लूभाईका सुझाव 'तुरन्त' शब्द रखनेका था। उन्होंने कहा: "'इकतीसवीं जुलाई' की अपेक्षा 'तुरन्त' शब्द अधिक शीघ्रता-सूचक है।" मैंने समझानेका प्रयत्न किया कि जनता 'तुरन्त' शब्दको नहीं समझ सकती। जनतासे कुछ काम लेना हो, तो उसके सामने निश्चयात्मक शब्द होना चाहिये। 'तुरन्त' का अर्थ तो सब अपनी-अपनी इच्छाके अनुसार करेंगे। सरकार उसका एक अर्थ करेगी, जनता दूसरा करेगी। 'इकतीसवीं जुलाई का अर्थ सब एक ही करेंगे और इस तारीख तक मुक्ति न मिली तो हमें क्या कदम उठाना चाहिये, सो हम सोच सकेंगे। यह दलील डॉ० रीडके गले तुरन्त उतर गयी। अन्तमें सर लल्लूभाईको भी 'इकतीसवीं जुलाई' पसन्द आ गयी और प्रस्तावमें यह तारीख रखी गयी। सार्वजनिक सभामें यह प्रस्ताव पेश किया गया और सर्वत्र 'इकतीसवीं जुलाई' की सीमा अंकित हुई।

बम्बईसे श्री जायजी पिटीटके अथक परिश्रमसे स्त्रियोंका एक डेप्युटेशन वाइसरॉयके पास पहुँचा। उसमें लेडी ताता, स्व० दिलशाद बेगम आदि महिलायें थीं। सब बहनोंके नाम तो मुझे याद नहीं हैं, पर इस डेप्युटेशनका बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा था और वाइसरॉयने उन्हें आशाजनक उत्तर दिया था।

मैं कराची, कलकत्ता आदि स्थानोंमें भी हो आया था। सब जगह अच्छी सभायें हुई थीं और लोगोंमें सर्वत्र खूब उत्साह था। आन्दोलन आरम्भ करते समय मुझे यह आशा नहीं थीं कि ऐसी सभायें होंगी और उनमें लोग इतनी संख्यामें उपस्थित होंगे।

इन दिनों मेरी यात्रा अकेले ही होती थी, इस कारण अनोखे अनुभव प्राप्त होते थे। खुफिया पुलिसवाले तो मेरे पीछे लगे ही रहते थे। उनके साथ मेरा झगड़ा होनेका कोई कारण ही न था। मुझे कोई बात छिपानी नहीं थी। इससे वे मुझे परेशान नहीं करते थे और न मैं उन्हें परेशान करता था। सौभाग्यसे उस समय मुझे 'महात्मा' की

छाप नहीं मिली थी, यद्यपि जहाँ मैं पहचान लिया जाता था, वहाँ इस नामका घोष जरूर होता था। एक बार रेलमें जाते हुए कई स्टेशनों पर खुफिया पुलिसवाले मेरा टिकट देखने आते और नम्बर वगैरा लेते रहते थे। उनके प्रश्नोंका उत्तर मैं उन्हें तुरन्त ही दे देता था। साथी यात्रियोंने मान लिया था कि मैं कोई सीधा-सादा साधु अथवा फकीर हूँ। जब दो-चार स्टेशनों तक खुफिया पुलिसवाले आये तो यात्री चिढ़ गये और उन्हें गालियाँ देकर धमकाया: "इस बेचारे साधुको नाहक क्यों सताते हो?" फिर मेरी ओर मुड़कर बोले: 'इन बदमाशोंको टिकट मत दिखाओ।"

मैंने इन यात्रियोंसे धीमी अवाजमें कहा, "उनके टिकट देखनेसे मुझे कोई परेशानी नहीं होती। वे अपना कर्तव्य करते हैं। उससे मुझे कोई कष्ट नहीं होता।"

यात्रियोंके गले यह बात नहीं उतरी। वे मुझ पर अधिक तरस खाने लगे और आपसमें बातें करने लगे कि निर्दोष आदमियोंको इस तरह तंग क्यों किया जाता है?

खुफिया पुलिसवालोंकी तो मुझे कोई तकलीफ नहीं मालूम हुई, पर रेलकी भीड़की तकलीफका मुझे लाहौरसे दिल्लीके बीच कड़वेसे कड़वा अनुभव हुआ। कराचीसे कलकत्ते मुझे लाहौरके रास्ते जाना था। लाहौरमें ट्रेन बदलनी थी। वहाँकी ट्रेनमें मेरी कहीं दाल गलती नहीं थी। यात्री जबरदस्ती अपना रास्ता बना लेते थे। दरवाजा बन्द होता, तो खिड़कीमें से अंदर घुस जाते थे। मुझे कलकत्ते निश्चित तारीख पर पहुँचना था। यह ट्रेन खो देता तो मैं कलकत्ते पहुँच न पाता। मैं जगह मिलनेकी आशा छोड़ बैठा था। कोई मुझे अपने डिब्बेमें आने न देता था। आखिर एक मजदूरने मुझे जगह ढूँढते देखकर कहा, "मुझे बारह आने दो, तो जगह दिला दूँ।" मैंने कहा, "मुझे जगह दिला दो, तो जरूर बारह आने दूँगा।" बेचारा मजदूर यात्रियोंसे गिड़गिड़ाकर कह रहा था, पर कोई मुझे लेनेको तैयार न होता था। ट्रेन छूटने ही वाली थी कि एक डिब्बेके कुछ यात्रियोंने कहा, "यहाँ जगह नहीं है, लेकिन इसके भीतर घुसा सकते हो तो घुसा दो। खड़ा रहना होगा।" मजदूर मेरी ओर देखकर बोला, "क्यों जी?" मैंने 'हाँ' कहा और उसने मुझे उठाकर खिड़कीमें से अन्दर डाल दिया। मैं अन्दर घुसा और उस मजदूरने बारह आने कमा लिये।

मेरी यह रात मुश्किलसे बीती। दूसरे यात्री ज्यों-त्यों करके बैठ गये। मैं ऊपरवाली बैठककी जंजीर पकड़कर दो घंटे खड़ा ही रहा। इस बीच कुछ यात्री मुझे धमकाते ही रहते थे: "अजी, अब तक क्यों नहीं बैठते हो? मैंने बहुतेरा समझाया कि कहीं जगह नहीं है। पर उन्हें तो मेरा खड़ा रहना भी सहन नहीं हो रहा था, यद्यपि वे

ऊपरकी बैठकों पर आरामसे लंबे होकर पड़े थे। बार-बार मुझे परेशान करते थे। वे जितना मुझे परेशान करते थे, उतनी ही शांतिसे मैं उन्हें जवाब देता था। इससे वे कुछ शांत हुए। मेरा नाम-धाम पूछा। जब मुझे नाम बतलाना पड़ा तब वे शरमाये। मुझसे माफी माँगी और मेरे लिए अपनी बगलमें जगह कर दी। 'सब्रका फल मीठा होता है' कहावत मुझे याद आयी। मैं बहुत थक गया था। मेरा सिर घूम रहा था। बैठनेके लिए जगहकी जब सचमुच जरूरत थी तब ईश्वरने दिला दी।

इस तरह मैं टकराता और धक्कामुक्की बरदास्त करता हुआ समय पर कलकत्ते पहुँच गया। कासिम बाजारके महाराजने अपने यहाँ उतरनेका निमंत्रण दे रखा था। कलकत्तेकी सभाके अध्यक्ष भी वही थे। करांचीकी ही तरह कलकत्तेमें भी लोगोंका उत्साह उमड़ा पड़ता था। कुछ अंग्रेज भी सभामें उपस्थित थे।

इकतीसवीं जुलाईके पहले गिरमिटकी प्रथा बन्द होनेकी सरकारी घोषणा हुई। सन् १८९४ में इस प्रथाका विरोध करनेवाला पहला प्रार्थना-पत्र मैंने तैयार किया था और यह आशा रखी थी कि किसी दिन यह 'अर्धगुलामी' अवश्य ही रद होगी। १८९४ से शुरू किये गये इस प्रयत्नमें बहुतोंकी सहायता थी। पर यह कहे बिना नहीं रहा जाता कि इसके पीछे शुद्ध सत्याग्रह था।

इसका विशेष विवरण और इसमें भाग लेनेवाले पात्रोंकी जानकारी पाठकोंको 'दक्षिण अफ्रीकाके सत्याग्रहका इतिहास' में अधिक मिलेगी।

१२. नीलका दाग

चम्पारन जनक राजाकी भूमि है। जिस तरह चम्पारनमें आमके वन हैं, उसी तरह सन् १९१७ में वहाँ नीलके खेत थे। चम्पारनके किसान अपनी ही जमीनके ३/२० भागमें नीलकी खेती उसके असल मालिकोंके लिए करनेको कानूनसे बँधे हुए थे। इसे वहाँ 'तीन कठिया' कहा जाता था। बीस कट्ठेका वहाँ एक एकड़ था और उसमें से तीन कट्ठे जमीनमें नील बोनेकी प्रथाको 'तीन कठिया' कहते थे।

मुझे यह स्वीकार करना चाहिये कि वहाँ जानेसे पहले मैं चम्पारनका नाम तक नहीं जानता था। नीलकी खेती होती है, इसका खयाल भी नहींके बराबर था। नीलकी गोटियाँ मैंने देखी थीं, पर वे चम्पारनमें बनती हैं और उनके कारण हजारों किसानोंको कष्ट भोगना पड़ता है, इसकी मुझे कोई जानकारी नहीं थी।

राजकुमार शुक्ल नामक चम्पारनके एक किसान थे। उन पर दुःख पड़ा था। यह दुःख उन्हें अखरता था। लेकिन अपने इस दुःखके कारण उनमें नीलके इस दागको सबके लिए धो डालनेकी तीव्र लगन पैदा हो गयी थी। जब मैं लखनऊ काँग्रेसमें गया, तो वहाँ इस किसानने मेरा पीछा पकड़ा। 'वकील बाबू आपको सब हाल बतायेंगे' - वाक्य वे कहते जाते थे और मुझे चम्पारन आनेका निमंत्रण देते जाते थे।

वकील बाबूसे मतलब था, चम्पारनके मेरे प्रिय साथी, बिहारके सेवा-जीवनके प्राण ब्रजकिशोरबाबूसे। राजकुमार शुक्ल उन्हें मेरे तम्बूमें लाये। उन्होंने काले आलपाकाकी अचकन, पतलून वगैरा पहन रखा था। मेरे मन पर उनकी कोई अच्छी छाप नहीं पड़ी। मैंने मान लिया कि वे भोले किसानोंको लूटनेवाले कोई वकील साहब होंगे।

मैंने उनसे चम्पारनकी थोड़ी कथा सुनी। अपने रिवाजके अनुसार मैंने जवाब दिया, "खुद देखे बिना इस विषय पर मैं कोई राय नहीं दे सकता। आप काँग्रेसमें बोलियेगा। मुझे तो फिलहाल छोड़ ही दीजिये।" राजकुमार शुक्लको काँग्रेसकी मददकी तो जरूरत थी ही। ब्रजकिशोरबाबू काँग्रेसमें चम्पारनके बारेमें बोले और सहानुभूति-सूचक प्रस्ताव पास हुआ।

राजकुमार शुक्ल प्रसन्न हुए। पर इतनेसे ही उन्हें सन्तोष न हुआ। वे तो खुद मुझे चंपारनके किसानोंके दुःख बताना चाहते थे। मैंने कहा, "अपने भ्रमणमें मैं चम्पारनको भी सम्मिलित कर लूँगा और एक-दो दिन वहाँ ठहरूँगा।"

उन्होंने कहा: "एक दिन काफी होगा। नजरोंसे देखिये तो सही।"

लखनऊसे मैं कानपुर गया था। वहाँ भी राजकुमार शुक्ल हाजिर ही थे। "यहाँसे चम्पारन बहुत नजदीक है। एक दिन दे दीजिये।" "अभी मुझे माफ कीजिये। पर मैं चम्पारन आनेका वचन देता हूँ।" यह कहकर मैं ज्यादा बँध गया।

मैं आश्रम गया तो राजकुमार शुक्ल वहाँ भी मेरे पीछे लगे ही रहे। "अब तो दिन मुकर्रर कीजिये।" मैंने कहा, "मुझे फलाँ तारीखको कलकत्ते जाना है। वहाँ आइये और मुझे ले जाइये।"

कहाँ जाना, क्या करना और क्या देखना, इसकी मुझे कोई जानकारी न थी। कलकत्तेमें भूपेनबाबूके यहाँ मेरे पहुँचनेके पहले उन्होंने वहाँ डेरा डाल दिया था। इस अपढ़, अनगढ़ परन्तु निश्चयवान किसानने मुझे जीत लिया।

सन १९१७ के आरंभमें कलकत्तेसे हम दो व्यक्ति रवाना हुए। दोनोंकी एकसी

जोड़ी थी। दोनों किसान-जैसे ही लगते थे। राजकुमार शुक्ल जिस गाड़ीमें ले गये, उस पर हम दोनों सवार हुए। सबेरे पटना उतरे।

पटनाकी मेरी यह पहली यात्रा थी। वहाँ किसीके साथ मेरा ऐसा परिचय नहीं था, जिससे उनके घर उतर सकूँ। मैंने यह सोच लिया था कि राजकुमार शुक्ल अनपढ़ किसान हैं, तथापि उनका कोई वसीला तो होगा ही। ट्रेनमें मुझे उनकी कुछ अधिक जानकारी मिलने लगी। पटनामें उनका परदा खुल गया। राजकुमार शुक्लकी बुद्धि निर्दोष थी। उन्होंने जिन्हें अपना मित्र मान रखा था वे वकील उनके मित्र नहीं थे, बल्कि राजकुमार शुक्ल उनके आश्रित-जैसे थे। किसान मुवक्किल और वकीलके बीच चौमासेकी गंगाके चौड़े पाटके बराबर अन्तर था।

मुझे वे राजेन्द्रबाबूके घर ले गये। राजेन्द्रबाबू पुरी अथवा और कहीं गये थे। बंगले पर एक-दो नौकर थे। मेरे साथ खानेकी कुछ सामग्री थी। मुझे थोड़ी खजूरकी जरूरत थी। बेचारे राजकुमार शुक्ल बाजारसे ले आये।

पर बिहारमें तो छुआछूतका बहुत कड़ा रिवाज था। मेरी बालटीके पानीके छींटे नौकरको भ्रष्ट करते थे। नौकरको क्या पता कि मैं किस जातिका हूँ। राजकुमार शुक्लने अन्दरके पाखानेका उपयोग करनेको कहा। नौकरने बाहरके पाखानेकी ओर इशारा किया। मेरे लिए इसमें परेशान या गुस्सा होनेका कोई कारण न था। इस प्रकारके अनुभव कर-करके मैं बहुत पक्का हो गया था। नौकर तो अपने धर्मका पालन कर रहा था और राजेन्द्रबाबूके प्रति अपना कर्तव्य पूरा कर रहा था। इन मनोरंजक अनुभवोंके कारण जहाँ राजकुमार शुक्लके प्रति मेरा आदर बढ़ा, वहाँ उनके विषयमें मेरा ज्ञान भी बढ़ा। पटनासे लगाम मैंने अपने हाथमें ले ली।

१३. बिहारी सरलता

मौलाना मजहरुल हक और मैं एक समय लंदनमें पढ़ते थे। उसके बाद हम बम्बईमें सन् १९१५ की काँग्रेसमें मिले थे। उस साल वे मुस्लिम लीगके अध्यक्ष थे। उन्होंने पुरानी पहचान बताकर कहा था कि आप कभी पटना आयें, तो मेरे घर अवश्य पधारिये। इस निमंत्रणके आधार पर मैंने उन्हें पत्र लिखा और अपना काम बतलाया। वे तुरन्त अपनी मोटर लाये और मुझे अपने घर ले चलनेका आग्रह किया। मैंने उनका आभार माना और उनसे कहा कि जिस जगह मुझे जाना है वहाँके

लिए वे मुझको पहली ट्रेनसे रवाना कर दें। रेलवे गाइडसे मुझे कुछ पता नहीं चल सकता था। उन्होंने राजकुमार शुक्लसे बातें कीं और सुझाया कि पहले मुझे मुजफ्फरपुर जाना चाहिये। उसी दिन शामको मुजफ्फरपुरकी ट्रेन जाती थी। उन्होंने मुझे उसमें रवाना कर दिया। उन दिनों आचार्य कृपालानी मुजफ्फरपुरमें रहते थे। मैं उन्हें जानता था। जब मैं हैदराबाद गया था तब उनके महान त्यागकी, उनके जीवनकी और उनके पैसेसे चलनेवाले आश्रमकी बात डॉ० चोइथरामके मुँहसे मैंने सुनी थी। वे मुजफ्फरपुर कॉलिजमें प्रोफेसर थे। इस समय प्रोफेसरी छोड़ चुके थे। मैंने उन्हें तार किया। ट्रेन आधी रातको मुजफ्फरपुर पहुँचती थी। वे अपने शिष्य-मंडलके साथ स्टेशन पर आये थे। पर उनके घरबार नहीं था। वे अध्यापक मलकानीके यहाँ रहते थे। मुझे उनके घर ले गये। मलकानी वहाँके कॉलेजमें प्रोफेसर थे। उस समयके वातावरणमें सरकारी कॉलेजके प्रोफेसरका मुझे अपने यहाँ टिकाना एक असाधारण बात मानी जायेगी।

कृपालानीजीने बिहारकी और उसमें भी तिरहुत विभागकी दीन दशाकी बात की और मेरे कामकी कठिनाईकी कल्पना दी। कृपालानीजीने बिहारवालोंके साथ घनिष्ठ संबंध जोड़ लिया था। उन्होंने उन लोगोंसे मेरे कामका जिक्र कर रखा था। सबेरे वकीलोंका एक छोटा-सा दल मेरे पास आया। उनमें से रामनवमीप्रसाद मुझे याद रह गये हैं। उन्होंने अपने आग्रहसे मेरा ध्यान आकर्षित किया था। उन्होंने कहा :

"आप जो काम करने आये हैं, वह इस जगहसे नहीं होगा। आपको तो हम-जैसोंके यहाँ ठहरना चाहिये। गयाबाबू यहाँके प्रसिद्ध वकील हैं। उनकी ओरसे मैं आग्रह करता हूँ कि आप उनके घर ठहरिये। हम सब सरकारसे डरते जरूर हैं। लेकिन हमसे जितनी बनेगी उतनी मदद हम आपकी करेंगे। राजकुमार शुक्लकी बहुतसी बातें सच हैं। दुःख इस बातका है कि आज हमारे नेता यहाँ नहीं हैं। बाबू ब्रजकिशोरप्रसाद और राजेन्द्रप्रसादको मैंने तार किये हैं। दोनों तुरन्त यहाँ आ जायेंगे और आपको पूरी जानकारी व मदद दे सकेंगे। मेहरबानी करके आप गयाबाबूके यहाँ चलिये।"

इस भाषणसे मैं ललचाया। इस डरसे कि कहीं मुझे अपने घरमें ठहरानेसे गयाबाबू कठिनाईमें न पड़ जायें, मुझे संकोच हो रहा था। पर गयाबाबूने मुझे निश्चिन्त कर दिया।

मैं गयाबाबूके घर गया। उन्होंने और उनके परिवारवालोंने मुझे अपने प्रेमसे सराबोर कर दिया।

ब्रजकिशोरबाबू दरभंगासे आये। राजेन्द्रबाबू पुरीसे आये। यहाँ जिन्हें देखा वे लखनऊवाले ब्रजकिशोरप्रसाद नहीं थे। उनमें बिहारवासीकी नम्रता, सादगी, भलमनसी, असाधारण श्रद्धा देखकर मेरा हृदय हर्षसे छलक उठा। ब्रजकिशोरबाबूके प्रति बिहारके वकील-मण्डलका आदरभाव देखकर मुझे सानन्द आश्चर्य हुआ।

इस मण्डलके और मेरे बीच जीवनभरकी गाँठ बँध गयी।

ब्रजकिशोरबाबूने मुझे सारी हकीकतोंकी जानकारी दी। वे गरीब किसानोंके लिए मुकदमे लड़ते थे। ऐसे दो मुकदमे चल रहे थे। इस तरहके मुकदमोंकी पैरवी करके वे थोड़ा व्यक्तिगत आश्वासन प्राप्त कर लिया करते थे। कभी-कभी उसमें भी विफल हो जाते थे। इन भोले किसानोंसे फीस तो वे लेते ही थे। त्यागी होते हुए भी ब्रजकिशोरबाबू अथवा राजेन्द्रबाबू मेहनताना लेनेमें कभी संकोच नहीं करते थे। उनकी दलील यह थी कि पेशेके काममें मेहनताना न लें, तो उनका घरखर्च न चले और वे लोगोंकी मदद भी न कर सकें। उनके मेहनतानेके और बंगाल तथा बिहारके बारिस्टरोंको दिये जानेवाले मेहनतानेके कल्पनामें न आ सकनेवाले आंकड़े सुनकर मेरा दम घुटने लगा।

" . . . साहबको हमने 'ओपीनियन' (सम्मति) के लिए दस हजार रुपये दिये।" हजारोंके सिवा तो मैंने बात ही न सुनी।

इस मित्र-मण्डलने इस विषयमें मेरा मीठा उलाहना प्रेमपूर्वक सुन लिया। उसका उन्होंने गलत अर्थ नहीं लगाया।

मैंने कहा, "इन मुकदमोंको पढ़ जानेके बाद मेरी राय तो यह बनी है कि अब हमें ये मुकदमे लड़ना ही बन्द कर देना चाहिये। ऐसे मुकदमोंसे लाभ बहुत कम होता है। जहाँ रैयत इतनी कुचली गई है, जहाँ सब इतने भयभीत रहते हैं, वहाँ कचहरियोंकी मारफत थोड़ा ही इलाज हो सकता है। लोगोंके लिए सच्ची दवा तो उनके डरको भगाना है। जब तक यह 'तीन कठिया' प्रथा रद न हो, तब तक हम चैनसे बैठ ही नहीं सकते। मैं तो दो दिनमें जितना देखा जा सके उतना देखने आया हूँ। लेकिन अब देख रहा हूँ कि यह काम तो दो वर्ष भी ले सकता है। इतना समय भी लगे तो मैं देनेको तैयार हूँ। मुझे यह तो सूझ रहा है कि इस कामके लिए क्या करना चाहिये। लेकिन इसमें आपकी मदद जरूरी है।"

ब्रजकिशोरबाबूको मैंने बहुत ठंडे दिमागका पाया। उन्होंने शांतिसे उत्तर दिया:

"हमसे जो मदद बनेगी, हम देंगे। लेकिन हमें समझाइये कि आप किस प्रकारकी मदद चाहते हैं।"

इस बीतचीतमें हमने सारी रात बिता दी। मैंने कहा, "मुझे आपकी वकालतकी शक्तिका कम ही उपयोग होगा। आपके समान लोगोंसे तो मैं लेखक और दुभाषियेका काम लेना चाहूँगा। मैं देखता हूँ कि इसमें जेल भी जाना पड़ सकता है। मैं इसे पसन्द करूँगा कि आप यह जोखिम उठायें। पर आप उसे उठाना न चाहें, तो भले न उठायें। वकालत छोड़कर लेखक बनने और अपने धंधेको अनिश्चित अवधिके लिए बंद करनेकी माँग करके में आप लोगोंसे कुछ कम नहीं माँग रहा हूँ। यहाँकी हिन्दी बोली समझनेमें मुझे कठिनाई होती है। कागज-पत्र सब कैथीमें या उर्दूमें लिखे होते हैं, जिन्हें मैं पढ़ नहीं सकता। इनके तरजुमेकी मैं आपसे आशा रखता हूँ। यह काम पैसे देकर कराना हमारे बसका नहीं है। यह सब सेवाभावसे और बिना पैसेके होना चाहिये।"

ब्रजकिशोरबाबू समझ गये, किन्तु उन्होंने मुझसे और अपने साथियोंसे जिरह शुरू की। मेरी बातोंके फलितार्थ पूछे। मेरे अनुमानके अनुसार वकीलोंको किस हद तक त्याग करना चाहिये, कितनोंकी आवश्यकता होगी, थोड़े-थोड़े लोग थोड़ी-थोड़ी मुद्दतके लिए आवें तो काम चलेगा या नहीं, इत्यादि प्रश्न मुझसे पूछे। वकीलोंसे उन्होंने पूछा कि वे कितना त्याग कर सकते हैं।

अन्तमें उन्होंने अपना यह निश्चय प्रकट किया: "हम इतने लोग आप जो काम हमें सौंपेंगे, वह कर देनेके लिए तैयार रहेंगे। इनमें से जितनोंको आप जिस समय चाहेंगे उतने आपके पास रहेंगे। जेल जानेकी बात नई है। उसके लिए हम शक्ति-संचय करनेकी कोशिश करेंगे।"

१४. अहिंसा देवीका साक्षात्कार?

मुझे तो किसानोंकी हालतकी जाँच करनी थी। नीलके मालिकोंके विरुद्ध जो शिकायतें थीं, उनमें कितनी सचाई है यह देखना था। इस कामके लिए हजारों किसानोंसे मिलनेकी जरूरत थी। किन्तु उनके संपर्कमें आनेसे पहले मुझे यह आवश्यक मालूम हुआ कि मैं नीलके मालिकोंकी बात सुन लूँ और कमिशनरसे मिल लूँ। मैंने दोनोंको चिट्ठी लिखी।

मालिकोंके मंत्रीके साथ मेरी जो मुलाकात हुई, उसमें उसने साफ कह दिया कि आपकी गिनती परदेशीमें होती है। आपको हमारे और किसानोंके बीच दखल नहीं देना चाहिये। फिर भी अगर आपको कुछ कहना हो, तो मुझे लिखकर सूचित कीजिये। मैंने मंत्रीसे नम्रतापूर्वक कहा कि मैं अपनेको परदेशी नहीं मानता और किसान चाहें तो उनकी स्थितिकी जाँच करनेका मुझे पूरा अधिकार है। मैं कमिश्नर साहबसे मिला। उन्होंने तो धमकाना ही शुरू कर दिया और मुझे सलाह दी कि मैं आगे बढ़े बिना तिरहुत छोड़ दूँ।

मैंने सारी बातें साथियोंको सुनाकर कहा कि संभव है सरकार मुझे जाँच करनेसे रोके और जेल जानेका समय मेरी अपेक्षासे भी पहले आ जाये। अगर गिरफ्तारी होनी ही है, तो मुझे मोतीहारीमें और संभव हो तो बेतियामें गिरफ्तार होना चाहिये और इसके लिए वहाँ जल्दीसे जल्दी पहुँच जाना चाहिये।

चम्पारन तिरहुत विभागका एक जिला है और मोतीहारी उसका मुख्य शहर। बेतियाके आसपास राजकुमार शुक्लका घर था और उसके आसपासकी कोठियोंके किसान ज्यादा-से-ज्यादा कंगाल थे। राजकुमार शुक्लको उनकी दशा दिखानेका लोभ था और मुझे अब उसे देखनेकी इच्छा थी।

अतएव मैं उसी दिन साथियोंको लेकर मोतीहारीके लिए रवाना हो गया। मोतीहारीमें गोरखबाबूने आश्रय दिया और उनका घर धर्मशाला बन गया। हम सब मुश्किलसे उसमें समा सकते थे। जिस दिन हम पहुँचे उसी दिन सुना कि मोतीहारीसे कोई पाँच मील दूर रहनेवाले एक किसान पर अत्याचार किया गया है। मैंने निश्चय किया कि धरणीधरप्रसाद वकीलको साथ लेकर मैं दूसरे दिन सवेरे उसे देखने जाऊँगा। सवेरे हाथी पर सवार होकर हम चल पड़े। चम्पारनमें हाथीका उपयोग लगभग उसी तरह होता है, जिस तरह गुजरातमें बैलगाड़ियोंका। आधे रास्ते पहुँचे होंगे कि इतनेमें पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्टका आदमी आ पहुँचा और मुझसे बोला, "सुपरिण्टेण्डेण्ट साहबने आपको सलाम भेजा है।" मैं समझ गया। धरणीधरबाबूसे मैंने आगे जानेको कहा। मैं उस जासूसके साथ उसकी भाड़ेकी गाड़ीमें सवार हुआ। उसने मुझे चम्पारन छोड़कर चले जानेकी नोटिस दी। वह मुझे घर ले गया और मेरी सही माँगी। मैंने जवाब दिया कि मैं चम्पारन छोड़ना नहीं चाहता; मुझे तो आगे बढ़ना है और जाँच करनी है। निर्वासनकी आज्ञाका अनादर करनेके लिए मुझे दूसरे ही दिन कोर्टमें हाजिर रहनेका समन मिला।

मैंने सारी रात जागकर जो पत्र मुझे लिखने थे लिखे और ब्रजकिशोरबाबूको सब प्रकारकी आवश्यक सूचनायें दीं।

समनकी बात एकदम चारों ओर फैल गयी। लोग कहते थे कि उस दिन मोतीहारीमें जैसा दृश्य देखा गया वैसा पहले कभी न देखा गया था। गोरखबाबूके घर और दफ्तर पर लोगोंकी भीड़ उमड़ पड़ी। सौभाग्यसे मैंने अपना सारा काम रातको निबटा लिया था। इसलिए मैं इस भीड़को सँभाल सका। साथियोंका मूल्य मुझे पूरा-पूरा मालूम हुआ। वे लोगोंको संयत रखनेमें जुट गये। कचहरीमें जहाँ जाता वहाँ दलके दल लोग मेरे पीछे आते। कलेक्टर, मजिस्ट्रेट, सुपरिण्टेण्डेण्ट आदिके साथ भी मेरा एक प्रकारका संबंध स्थापित हो गया। सरकारी नोटिसों वगैराके खिलाफ कानूनी विरोध करना चाहता, तो मैं कर सकता था। इसके बदले मैंने उनकी सब नोटिसोंको स्वीकार कर लिया और अधिकारियोंके साथ निजी व्यवहारमें मिठाससे काम लिया। इससे वे समझ गये कि मुझे उनका विरोध नहीं करना है, बल्कि उनकी आज्ञाका विनय-पूर्वक विरोध करना है। इससे उनमें एक प्रकारकी निर्भयता आ गयी। मुझे तंग करनेके बदले उन्होंने लोगोंको काबूमें रखनेमें मेरी और मेरे साथियोंकी सहायताका प्रसन्नता-पूर्वक उपयोग किया। किन्तु साथ ही वे समझ गये कि उनकी सत्ता आजसे लुप्त हुई। लोग क्षरभरको दण्डका भय छोड़कर अपने नये मित्रके प्रेमकी सत्ताके अधीन हो गये।

याद रहे कि चम्पारनमें मुझे कोई पहचानता न था। किसान-वर्ग बिलकुल अनपढ़ था। चम्पारन गंगाके उस पार ठेठ हिमालयकी तराईमें नेपालका समीपवर्ती प्रदेश है, अर्थात् नई दुनिया है। वहाँ न कहीं काँग्रेसका नाम सुनायी देता था, न काँग्रेसके कोई सदस्य दिखायी पड़ते थे। जिन्होंने नाम सुना था वे काँग्रेसका नाम लेनेमें अथवा उसमें सम्मिलित होनेमें डरते थे। आज काँग्रेसके नामके बिना काँग्रेसने और काँग्रेसके सेवकोंने इस प्रदेशमें प्रवेश किया और काँग्रेसकी दुहाई फिर गयी।

साथियोंसे परामर्श करके मैंने निश्चय किया था कि काँग्रेसके नामसे कोई भी काम न किया जाय। हमें नामसे नहीं, बल्कि कामसे मतलब है। 'कथनी' नहीं 'करनी'की आवश्यकता है। काँग्रेसका नाम यहाँ अप्रिय है। इस प्रदेशमें काँग्रेसका अर्थ है, वकीलोंकी आपसी खींचातानी, कानूनी गलियोंसे सटक जानेकी कोशिश। काँग्रेसका अर्थ है, बमगोला। काँग्रेस यानी कथनी एक, करनी दूसरी, यह धारणा सरकारकी और सरकारकी सरकार निलहे गोरोंकी थी। हमें यह सिद्ध करना था कि

काँग्रेस ऐसी नहीं है, काँग्रेस तो दूसरी ही चीज है। इसलिए हमने कहीं भी काँग्रेसका नाम तक न लेने और लोगोंको काँग्रेसकी भौतिक देहका परिचय न करानेका निश्चय किया था। हमने यह सोच लिया था कि वे उसके अक्षरको न जानकर उसकी आत्माको जानें और उसका अनुसरण करें तो बस है। यही असल चीज है। अतएव काँग्रेसकी ओरसे किन्हीं गुप्त या प्रकट दूतों द्वारा कोई भूमिका तैयार नहीं करायी गयी थी। राजकुमार शुक्लमें हजारों लोगोंमें प्रवेश करनेकी शक्ति नहीं थी। उनके बीच किसीने आज तक राजनीतिका काम किया ही नहीं था। चम्पारनके बाहरकी दुनियाको वे जानते नहीं थे। फिर भी उनका और मेरा मिलाप पुराने मित्रों-जैसा लगा। अतएव यह कहनेमें अतिशयोक्ति नहीं, बल्कि अक्षरशः सत्य है कि इस कारण मैंने वहाँ ईश्वरका, अहिंसाका और सत्यका साक्षात्कार किया। जब मैं इस साक्षात्कारके अपने अधिकारकी जाँच करता हूँ, तो मुझे लोगोंके प्रति अपने प्रेमके सिवा और कुछ भी नहीं मिलता। इस प्रेमका अर्थ है, प्रेम अथवा अहिंसाके प्रति मेरी अविचल श्रद्धा।

चम्पारनका यह दिन मेरे जीवनमें कभी न भूलने-जैसा था। मेरे लिए और किसानोंके लिए यह एक उत्सवका दिन था। सरकारी कानूनके अनुसार मुझ पर मुकदमा चलाया जानेवाला था। पर सच पूछा जाय तो मुकदमा सरकारके विरुद्ध था। कमिश्नरने मेरे विरुद्ध जो जाल बिछाया था, उसमें उसने सरकारको ही फँसा दिया।

१५. मुकदमा वापस लिया गया

मुकदमा चला। सरकारी वकील, मजिस्ट्रेट आदि घबराये हुए थे। उन्हें सूझ नहीं पड़ रहा था कि किया क्या जाय। सरकारी वकील सुनवाई मुलतवी रखनेकी माँग कर रहा था। मैं बीचमें पड़ा और बिनती की कि सुनवाई मुलतवी रखनेकी कोई जरूरत नहीं है, क्योंकि मुझे चंपारन छोड़नेकी नोटिसका अनादर करनेका अपराध स्वीकार करना है। यह कहकर मैं उस बहुत ही छोटे बयानको पढ़ गया, जो मैंने तैयार किया था। वह इस प्रकार था :

"जाब्ता फौजदारीकी दफा १४४के अनुसार दी हुई आज्ञाका खुला अनादर करनेका गंभीर कदम मुझे क्यों उठाना पड़ा, इस संबंधमें मैं एक छोटा-सा बयान अदालतकी अनुमतिसे देना चाहता हूँ। मेरी नम्र सम्मतिमें यह प्रश्न अनादरका नहीं

है, बल्कि स्थानीय सरकार और मेरे बीच मतभेदका प्रश्न है। मैं इस प्रदेशमें जनसेवा और देश-सेवाके ही उद्देश्यसे आया हूँ। निलहे गोरे रैयतके साथ और देश-सेवाके ही उद्देश्यसे आया हूँ। निलहे गोरे रैयतके साथ न्यायका व्यवहार नहीं करते, इस कारण उनकी मददके लिए आनेका प्रबल आग्रह मुझसे किया गया। इसलिए मुझे आना पड़ा है। समूचे प्रश्नका अध्ययन किये बिना मैं उनकी मदद किस प्रकार कर सकता हूँ? इसलिए मैं इस प्रश्नका अध्ययन करने आया हूँ और संभव हो तो सरकार और निलहोंकी सहायता लेकर इसका अध्ययन करना चाहता हूँ। मेरे सामने कोई दूसरा उद्देश्य नहीं है, और मैं यह नहीं मान सकता कि मेरे आनेसे लोगोंकी शांति भंग होगी और खून-खराबा होगा। मेरा दावा है कि इस विषयका मुझे अच्छा खासा अनुभव है। पर सरकारका विचार इस सम्बन्धमें मुझसे भिन्न है। उसकी कठिनाईको मैं समझता हूँ और मैं यह भी स्वीकार करता हूँ कि उसे प्राप्त जानकारी पर ही विश्वास करना होता है। कानूनका आदर करनेवाले एक प्रजाजनके नाते तो मुझे जो आज्ञा दी गयी है उसे स्वीकार करनेकी स्वाभाविक इच्छा होनी चाहिये, और हुई थी। पर मुझे लगा कि वैसा करनेमें जिनके लिए मैं यहाँ आया हूँ उनके प्रति रह अपने कर्तव्यकी मैं हत्या करूँगा। मुझे ऐसा लगता है कि आज मैं उनकी सेवा उनके बीच रहकर ही कर सकता हूँ। इसलिए स्वेच्छासे चंपारन छोड़ना मेरे लिए संभव नहीं है। इस धर्म-संकटके कारण मुझे चम्पारनसे हटानेकी जिम्मेदारी मैं सरकार पर डाले बिना रह न सका।

"मैं इस बातको अच्छी तरह समझता हूँ कि हिन्दुस्तानके लोकजीवनमें मुझ-जैसी प्रतिष्ठा रखनेवाले आदमीको कोई कदम उठाकर उदाहरण प्रस्तुत करते समय बड़ी सावधानी रखनी चाहिये। पर मेरा दृढ़ विश्वास है कि आज जिस अटपटी परिस्थितिमें हम पड़े हुए हैं उसमें मेरे-जैसी परिस्थितियोंमें फँसे हुए स्वाभिमानी मनुष्यके सामने इसके सिवा दूसरा कोई सुरक्षित और सम्मानयुक्त मार्ग नहीं है कि आज्ञाका अनादर करके उसके बदलेमें जो दण्ड प्राप्त हो, उसे चुपचाप सहन कर लिया जाय।

"आप मुझे जो सजा देना चाहते हैं, उसे कम करानेकी भावनासे मैं यह बयान नहीं दे रहा हूँ। मुझे तो यही जता देना है कि आज्ञाका अनादर करनेमें मेरा उद्देश्य कानून द्वारा स्थापित सरकारका अपमान करना नहीं है, बल्कि मेरा हृदय जिस अधिक बड़े कानूनको-अर्थात् अन्तरात्माकी आवाजको-स्वीकार करता है, उसका अनुसरण करना ही मेरा उद्देश्य है।"

अब मुकदमेकी सुनवाईको मुलतवी रखनेकी जरूरत न रही थी, किन्तु चूँकि मजिस्ट्रेट और वकीलने इस परिणामकी आशा नहीं की थी, इसलिए सजा सुनानेके लिए अदालतने केस मुलतवी रखा। मैंने वाइसरॉयको सारी स्थिति तार द्वारा सूचित कर दी थी। पटना भी तार भेजा था। भारतभूषण पंडित मालवीयजी आदिको भी वस्तुस्थितिकी जानकारी तारसे भेज दी थी। सजा सुननेके लिए कोर्टमें जानेका समय हुआ, उससे कुछ पहले मेरे नाम मजिस्ट्रेटका हुक्म आया कि गवर्नर साहबकी आज्ञासे मुकदमा वापस ले लिया गया है। साथ ही कलेक्टरका पत्र मिला कि मुझे जो जाँच करनी हो, मैं करूँ और उसमें अधिकारियोंकी ओरसे जो मदद आवश्यक हो, सो माँग लूँ। ऐसे तात्कालिक और शुभ परिणामकी आशा हममें से किसीने नहीं रखी थी।

मैं कलेक्टर मि० हेकांकसे मिला। मुझे वह स्वयं भला और न्याय करनेमें तत्पर जान पड़ा। उसने कहा कि आपको जो कागज-पत्र या कुछ और देखना हो, सो आप माँग लें और मुझसे जब भी मिलना चाहें, मिल लिया करें।

दूसरी ओर सारे हिन्दुस्तानको सत्याग्रहका कानूनके सविनय भंगका पहला स्थानीय पदार्थ-पाठ मिला। अखबारोंमें इसकी खूब चर्चा हुई और चंपारनको तथा मेरी जाँचको अनपेक्षित रीतिसे प्रसिद्धि मिल गयी।

अपनी जाँचके लिए मुझे सरकारकी ओरसे तटस्थताकी तो आवश्यकता थी, परंतु समाचारपत्रोंकी चर्चाकी और उनके संवाददाताओंकी आवश्यकता न थी। यही नहीं बल्कि उनकी आवश्यकतासे अधिक टीकाओंसे और जाँचकी लम्बी-चौड़ी रिपोर्टोंसे हानि होनेका भय था। इसलिए मैंने खास-खास अखबारोंके संपादकोंसे प्रार्थना की थी कि वे रिपोर्टरोंको भेजनेका खर्च न उठाये; जितना छपानेकी जरूरत होगी उतना मैं स्वयं भेजता रहूँगा और उन्हें खबर देता रहूँगा।

मैं यह समझता था कि चंपारनके निलहे खूब चिढ़े हुए हैं। मैं यह भी समझता था कि अधिकारी भी मनमें खुश न होंगे; अखबारोंमें सच्ची-झूठी खबरोंके छपनेसे वे अधिक चिढ़ेंगे। उनकी चिढ़का प्रभाव मुझ पर तो कुछ नहीं पड़ेगा, पर गरीब, डरपोक रैयत पर पड़े बिना न रहेगा। ऐसा होनेसे जो सच्ची स्थिति मैं जानना चाहता हूँ उसमें बाधा पड़ेगी। निलहोंकी तरफसे विषैला आन्दोलन शुरू हो चुका था। उनकी ओरसे अखबारोंमें मेरे और साथियोंके बारेमें खूब झूठा प्रचार हुआ, किन्तु मेरे अत्यन्त सावधान रहनेसे और बारीक-से-बारीक बातोंमें भी सत्य पर दृढ़

रहनेकी आदतके कारण उनके तीर व्यर्थ गये।

निलहोंने ब्रजकिशोरबाबूकी अनेक प्रकारसे निन्दा करनेमें जरा भी कसर नहीं रखी। पर ज्यों-ज्यों वे उनकी निन्दा करते गये, त्यों-त्यों ब्रजकिशोरबाबूकी प्रतिष्ठा बढ़ती गयी।

ऐसी नाजुक स्थितिमें मैंने रिपोर्टरोंको आनेके लिए जरा भी प्रोत्साहित नहीं किया, न नेताओंको बुलाया। मालवीयजीने मुझे कहला भेजा था कि "जब जरूरत समझें, मुझे बुला लें। मैं आनेको तैयार हूँ।" उन्हें भी मैंने तकलीफ नहीं दी। मैंने इस लड़ाईको कभी राजनीतिक रूप धारण न करने दिया। जो कुछ होता था उसकी प्रासंगिक रिपोर्ट मैं मुख्य-मुख्य समाचारपत्रोंको भेज दिया करता था। राजनीतिक काम करनेके लिए भी जहाँ राजनीतिकी गुंजाइश न हो, वहाँ उसे राजनीतिक स्वरूप देनेसे पांडेको दोनों दीनसे जाना पड़ता है; और इस प्रकार विषयका स्थानान्तर न करनेसे दोनों सुधरते हैं। बहुत बारके अनुभवसे मैंने यह सब देख लिया था। चम्पारनकी लड़ाई यह सिद्ध कर रही थी कि शुद्ध लोकसेवामें प्रत्यक्ष नहीं तो परोक्ष रीतिसे राजनीति मौजूद ही रहती है।

१६. कार्य-पद्धति

चंपारनकी जाँचका विवरण देनेका अर्थ है, चंपारनके किसानोंका इतिहास देना। ऐसा विवरण इन प्रकरणोंमें नहीं दिया जा सकता। फिर, चंपारनकी जाँचका अर्थ है, अहिंसा और सत्यका एक बड़ा प्रयोग। इसके सम्बन्धकी जितनी बातें मुझे प्रति सप्ताह सूझती हैं उतनी देता रहता हूँ। उसका विशेष विवरण तो पाठकोंको बाबू राजेन्द्रप्रसाद द्वारा लिखित इस सत्याग्रहके इतिहासमें और 'युगधर्म' प्रेस द्वारा प्रकाशित उसके (गुजराती) अनुवादमें ही मिल सकता है।

अब मैं इस प्रकरणके विषय पर आता हूँ। यदि गोरखबाबूके घर रहकर यह जाँच चलायी जाती, तो उन्हें अपना घर खाली करना पड़ता। मोतीहारीमें अभी लोक इतने निर्भय नहीं हुए थे कि माँगने पर कोई तुरन्त अपना मकान किराये पर दे दे। किन्तु चतुर ब्रजकिशोरबाबूने एक लम्बे-चौड़े अहातेवाला मकान किराये पर लिया और हम उसमें रहने गये।

स्थिति ऐसी नहीं थी कि हम बिलकुल बिना पैसेके अपना काम चला सकें। आज

तककी प्रथा सार्वजनिक कामके लिए जनतासे धन प्राप्त करनेकी नहीं थी। ब्रजकिशोरबाबूका मण्डल मुख्यतः वकीलोंका मण्डल था। अतएव वे जरूरत पड़ने पर अपनी जेबसे खर्च कर लेते थे और कुछ मित्रोंसे भी माँग लेते थे। उनकी भावना यह थी कि जो लोग स्वयं पैसे-टकेसे सुखी हों, वे लोगोंसे द्रव्यकी भिक्षा क्यों माँगें? मेरा यह दृढ़ निश्चय था कि चंपारनकी रैयतसे एक कौड़ी भी न ली जाय। यदि ली जाती तो उसके गलत अर्थ लगाये जाते। यह भी निश्चय था कि इस जाँचके लिए हिन्दुस्तानमें सार्वजनिक चन्दा न किया जाय। वैसा करने पर यह जाँच राष्ट्रीय और राजनीतिक रूप धारण कर लेती। बम्बईसे मित्रोंने १५ हजार रुपयेकी मददका तार भेजा। उनकी यह मदद सधन्यवाद अस्वीकार की गयी। निश्चय यह हुआ कि ब्रजकिशोरबाबूका मण्डल चंपारनके बाहरसे, लेकिन बिहारके ही खुशहाल लोगोंसे जितनी मदद ले सके ले और कम पड़नेवाली रकम मैं डॉ. प्राणजीवनदास मेहतासे प्राप्त कर लूँ। डॉ. मेहताने लिखा कि जितने रुपयोंकी जरूरत हो, मँगा लीजिये। अतएव द्रव्यके विषयमें हम निश्चिन्त हो गये। गरीबी-से, कम-से-कम खर्च करते हुए, लड़ाई चलानी थी, अतएव अधिक द्रव्यकी आवश्यकता पड़नेकी संभावना न थी। असलमें पड़ी भी नहीं। मेरा खयाल है कि कुल मिलाकर दो या तीन हजारसे अधिक खर्च नहीं हुआ था। जो द्रव्य इकट्ठा किया गया था उसमें पाँच सौ या एक हजार रुपये बच गये थे, ऐसा मुझे याद है।

शुरू-शुरूके दिनोंमें हमारी रहन-सहन विचित्र थी और मेरे लिए वह रोजके विनोदका विषय बन गयी थी। वकील-मण्डलमें हरएकका अपना रसोइया था और हरएकके लिए अलग अलग रसोई बनती थी। वे रात बारह बजे तक भी भोजन करते थे। ये सब महाशय रहते तो अपने खर्चसे ही थे। परन्तु मेरे लिए उनकी यह रहन-सहन उपाधिरूप थी। मेरे और मेरे साथियोंके बीच इतनी मजबूत प्रेमगाँठ बँध गयी थी कि हममें कभी गलतफहमी हो ही नहीं सकती थी। वे मेरे शब्दबाणोंको प्रेम-पूर्वक सहते थे। आखिर यह तय हुआ कि नौकरोंको छुट्टी दे दी जाय। सब एकसाथ भोजन करें और भोजनके नियमोंका पालन करें। सब निरामिषाहारी नहीं थे और दो रसोइघर चलानेसे खर्च बढ़ता था। अतएव निश्चय हुआ कि निरामिष भोजन ही बनाया जाये और एक ही रसोईघर रखा जाये। भोजन भी सादा रखनेका आग्रह था। इससे खर्चमें बहुत बचत हुई, काम करनेकी शक्ति बढ़ी और समय भी बचा।

अधिक शक्तिकी बहुत आवश्यकता थी, क्योंकि किसानोंके दल-के-दल अपनी

कहानी लिखानेके लिए आने लगे थे। कहानी लिखानेवालोंके साथ भी तो रहती ही थी। इससे मकानका अहाता और बगीचा सहज ही भर जाता था। मुझे दर्शनार्थियोंसे सुरक्षित रखनेके लिए साथी भारी प्रयत्न करते और विफल हो जाते। एक निश्चित समय पर मुझे दर्शन देनेके लिए बाहर निकलने के सिवा कोई चारा न रह जाता था। कहानी लिखनेवाले भी पाँच-सात बराबर बने ही रहते थे, तो भी दिनके अन्तमें सबके बयान पूरे न हो पाते थे। इतने सारे बयानोंकी आवश्यकता नहीं थी, फिर भी बयान लेनेसे लोगोंको संतोष होता था और मुझे उनकी भावनाका पता चलता था।

कहानी लिखनेवालोंको कुछ नियमोंका पालन करना पड़ता था। जैसे, हरएक किसानसे जिरह की जाय। जिरहमें जो उखड़ जाय, उसका बयान न लिया जाय। जिसकी बात मूलमें ही बेबुनियाद मालूम हो, उसके बयान न लिखे जायें। इस तरह नियमोंके पालनसे यद्यपि थोड़ा अधिक समय खर्च होता था, फिर भी बयान बहुत सच्चे और साबित हो सकनेवाले मिलते थे।

इन बयानोंके लेते समय खुफिया पुलिसका कोई-न-कोई अधिकारी हाजिर रहता ही था। इन अधिकारियोंको आनेसे रोका जा सकता था। पर हमने शुरूसे ही निश्चय कर लिया था कि उन्हें सिर्फ हम आनेसे नहीं रोकेंगे, बल्कि उनके प्रति विनयका बरताव करेंगे और दे सकने योग्य खबरें भी उन्हें देते रहेंगे। उनके सुनते और देखते ही सारे बयान लिये जाते थे। इसका एक लाभ यह हुआ कि लोगोंमें अधिक निर्भयता आयी। खुफिया पुलिससे लोग बहुत डरते थे। ऐसा करनेसे वह डर चला गया और उनकी आँखोंके सामने दिये जानेवाले बयानोंमें अतिशयोक्तिका डर कम रहता था। इस डरसे कि झूठ बोलने पर अधिकारी कहीं उन्हें फाँद न लें, उन्हें सावधानीसे बोलना पड़ता था।

मैं निलहोंको खिझाना नहीं चाहता था, बल्कि मुझे तो उन्हें विनय द्वारा जीतनेका प्रयत्न करना था। इसलिए जिसके विरुद्ध विशेष शिकायतें आतीं, उसे मैं पत्र लिखता और उससे मिलनेका प्रयत्न भी करता था। निलहोंके मण्डलसे भी मैं मिला था और रैयतकी शिकायतें उनके सामने रखकर मैंने उनकी बातें भी सुन ली थीं। उनमें से कुछ मेरा तिरस्कार करते थे, कुछ उदासीन रहते थे और कोई कोई मेरे साथ सभ्यता और नम्रताका व्यवहार करते थे।

१७. साथी

ब्रजकिशोरबाबू और राजेन्द्रबाबूकी तो एक अद्वितीय जोड़ी थी। उन्होंने अपने प्रेमसे मुझे इतना पंगु बना दिया था कि उनके बिना मैं एक क़दम भी आगे नहीं जा सकता था। उनके शिष्य कहिये अथवा साथी; शंभूबाबू, अनुग्रहबाबू, धरणीबाबू और रामनवमीबाबू - ये वकील लगभग निरंतर मेरे साथ रहते थे। विन्ध्याबाबू और जनकधारीबाबू भी समय-समय पर साथ रहते थे। यह तो बिहारियोंका संघ हुआ! उनका मुख्य काम था लोगोंके बयान लेना।

अध्यापक कृपालानी इसमें सम्मिलित हुए बिना कैसे रह सकते थे? स्वयं सिन्धी होते हुए भी वे बिहारीसे भी बढ़कर बिहारी थे। मैंने ऐसे सेवक कम देखे हैं, जिनमें वे जिस प्रान्तमें जायें उसमें पूरी तरह घुलमिल जानेकी शक्ति हो और जो किसीको यह मालूम न होने दें कि वे दूसरे प्रान्तके हैं। इनमें कृपालानी एक हैं। उनका मुख्य काम द्वारपालका था। दर्शन करनेवालोंसे मुझे बचा लेनेमें उन्होंने इस समय अपने जीवनकी सार्थकता समझ ली थी। किसीको वे विनोद करके मेरे पास आनेसे रोकते थे, तो किसीको अहिंसक धमकीसे। रात होने पर अध्यापकका धन्धा शुरू करते और सब साथियोंको हँसाते थे, और कोई डरपोक पहुँच जाय, तो उसे हिम्मत बँधाते थे।

मौलाना मजहरुल हकने मेरे सहायकके रूपमें हक दर्ज करा रखा था और वे महीनेमें एक-दो बार दर्शन दे जाते थे। उस समयके उनके ठाटबाट और दबदबेमें और आजकी उनकी सादगीमें जमीन-आसमानका अन्तर है। हमारे बीच आकर वे हमसे हृदयकी एकता साध जाते थे, पर अपनी साहबीके कारण बाहरके आदमीको वे हमसे अलग-जैसे जान पडते थे।

जैसे-जैसे मुझे अनुभव प्राप्त होता गया वैसे-वैसे देखा कि चंपारनमें ठीकसे काम करना हो, तो गाँवोंमें शिक्षाका प्रवेश होना चाहिये। लोगोंका अज्ञान दयनीय था। गाँवोंके बच्चे मारे-मारे फिरते थे अथवा मातापिता दो या तीन पैसेकी आमदनीके लिए उनसे सारे दिन नीलके खेतोंमें मजदूरी करवाते थे। उन दिनों वहाँ पुरुषोंकी मजदूरी दस पैसेसे अधिक नहीं थी। स्त्रियोंकी छह पैसे और बालकोंकी तीन पैसे थी। चार आनेकी मजदूरी पानेवाला किसान भाग्यशाली समझा जाता था।

साथियोंसे सलाह करके पहले तो छह गाँवोंमें बालकोंके लिए पाठशालायें खोलनेका निश्चय किया। शर्त यह थी कि उन गाँवोंके मुखिया मकान और शिक्षकका

भोजन-व्यय दें; उसके दूसरे खर्चकी व्यवस्था हम करें। यहाँके गाँवोंमें पैसेकी विपुलता नहीं थी, पर अनाज वगैरा देनेकी शक्ति लोगोंमे थी। इसलिए लोग कच्चा अनाज देनेको तैयार हो गये थे।

महान प्रश्न यह था कि शिक्षक कहाँसे लाये जायें? बिहारमें थोड़ा वेतन लेनेवाले अथवा कुछ न लेनेवाले अच्छे शिक्षकोंका मिलना कठिन था। मेरी कल्पना यह थी कि साधारण शिक्षकके हाथमें बच्चोंको कभी न छोड़ना चाहिये। शिक्षकको अक्षर-ज्ञान चाहे थोड़ा हो, पर उसमें चरित्रबल तो होना ही चाहिये।

इस कामके लिए मैंने सार्वजनिक रूपसे स्वयंसेवकोंकी माँग की। उसके उत्तरमें गंगाधरराव देशपांडेने बाबासाहब सोमण और पुंडलीकको भेजा। बम्बईसे अवन्तिकाबाई गोखले आयीं। दक्षिणसे आनन्दीबाई आयीं। मैंने छोटेलाल, सुरेन्द्रनाथ तथा अपने लड़के देवदासको बुला लिया। इसी बीच महादेव देसाई और नरहरि परीख मुझे मिल गये थे। महादेव देसाईकी पत्नी दुर्गाबहन और नरहरि परीखकी पत्नी मणिबहन भी आयीं। मैंने कस्तूरबाईको भी बुला लिया था। शिक्षकों और शिक्षिकाओंका इतना संघ काफी था। श्रीमती अवन्तिकाबाई और आनन्दीबाईकी गिनती तो शिक्षितोंमें हो सकती थी, पर मणिबहन परीख और दुर्गाबहन देसाईको सिर्फ थोड़ी-सी गुजराती आती थी। कस्तूरबाईकी पढ़ाई तो नहीं के बराबर ही थी। ये बहनें हिन्दी-भाषी बच्चोंको किस प्रकार पढ़ातीं?

चर्चा करके मैंने बहनोंको समझाया कि उन्हें बच्चोंको व्याकरण नहीं, बल्कि रहन-सहनका तौर-तरीका सिखाना है। पढ़ना-लिखना सिखानेकी अपेक्षा उन्हें स्वच्छताके नियम सिखाने हैं। उन्हें यह भी बताया कि हिन्दी, गुजराती, मराठीके बीच कोई बड़ा भेद नहीं है, और पहले दर्जेमें तो मुश्किलसे अंक लिखना सिखाना है। अतएव उन्हें कोई कठिनाई होगी ही नहीं। परिणाम यह निकला कि बहनोंकी कक्षायें बहुत अच्छी तरह चलीं। बहनोंमें आत्मविश्वास उत्पन्न हो गया और उन्हें अपने काममें रस भी आने लगा। अवन्तिकाबाईकी पाठशाला आदर्श पाठशाला बन गयी। उन्होंने अपनी पाठशालामें प्राण फूँक दिये। उनकी योग्यता भी काफी थी। इन बहनोंके द्वारा गाँवोंके स्त्री-समाजमें भी हमारा प्रवेश हो सका था।

पर मुझे पढ़ाईकी व्यवस्था करके ही रुकना नहीं था। गाँवोंमें गंदगीकी कोई सीमा न थी। गलियोंमें कचरा, कुओंके आसपास कीचड़ और बदबू, आँगन इतने गंदे कि देखे न जा सकें। बड़ोंको स्वच्छताकी शिक्षाकी जरूरत थी। चंपारनके लोग रोगोंसे

पीड़ित देखे जाते थे। जितना हो सके उतना सफाईका काम करके लोगोंके जीवनके प्रत्येक विभागमें प्रवेश करनेकी हमारी वृत्ति थी

इस काममें डॉक्टरोंकी सहायताकी जरूरत थी। अतएव मैंने गोखलेकी सोसायटीसे डॉ० देवकी माँग की। उनके साथ मेरी स्नेहगाँठ तो बँध ही चुकी थी। छह महीनोंके लिए उनकी सेवाका लाभ मिला। उनकी देखरेखमें शिक्षकों और शिक्षिकाओंको काम करना था।

सबको यह समझा दिया गया था कि कोई भी निलहोंके विरुद्ध की जानेवाली शिकायतोंमें न पड़ें। राजनीतिको न छुएँ। शिकायत करनेवालोंको मेरे पास भेज दें। कोई अपने क्षेत्रसे बाहर एक कदम भी न रखें। चंपारनके इन साथियोंका नियम-पालन अद्भुत था। मुझे ऐसा कोई अवसर याद नहीं आता, जब किसीने दी हुई सूचनाओंका उल्लंघन किया हो।

१८. ग्राम-प्रवेश

प्रायः प्रत्येक पाठशालामें एक पुरुष और एक स्त्रीकी व्यवस्था की गयी थी। उन्हींके द्वारा दवा और सफाईके काम करने थे। स्त्रियोंकी मारफत स्त्री-समाजमें प्रवेश करना था। दवाका काम बहुत सरल बना लिया था। अंडीका तेल, कुनैन और एक मरहम - इतनी ही चीजें प्रत्येक पाठशालामें रखी जाती थीं। जाँचने पर चीज मैली दिखाई दे और कब्जकी शिकायत हो, तो अंडीका तेल पिला देना। बुखारकी शिकायत हो, तो अंडीका तेल देनेके बाद आनेवालेको कुनैन पिला देना। और अगर फोड़े हों तो उन्हें धोकर उन पर मरहम लगा देना। खानेकी दवा अथवा मरहम साथ ले जानेके लिए शायद ही दिया जाता था। कहीं कोई खतरनाक या समझमें न आनेवाली बीमारी होती, तो वह डॉ० देवको दिखानेके लिए छोड़ दी जाती। डॉ० देव अलग-अलग जगहोंमें नियत समय पर हो आते थे। ऐसी सादी सुविधाका लाभ लोग ठीक मात्रामें उठाने लगे थे। आम तौरसे होनेवाली बीमारियाँ थोड़ी ही हैं और उनके लिए बड़े-बड़े विशारदोंकी आवश्यकता नहीं होती। इसे ध्यानमें रखा जाय, तो उपर्युक्त रीतिसे की गयी व्यवस्था किसीको हास्यजनक प्रतीत नहीं होगी। लोगोंको तो नहीं ही हुई।

सफाईका काम कठिन था। लोग गंदगी दूर करनेको तैयार नहीं थे। जो लोग

रोज खेतोंकी मजदूरी करते थे, वे भी अपने हाथसे मैला साफ करनेके लिए तैयार न थे। डॉ० देव झट हार मान लेनेवाले आदमी न थे। उन्होंने और स्वयंसेवकोंने अपने हाथसे एक गाँवके रास्तोंकी सफाई की, लोगोंके आँगनोंसे कचरा साफ किया, कुओंके आसपासके गड्ढ़े भरे, कीचड़ निकाला और गाँववालोंको स्वयंसेवक देनेकी बात प्रेमपूर्वक समझाते रहे। कुछ स्थानोंमें लोगोंने शरममें पड़कर काम करना शुरू किया और कहीं-कहीं तो लोगोंने मेरी मोटरके आने-जानेके लिए अपनी मेहनतसे सड़कें भी तैयार कर दीं। ऐसे मीठे अनुभवोंके साथ ही लोगोंकी लापरवाहीके कड़वे अनुभव भी होते रहते थे। मुझे याद है कि सफाईकी बात सुनकर कुछ जगहोंमें लोगोंने अपनी नाराजी भी प्रकट की थी।

इन अनुभवोंमें से एक जिसका वर्णन मैंने स्त्रियोंकी कई सभाओंमें किया है, यहाँ देना अनुचित न होगा। भीतिहरवा एक छोटा-सा गाँव था। उसके पास उससे भी छोटा एक गाँव था। वहाँ कुछ बहनोंके कपड़े बहुत मैले दिखायी दिये। इन बहनोंको कपड़े बदलनेके बारेमें समझानेके लिए मैंने कस्तूरबाईसे कहा। उसने उन बहनोंसे बात की। उनमें से एक बहन कस्तूरबाईको अपनी झोंपड़ीमें ले गयी और बोली, "आप देखिये, यहाँ कोई पेटी या अलमारी नहीं है कि जिसमें कपड़े बन्द हों। मेरे पास यही एक साड़ी है, जो मैंने पहन रखी है। इसे मैं कैसे धो सकती हूँ? महात्माजीसे कहिये कि वे कपड़े दिलवायें। उस दशामें मैं रोज नहाने और कपड़े बदलनेको तैयार रहूँगी।" हिन्दुस्तानमें ऐसे झोंपड़े अपवादरूप नहीं हैं। असंख्य झोंपड़ोंमें साज-सामान, संदूक-पेटी, कपड़े-लत्ते, कुछ नहीं होते और असंख्य लोग केवल पहने हुए कपड़ों पर ही अपना निर्वाह करते हैं।

एक दूसरा अनुभव भी बताने-जैसा है। चंपारनमें बाँस या घासकी कमी नहीं रहती। लोगोंने भीतिहरवामें पाठशालाका जो छप्पर बनाया था, वह बाँस और घासका था। किसीने उसे रातको जला दिया। सन्देह तो आसपासके निलहोंके आदमियों पर हुआ था। फिरसे बांस और घासका मकान बनाना मुनासिब मालूम नहीं हुआ। यह पाठशाला श्री सोमण और कस्तूरबाईके जिम्मे थी। श्री सोमणने ईंटोंका पक्का मकान बनानेका निश्चय किया और उनके स्वपरिश्रमकी छूत दूसरोंको लगी, जिससे देखते-देखते ईंटोंका मकान बनाकर तैयार हो गया और फिरसे मकानके जल जानेका डर न रहा।

इस प्रकार पाठशाला, सफाई और औषधोपचारके कामोंसे लोगोंमें स्वयंसेवकोंके

प्रति विश्वास और आदरकी वृद्धि हुई और उन पर अच्छा प्रभाव पड़ा।

पर मुझे खेदके साथ कहना पड़ता है कि इस कामको स्थायी रूप देनेका मेरा मनोरथ सफल न हो सका। जो स्वयंसेवक मिले थे, वे एक निश्चित अवधिके लिए ही मिले थे। दूसरे नये स्वयंसेवकोंके मिलनमें कठिनाई हुई और बिहारसे इस कामके लिए योग्य स्थायी सेवक न मिल सके। मुझे भी चंपारनका काम पूरा होते-होते एक दूसरा काम, जो तैयार हो रहा था, घसीट ले गया। इतने पर भी छह महीनों तक हुए इस कामने इतनी जड़ पकड़ ली कि एक नहीं तो दूसरे स्वरूपमें उसका प्रभाव आज तक बना हुआ है।

१९. उजला पहलू

एक ओर समाज-सेवाका वह काम हो रहा था, जिसका वर्णन मैंने पिछले प्रकरणोंमें किया है, और दूसरी ओर लोगोंके दुःखोंकी कहानियाँ लिखनेका काम उत्तरोत्तर बढ़ते पैमाने पर हो रहा था। हजारों लोगोंकी कहानियाँ लिखी गयीं। उनका कोई असर न हो, यह कैसे संभव था? जैसे-जैसे मेरे पड़ाव पर लोगोंकी आमद-रफ्त बढ़ती गयी वैसे-वैसे निलहोंका क्रोध बढ़ता गया, उनकी ओरसे मेरी जाँचको बन्द करानेके प्रयत्न बढ़ते गये।

एक दिन मुझे बिहार-सरकारका पत्र मिला। उसका आशय इस प्रकार था: "आपकी जाँच काफी लंबे समय तक चल चुकी है और अब आपको उसे बन्द करके बिहार छोड़ देना चाहिये।" पत्र विनय-पूर्वक लिखा गया था, पर उसका अर्थ स्पष्ट था। मैंने लिखा कि जाँचका काम तो अभी देर तक चलेगा और समाप्त होने पर भी जब तक लोगोंके दुःख दूर न होंगे, मेरा इरादा बिहार छोड़कर जानेका नहीं है।

मेरी जाँच बन्द करानेके लिए सरकारके पास एक समुचित उपाय यही था कि वह लोगोंकी शिकायतको सच मानकर उन्हें दूर करे, अथवा शिकायतोंको ध्यानमें लेकर अपनी जाँच-समिति नियुक्त करे। गवर्नर सर एडवर्ड गेटने मुझे बुलाया और कहा कि वे स्वयं एक जाँच-समिति नियुक्त करना चाहते हैं। उन्होंने मुझे उसका सदस्य बननेके लिए आमंत्रित किया। समितिके दूसरे नाम देखनेके बाद मैंने साथियोंसे सलाह की और इस शर्तके साथ सदस्य बनना कबूल किया कि मुझे अपने साथियोंसे

सलाह-मशविरा करनेकी स्वतंत्रता रहनी चाहिये और सरकारको यह समझ लेना चाहिये कि सदस्य बन जानेसे मैं किसानोंकी हिमायत करना छोड़ न दूँगा, तथा जाँच पूरी पूरी हो जाने पर यदि मुझे संतोष न हुआ, तो किसानोंका मार्गदर्शन करनेकी अपनी स्वतंत्रताको मैं हाथसे जाने न दूँगा।

सर एडवर्ड गेटने इन शर्तोंको उचित मानकर उन्हें मंजूर किया। स्व० सर फ्रेंक स्लाई समितिके अध्यक्ष नियुक्त किये गये थे। जाँच-समितिने किसानोंकी सारी शिकायतोंको सही ठहराया और निलहे गोरोंने उनसे जो रकम अनुचित रीतिसे वसूल की थी, उसका कुछ अंश लौटाने और 'तीन कठिया' के कानूनको रद करनेकी सिफारिश की।

इस रिपोर्टके सांगोपांग तैयार होने और अन्तमें कानूनके पास होनेमें सर एडवर्ड गेटका बहुत बड़ा हाथ था। यदि वे दृढ़ न रहे होते अथवा उन्होंने अपनी कुशलताका पूरा उपयोग न किया होता, तो जो सर्वसम्मत रिपोर्ट तैयार हो सकी वह न हो पाती और आखिरमें जो कानून पास हुआ वह भी न हो पाता। निलहोंकी सत्ता बहुत प्रबल थी। रिपोर्टके पेश हो जाने पर भी उनमें से कुछने बिलका कड़ा विरोध किया था। पर सर एडवर्ड गेट अन्त तक दृढ़ रहे और उन्होंने समितिकी सिफारिशों पर पूरा-पूरा अमल किया।

इस प्रकार सौ सालसे चले आनेवाले 'तीन कठिया' के कानूनके रद होते ही निलहे गोरोंके राज्यका अस्त हुआ, जनताका जो समुदाय बराबर दबा ही रहता था उसे अपनी शक्तिका कुछ भान हुआ और लोगोंका यह वहम दूर हुआ कि नीलका दाग धोये धुल ही नहीं सकता।

मैं तो चाहता था कि चम्पारनमें शुरू किये गये रचनात्मक कामको जारी रखकर लोगोंमें कुछ वर्षों तक काम करूँ, अधिक पाठशालाएँ खोलूँ और अधिक गाँवोंमें प्रवेश करूँ। क्षेत्र तैयार था। पर ईश्वरने मेरे मनोरथ प्रायः पूरे होने ही नहीं दिये। मैंने सोचा कुछ था और दैव मुझे घसीट कर ले गया एक दूसरे ही काममें।

३०. मजदूरोंके सम्पर्कमें

चम्पारनमें अभी मैं समितिके कामको समेट ही रहा था कि इतनेमें खेड़ासे मोहनलाल पंड्या और शंकरलाल परीखका पत्र आया कि खेडा जिलेमें फ़सल नष्ट हो गई है और लगान माफ करानेकी जरूरत है। उन्होंने आग्रहपूर्वक लिखा कि मैं वहाँ पहुँचूँ और लोगोंकी रहनुमाई करूँ। मौके पर जाँच किये बिना कोई सलाह देनेकी मेरी इच्छा नहीं थी, न मुझमें वैसी शक्ति या हिम्मत ही थी।

दूसरी ओरसे श्री अनसूयाबाईका पत्र उनके मजदूर-संघके बारेमें आया था। मजदूरोंकी तनख्वाहें कम थीं। तनख्वाह बढ़ानेकी उनकी माँग बहुत पुरानी थी। इस मामलेमें उनकी रहनुमाई करनेका उत्साह मुझमें था। लेकिन मुझमें यह क्षमता न थी कि इस अपेक्षाकृत छोटे प्रतीत होनेवाले कामको भी मैं दूर बैठकर कर सकूँ। इसलिए मौका मिलते ही मैं पहले अहमदाबाद पहुँचा। मैंने यह सोचा था कि दोनों मामलोंकी जाँच करके थोड़े समयमें मैं वापस चम्पारन पहुँचूँगा और वहाँके रचनात्मक कामकी देखरेख करूँगा।

पर अहमदाबाद पहुँचनेके बाद वहाँ ऐसे काम निकल आये कि मैं कुछ समय तक चम्पारन नहीं जा सका और जो पाठशालायें वहाँ चल रही थीं वे एक-एक करके बन्द हो गयीं। साथियोंने और मैंने कितने हवाई किले रचे थे, पर कुछ समयके लिए तो वे सब ढह गये।

चम्पारनमें ग्राम-पाठशालाओं और ग्राम-सुधारके अलावा गोरक्षाका काम भी मैंने हाथमें लिया था। गोरक्षा और हिन्दीप्रचारके कामका इजारा मारवाड़ी भाइयोंने ले रखा है, इसे मैं अपने भ्रमणमें देख चुका था। बेतियामें एक मारवाड़ी सज्जनने अपनी धर्मशालामें मुझे आश्रय दिया था। बेतियाके मारवाड़ी सज्जनोंने मुझे अपनी गोशालाके काममें फाँद लिया था। गोरक्षाके विषयमें मेरी जो कल्पना आज है, वही उस समय बन चुकी थी। गोरक्षाका अर्थ है, गोवंशकी वृद्धि, गोजातिका सुधार, बैलसे मर्यादित काम लेना, गोशालाको आदर्श दुग्धालय बनाना, आदि-आदि। इस काममें मारवाड़ी भाइयोंने पूरी मदद देनेका आश्वासन दिया था। पर मैं चम्पारनमें स्थिर होकर रह न सका, इसलिए वह काम अधूरा ही रह गया। बेतियामें गोशाला तो आज भी चलती है, पर वह आदर्श दुग्धालय नहीं बन सकी है। चम्पारनके बैलोंसे आज भी उनकी शक्तिसे अधिक काम लिया जाता है। नामधारी हिन्दू आज भी

बैलोंको निर्दयता-पूर्वक पीटते हैं और धर्मको बदनाम करते हैं। यह कसर मेरे मनमें सदाके लिए रह गयी। और, जब-जब मैं चम्पारन जाता हूँ तब-तब इन अधूरे रहे हुए महत्त्वपूर्ण कामोंका स्मरण करके लंबी साँस लेता हूँ और उन्हें अधूरा छोड़ देनेके लिए मारवाड़ी भाइयों और बिहारियोंका मीठा उलाहना सुनता हूँ।

पाठशालाओंका काम तो एक या दूसरी रीतिसे अन्य स्थानोंमें चल रहा है, पर गोसेवाके कार्यक्रमने जड़ ही नहीं पकड़ी थी, इसलिए उसे सही दिशामें गति न मिल सकी।

अहमदाबादमें खेड़ा जिलेके कामके बारेमें सलाह-मशविरा हो ही रहा था कि इस बीच मैंने मजदूरोंका काम हाथमें ले लिया।

मेरी स्थिति बहुत ही नाजुक थी। मजदूरोंका मामला मुझे मजबूत मालूम हुआ। श्री अनसूयाबाईको अपने सगे भाईके साथ लड़ना था। मजदूरों और मालिकोंके बीचके इस दारुण युद्धमें श्री अंबालाल साराभाईने मुख्य रूपसे हिस्सा लिया था। मिल-मालिकोंके साथ मेरा मीठा संबंध था। उनके विरुद्ध लड़नेका काम विकट था। उनसे चर्चायें करके मैंने प्रार्थना की कि वे मजदूरोंकी माँगके संबंधमें पंच नियुक्त करें। किन्तु मालिकोंने अपने और मजदूरोंके बीच पंचके हस्तक्षेपकी आवश्यकताको स्वीकार न किया।

मैंने मजदूरोंको हड़ताल करनेकी सलाह दी। यह सलाह देनेसे पहले मैं मजदूरोंके और मजदूर-नेताओंके सम्पर्कमें अच्छी तरह आया। उन्हें हड़तालकी शर्तें समझायीं :

१. किसी भी दशामें शांति भंग न होने दी जाय।

२. जो मजदूर काम पर जाना चाहे उसके साथ जोर-जबरदस्ती न की जाय।

३. मजदूर भिक्षाका अन्न न खायें।

४. हड़ताल कितनी ही लम्बी क्यों न चले, वे दृढ़ रहें और अपने पास पैसा न रहे तो दूसरी मजदूरी करके खाने योग्य कमा लें।

मजदूर-नेताओंने ये शर्तें समझ लीं और स्वीकार कर लीं। मजदूरोंकी आम सभा हुई और उसमें उन्होंने निश्चय किया कि जब तक उनकी माँग मंजूर न की जाय अथवा उसकी योग्यता-अयोग्यताकी जाँचके लिए पंचकी नियुक्ति न हो, तब तक वे काम पर नहीं जायेंगे।

कहना होगा कि इस हड़तालके दौरानमें मैं श्री वल्लभभाई पटेल और श्री शंकरलाल बैंकरको यथार्थ रूपमें पहचानने लगा। श्री अनसूयाबाईका परिचय तो मुझे

इसके पहले ही अच्छी तरह हो चुका था। हड़तालियोंकी सभा रोज साबरमती नदीके किनारे एक पेड़की छायातले होने लगी। उसमें वे लोग सैकड़ोंकी तादादमें जमा होते थे। मैं उन्हें रोज प्रतिज्ञाका स्मरण कराता तथा शान्ति बनाये रखने और स्वाभिमानकी रक्षा करनेकी आवश्यकता समझाता था। वे अपना 'एक टेक' का झण्डा लेकर रोज शहरमें घूमते थे और जुलूसके रूपमें सभामें हाजिर होते थे।

यह हड़ताल इक्कीस दिन तक चली। इस बीच समय-समय पर मैं मालिकोंसे बातचीत किया करता था और उन्हें इन्साफ करनेके लिए मनाता था। मुझे यह जवाब मिलता: "हमारी भी तो टेक है न? हममें और हमारे मजदूरोंमें बाप-बेटेका सम्बन्ध है। उसके बीचमें कोई दखल दे, तो हम कैसे सहन करें? हमारे बीच पंच कैसे?"

२१. आश्रमकी झाँकी

मजदूरोंकी बातको आगे बढ़ानेसे पहले यहाँ आश्रमकी झाँकी कर लेना आवश्यक है। चम्पारनमें रहते हुए भी मैं आश्रमको भूल नहीं सकता था। कभी-कभी वहाँ हो भी आता था।

कोचरब अहमदाबादके पास एक छोटा-सा गाँव है। आश्रमका स्थान इस गाँवमें था। कोचरबमें प्लेग शुरू हुआ। आश्रमके बालकोंको मैं उस बस्तीके बीच सुरक्षित नहीं रख सकता था। स्वच्छताके नियमोंका अधिक-से-अधिक सावधानीसे पालन करने पर भी आसपासकी अस्वच्छतासे आश्रमको अछूता रखना असंभव था। कोचरबके लोगोंसे स्वच्छताके नियमोंका पालन करानेकी अथवा ऐसे समयमें उनकी सेवा करनेकी हममें शक्ति नहीं थी। हमारा आदर्श तो यह था कि आश्रमको शहर अथवा गाँवसे अलग रखें, फिर भी वह इतना दूर न हो कि वहाँ पहुँचनेमें बहुत कठिनाई हो। किसी-न-किसी दिन तो आश्रमको आश्रमके रूपमें सुशोभित होनेसे पहले अपनी जमीन पर खुली जगहमें स्थिर होना ही था।

प्लेगको मैंने कोचरब छोड़नेकी नोटिस माना। श्री पूंजाभाई हीराचन्द आश्रमके साथ बहुत निकटका सम्बन्ध रखते थे और आश्रमकी छोटी-बड़ी सेवा शुद्ध और निरभिमान भावसे करते थे। उन्हें अहमदाबादके कारबारी जीवनका व्यापक अनुभव था। उन्होंने आश्रमके लिए जमीनकी खोज तुरन्त ही कर लेनेका बीड़ा उठाया। कोचरबके उत्तर-दक्षिणके भागमें मैं उनके साथ घूमा। फिर उत्तरकी ओर तीन-चार

मील दूर कोई टुकड़ा मिल जाय, तो उसका पता लगानेकी बात मैंने उनसे कही। उन्होंने आजकी आश्रमवाली जमीनका पता लगा लिया। वह जेलके पास है, यह मेरे लिए खास प्रलोभन था। सत्याग्रह-आश्रममें रहनेवालेके भाग्यमें जेल तो लिखा ही होता है। अपनी इस मान्यताके कारण जेलका पड़ोस मुझे पसन्द आया। मैं यह तो जानता ही था कि जेलके लिए हमेशा वही जगह पसन्द की जाती है जहाँ आसपास स्वच्छ स्थान हो।

कोई आठ दिनके अन्दर ही जमीनका सौदा तय कर लिया। जमीन पर न तो कोई मकान था, न कोई पेड़। जमीनके हकमें नदीका किनारा और एकान्त ये दो बड़ी सिफारिशें थीं। हमने तम्बुओंमें रहनेका निश्चय किया और सोचा कि रसोईघरके लिए टीनका एक कामचलाऊ छप्पर बाँध लेंगे और धीरे-धीरे स्थायी मकान बनाना शुरू कर देंगे।

इस समय आश्रमकी बस्ती बढ़ गयी थी। लगभग चालीस छोटे-बड़े स्त्री-पुरुष थे। सुविधा यह थी कि सब एक ही रसोईघरमें खाते थे। योजनाकी कल्पना मेरी थी। उसे अमली रूप देनेका बोझ उठानेवाले तो नियमानुसार स्व० मगनलाल गांधी ही थे।

स्थायी मकान बननेसे पहलेकी कठिनाइयोंका पार न था। बारिशका मौसम सामने था। सामान सब चार मील दूर शहरसे लाना होता था। इस निर्जन भूमिमें साँप आदि हिंसक जीव तो थे ही। ऐसी स्थितिमें बालकोंकी सार-संभालका खतरा मामूली नहीं था। रिवाज यह था कि सर्पादिको मारा न जाय। लेकिन उनके भयसे मुक्त तो हममें से कोई न था, आज भी नहीं है।

फीनिक्स, टॉल्स्टॉय फार्म और साबरमती-आश्रम तीनों जगहोंमें हिंसक जीवोंको न मारनेके नियमका यथाशक्ति पालन किया गया है। तीनों जगहोंमें निर्जन जमीनें बसानी पड़ी थीं। कहना होगा कि तीनों स्थानोंमें सर्पादिका उपद्रव काफी था। तिस पर भी आज तक एक भी जान खोनी नहीं पड़ी। इसमें मेरे समान श्रद्धालुको तो ईश्वरके हाथका, उसकी कृपाका ही दर्शन होता है। कोई यह निरर्थक शंका न उठावे कि ईश्वर कभी पक्षपात नहीं करता, मनुष्यके दैनिक कामोंमें दखल देनेके लिए वह बेकार नहीं बैठा है। मैं इस चीजको, इस अनुभवको, दूसरी भाषामें रखना नहीं जानता। ईश्वरकी कृतिको लौकिक भाषामें प्रकट करते हुए भी मैं जानता हूँ कि उसका 'कार्य' अवर्णनीय है। किन्तु यदि पामर मनुष्य वर्णन करने बैठे, तो उसके पास तो उसकी अपनी तोतली बोली ही हो सकती है। साधारणतः सर्पादिको न

मारने पर भी आश्रम-समाजके पच्चीस वर्ष तक बच रहनेको संयोग माननेके बदले ईश्वरकी कृपा मानना यदि वहम हो, तो वह वहम भी बनाये रखने जैसा है।

जब मजदूरोंकी हड़ताल हुई, तब आश्रमकी नींव पड़ रही थी। आश्रमकी प्रधान प्रवृत्ति बुनाई-कामकी थी। कातनेकी तो अभी हम खोज ही नहीं कर पाये थे। अतएव पहले बुनाई-घर बनानेका निश्चय किया था। इससे उसकी नींव चुनी जा रही थी।

२२. उपवास

मजदूरोंने शुरूके दो हफ्तोंमें खूब हिम्मत दिखायी; शांति भी खूब रखी; प्रतिदिनकी सभाओंमें वे बड़ी संख्यामें हाजिर भी रहे। प्रतिज्ञाका स्मरण मैं रोज उन्हें कराता ही था। वे रोज पुकार-पुकार कर कहते थे, "हम मर मिटेंगे, पर अपनी टेक कभी न छोड़ेंगे।"

लेकिन आखिर वे कमजोर पड़ते जान पड़े। और जिस प्रकार कमजोर आदमी हिंसक होता है, उसी प्रकार उनमें जो कमजोर पड़े वे मिलमें जानेवालोंका द्वेष करने लगे और मुझे डर मालूम हुआ कि कहीं वे किसीके साथ जबरदस्ती न कर बैठें। रोजकी सभामें लोगोंकी उपस्थिति कम पड़ने लगी। आनेवालोंके चेहरों पर उदासीनता छायी रहती थी। मुझे खबर मिली कि मजदूर डगमगाने लगे हैं। मैं परेशान हुआ। यह सोचने लगा कि ऐसे समयमें मेरा धर्म क्या हो सकता है। मुझे दक्षिण अफ्रीकाके मजदूरोंकी हड़तालका अनुभव था। पर यह अनुभव नया था। जिस प्रतिज्ञाके करनेमें मेरी प्रेरणा थी, जिसका मैं प्रतिदिन साक्षी बनता था, वह प्रतिज्ञा कैसे टूट सकती है? इस विचारको आप चाहे मेरा अभिमान कह लीजिये अथवा मजदूरोंके और सत्यके प्रति मेरा प्रेम कह लीजिये।

सबेरेका समय था। मैं सभामें बैठा था। मेरी समझमें नहीं आ रहा था कि मुझे क्या करना चाहिये। किन्तु सभामें ही मेरे मुँहसे निकल गया, "यदि मजदूर फिरसे दृढ़ न बनें और फैसला होने तक हड़तालको चला न सकें, तो मैं तब तकके लिए उपवास करूँगा।"

जो मजदूर हाजिर थे, वे सब हक्के-बक्के रह गये। अनसूयाबहनकी आँखोंसे आँसूकी धारा बह चली। मजदूर बोल उठे, "आप नहीं, हम उपवास करेंगे। आपको

उपवास नहीं करना चाहिये। हमें माफ कीजिये। हम अपनी प्रतिज्ञाका पालन करेंगे।''

मैंने कहा ''आपको उपवास करनेकी जरूरत नहीं है। आपके लिए तो यही बस है कि आप अपनी प्रतिज्ञाका पालन करें। हमारे पास पैसा नहीं है। हम मजदूरोंको भीखका अन्न खिलाकर हड़ताल चलाना नहीं चाहते। आप कुछ मजदूरी कीजिये और उससे अपनी रोजकी रोटीके लायक पैसा कमा लीजिये। ऐसा करेंगे तो फिर हड़ताल कितने ही दिन क्यों न चले, आप निश्चिन्त रह सकेंगे। मेरा उपवास तो अब फैसलेसे पहले न छूटेगा।''

वल्लभभाई पटेल मजदूरोंके लिए म्युनिसिपैलिटीमें काम खोज रहे थे, पर वहाँ कुछ काम मिलनेकी संभावना न थी। आश्रमकी बुनाई-शालामें रेतका भराव करनेकी जरूरत थी। मगनलाल गांधीने सुझाया कि इस काममें बहुतसे मजदूर लगाये जा सकते हैं। मजदूर इसे करनेको तैयार हो गये। अनसूयाबहनने पहली टोकरी उठायी और नदीमें से रेतकी टोकरियाँ ढोनेवाले मजदूरोंकी एक कतार खड़ी हो गयी। वह दृश्य देखने योग्य था। मजदूरोंमें नया बल आ गया। उन्हें पैसे चुकानेवाले चुकाते-चुकाते थक गये।

इस उपवासमें एक दोष था। मैं ऊपर लिख चुका हूँ कि मालिकोंके साथ मेरा मीठा सम्बन्ध था। इसलिए उन पर उपवासका प्रभाव पड़े बिना रह ही नहीं सकता था। मैं तो जानता था कि सत्याग्रहीके नाते मैं उनके विरुद्ध उपवास कर ही नहीं सकता; उन पर कोई प्रभाव पड़े तो वह मजदूरोंकी हड़तालका ही पड़ना चाहिये। मेरा प्रायश्चित्त उनके दोषोंके लिए नहीं था; मजदूरोंके दोषके निमित्तसे था। मैं मजदूरोंका प्रतिनिधि था। इसलिए उनके दोषसे मैं दोषित होता था। मालिकोंसे तो मैं केवल बिनती ही कर सकता था। उनके विरुद्ध उपवास करना उन पर ज्यादती करनेके समान था। फिर भी मैं जानता था कि मेरे उपवासका प्रभाव उन पर पड़े बिना रहेगा ही नहीं। प्रभाव पड़ा भी। किन्तु मैं अपने उपवासको रोक नहीं सकता था। मैंने स्पष्ट देखा कि ऐसा दोषमय उपवास करना मेरा धर्म है।

मैंने मालिकोंको समझाया: ''मेरे उपवासके कारण आपको अपना मार्ग छोड़नेकी तनिक भी जरूरत नहीं।'' उन्होंने मुझे कड़वे-मीठे ताने भी दिये। उन्हें वैसा करनेका अधिकार था।

सेठ अंबालाल इस हड़तालके विरुद्ध दृढ़ रहनेवालोंमें अग्रगण्य थे। उनकी दृढ़ता

आश्चर्यजनक थी। उनकी निष्कपटता भी मुझे उतनी ही पसन्द आयी। उनसे लड़ना मुझे प्रिय लगा। उनके जैसे अगुवा जिस विरोधी दलमें थे, उस पर उपवासका पड़नेवाला अप्रत्यक्ष प्रभाव मुझे अखरा। फिर, उनकी धर्मपत्नी श्री सरलादेवीका मेरे प्रति सगी बहन जैसा प्रेम था। मेरे उपवाससे उन्हें जो घबराहट होती थी, वह मुझसे देखी नहीं जाती थी।

मेरे पहले उपवासमें अनसूयाबहन, दूसरे कई मित्र और मजदूर साथी बने। उन्हें अधिक उपवास न करनेके लिए मैं मुश्किलसे समझा सका। इस प्रकार चारों ओर प्रेममय वातावरण बन गया। मालिक केवल दयावश होकर समझौतेका रास्ता खोजने लगे। अनसूयाबहनके यहाँ उनकी चर्चायें चलने लगीं। श्री आनन्दशंकर ध्रुव भी बीचमें पड़े। आखिर वे पंच नियुक्त हुए और हड़ताल टूटी। मुझे केवल तीन उपवास करने पड़े। मालिकोंने मजदूरोंको मिठाई बाँटी। इक्कीसवें दिन समझौता हुआ। समझौतेकी सभामें मिल-मालिक और उत्तरी विभागके कमिश्नर मौजूद थे। कमिश्नरने मजदूरोंको सलाह दी थी: "आपको हमेशा मि० गांधी जैसा कहें वैसा करना चाहिये।" इस घटनाके बाद तुरन्त ही मुझे इन्हीं कमिश्नरसे लड़ना पड़ा था। समय बदला इसलिए वे भी बदल गये और खेड़ाके पाटीदारोंको मेरी सलाह न माननेकी बात कहने लगे।

यहाँ एक दिलचस्प और करुणाजनक घटनाका उल्लेख करना उचित जान पड़ता है। मालिकोंकी बनवाई हुई मिठाई बहुत ज्यादा थी और सवाल यह खड़ा हो गया था कि वह हजारों मजदूरोंमें कैसे बाँटी जाय? जिस पेड़की छायातले मजदूरोंने प्रतिज्ञा की थी वहीं उसे बाँटना उचित है, यह सोचकर और दूसरी जगह हजारों मजदूरोंको इकट्ठा करना कष्टप्रद होगा, यह समझकर पेड़के आसपासके खुले मैदानमें बाँटनेका निश्चय हुआ था। अपने भोलेपनके कारण मैंने यह मान लिया था कि इक्कीस दिन तक नियमनमें रहे हुए मजदूर बिना प्रयत्नके कतारमें खड़े होकर मिठाई ले लेंगे और अधीर बनकर उस पर टूट न पड़ेंगे। पर मैदानमें बाँटनेकी दो-तीन रीतियाँ आजमायी गयीं और वे विफल हुईं। दो-तीन मिनट काम ढंगसे चलता और फिर तुरन्त बँधी कतार टूट जाती। मजदूरोंके नेताओंने खूब कोशिश की, पर वह व्यर्थ सिद्ध हुई। अन्तमें भीड़, कोलाहल और छीनाझपटी यहाँ तक बढ़ गयी कि कुछ मिठाई कुचलकर बरबाद हो गयी। मैदानमें बाँटना बन्द करना पड़ा और बची हुई मिठाईको मुश्किलसे बचाकर सेठ अंबालालके मिर्जापुरवाले बँगले पर पहुँचाया जा सका। दूसरे

दिन यह मिठाई बँगलेके मैदानमें ही बाँटनी पड़ी।

इस घटनामें निहित हास्यरस तो स्पष्ट ही है। परन्तु उसके करुण रसका उल्लेख करना जरूरी है। 'एक टेक' वाले पेड़के पास मिठाई न बँट सकनेके कारणका पता लगाने पर मालूम हुआ कि मिठाई बँटनेकी खबर पाकर अहमदाबादके भिखारी वहाँ आ पहुँचे थे और उन्होंने कतार तोड़कर मिठाई झपट लेनेकी कोशिश की थी।

यह देश भुखमरीसे इतना पीड़ित है कि भिखारियोंकी संख्या दिनोंदिन बढ़ती जाती है और वे भोजन पानेके लिए साधारण मर्यादाका उल्लंघन करते हैं। धनवान लोग ऐसे भिखारियोंके लिए कामकी व्यवस्था करनेके बदले बिना विचारे भिक्षा देकर उन्हें पोसते हैं।

२३. खेड़ा-सत्याग्रह

मजदूरोंकी हड़ताल समाप्त होनेके बाद दम लेनेको भी समय न मिला और मुझे खेड़ा जिलेके सत्याग्रहका काम हाथमें लेना पड़ा। खेड़ा जिलेमें अकालकी-सी स्थिति होनेके कारण खेड़ाके पाटीदार लोग लगान माफ करानेकी कोशिश कर रहे थे। इस विषयमें श्री अमृतलाल ठक्करने जाँच करके रिपोर्ट तैयार की थी। इस बारेमें कोई निश्चित सलाह देनेसे पहले मैं कमिश्नरसे मिला। श्री मोहनलाल पंड्या और श्री शंकरलाल परीख अथक परिश्रम कर रहे थे। वे स्व० गोकलदास कहानदास पारेख और विट्ठलभाई पटेलके द्वारा धारासभामें आन्दोलन कर रहे थे। सरकारके पास डेप्युटेशन भी गये थे।

इस समय मैं गुजरात-सभाका सभापति था। सभाने कमिश्नर और गवर्नरको प्रार्थना-पत्र भेजे, तार किये, अपमान सहे। सभा उनकी धमकियोंको पचा गयी। अधिकारियोंका उस समयका ढंग आज तो हास्यजनक प्रतीत होता है। उन दिनोंका उनका अत्यन्त हलका बरताव आज असंभव-सा मालूम होता है।

लोगोंकी माँग इतनी साफ और इतनी साधारण थी कि उसके लिए लड़ाई लड़नेकी जरूरत ही न होनी चाहिये थी। कानून यह था कि अगर फसल चार ही आना या उससे कम आवे, तो उस सालका लगान माफ किया जाना चाहिये। पर सरकारी अधिकारियोंका अंदाज चार आनेसे अधिक था। लोगों द्वारा यह सिद्ध किया जा रहा था कि उपज चार आनेसे कम कूती जानी चाहिये, पर सरकार क्यों मानने

लगी ? लोगोंकी ओरसे पंच बैठानेकी माँग की गयी। सरकारको वह असह्य मालूम हुई। जितना अनुनय-विनय हो सकता था, सो सब कर चुकनेके बाद और साथियोंसे परामर्श करनेके पश्चात् मैंने सत्याग्रह करनेकी सलाह दी।

साथियोंमें खेड़ा जिलेके सेवकोंके अतिरिक्त मुख्यतः श्री वल्लभभाई पटेल, श्री शंकरलाल बैंकर, श्री अनसूयाबहन, श्री इन्दुलाल कन्हैयालाल याज्ञिक, श्री महादेव देसाई आदि थे। श्री वल्लभभाई अपनी बड़ी और बढ़ती हुई वकालतकी बलि देकर आये थे। ऐसा कहा जा सकता है कि इसके बाद वे निश्चिन्त होकर वकालत कर ही न सके।

हम नड़ियादके अनाथाश्रनमें ठहरे थे। अनाथाश्रममें ठहरनेको कोई विशेषता न समझे। नड़ियादमें उसके जैसा कोई स्वतंत्र मकान नहीं था, जिसमें इतने सारे लोग समा सकें। अन्तमें नीचे लिखी प्रतिज्ञा पर हस्ताक्षर लिये गये :

"हम जानते हैं कि हमारे गाँवोंकी फसल चार आनेसे कम हुई है। इस कारण हमने सरकारसे प्रार्थना की कि वह लगान-वसूलीका काम अगले वर्ष तक मुलतवी रखे। फिर भी वह मुलतवी नहीं किया गया। अतएव हम नीचे सही करनेवाले लोग यह प्रतिज्ञा करते हैं कि हम इस सालका पूरा या बाकी रहा सरकारी लगान नहीं देंगे। पर उसे वसूल करनेके लिए सरकार जो भी कानूनी कार्रवाई करना चाहेगी, हम करने देंगे और उससे होनेवाले दुःख सहन करेंगे। यदि हमारी जमीन खालसा की गयी, तो हम उसे खालसा भी होने देंगे। पर अपने हाथों पैसे जमा करके हम झूठे नहीं ठहरेंगे और स्वाभिमान नहीं खोयेंगे। अगर सरकार बाकी बची हुई सब जगहोंमें दूसरी किस्तकी वसूली मुलतवी रखे, तो हममें से जो लोग जमा करा सकते हैं वे पूरा अथवा बाकी रहा हुआ लगान जमा करानेको तैयार हैं। हममें से जो जमा करा सकते हैं, उनके लगान जमा न करानेका कारण यह है कि अगर समर्थ लोग जमा करा दें, तो असमर्थ लोग घबराहटमें पड़कर अपनी कोई भी चीज बेचकर या कर्ज करके लगान जमा करा देंगे और दुःख उठायेंगे। हमारी यह मान्यता है कि ऐसी स्थितिमें गरीबोंकी रक्षा करना समर्थ लोगोंका कर्तव्य है।"

इस लड़ाईके लिए मैं अधिक प्रकरण नहीं दे सकता। अतएव अनेक मीठे स्मरण छोड़ देने पड़ेंगे। जो इस महत्त्वपूर्ण लड़ाईका गहरा अध्ययन करना चाहें, उन्हें श्री शंकरलाल परीख द्वारा लिखित खेड़ाकी लड़ाईका विस्तृत प्रामाणिक इतिहास पढ़ जानेकी मैं सिफारिश करता हूँ।

२४. 'प्याजचोर'

चम्पारन हिन्दुस्तानके ऐसे कोनेमें स्थित था और वहाँकी लड़ाईको इस तरह अखबारोंसे अलग रखा जा सका था कि वहाँ बाहरसे देखनेवाले कोई आते नहीं थे। पर खेड़ाकी लड़ाई अखबारोंकी चर्चाका विषय बन चुकी थी। गुजरातियोंको इस नई वस्तुमें विशेष रस आने लगा था। वे पैसा लुटानेको तैयार थे। सत्याग्रहकी लड़ाई पैसेसे नहीं चल सकती, उसे पैसेकी कम-से-कम आवश्यकता रहती है, यह बात जल्दी उनकी समझमें नहीं आ रही थी। मना करने पर भी बम्बईके सेठोंने आवश्यकतासे अधिक पैसे दिये थे और लड़ाईके अन्तमें उसमें से कुछ रकम बच गयी थी।

दूसरी तरफ सत्याग्रही सेनाको भी सादगीका नया पाठ सीखना था। मैं यह तो नहीं कह सकता कि वे पूरा पाठ सीख सके थे, पर उन्होंने अपनी रहन-सहनमें बहुत कुछ सुधार कर लिया था।

पाटीदारोंके लिए भी यह लड़ाई नई थी। गाँव-गाँव घूमकर लोगोंको इसका रहस्य समझाना पड़ता था। सरकारी अधिकारी जनताके मालिक नहीं, बल्कि नौकर हैं; जनताके पैसेसे उन्हें तनख्वाह मिलती है-यह सब समझाकर उनका भय दूर करनेका काम मुख्य था। और निर्भय होने पर भी विनयके पालनका उपाय बताना और उसे गले उतारना लगभग असंभव-सा प्रतीत होता था। अधिकारियोंका डर छोड़नेके बाद उनके द्वारा किये गये अपमानोंका बदला चुकानेकी इच्छा किसे नहीं होती! फिर भी यदि सत्याग्रही अविनयी बनता है, तो वह दूधमें जहर मिलनेके समान है। पाटीदार विनयका पाठ पूरी तरह पढ़ नहीं पाये, इसे मैं बादमें अधिक समझ सका। अनुभवसे मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि विनय सत्याग्रहका कठिन-से-कठिन अंश है। यहाँ विनयका अर्थ केवल सम्मान-पूर्वक वचन कहना ही नहीं है। विनयसे तात्पर्य है, विरोधीके प्रति भी मनमें आदर, सरल भाव, उसके हितकी इच्छा और तदनुसार व्यवहार।

शुरूके दिनोंमें लोगोंमें खूब हिम्मत दिखायी देती थी। शुरू-शुरूमें सरकारी कार्रवाई भी कुछ ढीली ही थी। लेकिन जैसे-जैसे लोगोंकी दृढ़ता बढ़ती मालूम हुई, वैसे-वैसे सरकारको भी अधिक उग्र कार्रवाई करनेकी इच्छा हुई। कुर्की करनेवालोंने लोगोंके पशु बेच डाले, घरमें से जो चाहा सो माल उठाकर ले गये। चौथाई

जुर्मानेकी नोटिसें निकलीं। किसी-किसी गाँवकी सारी फसल जब्त कर ली गयी। लोगोंमें घबराहट फैली। कुछने लगान जमा करा दिया। दूसरे मन-ही-मन यह चाहने लगे कि सरकारी अधिकारी उनका सामान जब्त करके लगान वसूल कर लें तो भर पाये। कुछ लोग मर-मिटनेवाले भी निकले।

इसी बीच शंकरलाल परीखकी जमीनका लगान उनकी जमीन पर रहनेवाले आदमीने जमा करा दिया। इससे हाहाकार मच गया। शंकरलाल परीखने वह जमीन जनताको देकर अपने आदमीसे हुई भूलका प्रायश्चित्त किया। इससे उनकी प्रतिष्ठाकी रक्षा हुई और दूसरोंके लिए एक उदाहरण प्रस्तुत हो गया।

भयभीत लोगोंको प्रोत्साहित करनेके लिए मोहनलाल पंड्याके नेतृत्वमें मैंने एक ऐसे खेतमें खड़ी प्याजकी तैयार फसलको उतार लेनेकी सलाह दी, जो अनुचित रीतिसे जब्त किया गया था। मेरी दृष्टिमें इससे कानूनका भंग नहीं होता था। लेकिन अगर कानून टूटता हो, तो भी मैंने यह सुझाया कि मामूली-से लगानके लिए समूची तैयार फसलको जब्त करना कानूनन् ठीक होते हुए भी नीतिके विरुद्ध है और स्पष्ट लूट है, अतएव इस प्रकारकी जब्तीका अनादर करना हमारा धर्म है। लोगोंका स्पष्ट रूपसे समझा दिया था कि ऐसा करनेमें जेल जाने और जुर्माना होनेका खतरा है। मोहनलाल पंड्या तो यही चाहते थे। सत्याग्रहके अनुरूप किसी रीतिसे किसी सत्याग्रहीके जेल गये बिना खेड़ाकी लड़ाई समाप्त हो जाय, यह चीज उन्हें अच्छी नहीं लग रही थी। उन्होंने इस खेतका प्याज खुदवानेका बीड़ा उठाया। सात-आठ आदमियोंने उनका साथ दिया।

सरकार उन्हें पकड़े बिना भला कैसे रहती? मोहनलाल और उनके साथी पकड़े गये। इससे लोगोंका उत्साह बढ़ गया। जहाँ लोग जेल इत्यादिके विषयमें निर्भय बन जाते हैं, वहाँ राजदण्ड लोगोंको दबानेके बदले उनमें शूरवीरता उत्पन्न करता है। अदालतमें लोगोंके दल-के-दल मुकदमा देखनेको उमड़ पड़े। मोहनलाल पंड्याको और उनके साथियोंको थोड़े-थोड़े दिनोंकी कैदकी सजा दी गयी। मैं मानता हूँ कि अदालतका फैसला गलत था। प्याज उखाड़नेका काम चोरीकी कानूनी व्याख्याकी सीमामें नहीं आता था। पर अपील करनेकी किसीकी वृत्ति ही न थी।

जेल जानेवालोंको पहुँचानेके लिए एक जुलूस उनके साथ हो गया, और उस दिनसे मोहनलाल पंड्याको लोगोंकी ओरसे 'प्याजचोर' की सम्मानित पदवी प्राप्त हुई, जिसका उपभोग वे आज तक कर रहे हैं।

इस लड़ाईका कैसा और किस प्रकार अन्त हुआ, इसका वर्णन करके हम खेड़ा-प्रकरण समाप्त करेंगे।

२५. खेड़ाकी लड़ाईका अन्त

इस लड़ाईका अन्त विचित्र रीतिसे हुआ। यह तो साफ था कि लोग थक चुके थे। जो दृढ़ रहे थे उन्हें पूरी तरह बरबाद होने देनेमें संकोच हो रहा था। मेरा झुकाव इस ओर था कि सत्याग्रहीके अनुरूप इसकी समाप्तिका कोई शोभास्पद मार्ग निकल आये, तो उसे अपनाना ठीक होगा। ऐसा एक अनसोचा उपाय सामने आ गया। नड़ियाद तालुकाके तहसीलदारने संदेशा भेजा कि अगर अच्छी स्थितिवाले पाटीदार लगान अदा कर दें, तो गरीबोंका लगान मुलतवी रहेगा। इस विषयमें मैंने लिखित स्वीकृति माँगी और वह मिल गयी। तहसीलदार अपनी तहसीलकी ही जिम्मेदारी ले सकता था। सारे जिलेकी जिम्मेदारी तो कलेक्टर ही ले सकता था। इसलिए मैंने कलेक्टरसे पूछा। उनका जवाब मिला कि तहसीलदारने जो कहा है उसके अनुसार तो हुक्म निकल ही चुका है। मुझे इसका पता नहीं था। लेकिन यदि ऐसा हुक्म निकल चुका हो, तो माना जा सकता है कि लोगोंकी प्रतिज्ञाका पालन हुआ। प्रतिज्ञामें यही वस्तु थी, अतएव इस हुक्मसे हमने संतोष माना।

फिर भी इस प्रकारकी समाप्तिसे हम प्रसन्न न हो सके। सत्याग्रहकी लड़ाईके पीछे जो एक मिठास होती है, वह इसमें नहीं थी। कलेक्टर मानता था कि उसने कुछ किया ही नहीं। गरीब लोगोंको छोड़नेकी बात कही जाती थी, किन्तु वे शायद ही छूट पाये। जनता यह कहनेका अधिकार आजमा न सकी कि गरीबमें किसकी गिनती की जाय। मुझे इस बातका दुःख था कि जनतामें इस प्रकारकी शक्ति रह नहीं गयी थी। अतएव लड़ाईकी समाप्तिका उत्सव तो मनाया गया, पर इस दृष्टिसे मुझे वह निस्तेज लगा। सत्याग्रहका शुद्ध अन्त तभी माना जाता है, जब जनतामें आरम्भकी अपेक्षा अन्तमें अधिक तेज और शक्ति पायी जाय। मैं इसका दर्शन न कर सका। इतने पर भी इस लड़ाईके जो अदृश्य परिणाम निकले, उनका लाभ तो आज भी देखा जा सकता है और उठाया जा रहा है। खेड़ाकी लड़ाईसे गुजरातके किसान-समाजकी जागृतिका और उसकी राजनीतिक शिक्षाका श्रीगणेश हुआ।

विदुषी डॉ० बेसेण्टके 'होम रूल' के तेजस्वी आन्दोलनने उसका स्पर्श अवश्य

किया था, लेकिन कहना होगा कि किसानोंके जीवनमें शिक्षित समाजका और स्वयंसेवकोंका सच्चा प्रवेश तो इस लड़ाईसे ही हुआ। सेवक पाटीदारोंके जीवनमें ओतप्रोत हो गये थे। स्वयंसेवकोंको इस लड़ाईमें अपने क्षेत्रकी मर्यादाओंका पता चला। इससे उनकी त्यागशक्ति बढ़ी। इस लड़ाईमें वल्लभभाईने अपने-आपको पहचाना। यह एक ही कोई ऐसा-वैसा परिणाम नहीं है। इसे हम पिछले साल संकट-निवारणके समय और इस साल बारडोलीमें देख चुके हैं। इससे गुजरातके लोक-जीवनमें नया तेज आया, नया उत्साह उत्पन्न हुआ। पाटीदारोंको अपनी शक्तिका जो ज्ञान हुआ, उसे वे कभी न भूले। सब कोई समझ गये कि जनताकी मुक्तिका आधार स्वयं जनता पर, उसकी त्यागशक्ति पर है। सत्याग्रहने खेड़ाके द्वारा गुजरातमें अपनी जड़ जमा ली। अतएव यद्यपि लड़ाईके अन्तसे मैं प्रसन्न न हो सका, तो भी खेड़ाकी जनतामें उत्साह था। क्योंकि उसने देख लिया था कि उसकी शक्तिके अनुपातमें उसे सब कुछ मिल गया है और भविष्यमें राज्यकी ओरसे होनेवाले कष्टोंके निवारणका मार्ग उसके हाथ लग गया है। उसके उत्साहके लिए इतना ज्ञान पर्याप्त था। किन्तु खेड़ाकी जनता सत्याग्रहका स्वरूप पूरी तरह समझ नहीं सकी थी। इस कारण उसे कैसे कड़वे अनुभव हुए, सो हम आगे देखेंगे।

२६. एकताकी रट

जिन दिनों खेड़ाका आन्दोलन चल रहा था, उन दिनों यूरोपका महायुद्ध भी जारी ही था। वाइसरॉयने उसके सिलसिलेमें नेताओंको दिल्ली बुलाया था। मुझसे आग्रह किया गया था कि मैं भी उसमें हाजिर होऊँ। मैं बता चुका हूँ कि लॉर्ड चेम्सफर्डके साथ मेरी मित्रता थी।

मैंने निमंत्रण स्वीकार किया और मैं दिल्ली गया। किन्तु इस सभामें सम्मिलित होते समय मेरे मनमें एक संकोच था। मुख्य कारण तो यह था कि इस सभामें अलीभाइयोंको, लोकमान्यको और दूसरे नेताओंको निमंत्रित नहीं किया गया था। उस समय अलीभाई जेलमें थे। उनसे मैं एक-दो बार ही मिला था। उनके बारेमें सुना बहुत था। उनकी सेवावृत्ति और बहादुरीकी सराहना सब कोई करते थे। हकीम साहबके सम्पर्कमें मैं नहीं आया था। स्व० आचार्य रुद्र और दीनबन्धु एण्ड्रूजके मुँहसे उनकी बहुत प्रशंसा सुनी थी। कलकत्तेमें हुई मुस्लिम लीगकी बैठकके समय खूब

कुरेशी और बारिस्टर ख्वाजासे मेरी जान-पहचान हुई थी। डॉ० अन्सारी और डॉ० अब्दुर रहमानके साथ भी जान-पहचान हो चुकी थी। मैं सज्जन मुसलमानोंकी संगतिके अवसर ढूँढ़ता रहता था और जो पवित्र तथा देशभक्त माने जाते थे, उनसे जान-पहचान करके उनकी भावनाको जाननेकी तीव्र इच्छा मुझमें रहती थी। इसलिए वे अपने समाजमें मुझे जहाँ कहीं ले जाते वहाँ बिना किसी आनाकानीके मैं चला जाता था।

इस बातको तो मैं दक्षिण अफ्रीकामें ही समझ चुका था कि हिन्दू-मुसलमानोंके बीच सच्चा मित्रभाव नहीं है। मैं वहाँ ऐसे एक भी उपायको हाथसे जाने न देता था, जिससे दोनोंके बीचकी अनबन दूर हो। झूठी खुशामद करके अथवा स्वाभिमान खोकर उनको अथवा किसी औरको रिझाना मेरे स्वभावमें न था। लेकिन वहींसे मेरे दिलमें यह बात जमी हुई थी कि मेरी अहिंसाकी कसौटी और उसका विशाल प्रयोग इस एकताके सिलसिलेमें ही होगा। आज भी मेरी वह राय कायम है। ईश्वर प्रतिक्षण मुझे कसौटी पर कस रहा है। मेरा प्रयोग चालू ही है।

इस प्रकारके विचार लेकर मैं बम्बई बन्दर पर उतरा था। इसलिए मुझे इन दोनों भाइयोंसे मिलकर प्रसन्नता हुई। हमारा स्नेह बढ़ता गया। हमारी जान-पहचान होनेके बाद तुरन्त ही अलीभाइयोंको सरकारने जीते-जी दफना दिया। मौलाना मुहम्मदअलीको जब इजाजत मिलती, तब वे बैतूल या छिंदवाड़ा जेलसे मुझे लम्बे-लम्बे पत्र लिखा करते थे। मैंने उनसे मिलनेकी इजाजत सरकारसे माँगी थी, पर वह मिल न सकी।

अलीभाइयोंकी नजरबन्दीके बाद मुसलमान भाई मुझे कलकत्ता मुस्लिम लीगकी बैठकमें लिवा ले गये थे। वहाँ मुझसे बोलनेको कहा गया। मैं बोला। मैंने मुसलमानोंको समझाया कि अलीभाइयोंको छुड़ाना उनका धर्म है।

इसके बाद वे मुझे अलीगढ़ कॉलेजमें भी ले गये थे। वहाँ मैंने मुलसमानोंको देशके लिए फकीरी अख्तियार करनेकी दावत दी।

अलीभाइयोंको छुड़ानेके लिए मैंने सरकारसे पत्र-व्यवहार शुरू किया। उसके निमित्तसे इन भाइयोंकी खिलाफत-सम्बन्धी हलचलका अध्ययन किया। मुसलमानोंके साथ चर्चायें कीं। मुझे लगा कि अगर मैं मुसलमानोंका सच्चा मित्र बनना चाहता हूँ, तो मुझे अलीभाइयोंको छुड़ानेमें और खिलाफतके प्रश्नको न्याय-पूर्वक सुलझानेमें पूरी मदद करनी चाहिये। खिलाफतका सवाल मेरे लिए सरल था। मुझे उसके स्वतंत्र

गुण-दोष देखनेकी जरूरत नहीं थी। मुझे लगा कि अगर उसके सम्बन्धमें मुसलमानोंकी माँग नीति-विरुद्ध न हो, तो मुझे उनकी मदद करनी चाहिये। धर्मके प्रश्नमें श्रद्धा सर्वोपरि होती है। यदि एक ही वस्तुके प्रति सबकी एकसी श्रद्धा हो, तो संसारमें एक ही धर्म रह जाय। मुझे मुसलमानोंकी खिलाफत-सम्बन्धी माँग नीति-विरुद्ध प्रतीत नहीं हुई; यही नहीं, बल्कि ब्रिटेनके प्रधानमंत्री लायड जॉर्जने इस माँगको स्वीकार किया था, इसलिए मुझे तो उनसे वचनका पालन करवानेका भी प्रयत्न करना था। वचन ऐसे स्पष्ट शब्दोंमें था कि मर्यादित माँगके गुण-दोष जाँचनेका काम केवल अपनी अन्तरात्माको प्रसन्न करनेके लिए ही करना था।

चूँकि मैंने खिलाफतके मामलेमें मुसलमानोंका साथ दिया था, इसलिए इस सम्बन्धमें मित्रों और आलोचकोंने मेरी काफ़ी आलोचना की है। उन सब पर विचार करनेके बाद जो राय मैंने बनायी और जो मदद दी या दिलायी, उसके बारेमें मुझे कोई पश्चात्ताप नहीं है, न उसमें मुझे कोई सुधार ही करना है। मुझे लगता है कि आज भी ऐसा सवाल उठे, तो मेरा व्यवहार पहलेकी तरह ही होगा।

इस प्रकारके विचार लेकर मैं दिल्ली गया। मुसलमानोंके दुःखकी चर्चा मुझे वाइसरॉयसे करनी थी। खिलाफतके प्रश्नने अभी पूर्ण स्वरूप धारण नहीं किया था।

दिल्ली पहुँचते ही दीनबन्धु एण्ड्रूजने एक नैतिक प्रश्न खड़ा कर दिया। उन्हीं दिनों इटली और इंग्लैण्डके बीच गुप्त संधि होनेकी जो चर्चा अंग्रेजी अखबारोंमें छिड़ी थी, उसकी बात कहकर दीनबन्धुने मुझसे कहा: "यदि इंग्लैण्डने इस प्रकारकी गुप्त संधि किसी राष्ट्रके साथ की हो, तो आप इस सभामें सहायककी तरह कैसे भाग ले सकते हैं?" मैं इस संधियोंके विषयमें कुछ जानता नहीं था। दीनबन्धुका शब्द मेरे लिए पर्याप्त था। इस कारणको निमित्त बनाकर मैंने लार्ड चेम्सफर्डको पत्र लिखा कि सभामें सम्मिलित होते हुए मुझे संकोच हो रहा है। उन्होंने मुझे चर्चाके लिए बुलाया। उनके साथ और बादमें मि॰ मेफीके साथ मेरी लम्बी चर्चा हुई। उसका परिणाम यह हुआ कि मैंने सभामें सम्मिलित होना स्वीकार किया। थोड़ेमें वाइसरॉयकी दलील यह थी: "आप यह तो नहीं मानते कि ब्रिटिश मंत्री-मंडल जो कुछ करे, उसकी जानकारी वाइसरॉयको होनी ही चाहिये? मैं यह दावा नहीं करता कि ब्रिटिश सरकार कभी भूल करती ही नहीं। कोई भी ऐसा दावा नहीं करता। क़िन्तु यदि आप यह स्वीकार करते हैं कि उसका अस्तित्व संसारके लिए कल्याणकारी है, यदि आप यह मानते हैं कि उसके कार्योंसे इस देशको कुल

मिलाकर कुछ लाभ हुआ है, तो क्या आप यह स्वीकार नहीं करेंगे कि उसकी विपत्तिके समय उसे मदद पहुँचाना प्रत्येक नागरिकका धर्म है? गुप्त संधिके विषयमें आपने समाचारपत्रोंमें जो देखा है, वही मैंने भी देखा है। इससे अधिक मैं कुछ नहीं जानता यह मैं आपसे विश्वास-पूर्वक कह सकता हूँ। अखबारोंमें कैसी-कैसी गप्पें आती हैं, यह तो आप जानते ही हैं। क्या अखबारोंमें आयी हुई एक निन्दासूचक बात पर आप ऐसे समय राज्यका त्याग कर सकते हैं? लड़ाई समाप्त होने पर आपको जितने नैतिक प्रश्न उठाने हों उतने उठा सकते हैं और जितनी तकरार करनी हो उतनी कर सकते हैं।''

यह दलील नई नहीं थी। लेकिन जिस अवसर पर और जिस रीतिसे यह पेश की गयी, उससे मुझे नई-जैसी लगी और मैंने सभामें जाना स्वीकार कर लिया। खिलाफतके बारेमें यह निश्चय हुआ कि मैं वाइसरॉयको पत्र लिखकर भेजूँ।

२७. रंगरूटोंकी भरती

मैं सभामें हाजिर हुआ। वाइसरॉयकी तीव्र इच्छा थी कि मैं सिपाहियोंकी मददवाले प्रस्तावका समर्थन करूँ। मैंने हिन्दी-हिन्दुस्तानीमें बोलनेकी इजाजत चाही। वाइसरॉयने इजाजत तो दी, किन्तु साथ ही अंग्रेजीमें भी बोलनेको कहा। मुझे भाषण तो करना ही नहीं था। मैंने वहाँ जो कहा सो इतना ही था: ''मुझे अपनी जिम्मेदारीका पूरा खयाल है और उस जिम्मेदारीको समझते हुए मैं इस प्रस्तावका समर्थन करता हूँ।''

हिन्दुस्तानीमें बोलनेके लिए मुझे बहुतोंने धन्यवाद दिया। वे कहते थे कि इधरके जमानेमें वाइसरॉयकी सभामें हिन्दुस्तानीमें बोलनेका यह पहला उदाहरण था। धन्यवादकी और पहले उदाहरणकी बात सुनकर मुझे दुःख हुआ। मैं शरमाया। अपने ही देशमें, देशसे सम्बन्ध रखनेवाले कामकी सभामें, देशकी भाषाका बहिष्कार अथवा उसकी अवगणना कितने दुःखकी बात थी! और, मेरे-जैसा कोई हिन्दुस्तानीमें एक या दो वाक्य बोले, तो उसमें धन्यवाद किस बातका? ऐसे प्रसंग हमारी गिरी हुई दशाका खयाल करानेवाले हैं। सभामें कहे गये वाक्यमें मेरे लिए तो बहुत वजन था। मैं उस सभाको अथवा उस समर्थनको भूल नहीं सकता था। अपनी एक जिम्मेदारी तो मुझे दिल्लीमें ही पूरी कर लेनी थी। वाइसरॉयको पत्र लिखनेका काम मुझे सरल

न जान पड़ा। सभामें जानेकी अपनी अनिच्छा, उसके कारण, भविष्यकी आशायें आदिकी सफाई देना मुझे अपने लिए, सरकारके लिए और जनताके लिए आवश्यक मालूम हुआ।

मैंने वाइसरॉयको जो पत्र लिखा, उसमें लोकमान्य तिलक, अलीभाई आदि नेताओंकी अनुपस्थितिके विषयमें अपना खेद प्रकट किया तथा लोगोंकी राजनीतिक माँगका और लड़ाईके कारण उत्पन्न हुई मुसलमानोंकी माँगोंका उल्लेख किया। मैंने इस पत्रको छपानेकी अनुमति चाही और वाइसरॉयने वह खुशीसे दी।

यह पत्र शिमला भेजना था, क्योंकि सभाके समाप्त होते ही वाइसरॉय शिमला पहुँच गये थे। वहाँ डाक द्वारा पत्र भेजनेमें देर होती थी। मेरी दृष्टिसे पत्र महत्त्वका था। समय बचानेकी आवश्यकता थी। हर किसीके साथ पत्र भेजनेकी इच्छा न थी। मुझे लगा कि पत्र किसी पवित्र मनुष्यके द्वारा जाये तो अच्छा हो। दीनबन्धु और सुशील रुद्रने रेवरेण्ड आयरलैण्ड नामक एक सज्जनका नाम सुझाया। उन्होंने पत्र ले जाना स्वीकार किया, बशर्ते कि पढ़ने पर वह उन्हें शुद्ध प्रतीत हो। पत्र व्यक्तिगत नहीं था। उन्होंने पढ़ा। उनको अच्छा लगा और वे ले जानेको राजी हुए। मैंने दूसरे दर्जेका रेल-किराया देनेकी व्यवस्था की, किन्तु उन्होंने उसे लेनेसे इनकार किया और रातकी यात्रा होते हुए भी ड्योढ़े दर्जेका ही टिकट लिया। उनकी सादगी, सरलता और स्पष्टता पर मैं मुग्ध हो गया। इस प्रकार पवित्र हाथों द्वारा दिये गये पत्रका परिणाम मेरी दृष्टिसे अच्छा ही हुआ। उससे मेरा मार्ग साफ हो गया।

मेरी दूसरी जिम्मेदारी रंगरूट भरती करनेकी थी। इसकी याचना मैं खेड़ामें न करता तो और कहाँ करता? पहले अपने साथियोंको न न्योतता तो किसे न्योतता? खेड़ा पहुँचते ही वल्लभभाई इत्यादिके साथ मैंने सलाह की। उनमें से कुछके गले बात तुरन्त उतरी नहीं। जिनके गले उतरी उन्होंने कार्यकी सफलताके विषयमें शंका प्रकट की। जिन लोगोंमें से रंगरूटोंकी भरती करनी थी, उन लोगोंमें सरकारके प्रति किसी प्रकारका अनुराग न था। सरकारी अफसरोंका उन्हें जो कड़वा अनुभव हुआ था, वह भी ताजा ही था।

फिर भी सब इस पक्षमें हो गये कि काम शुरू कर दिया जाये। शुरू करते ही मेरी आँख खुली। मेरा आशावाद भी कुछ शिथिल पड़ा। खेड़ाकी लड़ाईमें लोग अपनी बैलगाड़ी मुफ्तमें देते थे। जहाँ एक स्वयंसेवककी हाजिरीकी जरूरत थी, वहाँ तीन-चार मिल जाते थे। अब पैसे देने पर भी गाड़ी दुर्लभ हो गयी। लेकिन हम यों निराश

होनेवाले नहीं थे। गाड़ीके बदले हमने पैदल यात्रा करनेका निश्चय किया। रोज बीस मीलकी मंजिल तय करनी थी। जहाँ गाड़ी न मिलती, वहाँ खाना तो मिलता ही कैसे? माँगना भी उचित नहीं जान पड़ा। अतएव यह निश्चय किया कि प्रत्येक स्वयंसेवक अपने खानेके लिए पर्याप्त सामग्री अपनी थैलीमें लेकर निकले। गर्मीके दिन थे, इसलिए साथमें ओढ़नेके लिए तो कुछ रखनेकी आवश्यकता न थी।

हम जिस गाँवमें जाते, उस गाँवमें सभा करते। लोग आते, लेकिन भरतीके लिए नाम तो मुश्किलसे एक या दो ही मिलते। 'आप अहिंसावादी होकर हमें हथियार उठानेके लिए क्यों कहते हैं?' 'सरकारने हिन्दुस्तानका क्या भला किया है कि आप हमें उसकी मदद करनेको कहते हैं?' ऐसे अनेक प्रकारके प्रश्न मेरे सामने रखे जाते थे।

यह सब होते हुए भी धीरे-धीरे हमारे सतत कार्यका प्रभाव लोगों पर पड़ने लगा था। नाम भी काफी संख्यामें दर्ज होने लगे थे और हम यह मानने लगे थे कि अगर पहली टुकड़ी निकल पड़े, तो दूसरोंके लिए रास्ता खुल जायगा। यदि रंगरूट निकलें तो उन्हें कहाँ रखा जाये इत्यादि प्रश्नोंकी चर्चा मैं कमिश्नरसे करने लगा था। कमिश्नर दिल्लीके ढंग पर जगह-जगह सभायें करने लगे थे। गुजरातमें भी वैसी सभा हुई। उसमें मुझे और साथियोंको निमंत्रित किया गया था। मैं उसमें भी सम्मिलित हुआ था। पर यदि दिल्लीकी सभामें मेरे लिए कम स्थान था, तो यहाँकी सभामें तो उससे भी कम स्थान मुझे अपने लिए मालूम हुआ। 'जी-हुजूरी' के वातावरणमें मुझे चैन न पड़ता था। यहाँ मैं कुछ अधिक बोला था। मेरी बातमें खुशामद-जैसी तो कोई चीज थी ही नहीं, बल्कि दो कड़वे शब्द भी थे।

रंगरूटोंकी भरतीके सिलसिलेमें मैंने जो पत्रिका प्रकाशित की थी, उसमें भरतीके लिए लोगोंको निमंत्रित करते हुए जो एक दलील दी गयी थी वह कमिश्नरको बुरी लगी थी। उसका आशय यह था: "ब्रिटिश राज्यके अनेकानेक दुष्कृत्योंमें समूची प्रजाको निःशस्त्र बनानेवाले कानूनको इतिहास उसका कालेसे काला काम मानेगा। इस कानूनको रद कराना हो और शस्त्रोंका उपयोग सीखना हो, तो उसके लिए यह एक सुवर्ण अवसर है। संकटके समयमें मध्यमश्रेणीके लोग स्वेच्छासे शासनकी सहायता करेंगे, तो अविश्वास दूर होगा और जो व्यक्ति शस्त्र धारण करना चाहेगा वह आसानीसे वैसा कर सकेगा।" इसको लक्ष्यमें रखकर कमिश्नरको कहना पड़ा था कि उनके और मेरे बीच मतभेदके रहते हुए भी सभामें मेरी उपस्थिति उन्हें प्रिय थी।

मुझे भी अपने मतका समर्थन यथासंभव मीठे शब्दोंमें करना पड़ा था।

ऊपर वाइसरॉयको लिखे जिस पत्रका उल्लेख किया गया है, उसका सार नीचे दिया जाता है :

"युद्ध-परिषद्में उपस्थित रहनेके विषयमें मेरी अनिच्छा थी पर आपसे मिलनेके बाद वह दूर हो गयी और उसका एक कारण यह अवश्य था कि आपके प्रति मुझे बड़ा आदर है। न आनेके कारणोंमें मजबूत कारण यह था कि उसमें लोकमान्य तिलक, मिसेज बेसेण्ट और अलीभाई निमंत्रित नहीं किये गये थे। इन्हें मैं जनताके बहुत शक्तिशाली नेता मानता हूँ। मुझे तो लगता है कि इन्हें निमंत्रित न करनेमें सरकारने गंभीर भूल की है मैं अभी भी सुझाता हूँ कि प्रान्तीय परिषदें की जायें, तो उनमें इन्हें निमंत्रित किया जाये। मेरा यह नम्र मत है कि कोई सरकार ऐसे प्रौढ़ नेताओंकी उपेक्षा नहीं कर सकती, फिर भले उनके साथ उसका कैसा भी मतभेद क्यों न हो। इस स्थितिमें मैं सभाकी समितियोंमें उपस्थित नहीं रह सका और सभामें प्रस्तावका समर्थन करके संतुष्ट रहा। सरकारके सम्मुख मैंने जो सुझाव रखे हैं, उनके स्वीकृत होते ही मैं अपने समर्थनको अमली रूप देनेकी आशा रखता हूँ।

"जिस साम्राज्यमें आगे चलकर हम सम्पूर्ण रूपसे साझेदार बननेकी आशा रखते हैं, संकटके समयमें उसकी पूरी मदद करना हमारा धर्म है। किन्तु मुझे यह तो कहना ही चाहिये कि इसके साथ यह आशा बँधी हुई है कि इस मददके कारण हम अपने ध्येय तक शीघ्र पहुँच सकेंगे। अतएव लोगोंको यह माननेका अधिकार है कि आपके भाषणमें जिन सुधारोंके तुरन्त अमलमें आनेकी आशा प्रकट की गयी है, उन सुधारोंमें काँग्रेस और मुस्लिम लीगकी मुख्य माँगोंका समावेश किया जायेगा। यदि मेरे लिए यह संभव होता, तो मैं ऐसे समय होमरूल आदिका उच्चारण तक न करता। बल्कि मैं समस्त शक्तिशाली भारतीयोंको प्रेरित करता कि साम्राज्यके संकटके समय वे उसकी रक्षाके लिए चुपचाप खप जायें। इतना करनेसे ही हम साम्राज्यके बड़े-से-बड़े और आदरणीय साझेदार बन जाते और रंगभेद तथा देशभेदका नाम-निशान भी न रहता।

"पर शिक्षित समाजने इससे कम प्रभावकारी मार्ग अपनाया है। आम लोगों पर उसका बड़ा प्रभाव है। मैं जबसे हिन्दुस्तान आया हूँ तभीसे आम लोगोंके गाढ़ सम्पर्कमें आता रहा हूँ और मैं आपको यह बतलाना चाहता हूँ कि होमरूलकी

लगन उनमें पैठ गयी है। होमरूलके बिना लोगोंको कभी संतोष न होगा। वे समझते हैं कि होमरूल प्राप्त करनेके लिए जितना बलिदान दिया जाये उतना कम है। अतएव यद्यपि साम्राज्यके लिए जितने स्वयंसेवक दिये जा सकें उतने देने चाहिये, तथापि आर्थिक सहायताके विषयमें मैं ऐसा नहीं कह सकता। लोगोंकी हालतको जाननेके बाद मैं यह कह सकता हूँ कि हिन्दुस्तान जो सहायता दे चुका है वह उसके सामर्थ्यसे अधिक है। लेकिन मैं यह समझता हूँ कि सभामें जिन्होंने समर्थन किया है, उन्होंने मरते दम तक सहायता करनेका निश्चय किया है। फिर भी हमारी स्थिति विषम है। हम एक पेढ़ीके हिस्सेदार नहीं हैं। हमारी मददकी नींव भविष्यकी आशा पर खड़ी की गयी है और यह आशा क्या है सो जरा खोल कर कहनेकी जरूरत है। मैं सौदा करना नहीं चाहता। पर मुझे इतना तो कहना ही चाहिये कि उसके बारेमें हमारे मनमें निराशा पैदा हो जाये, तो साम्राज्यके विषयमें आज तककी हमारी धारणा भ्रम मानी जायेगी।

''आपने घरके झगड़े भूल जानेकी सलाह दी है। यदि उसका अर्थ यह हो कि अत्याचार और अधिकारियोंके अपकृत्य सहन कर लिये जायें तो यह असंभव है। संगठित अत्याचारका सामना अपनी समूची शक्ति लगाकर करना मैं अपना धर्म मानता हूँ। अतएव आपको अधिकारियोंको यह सुझाना चाहिये कि वे एक भी मनुष्यकी अवगणना न करें और लोकमतका उतना आदर करें, जितना पहले कभी नहीं किया है। चम्पारनमें सौ साल पुराने अत्याचारका विरोध करके मैंने ब्रिटिश न्यायकी सर्वश्रेष्ठता सिद्ध कर दिखायी है। खेड़ाकी जनताने देख लिया है कि जब उसमें सत्यके लिए दुःख सहनेकी शक्ति होती है, तब वास्तविक सत्ता राजसत्ता नहीं, बल्कि लोकसत्ता होती है; और फलतः जनता जिस शासनको शाप देती है, उसके प्रति उसकी कटुता कम हुई है और जिस हकूमतने सविनय कानून-भंगको सहन कर लिया वह लोकमतकी पूरी उपेक्षा करनेवाली नहीं हो सकती, इसका उसे विश्वास हो गया है। अतएव मैं यह मानता हूँ कि चम्पारन और खेड़ामें मैंने जो काम किया है, वह इस लड़ाईमें मेरी सेवा है। यदि आप मुझसे इस प्रकारका अपना काम बंद कर देनेको कहेंगे, तो मैं यह मानूँगा कि आपने मुझे मेरी साँस बंद करनेके लिए कहा है। यदि आत्मबलको अर्थात् प्रेमबलको शस्त्रबलके बदले लोकप्रिय बनानेमें मैं सफल हो जाऊँ, तो मैं मानता हूँ कि हिन्दुस्तान सारे संसारकी टेढ़ी नजरका भी सामना कर सकता है। अतएव

हर बार मैं दुःख सहन करनेकी इस सनातन नीतिको अपने जीवनमें बुन लेनेके लिए अपनी आत्माको कसता रहूँगा और इस नीतिको स्वीकार करनेके लिए दूसरोंको निमंत्रण देता रहूँगा; और यदि मैं किसी अन्य कार्यमें योग देता हूँ, तो उसका हेतु भी केवल इसी नीतिकी अद्वितीय उत्तमता सिद्ध करना है।

"अन्तमें मैं आपसे बिनती करता हूँ कि आप मुसलमानी राज्योंके बारेमें स्पष्ट आश्वासन देनेके लिए ब्रिटिश मंत्री-मण्डलको लिखिये। आप जानते हैं कि इसके बारेमें हरएक मुसलमानको चिन्ता बनी रहती है। स्वयं हिन्दू होनेके कारण उनकी भावनाके प्रति मैं उपेक्षाका भाव नहीं रख सकता। उनका दुःख हमारा ही दुःख है। इन मुलसमानी राज्योंके अधिकारोंकी रक्षामें, उनके धर्मस्थानोंके बारेमें उनकी भावनाका आदर करनेमें और हिन्दुस्तानकी होमरूल-विषयक माँगको स्वीकार करनेमें साम्राज्यकी सुरक्षा समायी हुई है। चूँकि मैं अंग्रेजोंसे प्रेम करता हूँ, इसलिए मैंने यह पत्र लिखा है और मैं चाहता हूँ कि जो वफादारी एक अंग्रेजमें है वही वफादारी हरएक हिन्दुस्तानीमें जागे।"

२८. मृत्यु-शय्या पर

रंगरूटोंकी भरतीके काममें मेरा शरीर काफी क्षीण हो गया। उन दिनों मेरे आहारमें मुख्यतः सिकी हुई और कुटी हुई मूँगफली, उसके साथ थोडा गुड़, केले वगैरा फल और दो-तीन नीबूका पानी, इतनी चीजें रहा करती थीं। मैं जानता था कि अधिक मात्रामें खानेसे मूँगफली नुकसान करती है। फिर भी वह अधिक खा ली गयी। उसके कारण पेटमें कुछ पेचिश रहने लगी। मैं समय-समय पर आश्रममें तो आता ही था। मुझे यह पेचिश बहुत ध्यान देने योग्य प्रतीत न हुई। रात आश्रम पहुँचा। उन दिनों मैं दवा क्वचित् ही लेता था। विश्वास यह था कि एक बारका खाना छोड़ देनेसे दर्द मिट जायेगा। दूसरे दिन सबेरे कुछ भी न खाया था। इससे दर्द लगभग बंद हो चुका था। पर मैं जानता था कि मुझे उपवास चालू रखना चाहिये अथवा खाना ही हो तो फलके रस जैसी कोई चीज लेनी चाहिये।

उस दिन कोई त्यौहार था। मुझे याद पड़ता है कि मैंने कस्तूरबाईसे कह दिया था कि मैं दोपहरको भी नहीं खाऊँगा। लेकिन उसने मुझे ललचाया और मैं लालचमें फँस गया। उन दिनों मैं किसी पशुका दूध नहीं लेता था। इससे घी-छाछका भी मैंने

त्याग कर दिया था। इसलिए उसने मुझसे कहा कि आपके लिए दले हुए गेहूँको तेलमें भूनकर लपसी बनायी गयी है और खास तौर पर आपके लिए ही पूरे मूँग भी बनाये गये हैं। मैं स्वादके वश होकर पिघला। पिघलते हुए भी इच्छा तो यह रखी थी कि कस्तूरबाईको खुश रखनेके लिए थोड़ा खा लूँगा, स्वाद भी ले लूँगा और शरीरकी रक्षा भी कर लूँगा। पर शैतान अपना निशाना ताक कर ही बैठा था। खाने बैठा तो थोड़ा खानेके बदले पेट भर कर खा गया। इस प्रकार स्वाद तो मैंने पूरा लिया, पर साथ ही यमराजको न्योता भी भेज दिया। खानेके बाद एक घंटा भी न बीता था कि जोरकी पेचिश शुरू हो गयी।

रात नड़ियाद तो वापिस जाना ही था। साबरमती स्टेशन तक पैदल गया। पर सवा मीलका वह रास्ता तय करना मुश्किल हो गया। अहमदाबाद स्टेशन पर वल्लभभाई पटेल मिलनेवाले थे। वे मिले और उन्होंने मेरी पीड़ा ताड़ ली। फिर भी मैंने उन्हें अथवा दूसरे साथियोंको यह मालूम न होने दिया कि पीड़ा असह्य थी।

नड़ियाद पहुँचे। वहाँसे अनाथाश्रम जाना था, जो आधे मीलसे कुछ कम ही दूर था। लेकिन उस दिन यह दूरी दस मीलके बराबर मालूम हुई। बड़ी मुश्किलसे घर पहुँचा। लेकिन पेटका दर्द बढ़ता ही जाता था। १५-१५ मिनटसे पाखानेकी हाजत मालूम होती थी। आखिर मैं हारा। मैंने अपनी असह्य वेदना प्रकट की और बिछौना पकड़ा। आश्रमके आम पाखानेमें जाता था, उसके बदले दो मंजिले पर कमोड़ मँगवाया। शरम तो बहुत आयी, पर मैं लाचार हो गया था। फूलचंद बापूजी बिजलीकी गतिसे कमोड़ ले आये। चिन्तातुर होकर साथियोंने मुझे चारों ओरसे घेर लिया। उन्होंने मुझे अपने प्रेमसे नहला दिया। पर वे बेचारे मेरे दुःखमें किस प्रकार हाथ बँटा सकते थे। मेरे हठका पार न था। मैंने डॉक्टरको बुलानेसे इनकार कर दिया। दवा तो लेनी ही न थी; सोचा, किये हुए पापकी सजा भोगूँगा। साथियोंने यह सब मुँह लटका कर सहन किया। चौबीस घंटोंमें तीस-चालीस बार पाखानेकी हाजत हुइ होगी। खाना मैं बन्द कर ही चुका था, और शुरूके दिनोंमें तो मैंने फलका रस भी नहीं लिया था। लेनेकी बिलकुल रुचि न थी।

आज तक जिस शरीरको मैं पत्थरके समान मानता था, वह अब गीली मिट्टी-जैसा बन गया। शक्ति क्षीण हो गयी। साथियोंने दवा लेनेके लिए समझाया। मैंने इनकार किया। उन्होंने पिचकारी लगवानेकी सलाह दी। मैंने उसके लिए भी इनकार कर दिया। उस समयका पिचकारी-विषयक मेरा अज्ञान हास्यास्पद था। मैं यह

मानता था कि पिचकारीमें किसी-न-किसी प्रकारकी रसी होगी। बादमें मुझे मालूम हुआ कि वह तो निर्दोष वनस्पतिसे बनी औषधिकी पिचकारी थी। पर जब समझ आयी तब अवसर बीत चुका था। हाजतें तो जारी ही थीं। अतिशय परिश्रमके कारण बुखार आ गया और बेहोशी भी आ गयी। मित्र अधिक घबराये। दूसरे डॉक्टर भी आये। पर जो रोगी उनकी बात माने नहीं, उसके लिए वे क्या कर सकते थे ?

सेठ अम्बालाल और उनकी धर्मपत्नी दोनों नड़ियाद आये। साथियोंसे चर्चा करनेके बाद वे अत्यन्त सावधानीके साथ मुझे मिर्जापुरवाले अपने बंगले पर ले गये। इतनी बात तो मैं अवश्य कह सकता हूँ कि अपनी इस बीमारीमें मुझे जो निर्मल और निष्काम सेवा प्राप्त हुई, उससे अधिक सेवा कोई पा नहीं सकता। मुझे हलका बुखार रहने लगा। मेरा शरीर क्षीण होता गया। बीमारी काफी लम्बे समय तक चलेगी, शायद मैं बिछौनेसे उठ नहीं सकूँगा, ऐसा भी एक विचार मनमें पैदा हुआ। अंबालाल सेठके बंगलेमें प्रेमसे घिरा होने पर भी मैं अशान्त हो उठा और मैंने उनसे प्रार्थना की कि वे मुझे आश्रम ले जायें। मेरा अतिशय आग्रह देखकर वे मुझे आश्रम ले गये।

मैं अभी आश्रममें पीड़ा भोग ही रहा था कि इतनेमें वल्लभभाई समाचार लाए कि जर्मनी पूरी तरह हार चुका है और कमिशनरने कहलवाया है कि रंगरूट भरती करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। यह सुनकर भरतीकी चिन्तासे मैं मुक्त हुआ और मुझे शांति मिली।

उन दिनों मैं जलका उपचार करता था और उससे शरीर टिका हुआ था। पीड़ा शांत हो गयी थी, किन्तु शरीर किसी भी उपायसे पुष्ट नहीं हो रहा था। वैद्य मित्र और डॉक्टर मित्र अनेक प्रकारकी सलाह देते थे, पर मैं किसी तरह दवा पीनेको तैयार नहीं हुआ। दो-तीन मित्रोंने सलाह दी कि दूध लेनेमें आपत्ति हो, तो मांसका शोरवा लेना चाहिये और औषधिके रूपमें मांसादि चाहे जो वस्तु ली जा सकती है। इसके समर्थनमें उन्होंने आयुर्वेदके प्रमाण दिये। एकने अण्डे लेनेकी सिफारिश की। लेकिन मैं इनमें से किसी भी सलाहको स्वीकार न कर सका। मेरा उत्तर एक ही था - नहीं।

खाद्याखाद्यका निर्णय मेरे लिए केवल शास्त्रोंके श्लोकों पर अवलंबित नहीं था, बल्कि मेरे जीवनके साथ वह स्वतंत्र रीतिसे जुड़ा हुआ था। चाहे जो चीज़ खाकर और चाहे जैसा उपचार करके जीनेका मुझे तनिक भी लोभ न था। जिस धर्मका आचरण मैंने अपने पुत्रोंके लिए किया, स्त्रीके लिए किया, स्नेहियोंके लिए किया,

उस धर्मका त्याग मैं अपने लिए कैसे करता?

इस प्रकार मुझे अपनी इस बहुत लम्बी और जीवनकी सबसे पहली इतनी बड़ी बीमारीमें धर्मका निरीक्षण करने और उसे कसौटी पर चढ़ानेका अलभ्य लाभ मिला। एक रात तो मैंने बिलकुल ही आशा छोड़ दी थी। मुझे ऐसा भास हुआ कि अब मृत्यु समीप ही है। श्री अनसूयाबहनको खबर भिजवायी। वे आयीं। वल्लभभाई आये। डॉक्टर कानूगा आये। डॉ. कानूगाने मेरी नाड़ी देखी और कहा: "मैं खुद तो मरनेके कोई चिह्न देख नहीं रहा हूँ। नाड़ी साफ है। केवल कमजोरीके कारण आपके मनमें घबराहट है।" लेकिन मेरा मन न माना। रात तो बीती। किन्तु उस रात मैं शायद ही सो सका होऊँगा।

सबेरा हुआ। मौत न आयी। फिर भी उस समय जीनेकी आशा न बाँध सका और यह समझकर कि मृत्यु समीप है, जितनी देर बन सका उतनी देर तक साथियोंसे गीतापाठ सुननेमें लगा रहा। कामकाज करनेकी कोई शक्ति रही ही नहीं थी। पढ़ने जितनी भी शक्ति नहीं रह गयी थी। किसीके साथ बात करनेकी भी इच्छा न होती थी। थोड़ी बात करनेसे दिमाग थक जाता था। इस कारण जीनेमें कोई रस न रह गया था। जीनेके लिए जीना मुझे कभी पसंद पड़ा ही नहीं। बिना कुछ कामकाज किये साथियोंकी सेवा लेकर क्षीण हो रहे शरीरको टिकाये रखनेमें मुझे भारी उकताहट मालूम होती थी।

यों मैं मौतकी राह देखता बैठा था। इतनेमें डॉ० तलवलकर एक विचित्र प्राणीको लेकर आये। वे महाराष्ट्री हैं। हिन्दुस्तान उन्हें पहचानता नहीं। मैं उन्हें देखकर समझ सका था कि वे मेरी ही तरह 'चक्रम' हैं। वे अपने उपचारका प्रयोग मुझ पर करनेके लिए आये थे। उन्हें डॉ० तलवलकर अपनी सिफारिशके साथ मेरे पास लाये थे। उन्होंने ग्रांट मेडिकल कॉलेजमें डॉक्टरीका अध्ययन किया था, पर वे डिग्री नहीं पा सके थे। बादमें मालूम हुआ कि वे ब्रह्मसमाजी हैं। नाम उनका केलकर है। बड़े स्वतंत्र स्वभावके हैं। वे बरफके उपचारके बड़े हिमायती हैं। मेरी बीमारीकी बात सुनकर जिस दिन वे मुझ पर बरफका अपना उपचार आजमानेके लिए आये, उसी दिनसे हम उन्हें 'आइस डॉक्टर'के उपनामसे पहचानते हैं। अपने विचारोंके विषयमें वे अत्यन्त आग्रही हैं। उनका विश्वास है कि उन्होंने डिग्रीधारी डॉक्टरोंसे भी कुछ अधिक अच्छी खोजें की हैं। अपना यह विश्वास वे मुझमें पैदा नहीं कर सके, यह उनके और मेरे दोनोंके लिए दुःखकी बात रही है। मैं एक हद तक उनके उपचारोंमें

विश्वास करता हूँ। पर मेरा खयाल है कि कुछ अनुमानों तक पहुँचनेमें उन्होंने जल्दी की है।

पर उनकी खोजें योग्य हों अथवा अयोग्य, मैंने उन्हें अपने शरीर पर प्रयोग करने दिये। मुझे बाह्य उपचारोंसे स्वस्थ होना अच्छा लगता था, सो भी बरफके अर्थात् पानीके। अतएव उन्होंने मेरे सारे शरीर पर बरफ घिसनी शुरू की। इस इलाजसे जितने परिणामकी आशा वे लगाये हुए थे, उतना परिणाम तो मेरे सम्बन्धमें नहीं निकला। फिर भी मैं, जो रोज मौतकी राह देखा करता था, अब मरनेके बदले कुछ जीनेकी आशा रखने लगा। मुझमें कुछ उत्साह पैदा हुआ। मनके उत्साहके साथ मैंने शरीरमें भी उत्साहका अनुभव किया। मैं कुछ अधिक खाने लगा। रोज पाँच-दस मिनट घूमने लगा। अब उन्होंने सुझाया, "अगर आप अण्डेका रस पीयें, तो आपमें जितनी शक्ति आयी है उससे अधिक शक्ति आनेकी गारण्टी मैं दे सकता हूँ। अण्डे दूधके समान ही निर्दोष हैं। वे मांस तो हरगिज नहीं हैं। हरएक अण्डेमें से बच्चा पैदा होता ही है, ऐसा कोई नियम नहीं है। जिनसे बच्चे पैदा होते ही नहीं ऐसे निर्जीव अण्डे भी काममें लाये जाते हैं, इसे मैं आपके सामने सिद्ध कर सकता हूँ।" पर मैं ऐसे निर्जीव अण्डे लेनेको भी तैयार न हुआ। फिर भी मेरी गाड़ी कुछ आगे बढ़ी और मैं आसपासके कामोंमें थोड़ा-थोड़ा रस लेने लगा।

२९. रौलट एक्ट और मेरा धर्म-संकट

मित्रोंने सलाह दी कि माथेरान जानेसे मेरा शरीर शीघ्र पुष्ट होगा। अतएव मैं माथेरान गया। किन्तु वहाँका पानी भारी था, इसलिए मेरे सरीखे रोगीके लिए वहाँ रहना कठिन हो गया। पेचिशके कारण गुदाद्वार इतना नाजुक हो गया था कि साधारण स्पर्श भी मुझसे सहा न जाता था और उसमें दरारें पड़ गयी थीं, जिससे मलत्यागके समय बहुत कष्ट होता था। इससे कुछ भी खाते हुए डर लगता था। एक हफ्तेमें माथेरानसे वापस लौटा। मेरी तबीयतकी हिफाजतका जिम्मा शंकरलाल बैंकरने अपने हाथमें लिया था। उन्होंने डॉ. दलालसे सलाह लेनेका आग्रह किया। डॉ. दलाल आये। उनकी तत्काल निर्णय करनेकी शक्तिने मुझे मुग्ध कर लिया। वे बोले :

"जब तक आप दूध न लेंगे, मैं आपके शरीरको फिरसे हृष्ट-पुष्ट न बना

सकूँगा। उसे पुष्ट बनानेके लिए आपको दूध लेना चाहिये और लोहे तथा आर्सेनिककी पिचकारियाँ लेनी चाहियें। यदि आप इतना करें, तो आपके शरीरको पुनः पुष्ट करनेकी गारण्टी मैं देता हूँ।''

मैंने जवाब दिया: ''पिचकारी लगाइये, लेकिन दूध मैं न लूँगा।''

डॉक्टरने पूछा: ''दूधके सम्बन्धमें आपकी प्रतिज्ञा क्या है?''

''यह जानकर कि गाय-भैंस पर फूँकेकी क्रिया की जाती है, मुझे दूधसे नफरत हो गयी है। और, यह तो मैं सदासे मानता रहा हूँ कि दूध मनुष्यका आहार नहीं है। इसलिए मैंने दूध छोड़ दिया है।''

यह सुनकर कस्तूरबाई, जो मेरी खटियाके पास ही खड़ी थी, बोल उठी: ''तब तो बकरीका दूध आप ले सकते हैं।''

डॉक्टर बीचमें बोले: ''आप बकरीका दूध लें, तो मेरा काम बन जाये।''

मैं गिरा। सत्याग्रहकी लड़ाईके मोहने मेरे अन्दर जीनेका लोभ पैदा कर दिया और मैंने प्रतिज्ञाके अक्षरार्थके पालनसे संतोष मानकर उसकी आत्माका हनन किया। यद्यपि दूधकी प्रतिज्ञा लेते समय मेरे सामने गाय-भैंस ही थीं, फिर भी मेरी प्रतिज्ञा दूधमात्रकी मानी जानी चाहिये। और, जब तक मैं पशुके दूधमात्रको मनुष्यके आहारके रूपमें निषिद्ध मानता हूँ, तब तक मुझे उसे लेनेका अधिकार नहीं, इस बातको जानते हुए भी मैं बकरीका दूध लेनेको तैयार हो गया। सत्यके पुजारीने सत्याग्रहकी लड़ाईके लिए जीनेकी इच्छा रखकर अपने सत्यको लांछित किया।

मेरे इस कार्यका डंक अभी तक मिटा नहीं है और बकरीका दूध छोड़नेके विषयमें मेरा चिन्तन तो चल ही रहा है। बकरीका दूध पीते समय मैं रोज दुःखका अनुभव करता हूँ। किन्तु सेवा करनेका महासूक्ष्म मोह, जो मेरे पीछे पड़ा है, मुझे छोड़ता नहीं। अहिंसाकी दृष्टिसे आहारके अपने प्रयोग मुझे प्रिय हैं। उनसे मुझे आनन्द प्राप्त होता है। वह मेरा विनोद है। परन्तु बकरीका दूध मुझे आज इस दृष्टिसे नहीं अखरता। वह अखरता है सत्यकी दृष्टिसे। मुझे ऐसा भास होता है कि मैं अहिंसाको जितना पहचान सका हूँ, सत्यको उससे अधिक पहचानता हूँ। मेरा अनुभव यह है कि अगर मैं सत्यको छोड़ दूँ, तो अहिंसाकी भारी गुत्थियाँ मैं कभी सुलझा नहीं सकूँगा। सत्यके पालनका अर्थ है, लिये हुए व्रतके शरीर और आत्माकी रक्षा, शब्दार्थ और भावार्थका पालन। मुझे हर दिन यह बात खटकती रहती है कि मैंने दूधके बारेमें व्रतकी आत्माका - भावार्थका - हनन किया है। यह जानते हुए भी मैं

यह नहीं जान सका कि अपने व्रतके प्रति मेरा धर्म क्या है, अथवा कहिये कि मुझमें उसे पालनेकी हिम्मत नहीं है। दोनों बातें एक ही हैं; क्योंकि शंकाके मूलमें श्रद्धाका अभाव रहता है। हे ईश्वर, तू मुझे श्रद्धा दे!

बकरीका दूध शुरू करनेके कुछ दिन बाद डॉ. दलालने गुदाद्वारकी दरारोंका आपरेशन किया और वह बहुत सफल हुआ।

बिछौना छोड़कर उठनेकी कुछ आशा बँध रही थी और अखबार वगैरा पढ़ने लगा ही था कि इतनेमें रौलट कमेटीकी रिपोर्ट मेरे हाथमें आयी। उसकी सिफारिशें पढ़कर मैं चौंका। भाई उमर सोबानी और शंकरलाल बैंकरने चाहा कि कोई निश्चित कदम उठाना चाहिये। एकाध महीनेमें मैं अहमदाबाद गया। वल्लभभाई प्रायः प्रतिदिन मुझे देखने आते थे। मैंने उनसे बात की और सुझाया कि इस विषयमें हमें कुछ करना चाहिये। ''क्या किया जा सकता है?'' इसके उत्तरमें मैंने कहा: ''यदि थोड़े लोग भी इस सम्बन्धमें प्रतिज्ञा करनेवाले मिल जायें तो, और कमेटीकी सिफारिशके अनुसार कानून बने तो, हमें सत्याग्रह शुरू करना चाहिये। यदि मैं बिछौने पर पड़ा न होता, तो अकेला भी इसमें जूझता और यह आशा रखता कि दूसरे लोग बादमें आ मिलेंगे। किन्तु अपनी लाचार स्थितिमें अकेले जूझनेकी मुझमें बिलकुल शक्ति नहीं है।''

इस बातचीतके परिणाम-स्वरूप ऐसे कुछ लोगोंकी एक छोटी सभा बुलानेका निश्चय हुआ, जो मेरे सम्पर्कमें ठीक-ठीक आ चुके थे। मुझे तो यह स्पष्ट प्रतीत हुआ कि प्राप्त प्रमाणोंके आधार पर रौलट कमेटीने जो कानून बनानेकी सिफारिश की है उसकी कोई आवश्यकता नहीं है। मुझे यह भी इतना ही स्पष्ट प्रतीत हुआ कि स्वाभिमानकी रक्षा करनेवाली कोई भी जनता ऐसे कानूनको स्वीकार नहीं कर सकती।

वह सभा हुई। उसमें मुश्किलसे कोई बीस लोगोंको न्योता गया था। जहाँ तक मुझे याद है, वल्लभभाईके अतिरिक्त उसमें श्रीमती सरोजिनी नायडू, मि० हार्निमैन, स्व० उमर सोबानी, श्री शंकरलाल बैंकर, श्री अनसूयाबहन आदि सम्मिलित हुए थे।

प्रतिज्ञा-पत्र तैयार हुआ और मुझे याद है कि जितने लोग हाजिर थे उन सबने उस पर हस्ताक्षर किये। उस समय मैं कोई अखबार नहीं निकालता था। पर समय-समय पर अखबारोंमें लिखा करता था, उसी तरह लिखना शुरू किया और शंकरलाल बैंकरने जोरका आन्दोलन चलाया। इस अवसर पर उनकी काम करनेकी

और संगठन करनेकी शक्तिका मुझे खूब अनुभव हुआ।

कोई भी चलती हुई संस्था सत्याग्रह-जैसे नये शस्त्रको स्वयं उठा ले, इसे मैंने असम्भव माना। इस कारण सत्याग्रह-सभाकी स्थापना हुई। उसके मुख्य सदस्योंके नाम बम्बईमें ही लिखे गये। केन्द्र बम्बईमें रखा गया। प्रतिज्ञा-पत्रों पर खूब हस्ताक्षर होने लगे। खेड़ाकी लड़ाईकी तरह पत्रिकायें निकलीं और जगह-जगह सभायें हुईं।

मैं इस सभाका सभापति बना था। मैंने देखा कि शिक्षित समाजके और मेरे बीच बहुत मेल नहीं बैठ सकता। सभामें गुजराती भाषाके उपयोगके मेरे आग्रहने और मेरे कुछ दूसरे तरीकोंने उन्हें परेशानीमें डाल दिया। फिर भी बहुतोंने मेरी पद्धतिको निबाहनेकी उदारता दिखायी, यह मुझे स्वीकार करना चाहिये। लेकिन मैंने शुरूमें ही देख लिया कि यह सभा लम्बे समय तक टिक नहीं सकेगी। इसके अलावा, सत्य और अहिंसा पर जो जोर मैं देता था, वह कुछ लोगोंको अप्रिय मालूम हुआ। फिर भी शुरूके दिनोंमें यह नया काम धड़ल्लेके साथ आगे बढ़ा।

३०. वह अद्भुत दृश्य !

एक ओरसे रौलट कमेटीकी रिपोर्टके विरुद्ध आन्दोलन बढ़ता गया, दूसरी ओरसे सरकार कमेटीकी सिफारिशों पर अमल करनेके लिए दृढ़ होती गयी। रौलट बिल प्रकाशित हुआ। मैं एक ही बार धारासभाकी बैठकमें गया था। रौलट बिलकी चर्चा सुनने गया था। शास्त्रीजीने अपना जोशीला भाषण किया, सरकारको चेतावनी दी। जिस समय शास्त्रीजीकी वाग्धारा बह रही थी, वाइसरॉय उनके सामने टकटकी लगाकर देख रहे थे। मुझे तो जान पड़ा कि इस भाषणका असर उन पर हुआ होगा। शास्त्रीजीकी भावना उमड़ी पड़ती थी।

पर सोये हुए आदमीको जगाया जा सकता है; जागनेवाला सोनेका बहाना करे तो उसके कानमें ढोल बजाने पर भी वह क्यों सुनने लगा? धारासभामें बिलोंकी चर्चाका 'फार्स' तो करना ही चाहिये। सरकारने वह किया। किन्तु उसे जो काम करना था उसका निश्चय तो हो ही चुका था। इसलिए शास्त्रीजीकी चेतावनी व्यर्थ सिद्ध हुई।

मेरी तूतीकी आवाजको तो भला कौन सुनता? मैंने वाइसरॉयसे मिलकर उन्हें बहुत समझाया। व्यक्तिगत पत्र लिखे। सार्वजनिक पत्र लिखे। मैंने उनमें स्पष्ट बता

दिया कि सत्याग्रहको छोड़कर मेरे पास दूसरा कोई मार्ग नहीं है। लेकिन सब व्यर्थ हुआ।

अभी बिल गजटमें नहीं छपा था। मेरा शरीर कमजोर था, फिर भी मैंने लम्बी यात्राका खतरा उठाया। मुझमें ऊँची आवाजसे बोलनेकी शक्ति नहीं आयी थी। खड़े रहकर बोलनेकी शक्ति जो गयी, सो अभी तक लौटी नहीं है। थोड़ी देर खड़े रहकर बोलने पर सारा शरीर काँपने लगता था और छाती तथा पेटमें दर्द मालूम होने लगता था। पर मुझे लगा कि मद्राससे आया हुआ निमंत्रण स्वीकार करना ही चाहिये। दक्षिणके प्रान्त उस समय भी मुझे घर सरीखे मालूम होते थे। दक्षिण अफ्रीकाके सम्बन्धके कारण तामिल-तेलुगु आदि दक्षिण प्रदेशके लोगों पर मेरा कुछ अधिकार है, ऐसा मैं मानता आया हूँ। और, अपनी इस मान्यतामें मैंने थोड़ी भी भूल की है, ऐसा मुझे आज तक प्रतीत नहीं हुआ। निमंत्रण स्व० कस्तूरी रंगा आयंगारकी ओरसे मिला था। मद्रास जाने पर पता चला कि इस निमंत्रणके मूलमें राजगोपालाचार्य थे। राजगोपालाचार्यके साथ यह मेरा पहला परिचय कहा जा सकता है। मैं इसी समय उन्हें प्रत्यक्ष पहचानने लगा था।

सार्वजनिक काममें अधिक हिस्सा लेनेके विचारसे और श्री कस्तूरी रंगा आयंगार इत्यादि मित्रोंकी माँग पर वे सेलम छोड़कर मद्रासमें वकालत करनेवाले थे। मुझे उनके घर पर ठहराया गया था। कोई दो दिन बाद ही मुझे पता चला कि मैं उनके घर ठहरा हूँ; क्योंकि बंगला कस्तूरी रंगा आयंगारका था, इसलिए मैंने अपनेको उन्हींका मेहमान मान लिया था। महादेव देसाईने मेरी भूल सुधारी। राजगोपालाचार्य दूर-दूर ही रहते थे। पर महादेवने उन्हें भलीभाँति पहचान लिया था। महादेवने मुझे सावधान करते हुए कहा, "आपको राजगोपालाचार्यसे जान-पहचान बढ़ा लेनी चाहिये।"

मैंने परिचय बढ़ाया। मैं प्रतिदिन उनके साथ लड़ाईकी रचनाके विषयमें चर्चा करता था। सभाओंके सिवा मुझे और कुछ सूझता ही न था। यदि रौलट बिल कानून बन जाय, तो उसकी सविनय अवज्ञा किस प्रकार की जाये? उसकी सविनय अवज्ञा करनेका अवसर तो सरकार दे तभी मिल सकता है। दूसरे कानूनोंकी सविनय अवज्ञा की जा सकती है? उसकी मर्यादा क्या हो? आदि प्रश्नोंकी चर्चा होती थी।

श्री कस्तूरी रंगा आयंगारने नेताओंकी एक छोटी सभा भी बुलायी। उसमें भी खूब चर्चा हुई। श्री विजयराघवाचार्यने उसमें पूरा हिस्सा लिया। उन्होंने सुझाव दिए

कि सूक्ष्म-से-सूक्ष्म सूचनायें लिख कर मैं सत्याग्रहका शास्त्र तैयार कर लूँ। मैंने बताया कि यह काम मेरी शक्तिसे बाहर है।

इस प्रकार मन्थन-चिन्तन चल रहा था कि इतनेमें समाचार मिला कि बिल कानूनके रूपमें गजटमें छप गया है। इस खबरके बादकी रातको मैं विचार करते-करते सो गया। सवेरे जल्दी जाग उठा। अर्धनिद्राकी दशा रही होगी, ऐसेमें मुझे सपनेमें एक विचार सूझा। मैंने सवेरे ही सवेरे राजगोपालाचार्यको बुलाया और कहा:

"मुझे रात स्वप्नावस्थामें यह विचार सूझा कि इस कानूनके जवाबमें हम सारे देशको हड़ताल करनेकी सूचना दें। सत्याग्रह आत्मशुद्धिकी लड़ाई है। वह धार्मिक युद्ध है। धर्मकार्यका आरंभ शुद्धिसे करना ठीक मालूम होता है। उस दिन सब उपवास करें और काम-धंधा बन्द रखें। मुसलमान भाई रोजेसे अधिक उपवास न करेंगे, इसलिए चौबीस घंटोंका उपवास करनेकी सिफारिश की जाये। इसमें सब प्रान्त सम्मिलित होंगे या नहीं, यह तो कहा नहीं जा सकता। पर बम्बई, मद्रास, बिहार और सिन्धकी आशा तो मुझे है ही। यदि इतने स्थानों पर भी ठीकसे हड़ताल रहे, तो हमें संतोष मानना चाहिये।"

राजगोपालाचार्यको यह सूचना बहुत अच्छी लगी। बादमें दूसरे मित्रोंको तुरन्त इसकी जानकारी दी गयी। सबने इसका स्वागत किया। मैंने एक छोटी-सी विज्ञप्ति तैयार कर ली। पहले १९१९ के मार्चकी ३० वीं तारीख रखी गयी थी। बादमें ६ अप्रैल रखी गयी। लोगोंको बहुत ही थोड़े दिनकी मुद्दत दी गयी थी। चूँकी काम तुरन्त करना जरूरी समझा गया था, अतएव तैयारीके लिए लंबी मुद्दत देनेका समय ही न था।

लेकिन न जाने कैसे सारी व्यवस्था हो गयी। समूचे हिन्दुस्तानमें - शहरोंमें और गाँवोंमें - हड़ताल हुई! वह दृश्य भव्य था!

३१. वह सप्ताह!

१

दक्षिणमें थोड़ी यात्रा करके संभवतः ४ अप्रैलको मैं बम्बई पहुँचा। शंकरलाल बैंकरका तार था कि छठी तारीख मनानेके लिए मुझे बम्बईमें मौजूद रहना चाहिये।

पर इससे पहले दिल्लीमें तो हड़ताल ३० मार्चके दिन ही मनायी जा चुकी थी। दिल्लीमें स्व० श्रद्धानन्दजी और मरहूम हकीम साहब अजमलखाँकी दुहाई फिरती थी। ६ अप्रैल तक हड़तालकी अवधि बढ़ानेकी सूचना दिल्ली देरसे पहुँची थी। दिल्लीमें उस दिन जैसी हड़ताल हुई वैसी पहले कभी न हुई थी। ऐसा जान पड़ा मानो हिन्दू और मुसलमान दोनों एकदिल हो गये हैं। श्रद्धानन्दजीको जामा मस्जिदमें निमंत्रित किया गया और वहाँ उन्हें भाषण करने दिया गया। अधिकारी यह सब सहन नहीं कर पाये। रेलवे स्टेशनकी तरफ जाते हुए जुलूसको पुलिसने रोका और गोलियाँ चलायीं। कितने ही लोग घायल हुए। कुछ जानसे मारे गये। दिल्लीमें दमनका दौरदौरा शुरू हुआ। श्रद्धानन्दजीने मुझे दिल्ली बुलाया। मैंने तार दिया कि बम्बईमें छठी तारीख मनाकर तुरन्त दिल्ली पहुँचूँगा।

जो हाल दिल्लीका था, वही लाहौर-अमृतसरका भी रहा। अमृतसरसे डॉ० सत्यपाल और किचलूके तार आये थे कि मुझे वहाँ तुरन्त पहुँचना चाहिये। इन दो भाइयोंको मैं उस समय बिलकुल जानता नहीं था। पर वहाँ भी इस निश्चयकी सूचना भेजी थी कि दिल्ली होकर अमृतसर पहुँचूँगा।

६ अप्रैलके दिन बम्बईमें सवेरे-सवेरे हजारों लोग चौपाटी पर स्नान करने गये और वहाँसे ठाकुरद्वार* जानेके लिए जुलूस रवाना हुआ। उसमें स्त्रियाँ और बच्चे भी थे। जुलूसमें मुसलमान भी अच्छी संख्यामें सम्मिलित हुए थे। इस जुलूसमें से मुसलमान भाई हमें एक मस्जिदमें ले गये। वहाँ श्रीमती सरोजिनीदेवीसे और मुझसे भाषण कराये। वहाँ श्री विट्ठलदास जेराजाणीने स्वदेशी और हिन्दू-मुस्लिम-एकताकी प्रतिज्ञा लिवानेका सुझाव रखा। मैंने ऐसी उतावलीमें प्रतिज्ञा करानेसे इनकार किया

---

* यहाँ 'ठाकुरद्वार' के स्थान पर 'माधवबाग' पढ़िये। अब तकके अंग्रेजी और गुजराती संस्करणमें यह गलती रहती आयी है। उस समय गांधीजीके साथ रहनेवाले श्री मथुरादास त्रिकमजीने इसे सुधरवाया था।

और जितना हो रहा था उतनेसे संतोष करनेकी सलाह दी। की हुई प्रतिज्ञा फिर तोड़ी नहीं जा सकती। स्वदेशीका अर्थ हमें समझना चाहिये। हिन्दू-मुस्लिम-एकताकी प्रतिज्ञाकी जिम्मेदारीका खयाल हमें रहना चाहिये--आदि बातें कहीं और यह सूचना की कि प्रतिज्ञा लेनेका जिसका विचार हो, वह चाहे तो अगले दिन सवेरे चौपाटीके मैदान पर पहुँच जाय।

बम्बईकी हड़ताल संपूर्ण थी।

यहाँ कानूनकी सविनय अवज्ञाकी तैयारी कर रखी थी। जिनकी अवज्ञा की जा सके ऐसी दो-तीन चीजें थीं। जो कानून रद किये जाने लायक थे और जिनकी अवज्ञा सब सरलतासे कर सकते थे, उनमें से एकका ही उपयोग करनेका निश्चय था। नमक-करका कानून सबको अप्रिय था। उस करको रद करानेके लिए बहुत कोशिशें हो रही थीं। अतएव मैंने एक सुझाव यह रखा था कि सब लोग बिना परवानेके अपने घरमें नमक बनायें। दूसरा सुझाव सरकार द्वारा जब्त की हुई पुस्तकें छपाने और बेचनेका था। ऐसी दो पुस्तकें मेरी ही थीं: 'हिन्द स्वराज्य' और 'सर्वोदय'। इन पुस्तकोंका छपाना और बेचना सबसे सरल सविनय अवज्ञा मालूम हुई। इसलिए ये पुस्तकें छपायी गयीं और शामको उपवास छूटनेके बाद और चौपाटीकी विराट् सभाके विसर्जित होनेके बाद इन्हें बेचनेका प्रबंध किया गया।

शामको कई स्वयंसेवक ये पुस्तकें बेचने निकल पड़े। एक मोटरमें मैं निकला और एकमें श्रीमती सरोजिनी नायडू निकलीं। जितनी प्रतियाँ छपायी गयी थीं उतनी सब बिक गयीं। इनकी जो कीमत वसूल होती, वह लड़ाईके काममें ही खर्च की जानेवाली थी। एक प्रतिका मूल्य चार आना रखा गया था। पर मेरे हाथ पर अथवा सरोजिनीदेवीके हाथ पर शायद ही किसीने चार आने रखे होंगे। अपनी जेबमें जो था सो सब देकर किताबें खरीदनेवाले बहुतेरे निकल आये। कोई कोई दस और पाँचके नोट भी देते थे। मुझे स्मरण है कि एक प्रतिके लिए ५० रुपयेके नोट भी मिले थे। लोगोंको समझा दिया गया था कि खरीदनेवालेके लिए भी जेलका खतरा है। लेकिन क्षणभरके लिए लोगोंने जेलका भय छोड़ दिया था।

७ तारीखको पता चला कि जिन किताबोंके बेचने पर सरकारने रोक लगायी थी, सरकारकी दृष्टिसे वे बेची नहीं गयी हैं। जो पुस्तकें बिकी हैं वे तो उनकी दूसरी आवृत्ति मानी जायँगी। जब्त की हुई पुस्तकोंमें उनकी गिनती नहीं हो सकती। सरकारकी ओरसे यह कहा गया था कि नई आवृत्ति छपाने, बेचने और खरीदनेमें

कोई गुनाह नहीं है। यह खबर सुनकर लोग निराश हुए।

उस दिन सवेरे लोगोंको चौपाटी पर स्वदेशी-व्रत और हिन्दू-मुस्लिम एकताका व्रत लेनेके लिए इकट्ठा होना था। विठ्ठलदास जेराजाणीको यह पहला अनुभव हुआ कि हर सफेद चीज दूध नहीं होती। बहुत थोड़े लोग इकट्ठा हुए थे। इनमें से दो-चार बहनोंके नाम मेरे ध्यानमें आ रहे हैं। पुरुष भी थोड़े ही थे। मैंने व्रतोंका मसविदा बना रखा था। उपस्थित लोगोंको उनका अर्थ अच्छी तरह समझा दिया गया और उन्हें व्रत लेने दिये गये। थोड़ी उपस्थितिसे मुझे आश्चर्य नहीं हुआ; दुःख भी नहीं हुआ। परन्तु मैं उसी समयसे धूम-धड़क्केके काम और धीमे तथा शान्त रचनात्मक कामके बीचका भेद तथा लोगोंमें पहले कामके लिए पक्षपात और दूसरेके लिए अरुचिका अनुभव करता आया हूँ।

पर इस विषयके लिए एक अलग प्रकरण देना पड़ेगा।

७ अप्रैलकी रातको मैं दिल्ली-अमृतसर जानेके लिए रवाना हुआ। ८को मथुरा पहुँचने पर कुछ ऐसी भनक कान तक आयी कि शायद मुझे गिरफ्तार करेंगे। मथुराके बाद एक स्टेशन पर गाड़ी रुकती थी। वहाँ आचार्य गिडवानी मिले। उन्होंने मेरे पकड़े जानेके बारेमें पक्की खबर दी और जरूरत हो तो अपनी सेवा अर्पण करनेके लिए कहा। मैंने धन्यवाद दिया और कहा कि जरूरत पड़ने पर आपकी सेवा लेना नहीं भूलूँगा।

पलवल स्टेशन आनेके पहले ही पुलिस अधिकारीने मेरे हाथ पर आदेश-पत्र रखा। आदेश इस प्रकार का था : "आपके पंजाबमें प्रवेश करनेसे अशांति बढ़नेका डर है, अतएव आप पंजाबकी सीमामें प्रवेश न करें।" आदेश-पत्र देकर पुलिसने मुझे उतर जानेको कहा। मैंने उतरनेसे इनकार किया और कहा : "मैं अशांति बढ़ाने नहीं, बल्कि निमंत्रण पाकर अशांति घटानेके लिए जाना चाहता हूँ। इसलिए खेद है कि मुझसे इस आदेशका पालन नहीं हो सकेगा।"

पलवल आया। महादेव मेरे साथ थे। उनसे मैंने दिल्ली जाकर श्रद्धानन्दजीको खबर देने और लोगोंको शांत रखनेके लिए कहा। मैंने महादेवसे यह भी कहा कि वे लोगोंको बता दें कि सरकारी आदेशका अनादर करनेके कारण जो सजा होगी उसे भोगनेका मैंने निश्चय कर लिया है, साथ ही लोगोंको यह समझानेके लिए कहा कि मुझे सजा होने पर भी उनके शान्त रहनेमें ही हमारी जीत है।

मुझे पलवल स्टेशन पर उतार लिया गया और पुलिसके हवाले किया गया। फिर

दिल्लीसे आनेवाली किसी ट्रेनके तीसरे दर्जेके डिब्बेमें मुझे बैठाया गया और साथमें पुलिसका दल भी बैठा। मथुरा पहुँचने पर मुझे पुलिसकी बारकमें ले गये। मेरा क्या होगा और मुझे कहाँ ले जाना है, सो कोई पुलिस अधिकारी मुझे बता न सका। सुबह ४ बजे मुझे जगाया गया और बम्बईकी ओर जानेवाली मालगाड़ीमें बैठा दिया गया। दोपहरको मुझे सवाई माधोपुर स्टेशन पर उतारा गया। वहाँ बम्बईकी डाकगाड़ीमें लाहौरसे इन्स्पेक्टर बोरिंग आये। उन्होंने मेरा चार्ज लिया।

अब मुझे पहले दर्जेमें बैठाया गया। साथमें साहब भी बैठे। अभी तक मैं एक साधारण कैदी था, अब 'जेण्टलमैन कैदी' माना जाने लगा। साहबने सर माइकल ओडवायरका बखान शुरू किया। उन्हें मेरे विरुद्ध तो कोई शिकायत है ही नहीं, किन्तु मेरे पंजाब जानेसे उन्हें अशांतिका पूरा भय है, आदि बातें कहकर मुझे स्वेच्छासे लौट जाने और फिरसे पंजाबकी सीमा पार न करनेका अनुरोध किया। मैंने उनसे कह दिया कि मुझसे इस आज्ञाका पालन नहीं हो सकेगा और मैं स्वेच्छासे वापस जानेको तैयार नहीं। अतएव साहबने लाचार होकर कानूनी कारवाई करनेकी बात कही। मैंने पूछा, "लेकिन यह तो कहिये कि आप मेरा क्या करना चाहते हैं?" वे बोले, "मुझे पता नहीं है। मैं दूसरे आदेशकी राह देख रहा हूँ। अभी तो मैं आपको बम्बई ले जा रहा हूँ।"

सूरत पहुँचने पर किसी दूसरे अधिकारीने मुझे अपने कब्जेमें लिया। उसने मुझे रास्तेमें कहा : "आप रिहा कर दिये गये हैं। लेकिन आपके लिए मैं ट्रेनको मरीन लाइन्स स्टेशनके पास रुकवाऊँगा। आप वहाँ उतर जायेंगे, तो ज्यादा अच्छा होगा। कोलाबा स्टेशन पर बड़ी भीड़ होनेकी संभावना है।" मैंने उससे कहा कि आपका कहा करनेमें मुझे प्रसन्नता होगी। वह खुश हुआ और उसने मुझे धन्यवाद दिया। मैं मरीन लाइन्स पर उतरा। वहाँ किसी परिचितकी घोड़ागाड़ी दिखायी दी। वे मुझे रेवाशंकर झवेरीके घर छोड़ गये। उन्होंने मुझे खबर दी : "आपके पकड़े जानेकी खबर पाकर लोग क्रुद्ध हो गये हैं और पागल-से बन गये हैं। पायधूनीके पास दंगेका खतरा है। मजिस्ट्रेट और पुलिस वहाँ पहुँच गयी है।

मैं घर पहुँचा ही था कि इतनेमें उमर सोबानी और अनसूयाबहन मोटरमें आये और उन्होंने मुझे पायधूनी चलनेको कहा। उन्होंने बताया, "लोग अधीर हो गये हैं और बड़े उत्तेजित हैं। हममें से किसीके किये शांत नहीं हो सकते। आपको देखेंगे तभी शांत होंगे।"

मैं मोटरमें बैठ गया। पायधूनी पहुँचते ही रास्तेमें भारी भीड़ दिखायी दी। लोग मुझे देखकर हर्षोन्मत्त हो उठे। अब जुलूस बना। 'वन्दे मातरम्' और 'अल्लाहो अकबर'के नारोंसे आकाश गूँज उठा। पायधूनी पर घुड़सवार दिखायी दिये। ऊपरसे ईंटोंकी वर्षा हो रही थी। मैं हाथ जोड़कर लोगोंसे प्रार्थना कर रहा था कि वे शांत रहें। पर जान पड़ा कि हम भी ईंटोंकी इस बौछारसे बच नहीं पायेंगे।

अब्दुर्रहमान गलीमें से क्राफर्ड मारकेटकी ओर जाते हुए जुलूसको रोकनेके लिए घुड़सवारोंकी एक टुकड़ी सामनेसे आ पहुँची। वे जुलूसको किलेकी ओर जानेसे रोकनेकी कोशिश कर रहे थे। लोग वहाँ समा नहीं रहे थे। लोगोंने पुलिसकी पाँतको चीरकर आगे बढ़नेके लिए जोर लगाया। वहाँ हालत ऐसी नहीं थी कि मेरी आवाज सुनायी पड़ सके। यह देखकर घुड़सवारोंकी टुकड़ीके अफसरने भीड़को तितर-बितर करनेका हुक्म दिया और अपने भालोंको घुमाते हुए इस टुकड़ीने एकदम घोड़े दौड़ानेके शुरू कर दिये। मुझे डर लगा कि उनके भाले हमारा काम तमाम कर दें तो आश्चर्य नहीं। पर मेरा वह डर निराधार था। बगलसे होकर सारे भाले रेलगाड़ीकी गतिसे सनसनाते हुए दूर निकल जाते थे। लोगोंकी भीड़में दरार पड़ी। भगदड़ मच गई। कोई कुचले गये। कोई घायल हुए। घुड़सवारोंको निकलनेके लिए रास्ता नहीं था। लोगोंके लिए आसपास बिखरनेका रास्ता नहीं था। वे पीछे लौटें तो उधर भी हजारों लोग ठसाठस भरे हुए थे। सारा दृश्य भयंकर प्रतीत हुआ। घुड़सवार और जनता दोनों पागल-जैसे मालूम हुए। घुड़सवार कुछ देखते ही नहीं थे अथवा देख नहीं सकते थे। वे तो टेढ़े होकर घोड़ोंको दौड़ानेमें लगे थे। मैंने देखा कि जितना समय इन हजारोंके दलको चीरनेमें लगा, उतने समय तक वे कुछ देख ही नहीं सकते थे।

इस तरह लोगोंको तितर-बितर किया गया और आगे बढ़नेसे रोका गया। हमारी मोटरको आगे जाने दिया गया। मैंने कमिश्नरके कार्यालयके सामने मोटर रुकवाई और मैं उससे पुलिसके व्यवहारकी शिकायत करनेके लिए उतरा।

३२. वह सप्ताह!

२

मैं कमिश्नर ग्रिफिथ साहबके कार्यालयमें गया। उनकी सीढ़ीके पास जहाँ देखा वहीं हथियारबन्द सैनिकोंको बैठा पाया, मानो लड़ाईके लिए तैयार हो रहे हों। बरामदेमें भी हलचल मची हुई थी। मैं खबर देकर ऑफिसमें पैठा, तो देखा कि कमिश्नरके पास मि० बोरिंग बैठे हुए हैं।

मैंने कमिश्नरसे उस दृश्यका वर्णन किया, जिसे मैं अभी-अभी देखकर आया था। उन्होंने संक्षेपमें जवाब दिया : "मैं नहीं चाहता था कि जुलूस फोर्टकी ओर जाये। वहाँ जाने पर उपद्रव हुए बिना न रहता। और मैंने देखा कि लोग लौटाये लौटनेवाले न थे। इसलिए सिवा घोड़े दौड़ानेके मेरे पास दूसरा कोई उपाय न था"

मैंने कहा, "किन्तु उसका परिणाम तो आप जानते थे। लोग घोड़ोंके पैरों तले दबनेसे बच नहीं सकते थे। मेरा तो खयाल है कि घुड़सवारोंकी टुकड़ी भेजनेकी आवश्यकता ही नहीं थी।"

साहब बोले, "आप इसे समझ नहीं सकते। आपकी शिक्षाका लोगों पर क्या असर हुआ है, इसका पता आपकी अपेक्षा हम पुलिसवालोंको अधिक रहता है। हम पहलेसे कड़ी कार्रवाई न करें, तो अधिक नुकसान हो सकता है। मैं आपसे कहता हूँ कि लोग आपके काबूमें भी रहनेवाले नहीं हैं। वे कानूनको तोड़नेकी बात तो झट समझ जायेंगे, लेकिन शांतिकी बात समझना उनकी शक्तिसे परे है। आपके हेतु अच्छे हैं, लेकिन लोग उन्हें समझेंगे नहीं। वे तो अपने स्वभावका ही अनुसरण करेंगे।"

मैंने जवाब दिया, "किन्तु आपके और मेरे बीच जो भेद है, सो इसी बातमें है। मैं कहता हूँ कि लोग स्वभावसे लड़ाकू नहीं, बल्कि शांतिप्रिय हैं।

हममें बहस होने लगी।

आखिर साहबने कहा, "अच्छी बात है, यदि आपको विश्वास हो जाये कि लोग आपकी शिक्षाको समझे नहीं हैं, तो आप क्या करेंगे?"

मैंने उत्तर दिया, "यदि मुझे इसका विश्वास हो जाय, तो मैं इस लड़ाईको मुलतवी कर दूँगा।"

"मुलतवी करनेका मतलब क्या? आपने तो मि० बोरिंगसे कहा है कि मुक्त होने

पर आप तुरन्त वापस पंजाब जाना चाहते हैं!''

''हाँ, मेरा इरादा तो लौटती ट्रेनसे ही वापस जानेका था, पर अब आज तो जाना हो ही नहीं सकता।''

''आप धैर्यसे काम लेंगे तो आपको और अधिक बातें मालूम होंगी। आप जानते हैं, अहमदाबादमें क्या हो रहा है? अमृतसरमें क्या हुआ है? लोग सब कहीं पागल-से हो गये हैं। मुझे भी पूरा पता नहीं है। कई स्थानोंमें तार भी टूटे हैं। मैं तो आपसे कहता हूँ कि इस सारे उपद्रवकी जवाबदेही आपके सिर पर है।''

मैंने कहा : ''मुझे जहाँ अपनी जिम्मेदारी महसूस होगी वहाँ मैं उसे अपने ऊपर लिये बिना नहीं रहूँगा। अहमदाबादमें लोग थोड़ा भी उपद्रव करें, तो मुझे आश्चर्य और दुःख होगा। अमृतसरके बारेमें मैं कुछ भी नहीं जानता। वहाँ तो मैं कभी गया ही नहीं। वहाँ मुझे कोई जानता भी नहीं है। पर मैं इतना जानता हूँ कि पंजाबकी सरकारने मुझे वहाँ जानेसे रोका न होता, तो मैं शांति-रक्षामें बहुत मदद कर सकता था। मुझे रोक कर तो सरकारने लोगोंको चिढ़ाया ही है।''

, इस तरह हमारी बातचीत होती रही। हमारे मतका मेल मिलनेवाला न था। मैं यह कहकर बिदा हुआ कि चौपाटी पर सभा करने और लोगोंको शांति रखनेके लिए समझानेका मेरा इरादा है।

चौपाटी पर सभा हुई। मैंने लोगोंको शांति और सत्याग्रहकी मर्यादाके विषयमें समझाया और बतलाया, ''सत्याग्रह सच्चेका हथियार है। यदि लोग शांति न रखेंगे, तो मैं सत्याग्रहकी लड़ाई कभी लड़ न सकूँगा।''

अहमदाबादसे श्री अनसूयाबहनको भी खबर मिल चुकी थी कि वहाँ उपद्रव हुआ है। किसीने अफवाह फैला दी थी कि वे भी पकड़ी गयी हैं। इससे मजदूर पागल हो उठे थे। उन्होंने हड़ताल कर दी थी, उपद्रव भी मचाया था; और एक सिपाहीका खून भी हो गया था।

मैं अहमदाबाद गया। मुझे पता चला कि नड़ियादके पास रेलकी पटरी उखाड़नेकी कोशिश भी हुई थी। वीरमगाममें एक सरकारी कर्मचारीका खून हो गया था। अहमदाबाद पहुँचा तब वहाँ मार्शल लॉ जारी था। लोगोंमें आतंक फैला हुआ था। लोगोंने जैसा किया वैसा पाया और उसका ब्याज भी पाया।

मुझे कमिश्नर मि० प्रेटके पास ले जानेके लिए एक आदमी स्टेशन पर हाजिर था। मैं उनके पास गया। वे बहुत गुस्सेमें थे। मैंने उन्हें शान्तिसे उत्तर दिया। जो

हत्या हुई थी उसके लिए मैंने खेद प्रकट किया। यह भी सुझाया कि मार्शल लॉकी आवश्यकता नहीं है, और पुनः शान्ति स्थापित करनेके लिए जो उपाय करने जरूरी हों, सो करनेकी अपनी तैयारी बतायी। मैंने आम सभा बुलानेकी माँग की। यह सभा आश्रमकी भूमि पर करनेकी अपनी इच्छा प्रकट की। उन्हें यह बात अच्छी लगी। जहाँ तक मुझे याद है, मैंने रविवार ता. १३ अप्रैलको सभा की थी। मार्शल लॉ भी उसी दिन अथवा दूसरे दिन रद्द हुआ था। इस सभामें मैंने लोगोंको उनके अपने दोष दिखानेका प्रयत्न किया। मैंने प्रायश्चित्तके रूपमें तीन दिनके उपवास किये और लोगोंको एक दिनका उपवास करनेकी सलाह दी। जिन्होंने हत्या वगैरामें हिस्सा लिया हो उन्हें मैंने सुझाया कि वे अपना अपराध स्वीकार कर लें।

मैंने अपना धर्म स्पष्ट देखा। जिन मजदूरों आदिके बीच मैंने इतना समय बिताया था, जिनकी मैंने सेवा की थी और जिनके विषयमें मैं अच्छे व्यवहारकी आशा रखता था, उन्होंने उपद्रवमें हिस्सा लिया, यह मुझे असह्य मालूम हुआ और मैंने अपनेको उनके दोषमें हिस्सेदार माना।

जिस तरह मैंने लोगोंको समझाया कि वे अपना अपराध स्वीकार कर लें, उसी तरह सरकारको भी गुनाह माफ करनेकी सलाह दी। दोनोंमें से किसी एकने भी मेरी बात नहीं सुनी। न लोगोंने अपने दोष स्वीकार किये, न सरकारने किसीको माफ किया।

स्व० रमणभाई आदि नागरिक मेरे पास आये और मुझे सत्याग्रह मुलतवी करनेके लिए मनाने लगे। पर मुझे मनानेकी आवश्यकता ही नहीं रही थी। मैंने स्वयं निश्चय कर लिया था कि जब तक लोग शांतिका पाठ न सीख लें, तब तक सत्याग्रह मुलतवी रखा जाये। इससे वे प्रसन्न हुए।

कुछ मित्र नाराज भी हुए। उनका खयाल यह था कि अगर मैं सब कहीं शांतिकी आशा रखूँ और सत्याग्रहकी यही शर्त रहे, तो बड़े पैमाने पर सत्याग्रह कभी चल ही नहीं सकता। मैंने अपना मतभेद प्रकट किया। जिन लोगोंमें काम किया गया है, जिनके द्वारा सत्याग्रह करनेकी आशा रखी जाती है, वे यदि शान्तिका पालन न करें, तो अवश्य ही सत्याग्रह कभी चल नहीं सकता। मेरी दलील यह थी कि सत्याग्रही नेताओंको इस प्रकारकी मर्यादित शान्ति बनाये रखनेकी शक्ति प्राप्त करनी चाहिये। अपने इन विचारोंको मैं आज भी बदल नहीं सका हूँ।

३३. 'पहाड़-जैसी भूल'

अहमदाबादकी सभाके बाद मैं तुरन्त ही नड़ियाद गया। 'पहाड़-जैसी भूल' नामक जो शब्द-प्रयोग प्रसिद्ध हुआ है,उसका उपयोग मैंने पहली बार नड़ियादमें किया। अहमदाबादमें ही मुझे अपनी भूल मालूम पड़ने लगी थी। पर नड़ियादमें वहाँकी स्थितिका विचार करके और यह सुनकर कि खेड़ा जिलेके बहुतसे लोग पकड़े गये हैं, जिस सभामें मैं घटित घटनाओं पर भाषण कर रहा था, उसमें मुझे अचानक यह खयाल आया कि खेड़ा जिलेके और ऐसे दूसरे लोगोंको कानूनका सविनय भंग करनेके लिए निमंत्रित करनेमें मैंने जल्दबाजीकी भूल की और वह भूल मुझे पहाड़-जैसी मालूम हुई।

इस प्रकार अपनी भूल कबूल करनेके लिए मेरी खूब हँसी उड़ाई गयी। फिर भी अपनी इस स्वीकृतिके लिए मुझे कभी पश्चात्ताप नहीं हुआ। मैंने हमेशा यह माना है कि जब हम दूसरोंके गज-जैसे दोषोंको रजवत् मानकर देखते हैं, और अपने रजवत् प्रतीत होनेवाले दोषोंको पहाड़-जैसा देखना सीखते हैं, तभी हमें अपने और पराये दोषोंका ठीक-ठीक अंदाज हो पाता है। मैंने यह भी माना है कि सत्याग्रही बननेकी इच्छा रखनेवालेको तो इस साधारण नियमका पालन बहुत अधिक सूक्ष्मताके साथ करना चाहिये।

अब हम यह देखें के पहाड़-जैसी प्रतीत होनेवाली वह भूल क्या थी। कानूनका सविनय भंग उन्हीं लोगों द्वारा किया जा सकता है, जिन्होंने विनयपूर्वक और स्वेच्छासे कानूनका सम्मान किया हो। अधिकतर तो हम कानूनका पालन इसलिए करते हैं कि उसे तोड़ने पर जो सजा होती है उससे हम डरते हैं। और, यह बात उस कानून पर विशेष रूपसे घटित होती है, जिसमें नीति-अनीतिका प्रश्न नहीं होता। कानून हो चाहे न हो, जो लोग भले माने जाते हैं वे एकाएक कभी चोरी नहीं करते। फिर भी रातमें साइकल पर बत्ती जलानेके नियमसे बच निकलनेमें भले आदमियोंको भी क्षोभ नहीं होता; और ऐसे नियमका पालन करनेकी कोई सलाह-भर देता है, तो भले आदमी भी उसका पालन करनेके लिए तुरन्त तैयार नहीं होते। किन्तु जब उसे कानूनमें स्थान मिलता है और उसका भंग करने पर दण्डित होनेका डर लगता है, तब दण्डकी असुविधासे बचनेके लिए वे भी रातमें साइकल पर बत्ती जलाते हैं। इस प्रकारका नियम-पालन स्वेच्छासे किया हुआ पालन नहीं कहा जा सकता।

लेकिन सत्याग्रही समाजके जिन कानूनोंका सम्मान करेगा, वह सम्मान सोच-समझकर, स्वेच्छासे, सम्मान करना धर्म है ऐसा मानकर करेगा। जिसने इस प्रकार समाजके नियमोंका विचार-पूर्वक पालन किया है, उसीको समाजके नियमोंमें नीति-अनीतिका भेद करनेकी शक्ति प्राप्त होती है और उसीको मर्यादित परिस्थितियोंमें अमुक नियमोंको तोड़नेका अधिकार प्राप्त होता है। लोगोंके इस तरहका अधिकार प्राप्त करनेसे पहले मैंने उन्हें सविनय कानूनभंगके लिए निमंत्रित किया, अपनी यह भूल मुझे पहाड़-जैसी लगी। और, खेड़ा जिलेमें प्रवेश करने पर मुझे खेड़ाकी लड़ाईका स्मरण हुआ और लगा कि मैं बिलकुल गलत रास्ते पर चल पड़ा हूँ। मुझे लगा कि लोग सविनय कानून-भंग करने योग्य बनें, इससे पहले उन्हें उसके गंभीर रहस्यका ज्ञान होना चाहिये। जिन्होंने कानूनोंको रोज जान-बूझकर तोड़ा हो, जो गुप्त रीतिसे अनेक बार कानूनोंका भंग करते हों, वे अचानक सविनय कानून--भंगको कैसे समझ सकते हैं? उसकी मर्यादाका पालन कैसे कर सकते हैं?

यह तो सहज ही समझमें आ सकता है कि इस प्रकारकी आदर्श स्थिति तक हजारों या लाखों लोग नहीं पहुँच सकते। किन्तु यदि बात ऐसी है तो सविनय कानून-भंग करानेसे पहले शुद्ध स्वयंसेवकोंका एक ऐसा दल खड़ा होना चाहिये, जो लोगोंको ये सारी बातें समझाये और प्रतिक्षण उनका मार्गदर्शन करे। और ऐसे दलको सविनय कानून-भंगका तथा उसकी मर्यादाका पूरा-पूरा ज्ञान होना चाहिये।

इन विचारोंसे भरा हुआ मैं बम्बई पहुँचा और सत्याग्रह-सभाके द्वारा सत्याग्रही स्वयंसेवकोंका एक दल खड़ा किया। लोगोंको सविनय कानून-भंगका मर्म समझानेके लिए जिस तालीमकी जरूरत थी, वह इस दलके जरिये देनी शुरू की और इस चीजको समझानेवाली पत्रिकायें निकालीं।

यह काम चला तो सही, लेकिन मैंने देखा कि मैं इसमें ज्यादा दिलचस्पी पैदा नहीं कर सका। स्वयंसेवकोंकी बाढ़ नहीं आयी। यह नहीं कहा जा सकता कि जो लोग भरती हुए उन सबने नियमित तालीम ली। भरतीमें नाम लिखानेवाले भी जैसे-जैसे दिन बीतते गये, वैसे-वैसे दृढ़ बननेके बदले खिसकने लगे। मैं समझ गया कि सविनय कानून-भंगकी गाड़ी मैंने सोचा था उससे धीमी चलेगी।

३४. 'नवजीवन' और 'यंग इण्डिया'

एक तरफ तो चाहे जैसा धीमा होने पर भी शांति-रक्षाका यह आन्दोलन चल रहा था और दूसरी तरफ सरकारकी दमन-नीति पूरे जोरसे चल रही थी। पंजाबमें उसके प्रभावका साक्षात्कार हुआ। वहाँ फौजी कानून यानी नादिरशाही शुरू हुई। नेतागण पकड़े गये। खास अदालतें अदालतें नहीं थी, बल्कि केवल गवर्नरका हुक्म बजानेका साधन बनी हुई थीं। उन्होंने बिना सबूत और बिना शहादतके लोगोंको सजायें दीं। फौजी सिपाहियोंने निर्दोष लोगोंको कीड़ोंकी तरह पेटके बल चलाया। इसके सामने जलियाँवाला बागका घोर हत्याकांड तो मेरी दृष्टिमें किसी गिनतीमें नहीं था, यद्यपि आम लोगोंका और दुनियाका ध्यान इस हत्याकाण्डने ही खींचा था।

मुझ पर दबाव पड़ने लगा कि मैं जैसे भी बने पंजाब पहुँचूँ। मैंने वाइसरॉयको पत्र लिखे, तार किये, परन्तु जानेकी इजाजत न मिली। बिना इजाजतके जाने पर अन्दर तो जा ही नहीं सकता था; केवल सविनय कानून-भंग करनेका संतोष मिल सकता था। मेरे सामने यह विकट प्रश्न खड़ा था कि इस धर्मसंकटमें मुझे क्या करना चाहिये। मुझे लगा कि निषेधाज्ञाका अनादर करके प्रवेश करूँगा, तो वह विनयपूर्ण अनादर न माना जायेगा। शांतिकी जो प्रतीति मैं चाहता था, वह मुझे अब तक नहीं हुई थी। पंजाबकी नादिरशाहीने लोगोंकी अशांतिको अधिक भड़का दिया था। मुझे लगा कि ऐसे समय मेरे द्वारा की गयी कानूनकी अवज्ञा जलती आगमें घी होमनेका काम करेगी। अतएव पंजाबमें प्रवेश करनेकी सलाहको मैंने तुरन्त माना नहीं। मेरे लिए यह निर्णय एक कड़वा घूँट था। पंजाबसे रोज अन्यायके समाचार आते थे और मुझे उन्हें रोज सुनना तथा दाँत पीस कर रह जाना पड़ता था!

इतनेमें मि० हार्निमैनको, जिन्होंने 'क्रॉनिकल' को एक प्रचण्ड शक्ति बना दिया था, सरकार चुरा ले गयी और जनताको इसका पता तक न चलने दिया गया। इस चोरीमें जो गन्दगी थी, उसकी बदबू मुझे अभी तक आया करती है। मैं जानता हूँ कि मि. हार्निमैन अराजकता नहीं चाहते थे। मैंने सत्याग्रह-समितिकी सलाहके बिना पंजाब-सरकारका हुक्म तोड़ा, यह उन्हें अच्छा नहीं लगा था। सविनय कानून-भंगको मुलतवी रखनेमें वे पूरी तरह सहमत थे। उसे मुलतवी रखनेका अपना निर्णय मैंने प्रकट किया, इसके पहले ही मुलतवी रखनेकी सलाह देनेवाला उनका पत्र मेरे नाम रवाना हो चुका था और वह मेरा निर्णय प्रकट होनेके बाद मुझे मिला। इसका

कारण अहमदाबाद और बम्बईके बीचका फ़ासला था। अतएव उनके देशनिकालेसे मुझे जितना आश्चर्य हुआ उतना ही दुःख भी हुआ।

इस घटनाके कारण 'क्रॉनिकल'के व्यवस्थापकोंने उसे चलानेका बोझ मुझ पर डाला। मि० ब्रेलवी तो थे ही। इसलिए मुझे अधिक कुछ करना नहीं पड़ता था। फिर भी मेरे स्वभावके अनुसार मेरे लिए यह जिम्मेदारी बहुत बड़ी हो गयी थी।

किन्तु मुझे यह जिम्मेदारी अधिक दिन तक उठानी नहीं पड़ी। सरकारकी मेहरबानीसे 'क्रॉनिकल' बन्द हो गया।

जो लोग 'क्रॉनिकल'की व्यवस्थाके कर्ताधर्ता थे, वे ही लोग 'यंग इन्डिया'की व्यवस्था पर भी निगरानी रखते थे। वे थे उमर सोबानी और शंकरलाल बैंकर। इन दोनों भाइयोंने मुझे सुझाया कि मैं 'यंग इन्डिया'की जिम्मेदारी अपने सिर लूँ। और 'क्रॉनिकल'के अभावकी थोड़ी पूर्ति करनेके विचारसे 'यंग इन्डिया'को हफ्तेमें एक बारके बदले दो बार निकालना उन्हें और मुझे ठीक लगा। मुझे लोगोंको सत्याग्रहका रहस्य समझानेका उत्साह था। पंजाबके बारेमें मैं और कुछ नहीं तो कमसे कम उचित आलोचना तो कर ही सकता था, और उसके पीछे सत्याग्रह-रूपी शक्ति है इसका पता सरकारको था ही। अतएव इन मित्रोंकी सलाह मैंने स्वीकार कर ली।

किन्तु अंग्रेजीके द्वारा जनताको सत्याग्रहकी शिक्षा कैसे दी जा सकती थी? गुजरात मेरे कार्यका मुख्य क्षेत्र था। इस समय भाई इन्दुलाल याज्ञिक उमर सोबानी और शंकरलाल बैंकरकी मंडलीमें थे। वे 'नवजीवन' नामक गुजराती मासिक चला रहे थे। उसका खर्च भी उक्त मित्र पूरा करते थे। भाई इन्दुलालने और उन मित्रोंने यह पत्र मुझे सौंप दिया और भाई इन्दुलालने इसमें काम करना भी स्वीकार किया। इस मासिकको साप्ताहिक बनाया गया।

इस बीच 'क्रॉनिकल' फिर जी उठा, इसलिए 'यंग इन्डिया' पुनः साप्ताहिक हो गया और मेरी सलाहके कारण उसे अहमदाबाद ले जाया गया। दो पत्रोंके अलग-अलग स्थानोंसे निकलनेमें खर्च अधिक होता था और मुझे अधिक कठिनाई होती थी। 'नवजीवन' तो अहमदाबादसे ही निकलता था। ऐसे पत्रोंके लिए स्वतंत्र छापखाना होना चाहिए, इसका अनुभव मुझे 'इण्डियन ओपीनियन'के सम्बन्धमें हो ही चुका था। इसके अतिरिक्त यहाँके उस समयके अखबारोंके कानून भी ऐसे थे कि मैं जो विचार प्रकट करना चाहता था, उन्हें व्यापारिक दृष्टिसे चलनेवाले छापखानोंके मालिक छापनेमें हिचकिचाते थे। अपना स्वतंत्र छापखाना खड़ा

करनेका यह भी एक प्रबल कारण था और यह काम अहमदाबादमें ही सरलतासे हो सकता था। अतएव 'यंग इन्डिया'को अहमदाबाद ले गये।

इन पत्रोंके द्वारा मैंने जनताको यथाशक्ति सत्याग्रहकी शिक्षा देना शुरू किया। पहले दोनों पत्रोंकी थोड़ी ही प्रतियाँ खपती थीं। लेकिन बढ़ते-बढ़ते वे चालीस हजारके आसपास पहुँच गयीं। 'नवजीवन'के ग्राहक एकदम बढ़े, जब कि 'यंग इन्डिया'के धीरे-धीरे बढ़े। मेरे जेल जानेके बाद इसमें कमी हुई और आज दोनोंकी ग्राहक-संख्या ८,००० से नीचे चली गयी है।

इन पत्रोंमें विज्ञापन न लेनेका मेरा आग्रह शुरूसे ही था। मैं मानता हूँ कि इससे कोई हानि नहीं हुई और इस प्रथाके कारण पत्रोंके विचार-स्वातंत्र्यकी रक्षा करनेमें बहुत मदद मिली।

इन पत्रों द्वारा मैं अपनी शान्ति प्राप्त कर सका। क्योंकि यद्यपि मैं सविनय कानून-भंग तुरन्त ही शुरू नहीं कर सका, फिर भी मैं अपने विचार स्वतंत्रता-पूर्वक प्रकट कर सका; जो लोग सलाह और सुझावके लिए मेरी ओर देख रहे थे, उन्हें मैं आश्वासन दे सका। और, मेरा खयाल है कि दोनों पत्रोंने उस कठिन समयमें जनताकी अच्छी सेवा की और फौजी कानूनके जुल्मको हलका करनेमें हाथ बँटाया।

३९. पंजाबमें

पंजाबमें जो कुछ हुआ उसके लिए अगर सर माइकल ओडवायरने मुझे गुनहगार ठहराया था, तो वहाँके कोई कोई नवयुवक फौजी कानू ... लिए भी मुझे गुनहगार ठहरानेमें हिचकिचाते न थे। क्रोधावेशमें भरे इन नवयुवकोंकी दलील यह थी कि यदि मैंने सविनय कानून-भंगको मुलतवी न किया होता, तो जलियाँवाला बागका कत्लेआम कभी न होता और न फौजी कानून ही जारी हुआ होता। किसी-किसीने तो यह धमकी भी दी थी कि मेरे पंजाब जाने पर लोग मुझे जानसे मारे बिना न रहेंगे।

किन्तु मुझे अपना कदम इतना उपयुक्त मालूम होता था कि उसके कारण समझदार आदमियोंमें गलतफहमी होनेकी संभावना ही न थी। मैं पंजाब जानेके लिए अधीर हो रहा था। मैंने पंजाब कभी देखा न था। अपनी आँखोंसे जो कुछ देखनेको मिले, उसे देखनेकी मेरी तीव्र इच्छा थी; और मुझे बुलानेवाले डॉ० सत्यपाल,

डॉ० किचलू तथा पं० रामभजदत्त चौधरीको मैं देखना चाहता था। वे जेलमें थे। पर मुझे पूरा विश्वास था कि सरकार उन्हें लम्बे समय तक जेलमें रख ही नहीं सकेगी। मैं जब-जब बम्बई जाता तब-तब बहुतसे पंजाबी मुझसे आकर मिला करते थे। मैं उन्हें प्रोत्साहन देता था, जिसे पाकर वे प्रसन्न होते थे। इस समय मुझमें विपुल आत्म-विश्वास था।

लेकिन मेरा जाना टलता जाता था। वाइसरॉय लिखाते रहते थे कि 'अभी जरा देर है।'

इस बीच हंटर-कमेटी आयी। उसे फौजी कानूनके दिनोंमें पंजाबके अधिकारियों द्वारा किये गये कारनामोंकी जाँच करनी थी। दीनबन्धु एण्ड्रूज़ वहाँ पहुँच गये थे। उनके पत्रोंमें हृदयद्रावक वर्णन होते थे। उनके पत्रोंकी ध्वनि यह थी कि अखबारोंमें जो कुछ छपता था, फौजी कानूनका जुल्म उससे कहीं अधिक था। पत्रोंमें मुझसे पंजाब पहुँचनेका आग्रह किया गया। दूसरी तरफ मालवीयजीके भी तार आ रहे थे कि मुझे पंजाब पहुँचना चाहिये। इस पर मैंने वाइसरॉयको फिर तार दिया। उत्तर मिला : "आप फलाँ तारीखको जा सकते हैं।" मुझे तारीख ठीक याद नहीं है, पर बहुत करके वह १७ अक्तूबर थी।

लाहौर पहुँचने पर जो दृश्य मैंने देखा, वह कभी भुलाया नहीं जा सकता। स्टेशन पर लोगोंका समुदाय इस कदर इकट्ठा हुआ था, मानो बरसोंके बिछोहके बाद कोई प्रियजन आ रहा हो और सगे-संबंधी उससे मिलने आये हों। लोग हर्षोन्मत्त हो गये थे।

मुझे पं० रामभजदत्त चौधरीके घर ठहराया गया था। श्री सरलादेवी चौधरानी पर, जिन्हें मैं पहलेसे जानता था, मेरी आवभगतका बोझ आ पड़ा था। 'आवभगतका बोझ' शब्द मैं जान-बूझकर लिख रहा हूँ, क्योंकि आजकलकी तरह उस समय भी जहाँ मैं ठहरता था, वहाँ मकान-मालिकका मकान धर्मशाला-सा हो जाता था।

पंजाबमें मैंने देखा कि बहुतसे पंजाबी नेताओंके जेलमें होनेके कारण मुख्य नेताओंका स्थान पं० मालवीयजी, पं० मोतीलालजी और स्व० स्वामी श्रद्धानन्दजीने ले रखा था। मालवीयजी और श्रद्धानन्दजीके सम्पर्कमें तो मैं भलीभाँति आ चुका था, पर पं० मोतीलालजीके निकट सम्पर्कमें मैं लाहौरमें ही आया। इन नेताओंने और स्थानीय नेताओंने, जिन्हें जेल जानेका सम्मान नहीं मिला था, मुझे तुरन्त अपना बना लिया। मैं कहीं भी अपरिचित-सा नहीं जान पड़ा।

हंटर-कमेटीके सामने गवाही न देनेका निश्चय हम सबने सर्व-सम्मतिसे किया। इसके सब कारण उस समय प्रकाशित कर दिये गये थे। इसलिए यहाँ मैं उनकी चर्चा नहीं करता। आज भी मेरा यह खयाल है कि वे कारण सबल थे और कमेटीका बहिष्कार उचित था।

पर यह निश्चय हुआ कि यदि हंटर-कमेटीका बहिष्कार किया जाये, तो जनताकी ओरसे अर्थात् काँग्रेसकी ओरसे एक कमेटी होनी चाहिये। पं० मालवीयजी, पं० मोतीलाल नेहरू, स्व० चित्तरंजन दास, श्री अब्बास तैयबजी और श्री जयकरको तथा मुझे इस कमेटीमें रखा गया। हम जाँचके लिए अलग-अलग स्थानोंमें बँट गये। इस कमेटीकी व्यवस्थाका भार सहज ही मुझ पर आ पड़ा था, और चूँकि अधिक-से-अधिक गाँवोंकी जाँचका काम मेरे हिस्सेमें आया था, इसलिए मुझे पंजाब और पंजाबके गाँव देखनेका अलभ्य लाभ मिला।

इस जाँचके दौरानमें पंजाबकी स्त्रियोंसे तो मैं इस तरहसे मिला, मानो मैं उन्हें युगोंसे पहचानता होऊँ। जहाँ जाता वहाँ उनके दल-के-दल मुझसे मिलते और वे मेरे सामने अपने काते हुए सूतका ढेर लगा देती थीं। इस जाँचके सिलसिलेमें अनायास ही मैं यह देख सका कि पंजाब खादीका महान क्षेत्र हो सकता है।

लोगों पर ढाये गये जुल्मोंकी जाँच करते हुए जैसे-जैसे मैं गहराईमें जाने लगा, वैसे-वैसे सरकारी अराजकताकी, अधिकारियोंकी नादिरशाही और निरंकुशताकी अपनी कल्पनासे परेकी बातें सुनकर मुझे आश्चर्य हुआ और मैंने दुःखका अनुभव किया। जिस पंजाबसे सरकारको अधिक-से-अधिक सिपाही मिलते हैं, उस पंजाबमें लोग इतना ज्यादा जुल्म कैसे सहन कर सके, यह बात मुझे उस समय भी आश्चर्यजनक मालूम हुई थी और आज भी मालूम होती है।

इस कमेटीकी रिपोर्ट तैयार करनेका काम भी मुझे ही सौंपा गया था। जो यह जानना चाहते हैं कि पंजाबमें किस तरहके जुल्म हुए थे, उन्हें यह रिपोर्ट अवश्य पढ़नी चाहिये। इस रिपोर्टके बारेमें इतना मैं कह सकता हूँ कि उसमें जान-बूझकर एक भी जगह अतिशयोक्ति नहीं हुई है। जितनी हकीकतें दी गयी हैं, उनके लिए उसीमें प्रमाण भी प्रस्तुत किये गये हैं। इस रिपोर्टमें जितने प्रमाण दिये गये हैं, उनसे अधिक प्रमाण कमेटीके पास मौजूद थे। जिसके विषयमें तनिक भी शंका थी, ऐसी एक भी बात रिपोर्टमें नहीं दी गयी। इस तरह केवल सत्यको ही ध्यानमें रखकर लिखी हुई रिपोर्टसे पाठक देख सकेंगे कि ब्रिटिश राज्य अपनी सत्ताको दृढ़ बनाये

रखनेके लिए किस हद तक जा सकता है, कैसे अमानुषिक काम कर सकता है। जहाँ तक मैं जानता हूँ, इस रिपोर्टकी एक भी बात आज तक झूठ साबित नहीं हुई।

३६. खिलाफतके बदले गोरक्षा?

अब थोड़ी देरके लिए पंजाबके हत्याकाण्डको छोड़ दें।

काँग्रेसकी तरफसे पंजाबकी डायरशाहीकी जाँच चल रही थी। इतनेमें एक सार्वजनिक निमंत्रण मेरे हाथमें आया। उसमें स्व० हकीम साहब और भाई आसफअलीके नाम थे। उसमें यह भी लिखा था कि सभामें श्रद्धानन्दजी उपस्थित रहनेवाले हैं। मुझे कुछ ऐसा खयाल है कि वे उप-सभापति थे। यह निमंत्रण दिल्लीमें खिलाफतके सम्बन्धमें उत्पन्न परिस्थितिका विचार करनेवाली और सन्धिके उत्सवमें सम्मिलित होने या न होनेका निर्णय करनेवाली हिन्दू-मुसलमानोंकी एक संयुक्त सभामें उपस्थित होनेका था। मुझे कुछ ऐसा याद है कि यह सभा नवम्बर महीनेमें हुई थी।

इस निमंत्रणमें यह लिखा था कि सभामें केवल खिलाफतके प्रश्नकी ही चर्चा नहीं होगी, बल्कि गोरक्षाके प्रश्न पर भी विचार होगा और यह कि गोरक्षा साधनेका यह एक सुन्दर अवसर बनेगा। मुझे यह वाक्य चुभा। इस निमंत्रण-पत्रका उत्तर देते हुए मैंने लिखा कि मैं उपस्थित होनेकी कोशिश करूँगा और यह भी लिखा कि खिलाफत और गोरक्षाको एकसाथ मिलाकर उन्हें परस्पर सौदेका सवाल नहीं बनाना चाहिये। हर प्रश्नका विचार उसके गुण-दोषकी दृष्टिसे किया जाना चाहिये।

मैं सभामें हाजिर रहा। सभामें उपस्थिति अच्छी थी। पर बादमें जिस तरह हजारों लोग उमड़ते थे, वैसा दृश्य वहाँ नहीं था। इस सभामें श्रद्धानन्दजी उपस्थित थे। मैंने उनके साथ उक्त विषय पर चर्चा कर ली। उन्हें मेरी दलील जँची और उसे पेश करनेका भार उन्होंने मुझ पर डाला। हकीम साहबके साथ भी मैंने बात कर ली थी। मेरी दलील यह थी कि दोनों प्रश्नों पर उनके अपने गुण-दोषकी दृष्टिसे विचार करना चाहिये। यदि खिलाफतके प्रश्नमें सार हो, उसमें सरकारकी ओरसे अन्याय हो रहा हो, तो हिन्दुओंको मुसलमानोंका साथ देना चाहिये और इस प्रश्नके साथ गोरक्षाके प्रश्नको नहीं जोड़ना चाहिये। अगर हिन्दू ऐसी कोई शर्त करते हैं, तो वह उन्हें शोभा नहीं देगा। मुसलमान खिलाफतके लिए मिलनेवाली मददके बदलेमें गोवध बंद करें, तो वह उनके लिए भी शोभास्पद न होगा। पड़ोसी और एक ही

भूमिके निवासी होनेके नाते तथा हिन्दुओंकी भावनाका आदर करनेकी दृष्टिसे यदि मुसलमान स्वतंत्र रूपसे गोवध बन्द करें, तो यह उनके लिए शोभाकी बात होगी। यह उनका फर्ज है; और एक स्वतंत्र प्रश्न है। अगर यह फर्ज है और मुसलमान इसे फर्ज समझें, तो हिन्दू खिलाफतके काममें मदद दें या न दें, तो भी मुसलमानोंको गोवध बंद करना चाहिये। मैंने अपनी तरफसे यह दलील पेश की कि इस तरह दोनों प्रश्नोंका विचार स्वतंत्र रीतिसे किया जाना चाहिये और इसलिए इस सभामें तो सिर्फ खिलाफतके प्रश्नकी ही चर्चा मुनासिब है। सभाको मेरी दलील पसन्द पड़ी। गोरक्षाके प्रश्न पर सभामें चर्चा नहीं हुई। लेकिन मौलाना अब्दुलबारी साहबने कहा: "हिन्दू खिलाफतके मामलेमें मदद दें चाहे न दें, लेकिन चूँकि हम एक ही मुल्कके रहनेवाले हैं इसलिए मुसलमानोंको हिन्दुओंके जज्बातकी खातिर गोकुशी बन्द करनी चाहिये।" एक समय तो ऐसा मालूम हुआ कि मुसलमान सचमुच गोवध बन्द कर देंगे।

कुछ लोगोंकी यह सलाह थी कि पंजाबके सवालको भी खिलाफतके साथ जोड़ दिया जाये। मैंने इस विषयमें अपना विरोध प्रकट किया। मेरी दलील यह थी कि पंजाबका प्रश्न स्थानीय है; पंजाबके दुःखकी वजहसे हम हुकूमतसे सम्बन्ध रखनेवाले सन्धि-विषयक उत्सवसे अलग नहीं रह सकते। इस सिलसिलेमें खिलाफतके सवालके साथ पंजाबको जोड़ देनेसे हम अपने सिर अविवेकका आरोप ले लेंगे। मेरी दलील सबको पसन्द आयी।

इस सभामें मौलाना हसरत मोहानी भी थे। उनसे मेरी जान-पहचान तो हो ही चुकी थी। पर वे कैसे लड़वैया हैं, इसका अनुभव मुझे यहीं हुआ। यहींसे हमारे बीच मतभेद शुरू हुआ और कई मामलोंमें वह आखिर तक बना रहा।

कई प्रस्तावोंमें एक प्रस्ताव यह भी था कि हिन्दू-मुसलमान सबको स्वदेशी-व्रतका पालन करना चाहिये और इसके लिए विदेशी कपड़ेका बहिष्कार करना चाहिये। खादीका पुनर्जन्म अभी हुआ नहीं था। मौलाना हसरत मोहानीको यह प्रस्ताव जँच नहीं रहा था। यदि अंग्रेजी हुकूमत खिलाफतके मामलेमें इन्साफ न करे, तो उन्हें उससे बदला लेना था। इसलिए उन्होंने सुझाया कि यथासंभव हर तरहके ब्रिटिश मालका बहिष्कार करना चाहिये। मैंने हर तरहके ब्रिटिश मालके बहिष्कारकी आवश्यकता और अयोग्यताके बारेमें अपनी वे दलीलें पेश कीं, जो अब सुपरिचित हो चुकी हैं। मैंने अपनी अहिंसा-वृत्तिका भी प्रतिपादन किया। मैंने देखा कि सभा

पर मेरी दलीलोंका गहरा असर पड़ा है। हसरत मोहानीकी दलीलें सुनकर लोग ऐसा हर्षनाद करते थे कि मुझे लगा, यहाँ मेरी तूतीकी आवाज कोई नहीं सुनेगा। पर मुझे अपना धर्म चूकना और छिपाना नहीं चाहिये, यह सोचकर मैं बोलनेके लिए उठा। लोगोंने मेरा भाषण बहुत ध्यानसे सुना। मंच पर तो मुझे संपूर्ण समर्थन मिला और मेरे समर्थनमें एकके बाद एक भाषण होने लगे। नेतागण यह देख सके कि ब्रिटिश मालके बहिष्कारका प्रस्ताव पास करनेसे एक भी हेतु सिद्ध नहीं होगा। हाँ, हँसी काफी होगी। सारी सभामें शायद ही कोई ऐसा आदमी देखनेमें आता था, जिसके शरीर पर कोई-न-कोई ब्रिटिश वस्तु न हो। इतना तो अधिकांश लोग समझ गये कि जो बात सभामें उपस्थित लोग भी नहीं कर सकते, उसे करनेका प्रस्ताव पास करनेसे लाभके बदले हानि ही होगी।

मौलाना हसरत मोहानीने अपने भाषणमें कहा, "हमें आपके विदेशी वस्त्र-बहिष्कारसे संतोष हो ही नहीं सकता। कब हम अपनी जरूरतका सब कपड़ा पैदा कर सकेंगे और कब विदेशी वस्त्रोंका बहिष्कार होगा? हमें तो ऐसी कोई चीज चाहिये, जिसका प्रभाव ब्रिटिश जनता पर तत्काल पड़े। आपका बहिष्कार चाहे रहे, पर इससे ज्यादा तेज कोई चीज आप हमें बताइये।" मैं यह भाषण सुन रहा था। मुझे लगा कि विदेशी वस्त्रके बहिष्कारके अलावा कोई दूसरी नई चीज सुझानी चाहिये। उस समय मैं यह तो स्पष्ट रूपसे जानता था कि विदेशी वस्त्रका बहिष्कार तुरन्त नहीं हो सकता। यदि हम चाहें तो संपूर्ण रूपसे खादी उत्पन्न करनेकी शक्ति हममें है, इस बातको जिस तरह मैं बादमें देख सका, वैसे उस समय नहीं देख सका था। अकेली मिल तो दगा दे जायगी, यह मैं उस समय भी जानता था। जब मौलाना साहबने अपना भाषण पूरा किया, तब मैं जवाब देनेके लिए तैयार हो रहा था।

मुझे कोई उर्दू या हिन्दी शब्द तो नहीं सूझा। ऐसी खास मुसलमानोंकी सभामें तर्कयुक्त भाषण करनेका मेरा यह पहला अनुभव था। कलकत्तेमें मुस्लिम लीगकी सभामें मैं बोला था, किन्तु वह तो कुछ मिनटोंका और दिलको छूनेवाला भाषण था। पर यहाँ तो मुझे विरुद्ध मतवाले समाजको समझाना था। लेकिन मैंने शरम छोड़ दी थी। मुझे दिल्लीके मुसलमानोंके सामने शुद्ध उर्दूमें लच्छेदार भाषण नहीं करना था, बल्कि अपनी मंशा टूटीफूटी हिन्दीमें समझा देनी थी। यह काम मैं भलीभाँति कर सका। यह सभा इस बातका प्रत्यक्ष प्रमाण थी कि हिन्दी-उर्दू ही राष्ट्रभाषा बन

सकती है। अगर मैंने अंग्रेजीमें भाषण किया होता, तो मेरी गाड़ी आगे न बढ़ती; और मौलाना साहबने जो चुनौती मुझे दी उसे देनेको मौका न आया होता और आया भी होता तो मुझे उसका जवाब न सूझता।

उर्दू या हिन्दी शब्द ध्यानमें न आनेसे मैं शरमाया, पर मैंने जवाब तो दिया ही। मुझे 'नॉन-कोऑपरेशन' शब्द सूझा। जब मौलाना भाषण कर रहे थे तब मैं यह सोच रहा था कि मौलाना खुद कई मामलोंमें जिस सरकारका साथ दे रहे हैं, उस सरकारके विरोधकी बात करना उनके लिए बेकार है। मुझे लगा कि जब तलवारसे सरकारका विरोध नहीं करना है, तो उसका साथ न देनेमें ही सच्चा विरोध है। और फलतः मैंने 'नॉन-कोऑपरेशन' शब्दका प्रयोग पहली बार इस सभामें किया। अपने भाषणमें मैंने इसके समर्थनमें अपनी दलीलें दीं। उस समय मुझे इस बातका कोई खयाल न था कि इस शब्दमें किन-किन बातोंका समावेश हो सकता है। इसलिए मैं तफसीलमें न जा सका। मुझे तो इतना ही कहनेकी याद है:

"मुसलमान भाइयोंने एक और भी महत्त्वपूर्ण निश्चय किया है। ईश्वर न करे, पर यदि कहीं सुलहकी शर्तें उनके खिलाफ जायें, तो वे सरकारकी सहायता करना बंद कर देंगे। मेरे विचारमें यह जनताका अधिकार है। सरकारी उपाधियाँ धारण करने अथवा सरकारी नौकरियाँ करनेके लिए हम बँधे हुए नहीं हैं। जब सरकारके हाथों खिलाफत-जैसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण धार्मिक प्रश्नके संबंधमें हमें नुकसान पहुँचता है, तब हम उसकी सहायता कैसे कर सकते हैं? इसलिए अगर खिलाफतका फैसला हमारे खिलाफ हुआ, तो सरकारकी सहायता न करनेका हमें हक होगा।"

पर इसके बाद इस वस्तुका प्रचार होनेमें कई महीने बीत गये। यह शब्द कुछ महीनों तक तो इस सभामें ही दबा पड़ा रहा। एक महीने बाद जब अमृतसरमें काँग्रेसका अधिवेशन हुआ, तो वहाँ मैंने असहयोगके प्रस्तावका समर्थन किया। उस समय तो मैंने यही आशा रखी थी कि हिन्दू-मुसलमानोंके लिए सरकारके खिलाफ असहयोग करनेका अवसर नहीं आयेगा।

३७. अमृतसरकी काँग्रेस

फौजी कानूनके चलते जिन सैकड़ों निर्दोष पंजाबियोंको नामकी अदालतोंने नामके सबूत लेकर छोटी-बड़ी मुद्दतोंके लिए जेलमें ठूँस दिया था, पंजाबकी सरकार उन्हें जेलमें रख न सकी। इस घोर अन्यायके विरुद्ध चारों ओरसे ऐसी जबरदस्त आवाज उठी कि सरकारके लिए इन कैदियोंको अधिक समय तक जेलमें रखना संभव न रहा। अतएव काँग्रेस-अधिवेशनके पहले बहुतसे कैदी छूट गये। लाला हरकिसनलाल आदि सब नेता रिहा हो गये और काँग्रेस अधिवेशनके दिनोंमें अलीभाई भी छूट कर आ गये। इससे लोगोंके हर्षकी सीमा न रही। पं० मोतीलाल नेहरू, जिन्होंने अपनी वकालतको एक तरफ रखकर पंजाबमें ही डेरा डाल दिया था, काँग्रेसके सभापति थे। स्वामी श्रद्धानन्दजी स्वागत-समितिके अध्यक्ष थे।

अब तक काँग्रेसमें मेरा काम इतना ही रहता था कि हिन्दीमें अपना छोटा-सा भाषण करूँ, हिन्दी भाषाकी वकालत करूँ और उपनिवेशोंमें रहनेवाले हिन्दुस्तानियोंका मामला पेश करूँ ? यह खयाल नहीं था कि अमृतसरमें मुझे इससे अधिक कुछ करना पड़ेगा। लेकिन जैसा कि मेरे संबंधमें पहले भी हो चुका है, जिम्मेदारी अचानक मुझ पर आ पड़ी।

नये सुधारोंके सम्बन्धमें सम्राटकी घोषणा प्रकट हो चुकी थी। वह मुझे पूर्ण संतोष देनेवाली नहीं थी। और किसीको तो वह बिलकुल पसन्द ही नहीं थी। लेकिन उस समय मैंने यह माना था कि उक्त घोषणामें सूचित सुधार त्रुटिपूर्ण होते हुए भी स्वीकार किये जा सकते हैं। सम्राट्की घोषणामें मुझे लार्ड सिंहका हाथ दिखायी पड़ा था। उस समयकी मेरी आँखोंने घोषणाकी भाषामें आशाकी किरणें देखी थीं। किन्तु लोकमान्य, चित्तरंजन दास आदि अनुभवी योद्धा विरोधमें सिर हिला रहे थे। भारत-भूषण मालवीयजी तटस्थ थे।

मेरा डेरा मालवीयजीने अपने ही कमरेमें रखा था। उनकी सादगीकी झाँकी काशी-विश्वविद्यालयके शिलान्यासके समय मैं कर चुका था। लेकिन इस बार तो उन्होंने मुझे अपने कमरेमें ही स्थान दिया था। इससे मैं उनकी सारी दिनचर्या देख सका और मुझे सानन्द आश्चर्य हुआ। उनका कमरा क्या था, गरीबोंकी धर्मशाला थी। उसमें कहीं रास्ता नहीं रहने दिया गया था। जहाँ-तहाँ लोग पड़े ही मिलते थे। वहाँ न कोई खाली जगह थी, न एकान्त था। चाहे जो आदमी, चाहे जिस समय

आता था और उनका चाहे जितना समय ले लेता था। इस कमरेके एक कोनेमें मेरा दरबार अर्थात् खटिया थी।

किन्तु मुझे इस प्रकरणमें मालवीयजीकी रहन-सहनका वर्णन नहीं करना है। अतएव मैं अपने विषय पर आता हूँ।

इस स्थितिमें मालवीयजीके साथ रोज मेरी बातचीत होती थी। वे मुझे सबका पक्ष, बड़ा भाई जैसे छोटेको समझाता है वैसे प्रेमसे समझाते थे। सुधार-संबंधी प्रस्तावमें भाग लेना मुझे धर्मरूप प्रतीत हुआ। पंजाबविषयक काँग्रेसकी रिपोर्टकी जिम्मेदारीमें मेरा हिस्सा था। पंजाबके विषयमें सरकारसे काम लेना था। खिलाफतका प्रश्न तो था ही। मैंने यह भी माना था कि मांटेग्यू हिन्दुस्तानके साथ विश्वासघात नहीं करने देंगे। कैदियोंकी और उनमें भी अलीभाइयोंकी रिहाईको मैंने शुभ चिन्ह माना था। अतएव मुझे लगा कि सुधारोंको स्वीकार करनेका प्रस्ताव पास होना चाहिये। चित्तरंजन दासका दृढ़ मत था कि सुधारोंको बिलकुल असंतोषजनक और अधूरे मानकर उनकी उपेक्षा करनी चाहिये। लोकमान्य कुछ तटस्थ थे। किन्तु देशबंधु जिस प्रस्तावको पसन्द करें, उसके पक्षमें अपना वजन डालनेका उन्होंने निश्चय कर लिया था।

ऐसे पुराने अनुभवी और कसे हुअ सर्वमान्य लोकनायकोंके साथ अपना मतभेद मुझे स्वयं असह्य मालूम हुआ। दूसरी ओर मेरा अन्तर्नाद स्पष्ट था। मैंने काँग्रेसकी बैठकमें से भागनेका प्रयत्न किया। पं. मोतीलाल नेहरू और मालवीयजीको मैंने यह सुझाया कि मुझे अनुपस्थित रहने देनेसे सब काम बन जायेगा और मैं महान नेताओंके साथ मतभेद प्रकट करनेके संकटसे बच जाऊँगा।

यह सुझाव इन दोनों बुजुर्गोंके गले न उतरा। जब बात लाला हरकिसनलालके कान तक पहुँची, तो उन्होंने कहा: "यह हरगिज न होगा। इससे पंजाबियोंको भारी आघात पहुँचेगा।" मैंने लोकमान्य और देशबंधुके साथ विचार-विमर्श किया। मि० जिन्नासे मिला। किसी तरह कोई रास्ता निकलता न था। मैंने अपनी वेदना मालवीयजीके सामने रखी: "समझौतेके कोई लक्षण मुझे दिखाई नहीं देते। यदि मुझे अपना प्रस्ताव रखना ही पड़ा, तो अन्तमें मत तो लिये ही जायेंगे। पर यहाँ मत ले सकनेकी कोई व्यवस्था मैं नहीं देख रहा हूँ। आज तक हमने भरी सभामें हाथ उठवाये हैं। हाथ उठाते समय दर्शकों और प्रतिनिधियोंके बीच कोई भेद नहीं रहता। ऐसी विशाल सभामें मत गिननेकी कोई व्यवस्था हमारे पास नहीं होती। अतएव मुझे

अपने प्रस्ताव पर मत लिवाने हों, तो भी इसकी सुविधा नहीं है।''

लाला हरकिसनलालने यह सुविधा संतोषजनक रीतिसे कर देनेका जिम्मा लिया। उन्होंने कहा, ''मत लेनेके दिन दर्शकोंको नहीं आने देंगे। केवल प्रतिनिधि ही आयेंगे और वहाँ मतोंकी गिनती करा देना मेरा काम होगा। पर आप काँग्रेसकी बैठकमें अनुपस्थित तो रह ही नहीं सकते।''

आखिर मैं हारा। मैंने अपना प्रस्ताव तैयार किया। बड़े संकोचसे मैंने उसे पेश करना कबूल किया। मि० जिन्ना और मालवीयजी उसका समर्थन करनेवाले थे। भाषण हुए। मैं देख रहा था कि यद्यपि हमारे मतभेदमें कहीं कटुता नहीं थी, भाषणोंमें भी दलीलोंके सिवा और कुछ नहीं था, फिर भी सभा जरा-सा भी मतभेद सहन नहीं कर सकती थी और नेताओंके मतभेदसे उसे दुःख हो रहा था। सभाको तो एकमत चाहिये था।

जब भाषण हो रहे थे उस समय भी मंच पर मतभेद मिटानेकी कोशिशें चल रही थीं। एक-दूसरेके बीच चिठियाँ आ-जा रही थीं। मालवीयजी, जैसे भी बने, समझौता करानेका प्रयत्न कर रहे थे। इतनेमें जयरामदासने मेरे हाथ पर अपना सुझाव रखा और सदस्योंको मत देनेके संकटसे उबार लेनेके लिए बहुत मीठे शब्दोंमें मुझसे प्रार्थना की। मुझे उनका सुझाव पसन्द आया। मालवीयजीकी दृष्टि तो चारों ओर आशाकी खोजमें घूम ही रही थीं। मैंने कहा: ''यह सुझाव दोनों पक्षोंको पसन्द आने लायक मालूम होता है।'' मैंने उसे लोकमान्यको दिखाया। उन्होंने कहा, ''दासको पसन्द आ जाये, तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।'' देशबंधु पिघले। उन्होंने विपिनचंद्र पालकी तरफ देखा। मालवीयजीको पूरी आशा बंध गयी। उन्होंने परची हाथसे छीन ली। अभी देशबंधुके मुँहसे 'हाँ'का शब्द पूरा निकल भी नहीं पाया था कि वे बोल उठे: ''सज्जनो, आपको यह जानकर खुशी होगी कि समझौता हो गया है।'' फिर क्या था? तालियोंकी गड़गड़ाहटसे मंडप गूँज उठा और लोगोंके चेहरों पर जो गंभीरता थी, उसके बदले खुशी चमक उठी।

यह प्रस्ताव क्या था, इसकी चर्चाकी यहाँ आवश्यकता नहीं। यह प्रस्ताव किस तरह स्वीकृत हुआ, इतना ही इस सम्बन्धमें बतलाना मेरे इन प्रयोगोंका विषय है। समझौतेने मेरी जिम्मेदारी बढ़ा दी।

३८. कॉंग्रेसमें प्रवेश

मुझे कॉंग्रेसके कामकाजमें हिस्सा लेना पड़ा, इसे मैं कॉंग्रेसमें अपना प्रवेश नहीं मानता। इससे पहलेकी कॉंग्रेसकी बैठकोंमें मैं गया सो सिर्फ अपनी वफादारीकी निशानीके रूपमें। छोटे-से-छोटे सिपाहीके कामके सिवा मेरा वहाँ दूसरा कोई कार्य हो सकता है, ऐसा पहलेकी बैठकोंके समय मुझे कभी आभास नहीं हुआ था, न इससे अधिक कुछ करनेकी मुझे इच्छा हुई थी।

अमृतसरके अनुभवने बतलाया कि मेरी एक-दो शक्तियाँ कॉंग्रेसके लिए उपयोगी हैं। मैं यह देख सका था कि पंजाबकी जाँच-कमेटीके मेरे कामसे लोकमान्य, मालवीयजी, मोतीलालजी, देशबंधु आदि खुश हुए थे। इसलिए उन्होंने मुझे अपनी बैठकों और चर्चाओंमें बुलाया। इतना तो मैंने देख लिया था कि विषय-विचारिणी समितिका सच्चा काम इन्हीं बैठकोंमें होता था और ऐसी चर्चाओंमें वे लोग सम्मिलित होते थे, जिन पर नेता विशेष विश्वास या आधार रखते थे और दूसरे वे लोग होते थे, जो किसी-न-किसी बहानेसे घुस जाते थे।

अगले साल करने योग्य कामोंमें से दो कामोंमें मुझे दिलचस्पी थी, क्योंकि उनमें मैं कुछ दखल रखता था।

एक था जलियाँवाला बागके हत्याकांडका स्मारक। इसके बारेमें कॉंग्रेसने बड़ी शानके साथ प्रस्ताव पास किया था। स्मारकके लिए करीब पाँच लाख रुपयेकी रकम इकट्ठी करनी थी। उसके रक्षकों (ट्रस्टियों) में मेरा नाम था। देशमें जनताके कामके लिए भिक्षा माँगनेकी जबरदस्त शक्ति रखनेवालोंमें पहला पद मालवीयजीका था और है। मैं जानता था कि मेरा दर्जा उनसे बहुत दूर नहीं रहेगा। अपनी यह शक्ति मैंने दक्षिण अफ्रीकामें देख ली थी। राजा-महाराजाओं पर अपना जादू चलाकर उनसे लाखों रुपये प्राप्त करनेकी शक्ति मुझमें नहीं थी, आज भी नहीं है। इस विषयमें मालवीयजीके साथ प्रतिस्पर्धा करनेवाला मुझे कोई मिला ही नहीं। मैं जानता था कि जलियाँवाला बागके कामके लिए उन लोगोंसे पैसा नहीं माँगा जा सकता। अतएव रक्षकका पद स्वीकार करते समय ही मैं यह समझ गया था कि इस स्मारकके लिए धन-संग्रह करनेका बोझ मुझ पर पड़ेगा, और यही हुआ भी। बम्बईके उदार नागरिकोंने इस स्मारकके लिए दिल खोलकर धन दिया और आज जनताके पास उसके लिए जितना चाहिये उतना पैसा है। किन्तु हिन्दुओं, मुसलमानों और

सिखोंके मिश्रित रक्तसे पावन बनी हुई इस भूमि पर किस तरहका स्मारक बनाया जाये, अर्थात् पड़े हुए पैसोंका क्या उपयोग किया जाये, यह एक विकट सवाल हो गया है; क्योंकि तीनोंके बीच अथवा कहिये कि दोनोंके बीच आज दोस्तीके बदले दुश्मनीका भास हो रहा है।

मेरी दूसरी शक्ति लेखक और मुंशीका काम करनेकी थी, जिसका उपयोग काँग्रेस कर सकती थी। नेतागण यह समझ चुके थे कि लम्बे समयके अभ्यासके कारण कहाँ, क्या और कितने कम शब्दोंमें व अविनय-रहित भाषामें लिखना चाहिये सो मैं जानता हूँ। उस समय काँग्रेसका जो विधान था, वह गोखलेकी छोड़ी हुई पूँजी थी। उन्होंने कुछ नियम बना दिये थे। उनके सहारे काँग्रेसका काम चलता था। वे नियम कैसे बनाये गये, इसका मधुर इतिहास मैंने उन्हींके मुँहसे सुना था। पर अब सब कोई यह अनुभव कर रहे थे कि काँग्रेसका काम उतने ही नियमोंसे नहीं चल सकता। उसका विधान बनानेकी चर्चायें हर साल उठती थीं। पर काँग्रेसके पास ऐसी कोई व्यवस्था ही नहीं थी जिससे पूरे वर्षभर उसका काम चलता रहे, अथवा भविष्यकी बात कोई सोचे। उसके तीन मंत्री होते थे, पर वास्तवमें कार्यवाहक मंत्री तो एक ही रहता था। वह भी चौबीसों घंटे दे सकनेवाला नहीं होता था। एक मंत्री कार्यालय चलाये या भविष्यका विचार करे अथवा भूतकालमें उठायी हुई काँग्रेसकी जिम्मेदारियोंको वर्तमान वर्षमें पूरा करे? इसलिए इस वर्ष यह प्रश्न सबकी दृष्टिमें अधिक महत्त्वपूर्ण बन गया। काँग्रेसमें हजारोंकी भीड़ होती थी। उसमें राष्ट्रका काम कैसे हो सकता था? प्रतिनिधियोंकी संख्याकी कोई सीमा न थी। किसी भी प्रान्तसे चाहे जितने प्रतिनिधि आ सकते थे। कोई भी प्रतिनिधि हो सकता था। अतएव कुछ व्यवस्था करनेकी आवश्यकता सबको प्रतीत हुई। विधान तैयार करनेका भार उठानेकी जिम्मेदारी मैंने अपने सिर ली। मेरी एक शर्त थी। जनता पर दो नेताओंका प्रभुत्व मैं देख रहा था। इससे मैंने चाहा कि उनके प्रतिनिधि मेरे साथ रहें। मैं समझता था कि वे स्वयं शांतिसे बैठकर विधान बनानेका काम नहीं कर सकते। इसलिए लोकमान्य और देशबंधुसे उनके विश्वासके दो नाम मैंने माँगे। मैंने यह सुझाव रखा कि इनके सिवा विधान-समितिमें और कोई न होना चाहिये। वह सुझाव मान लिया गया। लोकमान्यने श्री केलकरका और देशबंधुने श्री आई० बी० सेनका नाम दिया। यह विधान-समिति एक दिन भी कहीं मिलकर नहीं बैठी। फिर भी हमने अपना काम एकमतसे पूरा किया। पत्र-व्यवहार द्वारा अपना काम चला लिया। इस

विधानके लिए मुझे थोड़ा अभिमान है। मैं मानता हूँ कि इसका अनुसरण करके काम किया जाये, तो हमारा बेड़ा पार हो सकता है। यह तो जब होगा तब होगा, परन्तु मेरी यह मान्यता है कि इस जिम्मेदारीको लेकर मैंने काँग्रेसमें सच्चा प्रवेश किया।

३९. खादीका जन्म

मुझे याद नहीं पड़ता कि सन् १९०८ तक मैंने चरखा या करघा कहीं देखा हो। फिर भी मैंने 'हिन्द स्वराज्य' में यह माना था कि चरखेके जरिये हिन्दुस्तानकी कंगालियत मिट सकती है। और यह तो सबके समझ सकने जैसी बात है कि जिस रास्ते भुखमरी मिटेगी उसी रास्ते स्वराज्य मिलेगा। सन् १९१५ में मैं दक्षिण अफ्रीकासे हिन्दुस्तान वापस आया, तब भी मैंने चरखेके दर्शन नहीं किये थे। आश्रमके खुलते ही उसमें करघा शुरू किया था। करघा शुरू करनेमें भी मुझे बड़ी मुश्किलका सामना करना पड़ा। हम सब अनजान थे, अतएव करघेके मिल जाने भरसे तो करघा चल नहीं सकता था। आश्रममें हम सब कलम चलानेवाले या व्यापार करना जाननेवाले लोग इकट्ठा हुए थे; हममें कोई कारीगर नहीं था। इसलिए करघा प्राप्त करनेके बाद बुनना सिखानेवालेकी आवश्यकता पड़ी। काठियावाड़ और पालनपुरसे करघा मिला और एक सिखानेवाला आया। उसने अपना पूरा हुनर नहीं बताया। परन्तु मगनलाल गांधी शुरू किये हुए कामको जल्दी छोड़नेवाले न थे। उनके हाथमें कारीगरी तो थी ही। इसलिए उन्होंने बुननेकी कला पूरी तरह समझ ली और फिर आश्रममें एकके बाद एक नये-नये बुननेवाले तैयार हुए।

हमें तो अब अपने कपड़े तैयार करके पहनने थे। इसलिए आश्रमवासियोंने मिलके कपड़े पहनना बंद किया और यह निश्चय किया कि वे हाथ-करघे पर देशी मिलके सूतका बुना हुआ कपड़ा पहनेंगे। ऐसा करनेसे हमें बहुत कुछ सीखनेको मिला। हिन्दुस्तानके बुनकरोंके जीवनकी, उनकी आमदनीकी, सूत प्राप्त करनेमें होनेवाली उनकी कठिनाईकी, इसमें वे किस प्रकार ठगे जाते थे और आखिर किस प्रकार दिन-दिन कर्जदार होते जाते थे, इस सबकी जानकारी हमें मिली। हम स्वयं अपना सब कपड़ा तुरन्त बुन सकें, ऐसी स्थिति तो थी ही नहीं। इस कारणसे बाहरके बुनकरोंसे हमें अपनी आवश्यकताका कपड़ा बुनवा लेना पड़ता था। देशी मिलके सूतका हाथसे बुना कपड़ा झट मिलता नहीं था। बुनकर सारा अच्छा कपड़ा विलायती सूतका ही

बुनते थे, क्योंकि हमारी मिलें सूत कातती नहीं थीं। आज भी वे महीन सूत अपेक्षाकृत कम ही कातती हैं; बहुत महीन तो कात ही नहीं सकतीं। बड़े प्रयत्नके बाद कुछ बुनकर हाथ लगे, जिन्होंने देशी सूतका कपड़ा बुन देनेकी मेहरबानी की। इन बुनकरोंको आश्रमकी तरफसे यह गारण्टी देनी पड़ी थी कि देशी सूतका बुना हुआ कपड़ा खरीद लिया जायेगा। इस प्रकार विशेष रूपसे तैयार कराया हुआ कपड़ा बुनवाकर हमने पहना और मित्रोंमें उसका प्रचार किया। यों हम कातनेवाली मिलोंके अवैतनिक एजेण्ट बने। मिलोंके सम्पर्कमें आने पर उनकी व्यवस्थाकी और उनकी लाचारीकी जानकारी हमें मिली। हमने देखा कि मिलोंका ध्येय खुद कातकर खुद ही बुनना था। वे हाथ-करघोंकी सहायता स्वेच्छासे नहीं, बल्कि अनिच्छासे करती थीं।

यह सब देखकर हम हाथसे कातनेके लिए अधीर हो उठे। हमने देखा कि जब तक हाथसे कातेंगे नहीं, तब तक हमारी पराधीनता बनी रहेगी। मिलोंके एजेण्ट बनकर हम देशसेवा करते हैं, ऐसा हमें प्रतीत नहीं हुआ।

लेकिन न तो कहीं चरखा मिलता था और न कोई चरखेका चलानेवाला मिलता था। कुकड़ियाँ आदि भरनेके चरखे तो हमारे पास थे, पर उन पर काता जा सकता है इसका तो हमें खयाल ही नहीं था। एक बार कालीदास वकील एक बहनको खोजकर लाये। उन्होंने कहा कि यह बहन सूत कातकर दिखायेगी। उसके पास एक आश्रमवासीको भेजा जो नये काम सीख लेनेमें बड़े होशियार थे। पर हुनर उनके हाथ न लगा।

दिन तो बीते जा रहे थे। मैं अधीर हो उठा था। आश्रममें आनेवाले हर ऐसे आदमीसे, जो इस विषयमें कुछ बता सकता था, मैं पूछताछ किया करता था। पर कातनेका इजारा तो स्त्रीका ही था। अतएव ओने-कोनेमें पड़ी हुई कातना जाननेवाली स्त्री तो किसी स्त्रीको ही मिल सकती थी।

सन् १९१७ में मेरे गुजराती मित्र मुझे भड़ौंच शिक्षा-परिषद्में घसीट ले गये थे। वहाँ महासाहसी विधवा बहन गंगाबाई मुझे मिलीं। वे पढ़ी-लिखी अधिक नहीं थीं, पर उनमें हिम्मत और समझदारी साधारणतया जितनी शिक्षित बहनोंमें होती है उससे अधिक थी। उन्होंने अपने जीवनमें अस्पृश्यताकी जड़ काट डाली थी; वे बेधड़क अंत्यजोंमें मिलती और उनकी सेवा करती थीं। उनके पास पैसा था, पर उनकी अपनी आवश्यकतायें बहुत कम थीं। उनका शरीर कसा हुआ था और चाहे जहाँ अकेले जानेमें उन्हें जरा भी झिझक नहीं होती थी। वे घोड़ेकी सवारीके लिए भी तैयार रहती

थीं। इन बहनका विशेष परिचय गोधराकी परिषद्‌में प्राप्त हुआ। अपना दुःख मैंने उनके सामने रखा और दमयंती जिस प्रकार नलकी खोजमें भटकी थी, उसी प्रकार चरखेकी खोजमें भटकनेकी प्रतिज्ञा करके उन्होंने मेरा बोझ हलका कर दिया।

४०. चरखा मिला!

गुजरातमें अच्छी तरह भटक चुकनेके बाद गायकवाड़के वीजापुर गाँवमें गंगाबहनको चरखा मिला। वहाँ बहुतसे कुटुम्बोंके पास चरखा था, जिसे उठाकर उन्होंने छत पर चढ़ा दिया था। पर यदि कोई उनका सूत खरीद ले और उन्हें पूनी मुहैया कर दे, तो वे कातनेको तैयार थे। गंगाबहनने मुझे खबर भेजी। मेरे हर्षका कोई पार न रहा। पूनी मुहैया करनेका काम मुश्किल मालूम हुआ। स्व० भाई उमर सोबानीसे चर्चा करने पर उन्होंने अपनी मिलसे पूनीकी गुच्छलियाँ भेजनेका जिम्मा लिया। मैंने वे गुच्छलियाँ गंगाबहनके पास भेजीं और सूत इतनी तेजीसे कतने लगा कि मैं हार गया।

भाई उमर सोबानीकी उदारता विशाल थी, फिर भी उसकी हद थी। दाम देकर पूनियाँ लेनेका निश्चय करनेमें मुझे संकोच हुआ। इसके सिवा, मिलकी पूनियोंसे सूत कतवाना मुझे बहुत दोषपूर्ण मालूम हुआ। अगर मिलकी पूनियाँ हम लेते हैं, तो फिर मिलका सूत लेनेमें क्या दोष है? हमारे पूर्वजोंके पास मिलकी पूनियाँ कहाँ थीं? वे किस तरह पूनियाँ तैयार करते होंगे? मैंने गंगाबहनको लिखा और एक पिंजारेको खोज निकाला। उसे ३५ रुपये या इससे अधिक वेतन पर रखा गया। बालकोंको पूनी बनाना सिखाया गया। मैंने रुईकी भिक्षा माँगी। भाई यशवंतप्रसाद देसाईने रुईकी गाँठें देनेका जिम्मा लिया। गंगाबहनने काम एकदम बढ़ा दिया। बुनकरोंको लाकर बसाया और कता हुआ सूत बुनवाना शुरू किया। वीजापुरकी खादी मशहूर हो गयी।

दूसरी तरफ आश्रममें अब चरखेका प्रवेश होनेमें देर न लगी। मगनलाल गांधीकी शोधक शक्तिने चरखेमें सुधार किये और चरखे तथा तकुए आश्रममें बने। आश्रमकी खादीके पहले थानकी लागत फी गज सतरह आने आयी। मैंने मित्रोंसे मोटी और कच्चे सूतकी खादीके दाम सतरह आना फी गजके हिसाबसे लिये, जो उन्होंने खुशी-खुशी दिये।

मैं बम्बईमें रोगशय्या पर पड़ा हुआ था, पर सबसे पूछता रहता था। मैं खादीशास्त्रमें अभी निपट अनाड़ी था। मुझे हाथकते सूतकी जरूरत थी। कत्तिनोंकी जरूरत थी। गंगाबहन जो भाव देती थीं, उससे तुलना करने पर मालूम हुआ कि मैं ठगा रहा हूँ। लेकिन वे बहनें कम लेनेको तैयार न थीं। अतएव उन्हें छोड़ देना पड़ा। पर उन्होंने अपना काम किया। उन्होंने श्री अवन्तिकाबाई, श्री रमीबाई कामदार, श्री शंकरलाल बैंकरकी माताजी और श्री वसुमतीबहनको कातना सिखा दिया और मेरे कमरेमें चरखा गूँजने लगा। यह कहनेमें अतिशयोक्ति न होगी कि इस यंत्रने मुझ बीमारको चंगा करनेमें मदद की। बेशक, यह एक मानसिक असर था। पर मनुष्यको स्वस्थ या अस्वस्थ करनेमें मनका हिस्सा कौन कम होता है? चरखे पर मैंने भी हाथ आजमाया। किन्तु इससे आगे मैं इस समय जा नहीं सका।

बम्बईमें हाथकी पूनियाँ कैसे प्राप्त की जायें? श्री रेवाशंकर झवेरीके बंगलेके पाससे रोज एक धुनिया ताँत बजाता हुआ निकला करता था। मैंने उसे बुलाया। वह गद्दों के लिए रुई धुना करता था। उसने पूनियाँ तैयार करके देना स्वीकार किया। भाव ऊँचा माँगा, जो मैंने दिया। इस तरह तैयार हुआ सूत मैंने वैष्णवों के हाथ ठाकुरजीकी मालाके लिए दाम लेकर बेचा। भाई शिवजीने बम्बईमें चरखा सिखानेका वर्ग शुरू किया। इन प्रयोगोंमें पैसा काफी खर्च हुआ। श्रद्धालु देशभक्तोंने पैसे दिये और मैंने खर्च किये। मेरे नम्र विचारमें यह खर्च व्यर्थ नहीं गया। उससे बहुत-कुछ सीखनेको मिला। चरखेकी मर्यादाका माप मिल गया।

अब मैं केवल खादीमय बननेके लिए अधीर हो उठा। मेरी धोती देशी मिलके कपड़ेकी थी। वीजापुरमें और आश्रममें जो खादी बनती थी, वह बहुत मोटी और ३० इंच अर्जकी होती थी। मैंने गंगाबहनको चेतावनी दी कि अगर वे एक महीनेके अन्दर ४५ इंच अर्जवाली खादीकी धोती तैयार करके न देंगी, तो मुझे मोटी खादीकी घुटनों तककी धोती पहनकर अपना काम चलाना पड़ेगा। गंगाबहन अकुलायीं। मुद्दत कम मालूम हुई, पर वे हारी नहीं। उन्होंने एक महीनेके अन्दर मेरे लिए ५० इंच अर्जका धोतीजोड़ा मुहैया कर दिया और मेरा दारिद्र्य मिटाया।

इसी बीच भाई लक्ष्मीदास लाठी गाँवसे एक अन्त्यज भाई रामजी और उनकी पत्नी गंगाबहनको आश्रममें लाये और उनके द्वारा बड़े अर्जकी खादी बुनवाई। खादी-प्रचारमें इस दम्पतीका हिस्सा ऐसा-वैसा नहीं कहा जा सकता। उन्होंने गुजरातमें और गुजरातके बाहर हाथका सूत बुननेकी कला दूसरोंको सिखायी है।

निरक्षर परन्तु संस्कारशील गंगाबहन जब करघा चलाती हैं, तब उसमें इतनी लीन हो जाती हैं कि इधर-उधर देखने या किसीके साथ बातचीत करनेकी फुरसत भी अपने लिए नहीं रखतीं।

४१. एक संवाद

जिस समय स्वदेशीके नामसे परिचित यह आन्दोलन चलने लगा, उस समय मिल-मालिकोंकी ओरसे मेरे पास काफी टीकायें आने लगीं। भाई उमर सोबानी स्वयं एक होशियार मिल-मालिक थे। अतएव वे अपने ज्ञानका लाभ तो मुझे देते ही थे, पर दूसरोंकी रायकी जानकारी भी मुझे देते रहते थे। उनमें से एककी दलीलका असर उन पर भी हुआ और उन्होंने मुझे उन भाईके पास ले चलनेकी सूचना की। मैंने उसका स्वागत किया। हम उनके पास गये। उन्होंने आरम्भ इस प्रकार किया :

''आप यह तो जानते हैं न कि आपका स्वदेशी-आन्दोलन पहला ही नहीं है?''

मैंने जवाब दिया। ''जी हाँ।''

''आप जानते हैं न कि बंग-भंगके समय स्वदेशी-आन्दोलनने खूब जोर पकड़ा था, जिसका हम मिलवालोंने खूब फायदा उठाया था और कपड़ेके दाम बढ़ा दिये थे? कुछ नहीं करने लायक बातें भी की थीं?''

''मैंने यह बात सुनी है और सुनकर मैं दुःखी हुआ हूँ।''

''मैं आपका दुःख समझता हूँ, पर उसके लिए कोई कारण नहीं है। हम परोपकारके लिए अपना व्यापार नहीं करते। हमें तो पैसा कमाना है। अपने हिस्सेदारोंको जवाब देना है। वस्तुका मूल्य उसकी माँग पर निर्भर करता है, इस नियमके विरुद्ध कौन जा सकता है? बंगालियोंको जानना चाहिये था कि उनके आन्दोलनसे स्वदेशी वस्त्रके दाम अवश्य बढ़ेंगे।''

''वे बेचारे मेरी तरह विश्वासशील हैं। इसलिए उन्होंने मान लिया कि मिल-मालिक नितान्त स्वार्थी नहीं बन जायेंगे। विश्वासघात तो कदापि न करेंगे। स्वदेशीके नाम पर विदेशी कपड़ा हरगिज न बेचेंगे।''

''मैं जानता था कि आप ऐसा मानते हैं। इसीसे मैंने आपको सावधान करनेका विचार किया और यहाँ आनेका कष्ट दिया, ताकि आप भोले बंगालियोंकी तरह धोखेमें न रह जायें।''

यह कहकर सेठजीने अपने गुमाश्तेको नमूने लानेका इशारा किया। ये रद्दी रुईमें से बने हुए कम्बलके नमूने थे। उन्हें हाथमें लेकर वे भाई बोले, "देखिये, यह माल हमने नया बनाया है। इसकी अच्छी खपत है। रद्दी रुईसे बनाया है, इसलिए यह सस्ता तो पड़ता ही है। इस मालको हम ठेठ उत्तर तक पहुँचाते हैं। हमारे एजेण्ट चारों ओर फैले हुए हैं। अतएव आप देखते हैं कि हमें आपके समान एजेण्टकी जरूरत नहीं रहती। सच तो यह है कि जहाँ आप-जैसोंकी आवाज नहीं पहुँचती, वहाँ भी हमारे एजेण्ट और हमारा माल पहुँचता है। साथ ही, आपको यह भी जानना चाहिये कि हिन्दुस्तानकी आवश्यकताका सब माल हम उत्पन्न नहीं करते हैं। अतएव स्वदेशीका प्रश्न मुख्यतः उत्पादनका प्रश्न है। जब हम आवश्यक मात्रामें कपड़ा पैदा कर सकेंगे और कपड़ेकी किस्ममें सुधार कर सकेंगे, तब विदेशी कपड़ेका आना अपने-आप बन्द हो जायेगा। इसलिए आपको मेरी सलाह तो यह है कि आप अपना स्वदेशी-आन्दोलन जिस तरह चला रहे हैं उस तरह न चलायें और नई मिलें खोलनेकी ओर ध्यान दें। हमारे देशमें स्वदेशी माल खपानेका आन्दोलन चलानेकी आवश्यकता नहीं है, बल्कि उसे उत्पन्न करनेकी आवश्यकता है।"

मैंने कहा, "यदि मैं यही काम कर रहा होऊँ, तब तो आप उसे आशीर्वाद देंगे न?"

"सो किस तरह? यदि आप मिल खोलनेका प्रयत्न करते हों, तो आप धन्यवादके पात्र हैं।"

"ऐसा तो मैं नहीं कर रहा हूँ, पर मैं चरखेके काममें लगा हुआ हूँ।"

"यह क्या चीज है?"

मैंने चरखेकी बात सुनाई और कहा, "मैं आपके विचारोंसे सहमत हूँ। मुझे मिलोंकी दलाली नहीं करनी चाहिये। इससे फायदेके बदले नुकसान ही है। मिलोंका माल पड़ा नहीं रहता। मुझे तो उत्पादन बढ़ानेमें और उत्पन्न हुए कपड़ेको खपानेमें लगना चाहिये। इस समय मैं उत्पादनके काममें ही लगा हुआ हूँ। इस प्रकारकी स्वदेशीमें मेरा विश्वास है, क्योंकि उसके द्वारा हिन्दुस्तानकी भूखों मरनेवाली अर्ध-बेकार स्त्रियोंको काम दिया जा सकता है। उनका काता हुआ सूत बुनवाना और उसकी खादी लोगोंको पहनाना, यही मेरा विचार है और यही मेरा आन्दोलन है। मैं नहीं जानता कि चरखा-आन्दोलन कहाँ तक सफल होगा। अभी तो उसका आरम्भ-काल ही है; पर मुझे उसमें पूरा विश्वास है। कुछ भी हो, उसमें नुकसान तो है ही

नहीं। हिन्दुस्तानमें उत्पन्न होनेवाले कपड़ेमें जितनी वृद्धि इस आन्दोलनसे होगी उतना फायदा ही है। अतएव इस प्रयत्नमें आप बताते हैं वह दोष तो है ही नहीं।''

''यदि आप इस रीतिसे आन्दोलन चलाते हों, तो मुझे कुछ नहीं कहना है। हाँ, इस युगमें चरखा चल सकता है या नहीं, यह एक अलग बात है। मैं तो आपकी सफलता ही चाहता हूँ।''

४२. असहयोगका प्रवाह

इसके आगे खादीकी प्रगति किस प्रकार हुई, इसका वर्णन इन प्रकरणोंमें नहीं किया जा सकता। कौन-कौनसी वस्तुएँ जनताके सामने किस प्रकार आयीं, यह बता देनेके बाद उनके इतिहासमें उतरना इन प्रकरणोंका क्षेत्र नहीं है। उतरने पर उन विषयोंकी अलग पुस्तक तैयार हो सकती है। यहाँ तो मैं इतना ही बताना चाहता हूँ कि सत्यकी शोध करते हुए कुछ वस्तुएँ मेरे जीवनमें एकके बाद एक किस प्रकार अनायास आती गयीं।

अतएव मैं मानता हूँ कि अब असहयोगके विषयमें थोड़ा कहनेका समय आ गया है। खिलाफतके बारेमें अलीभाइयोंका जबरदस्त आन्दोलन तो चल ही रहा था। मरहूम मौलाना अब्दुलबारी वगैरा उलेमाओंके साथ इस विषयकी खूब चर्चायें हुईं। इस बारेमें विवेचन हुआ कि मुसलमान शांतिको, अहिंसाको, कहाँ तक पाल सकते हैं। आखिर यह तय हुआ कि अमुक हद तक युक्तिके रूपमें उसका पालन करनेमें कोई एतराज नहीं हो सकता; और अगर किसीने एक बार अहिंसाकी प्रतिज्ञा की है, तो वह उसे पालनेके लिए बँधा हुआ है। आखिर खिलाफत-परिषद्में असहयोगका प्रस्ताव पेश हुआ और बड़ी चर्चाके बाद वह मंजूर हुआ। मुझे याद है कि एक बार इलाहाबादमें इसके लिए सारी रात सभा चलती रही थी। हकीम साहबको शांतिमय असहयोगकी शक्यताके विषयमें शंका थी। किन्तु उनकी शंका दूर होने पर वे उसमें सम्मिलित हुए और उनकी सहायता अमूल्य सिद्ध हुई।

इसके बाद गुजरातमें परिषद् हुई। उसमें मैंने असहयोगका प्रस्ताव रखा। उसमें विरोध करनेवालोंकी पहली दलील यह थी कि जब तक काँग्रेस असहयोगका प्रस्ताव स्वीकार न करे, तब तक प्रान्तीय परिषदोंको यह प्रस्ताव पास करनेका अधिकार नहीं है। मैंने सुझाया कि प्रान्तीय परिषदें पीछे कदम नहीं हटा सकतीं; लेकिन आगे कदम

बढ़ानेका अधिकार तो सब शाखा-संस्थाओंको है। यही नहीं, बल्कि उनमें हिम्मत हो, तो ऐसा करना उनका धर्म है। इससे मुख्य संस्थाका गौरव बढ़ता है। असहयोगके गुण-दोष पर अच्छी और मीठी चर्चा हुई। मत गिने गये और विशाल बहुमतसे असहयोगका प्रस्ताव पास हुआ। इस प्रस्तावको पास करानेमें अब्बास तैयबजी और वल्लभभाई पटेलका बड़ा हाथ रहा। अब्बास साहब सभापति थे और उनका झुकाव असहयोगके प्रस्तावकी तरफ ही था।

काँग्रेसकी महासमितिने इस प्रश्न पर विचार करनेके लिए काँग्रेसका एक विशेष अधिवेशन सन् १९२० के सितम्बर महीनेमें कलकत्तेमें करनेका निश्चय किया। तैयारियाँ बहुत बड़े पैमाने पर थीं। लाला लाजपतराय सभापति चुने गये थे। बम्बईसे खिलाफत स्पेशल और काँग्रेस स्पेशल रवाना हुई। कलकत्तेमें सदस्यों और दर्शकोंका बहुत बड़ा समुदाय इकट्ठा हुआ।

मौलाना शौकतअलीके कहने पर मैंने असहयोगके प्रस्तावका मसविदा रेलगाड़ीमें तैयार किया। आज तक मेरे मसविदोंमें 'शांतिमय' शब्द प्रायः नहीं आता था। मैं अपने भाषणमें इस शब्दका उपयोग करता था। सिर्फ मुसलमान भाइयोंकी सभाओंमें 'शान्तिमय' शब्दसे मुझे जो समझाना था वह मैं समझा नहीं पाता था। इसलिए मैंने मौलाना अबुलकलाम आजादसे दूसरा शब्द माँगा। उन्होंने 'बाअमन' शब्द दिया और असहयोगके लिए 'तर्के मवालात' शब्द सुझाया।

इस तरह अभी गुजरातीमें, हिन्दीमें, हिन्दुस्तानीमें असहयोगकी भाषा मेरे दिमागमें बन रही थी कि इतनेमें ऊपर लिखे अनुसार काँग्रेसके लिए प्रस्तावका मसविदा तैयार करनेका काम मेरे हाथमें आया। प्रस्तावमें 'शान्तिमय' शब्द लिखना रह गया। मैंने प्रस्ताव तैयार करके रेलगाड़ीमें ही मौलाना शौकतअलीको दे दिया। रातमें मुझे खयाल आया कि मुख्य शब्द 'शान्तिमय' तो छूट गया है। मैंने महादेवको दौड़ाया और कहलवाया कि छापते समय प्रस्ताव में 'शान्तिमय' शब्द बढ़ा लें। मेरा कुछ ऐसा खयाल है कि शब्द बढ़ानेसे पहले प्रस्ताव छप चुका था। विषय-विचारिणी समितिकी बैठक उसी रात थी। अतएव उसमें उक्त शब्द मुझे बादमें बढ़वाना पड़ा था। मैंने देखा कि यदि मैं प्रस्तावके साथ तैयार न होता, तो बड़ी मुश्किलका सामना करना पड़ता।

मेरी स्थिति दयनीय थी। मैं नहीं जानता था कि कौन प्रस्तावका विरोध करेगा और कौन प्रस्तावका समर्थन करेगा। लालाजीके रुखके विषयमें मैं कुछ जानता न

था। तपे-तपाये अनुभवी योद्धा कलकत्तेमें उपस्थित हुए थे। विदुषी एनी बेसेण्ट, पं० मालवीयजी, श्री विजयराघवाचार्य, पं० मोतीलालजी, देशबन्धु आदि उनमें थे।

मेरे प्रस्तावमें खिलाफत और पंजाबके अन्यायको ध्यानमें रखकर ही असहयोगकी बात कही गयी थी। पर श्री विजयराघवाचार्यको इसमें कोई दिलचस्पी मालूम न हुई। उन्होंने कहा: "यदि असहयोग ही करना है, तो वह अमुक अन्यायके लिए ही क्यों किया जाय? स्वराज्यका अभाव बड़े-से-बड़ा अन्याय है। अतएव उसके लिए असहयोग किया जा सकता है।" मोतीलालजी भी स्वराज्यकी माँगको प्रस्तावमें दाखिल कराना चाहते थे। मैंने तुरन्त ही इस सूचनाको स्वीकार कर लिया और प्रस्तावमें स्वराज्यकी माँग भी सम्मिलित कर ली। विस्तृत, गंभीर और कुछ तीखी चर्चाओंके बाद असयोगका प्रस्ताव पास हुआ।

मोतीलालजी उसमें सबसे पहले सम्मिलित हुए। मेरे साथ हुई उनकी मीठी चर्चा मुझे अभी तक याद है। उन्होंने कुछ शाब्दिक परिवर्तन सुझाये थे, जिन्हें मैंने स्वीकार कर लिया था। देशबन्धुको मना लेनेका बीड़ा उन्होंने उठाया था। देशबन्धुका हृदय असहयोगके साथ था, पर उनकी बुद्धि उनसे कह रही थी कि असहयोगको जनता ग्रहण नहीं करेगी। देशबन्धु और लालाजीने असहयोगके प्रस्तावको पूरी तरह तो नागपुरमें स्वीकार किया। इस विशेष अधिवेशनके अवसर पर लोकमान्यकी अनुपस्थिति मेरे लिए बहुत दुःखदायक सिद्ध हुई। आज भी मेरा मत है कि वे जीवित होते, तो कलकत्तेकी घटनाका स्वागत करते। पर वैसा न होता और वे विरोध करते, तो भी मुझे वह अच्छा ही लगता। मुझे उससे कुछ सीखनेको मिलता। उनके साथ मेरे मतभेद सदा ही रहे, पर वे सब मीठे थे। उन्होंने मुझे हमेशा यह माननेका मौका दिया था कि हमारे बीच निकटका सम्बन्ध है। यह लिखते समय उनके स्वर्गवासका चित्र मेरे सामने खड़ा हो रहा है। मेरे साथी पटवर्धनने आधी रातको मुझे टेलीफोन पर उनके अवसानका समाचार दिया था। उसी समय मैंने साथियोंसे कहा था: "मेरे पास एक बड़ा सहारा था, जो आज टूट गया।" उस समय असहयोगका आन्दोलन पूरे जोरसे चल रहा था। मैं उनसे उत्साह और प्रेरणा पानेकी आशा रखता था। अन्तमें जब असहयोग पूरी तरह मूर्तिमंत हुआ, तब उसके प्रति उनका रुख क्या रहा होता सो तो भगवान जाने; पर इतना मैं जानता हूँ कि राष्ट्रके इतिहासकी उस महत्त्वपूर्ण घड़ीमें उनकी उपस्थितिका अभाव सबको खटक रहा था।

४३. नागपुरमें

काँग्रेसके विशेष अधिवेशनमें स्वीकृत असहयोगके प्रस्तावको नागपुरमें होनेवाले वार्षिक अधिवेशनमें बहाल रखना था। कलकत्तेकी तरह नागपुरमें भी असंख्य लोग इकट्ठा हुए थे। अभी तक प्रतिनिधियोंकी संख्या निश्चित नहीं हुई थी। अतएव जहाँ तक मुझे याद है, इस अधिवेशनमें चौदह हजार प्रतिनिधि हाजिर हुए थे। लालाजीके आग्रहसे विद्यालयों-सम्बन्धी प्रस्तावमें मैंने एक छोटा-सा परिवर्तन स्वीकार कर लिया था। देशबन्धुने भी कुछ परिवर्तन कराया था और अन्तमें शांतिमय असहयोगका प्रस्ताव सर्व-सम्मतिसे पास हुआ था।

इसी बैठकमें महासभाके विधानका प्रस्ताव भी पास करना था। यह विधान मैंने कलकत्तेकी विशेष बैठकमें पेश तो किया ही था। इसलिए वह प्रकाशित हो गया था और उस पर चर्चा भी हो चुकी थी। श्री विजयराघवाचार्य इस बैठकके सभापति थे। विधानमें विषय-विचारिणी समितिने एक ही महत्त्वका परिवर्तन किया था। मैंने प्रतिनिधियोंकी संख्या पंद्रह सौ मानी थी। विषय-विचारणी समितिने इसे बदलकर छह हजार कर दिया। मैं मानता था कि यह कदम बिना सोचे-विचारे उठाया गया है। इतने वर्षोंके अनुभवके बाद भी मेरा यही खयाल है। मैं इस कल्पनाको बिलकुल गलत मानता हूँ कि बहुतसे प्रतिनिधियोंसे काम अधिक अच्छा होता है अथवा जनतंत्रकी अधिक रक्षा होती है। ये पन्द्रह सौ प्रतिनिधि उदार मनवाले, जनताके अधिकारोंकी रक्षा करनेवाले और प्रामाणिक हों, तो वे छ हजार निरंकुश प्रतिनिधियोंकी अपेक्षा जनतंत्रकी अधिक अच्छी रक्षा करेंगे। जनतंत्रकी रक्षाके लिए जनतामें स्वतंत्रताकी, स्वाभिमानकी और एकताकी भावना होनी चाहिये और अच्छे तथा सच्चे प्रतिनिधियोंको ही चुननेका आग्रह रहना चाहिये। किन्तु संख्याके मोहमें पड़ी हुई विषय-विचारणी समिति छह हजारसे भी अधिक प्रतिनिधि चाहती थी। इसलिए छह हजार पर मुश्किलसे समझौता हुआ।

काँग्रेसमें स्वराज्यके ध्येय पर चर्चा हुई थी। विधानकी धारामें साम्राज्यके भीतर अथवा उसके बाहर, जैसा मिले वैसा, स्वराज्य प्राप्त करनेकी बात थी। काँग्रेसमें भी एक पक्ष ऐसा था, जो साम्राज्यके अन्दर रहकर ही स्वराज्य प्राप्त करना चाहता था। उस पक्षका समर्थन पं० मालवीयजी और मि० जिन्नाने किया था। पर उन्हें अधिक मत न मिल सके। विधानकी एक धारा यह थी कि शांतिपूर्ण और सत्यरूप साधनों

द्वारा ही हमें स्वराज्य प्राप्त करना चाहिये। इस शर्तका भी विरोध किया गया था। पर काँग्रेसने उसे अस्वीकार किया और सारा विधान काँग्रेसमें सुन्दर चर्चा होनेके बाद स्वीकृत हुआ। मेरा मत है कि यदि लोगोंने इस विधान पर प्रामाणिकता-पूर्वक और उत्साह-पूर्वक अमल किया होता, तो उससे जनताको बड़ी शिक्षा मिलती। उसके अमलमें स्वराज्यकी सिद्धि समायी हुई थी। पर यह विषय यहाँ प्रस्तुत नहीं है।

इसी सभामें हिन्दू-मुस्लिम-एकताके बारेमें, अस्पृश्यता-निवारणके बारेमें और खादीके बारेमें भी प्रस्ताव पास हुए। उस समयसे काँग्रेसके हिन्दू सदस्योंने अस्पृश्यताको मिटानेका भार अपने ऊपर लिया है और खादीके द्वारा काँग्रेसने अपना संबंध हिन्दुस्तानके नर-कंकालोंके साथ जोड़ा है। काँग्रेसने खिलाफतके सवालके सिलसिलेमें असहयोगका निश्चय करके हिन्दू-मुस्लिम-एकता सिद्ध करनेका एक महान प्रयास किया था।

पूर्णाहुति

अब इन प्रकरणोंको समाप्त करनेका समय आ पहुँचा है।

इससे आगेका मेरा जीवन इतना अधिक सार्वजनिक हो गया है कि शायद ही कोई चीज ऐसी हो, जिसे जनता जानती न हो। फिर सन् १९२१ से मैं काँग्रेसके नेताओंके साथ इतना अधिक ओतप्रोत होकर रहा हूँ कि किसी प्रसंगका वर्णन नेताओंके संबंधकी चर्चा किये बिना मैं यथार्थ रूपमें कर ही नहीं सकता। ये संबंध अभी ताजे हैं। श्रद्धानन्दजी, देशबन्धु, लालाजी और हकीम साहब आज हमारे बीच नहीं है। पर सौभाग्यसे दूसरे कई नेता अभी मौजूद हैं। काँग्रेसके महान परिवर्तनके बादका इतिहास अभी तैयार हो रहा है। मेरे मुख्य प्रयोग काँग्रेसके माध्यमसे हुए हैं। अतएव उन प्रयोगोंके वर्णनमें नेताओंके संबंधोंकी चर्चा अनिवार्य है। शिष्टताके विचारसे भी फिलहाल तो मैं ऐसा कर ही नहीं सकता। अंतिम बात यह है कि इस समय चल रहे प्रयोगोंके बारेमें मेरे निर्णय निश्चयात्मक नहीं माने जा सकते। अतएव इन प्रकरणोंको तत्काल तो बन्द कर देना ही मुझे अपना कर्तव्य मालूम होता है। यह कहना गलत नहीं होगा कि इसके आगे मेरी कलम ही चलनेसे इनकार करती है।

पाठकोंसे बिदा लेते हुए मुझे दुःख होता है। मेरे निकट अपने इन प्रयोगोंकी बड़ी कीमत है। मैं नहीं जानता कि मैं उनका यथार्थ वर्णन कर सका हूँ या नहीं।
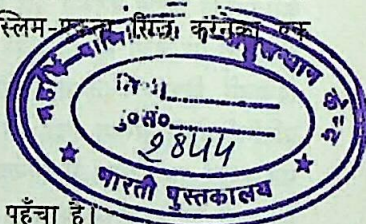
यथार्थ वर्णन करनेमें मैंने कोई कसर नहीं रखी है। सत्यको मैंने जिस रूपमें देखा है, जिस मार्गसे देखा है, उसे उसी तरह प्रकट करनेका मैंने सतत प्रयत्न किया है और पाठकोंके लिए उसका वर्णन करके चित्तमें शांतिका अनुभव किया है। क्योंकि मैंने आशा यह रखी है कि इससे पाठकोंमें सत्य और अहिंसाके प्रति अधिक आस्था उत्पन्न होगी।

सत्यसे भिन्न कोई परमेश्वर है, ऐसा मैंने कभी अनुभव नहीं किया। यदि इन प्रकरणोंके पन्ने-पन्नेसे यह प्रतीति न हुई हो कि सत्यमय बननेका एकमात्र मार्ग अहिंसा ही है, तो मैं इस प्रयत्नको व्यर्थ समझता हूँ। प्रयत्न चाहे व्यर्थ हो, किन्तु वचन व्यर्थ नहीं है। मेरी अहिंसा सच्ची होने पर भी कच्ची है, अपूर्ण है। अतएव हजारों सूर्योंको इकट्ठा करनेसे भी जिस सत्यरूपी सूर्यके तेजका पूरा माप नहीं निकल सकता, सत्यकी मेरी झाँकी ऐसे सूर्यकी केवल एक किरणके दर्शनके समान ही है। आज तकके अपने प्रयोगोंके अन्तमें मैं इतना तो अवश्य कह सकता हूँ कि सत्यका संपूर्ण दर्शन संपूर्ण अहिंसाके बिना असंभव है।

ऐसे व्यापक सत्य-नारायणके प्रत्यक्ष दर्शनके लिए जीवमात्रके प्रति आत्मवत् प्रेमकी परम आवश्यकता है। और, जो मनुष्य ऐसा करना चाहता है, वह जीवनके किसी भी क्षेत्रसे बाहर नहीं रह सकता। यही कारण है कि सत्यकी मेरी पूजा मुझे राजनीतिमें खींच लायी है। जो मनुष्य यह कहता है कि धर्मका राजनीतिके साथ कोई संबंध नहीं है वह धर्मको नहीं जानता, ऐसा कहनेमें मुझे संकोच नहीं होता, और न ऐसा कहनेमें मैं अविनय करता हूँ।

बिना आत्मशुद्धिके जीवमात्रके साथ ऐक्य सध ही नहीं सकता। आत्मशुद्धिके बिना अहिंसा-धर्मका पालन सर्वथा असंभव है। अशुद्ध आत्मा परमात्माके दर्शन करनेमें असमर्थ है। अतएव जीवन-मार्गके सभी क्षेत्रोंमें शुद्धिकी आवश्यकता है। यह शुद्धि साध्य है; क्योंकि व्यष्टि और समष्टिके बीच ऐसा निकटका संबंध है कि एककी शुद्धि अनेकोंकी शुद्धिके बराबर हो जाती है। और व्यक्तिगत प्रयत्न करनेकी शक्ति तो सत्य-नारायणने सबको जन्मसे ही दी है।

लेकिन मैं प्रतिक्षण यह अनुभव करता हूँ कि शुद्धिका यह मार्ग विकट है। शुद्ध बननेका अर्थ है मनसे, बचनसे और कायासे निर्विकार बनना, राग-द्वेषादिसे रहित होना। इस निर्विकारता तक पहुँचनेका प्रतिक्षण प्रयत्न करते हुए भी मैं पहुँच नहीं पाया हूँ, इसलिए लोगोंकी स्तुति मुझे भुलावेमें नहीं डाल सकती। उलटे, यह स्तुति

प्राय: तीव्र वेदना पहुँचाती है। मनके विकारोंको जीतना संसारको शस्त्र-युद्धसे जीतनेकी अपेक्षा मुझे अधिक कठिन मालूम होता है। हिन्दुस्तान आनेके बाद भी मैं अपने भीतर छिपे हुए विकारोंको देख सका हूँ, शरमिन्दा हुआ हूँ, किन्तु हारा नहीं हूँ। सत्यके प्रयोग करते हुए मैंने आनन्द लूटा है और आज भी लूट रहा हूँ। लेकिन मैं जानता हूँ कि अभी मुझे विकट मार्ग तय करना है। इसके लिए मुझे शून्यवत् बनना है। मनुष्य जब तक स्वेच्छासे अपनेको सबसे नीचे नहीं रखता, तब एक उसे मुक्ति नहीं मिलती। अहिंसा नम्रताकी पराकाष्ठा है और यह अनुभव-सिद्ध बात है कि इस नम्रताके बिना मुक्ति कभी नहीं मिलती। ऐसी नम्रताके लिए प्रार्थना करते हुए और उसके लिए संसारकी सहायताकी याचना करते हुए इस समय तो मैं इन प्रकरणोंको बन्द करता हूँ।

"मुझे दुनियाको
कोई नई चीज नहीं सिखानी है।
सत्य और अहिंसा
अनादि कालसे चले आये है।"

मो. क. गांधी

This **Hindi** edition of
an Autobiography
or
The Story of my Experiment with Truth
is subsidised by Navajivan Trust

Navajivan Publishing House
Ahmedabad-380 014

Rs. 20/-

ISBN 81-7229-050-0